तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन

प्रथम खण्ड

व्रजवल्लभ द्विवेदी

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाडी मठ, वाराणसी-२२१००१

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — २४

तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन

प्रथम खण्ड

लेखक एवं सम्पादक

राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

निदेशक

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

प्रकाशक

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१

© पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य : सजिल्द ६००/-
अजिल्द ४५०/-

अक्षर संयोजन
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

मुद्रक
जौहरी प्रिंटर्स
शिवाजी नगर, महमूरगंज, वाराणसी

Research Publications Series — 24

TANTRĀGAMĪYA DHARMA-DARŚAN

VOL. I

Author & Editor

Pt. Vrajavallabha Dwivedi

Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

© Pt. Vrajavallabha Dwivedi

ISBN 81-86768-44-0 (Set)
81-86768-45-9 (Vol. I) (Hb)
81-86768-46-7 (Vol. I) (Pb)

First published 2000

Price : Rs. 600 (Hb) Rs. 450 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :
Jauhari Printers
Mahamoorganj, Varanasi - 221 001

शुभाशीर्वचन

"तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" नामक इस अपूर्व ग्रन्थ के प्रथम खण्ड को लोकार्पित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमारे शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के निदेशक तन्त्रागम शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ की रचना की है। अभी तक दर्शनशास्त्र के इतिहास के बारे में लिखने वाले बहुत से विद्वान् शैव, शाक्त आदि शास्त्रों के इतिहास एवं तत्त्वज्ञान के विषय में बहुत-कुछ लिख चुके हैं, लेकिन उनमें से कुछ इतिहास के बारे में लिखते समय ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का कालनिर्णय सही रूप में नहीं कर पाये हैं। इनके प्रभाव में आकर आगे के ग्रन्थकार भी उन्हीं का अनुसरण करते जा रहे हैं। कभी-कभी यह एक प्रकार का अन्धानुकरण जैसा प्रतीत होता है। किसी शास्त्र के तत्त्वज्ञान और आचार्य-परम्परा के विषय में लिखते समय सम्यक् अध्ययन की आवश्यकता होती है। इन सब विषयों को ध्यान में रखते हुए अपनी वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध अवस्था में परिपक्व विचारों से युक्त पण्डित द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ की रचना की है। हमारे विचार से विभिन्न तन्त्रागमों से संबद्ध तत्त्वज्ञान और इतिहास का संग्रह और समीक्षा यहाँ सप्रमाण प्रस्तुत की गई है। लगभग एक हजार पृष्ठ में प्रकाशित हो रहा यह ग्रन्थ दो खण्डों में विभाजित है। इसमें कुल आठ अधिकार हैं।

ग्रन्थ के इस प्रथम खण्ड में तीन अधिकार समाविष्ट हैं। १. उपक्रमाधिकार में तन्त्रागम शास्त्र का सामान्य परिचय, इस शास्त्र का अवतार-क्रम और विशेषता, तन्त्रों का प्राचीन-नवीन विभाग, तन्त्रागमीय दर्शन, निगमागम विवेचन, पुराणों पर निगमागमों का प्रभाव, तन्त्रागमीय संस्कृति, तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता जैसे प्रमुख विषयों पर प्रकाश डाला गया है। २. वैष्णवाधिकार में वैखानस, पांचरात्र और भागवत नामक त्रिविध वैष्णवागमों के विषय में जानकारी दी गई है। यहाँ दशविध वैष्णव सम्प्रदायों का भी परिचय दिया गया है। इसके बाद तीसरा ३. शैवाधिकार आता है। यहाँ पाशुपत, लकुलीश पाशुपत, कालामुख एवं कापालिक, कौल, सिद्धान्तशैव, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और वीरशैव नामक शैव सम्प्रदायों की प्रवृत्ति का और उनमें प्रतिपादित धर्म-दर्शन का तलस्पर्शी स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार शैव परम्परा में आने वाले सर्वविध शैवमतों का और उन्हीं में वीरशैव

मत के विशिष्ट स्थान का और प्राचीन इतिहास के साथ वीरशैव आगमों का भी परिचय दिया गया है।

इसी तरह से प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के शाक्ताधिकार, बौद्धतन्त्राधिकार, जैनतन्त्राधिकार और स्मार्ततन्त्राधिकार में तन्त्रागमशास्त्र की उन-उन शाखाओं के धर्म और दर्शन का परिचय दिया गया है। अन्तिम आठवें उपसंहाराधिकार में समस्त तन्त्रागमीय वाङ्मय की, उसकी प्रमुख धाराओं की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आज तक इन समस्त शाखाओं का अध्ययन खण्ड-खण्ड में हुआ है। स्मार्त पंचायतन पूजा के माध्यम से वेदानुवर्ती तन्त्रों का ही नहीं, उनसे भिन्न बौद्ध और जैन तन्त्रों का भी पौराणिक एवं तान्त्रिक षड्दर्शन पद्धति में कैसे समावेश हो गया था, इसको भी सप्रमाण दिखाया गया है। इस द्वितीय खण्ड का मुद्रण अभी चल रहा है।

आज भारतीय संस्कृति पर चतुर्दिक् अनर्गल प्रहार हो रहे हैं, विकृत रूप में उसको प्रस्तुत किया जा रहा है, उसके विरोध में, उसको नष्ट कर देने के उद्देश्य से अन्तरराष्ट्रिय स्तर पर मिथ्या प्रचार किया जा रहा है और उसका परिणाम यह है कि आज अपने देश में भी उसके प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ता जा रहा है, हेय दृष्टि पनप रही है। निरन्तरता के साथ परिवर्तनशीलता को स्वीकृति भारत में "पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्" महाकवि कालिदास की इस उक्ति के रूप में बहुत पहले मिल चुकी थी। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" यह वैदिक घोष भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। सारे विश्व के भले विचारों को निगल जाने के लिये उद्यत धर्मों और दर्शनों से विश्व-मानवता की रक्षा के लिये भारतीय संस्कृति का महनीय अवदान होगा। भारतीय संस्कृति के उस स्वरूप को उजागर करने का यहाँ जो प्रयत्न किया गया है, उसकी परीक्षा अपेक्षित है।

यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित तन्त्रागमीय धर्म और दर्शन के इतिहास संबन्धी ग्रन्थों में अद्वितीय माना जायगा। पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के परिपक्व विचारों का परिचय देने वाला यह ग्रन्थ है। हमारे विचार से तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन के जिज्ञासु-जनों के और भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित समग्र स्वरूप को जानने वालों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। हम प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक, तन्त्रागमशास्त्र के महान् मनीषी श्री द्विवेदी जी के पूर्णायुष्य और आरोग्य की कामना करते हुए श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य, काशी विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा से प्रार्थना करते हैं कि इसी तरह आपके द्वारा साहित्य की सेवा होती रहे।

इस अवसर पर प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन आदि कार्यों में निष्ठा से काम करने वाले सभी को हम शुभाशीर्वाद प्रदान करते हैं। पूरे ग्रन्थ पर पण्डित श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी की सूक्ष्म दृष्टि इसको परिमार्जित रूप दे सकी है। डॉ० जी. सी. केण्डदमठ, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण की जिम्मेदारी निभाई है। शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस में कार्यरत श्री राजशेखर जी. हिरेमठ एवं सुश्री चन्दना बनर्जी ने आकर्षक अक्षर-संयोजन किया है। श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी) ने भी इस कार्य में संक्षिप्त भूमिका निभाई है। हम इन सबके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए आशीर्वचन पूर्ण करते हैं।

महाशिवरात्रि, संवत् २०५६ **इत्याशिषः**

❋❋❋

प्रस्तावना

प्रबुद्ध भारतीय प्रजा के समक्ष "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" के नाम से "गुरुत: शास्त्रत: स्वत: परत:" प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत करते हुए आज एक अवर्णनीय सन्तुष्टि की अनुभूति हो रही है। गुरुजनों के अतिरिक्त मुझ पर महान् मनीषी आचार्य नरेन्द्रदेव एवं प्रोफेसर को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर का बहुत गहरा प्रभाव रहा है। इनके विषय में मैंने कहीं लिखा है कि मनुष्य देवता तो बन जाता है, किन्तु मनुष्य रहते हुए भी व्यक्ति कितना ऊँचा उठ सकता है, इन दोनों महानुभावों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य जी ने एक महनीय ग्रन्थ "बौद्ध धर्म-दर्शन" लिखा था। उसी के अनुकरण में मैं "शैव धर्म-दर्शन" के नाम से इस ग्रन्थ को लिखना चाहता था। मद्रास के एक वयोवृद्ध विद्वान् डॉ. के. आर. नंजुण्डन ने मुझे लिखा था कि इस तरह के ग्रन्थ की अभी बहुत आवश्यकता है। मैं एक टीस का अनुभव कर रहा हूँ कि वे अब इस ग्रन्थ को देखने के लिये विद्यमान नहीं है।

प्रारंभ में मैं अनेक विषयों पर लिखा करता था और राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी की संस्कृत भाषा की त्रैमासिक शोधपत्रिका "सारस्वती सुषमा" का सहायक सम्पादक पद इसमें सहायक सिद्ध हुआ। कुछ प्रश्नों के समाधान के लिये मैं श्रद्धेय कविराज जी के पास जाया करता था और वे उनका संतोषजनक समाधान किया करते थे। उस प्रसंग में पता चला कि कभी कविराज जी ने आधुनिक अनुसन्धान के क्षेत्र में भी महनीय अवदान दिया था। एक बार उन्होंने मुझे यह सत्परामर्श दिया कि संस्कृत भाषा का क्षेत्र बहुत विशाल है। चारों तरफ हाथ-पैर मारने पर कुछ भी हाथ नहीं लगेगा, अत: किसी एक क्षेत्र को चुन कर उस पर मनोयोगपूर्वक काम करना चाहिये। उनके इस सत्परामर्श को स्वीकार कर मैंने अन्तत: आगम-तन्त्रशास्त्र को अपने अध्ययन का क्षेत्र चुना। तब से मैं इस क्षेत्र में निरन्तर यथामति लगा हुआ हूँ और इस क्षेत्र में गुरुत: की भूमिका श्रद्धेयचरण श्री श्री कविराज जी ने निभाई है।

पुस्तकें पढने की रुचि मेरी प्रारंभ से ही रही है। काशी की ज्ञानवापी स्थित कारमाइकल लाइब्रेरी में जाकर मैं काव्यमाला गुच्छक की संस्कृत पुस्तकें पढा

करता था। बाद में गोयनका पुस्तकालय का मैं नियमित पाठक बन गया। जब मैं आगम-तन्त्रशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ, तो उस समय भी मेरे पथप्रदर्शक श्रद्धेय कविराज जी ही थे।

मैं पहली बार काशी तो अपने पितृष्वसेय आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री जी के साथ आया था, किन्तु दूसरी बार मेरे साथ थे मास्टर साहब श्री काशीराम जी ईनाणी। इनसे मैंने प्रारंभिक अंग्रेजी पढी थी। ये आर्यसमाजी विचारधारा के अनुयायी थे। इनको तो मुझसे कोई अपेक्षा नहीं थी, किन्तु इनके एक आर्यसमाजी मित्र ने इन्हीं से पूछा कि आपके ये साथी किस विचारधारा के हैं। उनको उन्होंने ही उत्तर दे दिया कि अभी से इन्हें कोई विचारधारा पालने की जरूरत नहीं है। कम बोलने की आदत के कारण मैं उस प्रश्न-प्रतिवचन में तो शामिल नहीं हुआ, किन्तु मुझे आश्चर्य सा लगता है कि तब से अब तक मैं किसी धर्म या मत का अनुवर्ती न होकर पूरी भारतीय संस्कृति का सेवक हूँ। इतना अवश्य है कि आर्यसमाज के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द जी ने जिस शिवभक्ति को छोड़ दिया, स्वामी जी के साथ कुछ परोक्ष संबन्धों के रहते हुए भी उस शिवभक्ति को मैं आज भी पूर्ण समर्पित हूँ और यही कारण है कि अपने ग्रन्थ का नाम मैं "शैव धर्म-दर्शन" रखना चाहता था।

मैं प्रथमतः दर्शन का विद्यार्थी रहा हूँ और शास्त्री से आचार्य तक परीक्षा देते समय प्रायः सभी आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर चुका था। पं. बालबोध मिश्र, पं. रघुनाथ शर्मा और पं. ढुण्ढिराज शास्त्री जी से मैंने यह अध्ययन किया था। इस क्षेत्र में भी मेरी दृष्टि का विकास श्रद्धेय कविराज जी के कारण ही हुआ। कभी-कभी मैं सुहृत्प्रवर पं. जगन्नाथ उपाध्याय जी के साथ कविराज जी के घर पर जाकर उनके प्रवचन सुना करता था। प्रत्येक दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का अध्ययन करने की हमारे यहाँ एक परम्परा है। उस परम्परा से हट कर और आस्तिक-नास्तिक के घेरे से बाहर निकल कर प्रत्येक दर्शन को वे एक निश्चित परिणति तक ले जाते थे और इस प्रसंग में महिम्नःस्तोत्र का यह वचन अवश्य याद कर लिया करते थे—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव"। बाद में अभिनवगुप्त के तन्त्रसार को पढ़ते समय यह वचन देखने को मिला—"नैषां परफलविधौ कापि हि भिदा"। इस दृष्टि की पुष्टि तब और भी हुई, जब उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका में "शिवविष्णुबुद्धादिरूपेण भगवानेक एव" जैसे विचार पढने को मिले और भट्ट रामकण्ठ रचित सर्वागमप्रामाण्य जैसे ग्रन्थों की सूचना मिली। इस विषय की चर्चा ग्रन्थ में यथास्थान की गई है।

श्रद्धेय कविराज जी ने प्राच्य-पाश्चात्त्य विलक्षण लेखन-शैली को जन्म दिया था। उनका कहना था कि प्राच्य शैली में ग्रन्थ की बहिरंग परीक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है और पाश्चात्त्य शैली बहिरंग प्रधान हो गई है। हमें किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार के विषय में लिखते समय उसकी बहिरंग और अन्तरंग परीक्षा पर सन्तुलित ध्यान देना चाहिये। ग्रन्थों का सम्पादन करते समय मैंने उनकी इसी दृष्टि का अनुवर्तन किया है। उनमें से चार ग्रन्थों के नाम मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। फ्रांस के तन्त्रागम शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. आन्द्रे पादु ने भी इनका उल्लेख किया है। उनके नाम हैं—१. नित्याषोडशिकार्णव (दो टीका एवं विविध परिशिष्ट सहित), २. शक्तिसंगम तन्त्र (चतुर्थ खण्ड, परिशिष्ट सहित), ३. सात्वतसंहिता (अलशिंगभाष्य एवं परिशिष्ट सहित) और ४. लुप्तागमसंग्रह (द्वितीय भाग)। ये चारों ग्रन्थ विस्तृत संस्कृत उपोद्घातों के साथ समय समय पर इसी क्रम से प्रकाशित हुए हैं और इनमें श्रद्धेय कविराज जी के द्वारा निर्धारित पद्धति का ही अनुसरण किया गया है। भारत में तो नहीं, किन्तु तन्त्रागम शास्त्र के विदेशी विद्वानों ने इनका स्वागत किया है और उनके निमन्त्रण पर बिना अंग्रेजी भाषा की विशेष जानकारी के मैं हालैण्ड और इंग्लैण्ड की यात्रा भी कर सका हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में रहते हुए मैंने शाक्त, शैव और वैष्णव आगमों पर कार्य किया था और साथ ही श्रद्धेय कविराज जी के निर्देश के अनुसार प्राय: उन ग्रन्थों के वचनों का भी संग्रह करता जाता था, जिनके अनुपलब्ध होने की सूचना मिलती थी। स्वयं कविराज जी ने भी इस तरह के वचनों का संग्रह कर रखा था। इन सभी संगृहीत वचनों को लुप्तागमसंग्रह के नाम से दो भागों में प्रकाशित कराया गया। स्वयं कविराज जी इनके विषय में बहुत कुछ लिखना चाहते थे, किन्तु काल की गति के कारण ऐसा न हो सका। दोनों भागों में संगृहीत वचनों में तन्त्रागम शास्त्र की प्राय: सभी शाखाओं के ग्रन्थों के वचन संगृहीत थे। इनके विषय में कविराज जी के प्रवचनों से पर्याप्त जानकारी भी हम लोगों को मिली थी और सबसे बड़ी बात यह कि जिन ग्रन्थों के जिन स्थलों से इन वचनों का चयन किया गया था, वहाँ उस विषय के संबन्ध में संक्षेप अथवा विस्तार से थोड़ी-बहुत सामग्री अवश्य मिल जाती थी। यह सामग्री विषयगत ही नहीं, ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में भी पर्याप्त जानकारी से भी भरी रहती थी। इन आधार-ग्रन्थों के अध्ययन से तन्त्रागम शास्त्र की विभिन्न शाखाओं के मुख्य विषयों की पर्याप्त जानकारी मिल सकी और इसकी भी कि इनमें कितनी समानता अथवा असमानता है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद सुहृत्प्रवर पं. जगन्नाथ उपाध्याय जी के कहने से हम लोग बौद्ध तन्त्रशास्त्र पर कार्य करने लगे। पं. जवाहर लाल नेहरु फैलोशिप पाकर उन्होंने तीन वर्ष तक बौद्ध तन्त्रों पर कार्य किया था और इस अवधि में सारनाथ के तिब्बती संस्थान में, सरस्वती भवन पुस्तकालय में तथा स्वयं व्यक्तिगत रूप में भी संस्कृत भाषा में निबद्ध बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों का पर्याप्त संग्रह किया था। यह तो हम जानते ही हैं कि विगत सहस्राब्दी के अन्तिम और वर्तमान सहस्राब्दी के प्रारंभ के ४००-५०० वर्षों में बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के सूत्र एवं तन्त्र विभाग के अन्तर्गत अनेक सहस्र ग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद हुआ था। यह दुनिया का सर्वोत्कृष्ट कोटि का अनुवाद साहित्य माना जाता है। यह अनुवाद चार-चार बार हुआ और इसके सभी संस्करण सुरक्षित हैं।

उपलब्ध संस्कृत मातृकाओं के साथ इस अनुवाद-साहित्य की भी सहायता लेकर अब तक यहाँ से अनेक संस्कृत बौद्ध तन्त्रों का उद्धार हो चुका है और हो रहा है। साथ ही एक षाण्मासिक शोधपत्रिका भी 'धी:' के नाम से हिन्दी भाषा में प्रकाशित की जा रही है। इन सबका अध्ययन करने के बाद मेरी पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि तन्त्रशास्त्र ने अध्यात्म को बाहर लाने की चेष्टा की है, मानवमात्र को अध्यात्म का अधिकारी माना है। विज्ञान को भी चित्त की प्रभास्वरता के दर्शन हों, यह आवश्यक है। अन्यथा चित्त की मलिनता से जुड़ा यह विज्ञान सब कुछ भस्म कर देगा।

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधयोजना की ऊपर चर्चित 'धी:' पत्रिका के लिये मैंने कुछ निबन्ध लिखे थे। उनमें से दो की चर्चा मैं यहाँ करना चाहता हूँ। एक का शीर्षक था "बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों का समान दृष्टिकोण" और दूसरे का था "बौद्ध एवं बौद्धेतर योगतन्त्र का तुलनात्मक विवेचन"। शीर्षक से ही विषय की जानकारी मिल जाती है। प्रथम निबन्ध में ऐसे अनेक वचन संगृहीत हैं, जिनमें परस्पर भावगत साम्य ही नहीं, आनुपूर्वी भी कहीं-कहीं मिल जाती है, या एक दूसरे के वचन को प्रमाण के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। षडंग योग बौद्ध तन्त्रों की विशेषता मानी जाती है। प्रस्तुत निबन्ध में बताया गया है कि शैव, शाक्त, वैष्णव आगमों में ही नहीं, अनेक उपनिषदों में और भगवद्गीता के भास्करभाष्य में भी इनको देखा जा सकता है।

मैं दस ज्योतिर्लिंगों की यात्रा पूरी कर चुका था। वीरशैव धर्म में पंचाचार्यों द्वारा स्थापित पाँच मठों का विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन सबका परिचय

दिया गया है। काशी का जंगमवाड़ी मठ उनमें से एक है। यह ज्ञानसिंहासन के नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ विश्वेश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी के सामने ज्योतिर्लिंगों की यात्रा की चर्चा उठी थी और उन्हें मालूम था कि दो ज्योतिर्लिंगों की यात्रा मेरी अभी बाकी है। वे उखीमठ के रावल सिद्धेश्वर लिंग शिवाचार्य जी का अभिषेक करने के लिये जाने वाले थे। उस समय शोधकार्यरत श्री चन्द्रशेखर शर्मा हिरेमठ को उन्होंने मुझे उस उत्सव में ले चलने के लिये कहा और दस महानुभावों के साथ मैं भगवान् केदारेश्वर और बदरीनाथ धाम की यात्रा भी साथ में कर सका।

इस घटना से जंगमवाड़ी मठ के साथ मेरा निकट का सम्पर्क स्थापित हो गया और महास्वामी जी की आज्ञा के अनुसार लिंगधारणचन्द्रिका का नया संस्करण तैयार किया गया। कालक्रम से इनके शिवैक्य प्राप्त हो जाने पर वर्तमान शिवाचार्य जी का उस पद पर अभिषेक हुआ और इन्होंने अपने परमगुरु एवं गुरु की इच्छा पूरी करने के लिये शैवभारती शोध प्रतिष्ठान की स्थापना की। शैव धर्म के लिये इस प्रकार की कोई शोधसंस्था कार्य नहीं कर रही थी। उनके आग्रह पर मैंने इस शोध प्रतिष्ठान के निदेशक के पद पर कार्य करना स्वीकार कर लिया। वीरशैव दर्शन (शक्तिविशिष्टाद्वैत) के अतिरिक्त पाशुपत, सिद्धान्तशैव और प्रत्यभिज्ञा दर्शन को भी इस प्रतिष्ठान की परिधि में रखा गया। अब तक यहाँ से अनेक आगम-ग्रन्थों के साथ दार्शनिक ग्रन्थों का भी प्रकाशन हो चुका है।

बादरायण ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। मैं समझता हूँ, उनमें से वीरशैव भाष्य में ही दीक्षा में एवं ब्रह्मविद्या में मानवमात्र का अधिकार स्वीकार किया गया है। पारमेश्वरागम[१] में बताया गया है कि पति शैव और पत्नी वैष्णव अथवा पत्नी शैव और पति वैष्णव हो तो भी ये दोनों जीवन पर्यन्त अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए एक साथ दाम्पत्य सूत्र में बँधे रह सकते हैं। आज कल के धर्मपरिवर्तन के युग में मुझे यह कुछ अनोखा सा लगा, यद्यपि भारतीय इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

उन्हीं दिनों वीरशैव पंचाचार्यों के एक बृहत् संमेलन में नांदेड (महाराष्ट्र) जाना हुआ। वहाँ एक यज्ञ भी आयोजित था। उसका विरोध हो रहा था। यह उलटा चक्र चलाने का प्रयत्न था। ब्राह्मणवाद और मनुवाद के नाम पर अबोध

---

१. "स्त्रियस्तु लिङ्गधारिण्यः पुरुषा विष्णुसेवकाः।। पुरुषा लिङ्गिनः केचिद् वैष्णव्यस्तु स्त्रियस्तथा। तयोरहं गतिश्चैव मत्प्रीतिरुभयोः समा।।" (१७.२०-२१)

जनता को बरगलाने का यह प्रयास था। वर्तमान विश्व की महान् धरोहर वैदिक वाङ्मय और संस्कृत भाषा को उखाड़ फैंकने का यह दुष्प्रयत्न था। वहाँ इकट्ठी हुई जनता के सामने एकेश्वरवादियों की तरफ से प्रच्छन्न रूप में यह प्रश्न भी उठाया गया था कि हिन्दुओं का कोई एक देवता नहीं है। हिन्दु शब्द पर तो हम सभी कुर्बान हो जाना चाहते हैं, किन्तु हिन्दु शब्द से आजकल संबोधित किया जाने वाला कोई भी व्यक्ति देखे कि वह आदर तो सभी देवताओं का करता है, किन्तु अन्ततः उसका उपास्य देवता एक ही है। इस चक्रव्यूह को तोड़ने का मेरे मन में संकल्प जागा और वह इस ग्रन्थ का आकार लेने जा रहा है।

तन्त्रागम शास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन करते समय मैंने देखा है कि दीक्षा, पुरश्चरण आदि के प्रसंग में अग्निसमाराधन का विधान सभी तन्त्रों में मिलता है। यह देख कर आश्चर्य हुआ कि कालचक्र तन्त्र की अतिप्रसिद्ध टीका विमलप्रभा में त्रिविध अथवा पंचविध वैदिक कर्मकाण्डीय वह्नियों के साथ ज्ञानवह्नि का भी विवरण वैदिक मन्त्रों[१] को उद्धृत करते हुए दिया गया है (भा. २, पृ. ७५)। इतना ही नहीं, यहाँ [२]अक्षोभ्य आदि पंचबुद्धों की ईशान आदि पंचब्रह्मों से तुलना की गई है। इस पूरी सामग्री को संगृहीत कर मैंने एक निबन्ध इस शीर्षक से लिखा है—"तन्त्रों पर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव"। अपने अध्ययन के प्रसंग में मैंने देखा कि भूमि, कुण्ड, अग्नि, घृत आदि के संस्कारों के अवसर पर सर्वत्र वैदिक विधि का ही अनुसरण किया गया है। वैष्णव, शैव, शाक्त तन्त्रों के अतिरिक्त बौद्ध तन्त्रों में भी इन विधियों का किस तरह से कितना अनुसरण किया गया है, उन्हीं में निर्दिष्ट सामग्री को प्रस्तुत कर सप्रमाण बताने का प्रयत्न किया गया है। तन्त्रागम शास्त्र पर विशेष कर कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर कार्य कर रहे रोम (इटली) के प्रसिद्ध शोधसंस्थान के अध्यक्ष प्रो. आर. न्योली के संमान में एक ग्रन्थ वहाँ से प्रकाशित हो रहा है। इसके लिये संस्कृत में निबन्ध मांगने पर मैंने वहाँ इसी निबन्ध को भेज दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि वहाँ से हमारे मित्र डॉ. आर. तोरेला का पत्र आया है कि इसका अंग्रेजी अनुवाद न कर हमलोग इसे मूल संस्कृत में ही प्रकाशित करेंगे। उन्होंने यह टिप्पणी भी जोड़ी कि आपने पूरी तरह से एक नये

---

१. "क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्।।" (ऋग्. १०.१६.९; यजु. ३५.१९)।

२. "पञ्चवक्त्राणि वा पञ्चब्रह्मलक्षणानि जटामुकुटधराणि। अत्र सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः" (भा. २, पृ. १८६)।

विषय पर लिखा है। हम उन भारतीय राजनेताओं की भाषणबाजी से इसकी तुलना करें, जो वोट की खातिर इस देश को उजाड़ देने में लगे हुए हैं। उलटा तुर्रा यह है कि ये लोग संस्कृत भाषा को और उसके प्रेमियों को इसके लिये जिम्मेदार मानने की गुस्ताखी भी करते हैं—विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

एक बात से हमें विशेष रूप से सावधान रहना होगा। समाज में परस्पर विद्वेष को फैलाने वाले अनेक वाक्य प्रचलित हैं। उनमें से एक पुराने समस्त पद को हम यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। वह है—श्रमणब्राह्मणम्। इसका अर्थ है श्रमण और ब्राह्मण का परस्पर उसी तरह से सनातन बैर है, जैसा साँप और नेवले का, या कौआ और उल्लू का हुआ करता है। श्रमण शब्द से बौद्ध और जैन दोनों का ग्रहण होता है । पाणिनि के सूत्र को कात्यायन का वार्त्तिक बता कर इस उदाहरण की प्रवृत्ति कराई गई है और शुंग वंश के राजा पुष्यमित्र के यजमान महाभाष्यकार पतंजलि को इसमें घसीटा गया है, जब कि वास्तविकता यह है कि आठवीं शताब्दी तक के किसी भी व्याकरण शास्त्र के ग्रन्थ में यह उदाहरण हमें नहीं मिला। तो भी विद्वद्गोष्ठियों में इसकी चर्चा निरन्तर चलती रहती है। इस बात की खोज होनी चाहिये कि इस उदाहरण का सर्वप्रथम प्रयोग किस ग्रन्थ में हुआ और साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि इस उदाहरण के प्रभाव को तन्त्रागम शास्त्र ने अब बहुत कुछ शिथिल कर दिया है, किन्तु लगता है कि थेरवादियों पर इसका प्रभाव अभी भी कम नहीं हुआ है।

न तो वैदिक बाहर से आये हैं और न द्रविड़। बौद्ध और जैन धर्म के प्रवर्तक बुद्ध एवं महावीर तथा सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानकदेव इसी धरती की सन्तान हैं। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त का यह उद्घोष हमारे तन-मन में बसा हुआ है—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"। पूरी भारती प्रजा को हमें यह सन्देश सुनाना है और जो भटक गये हैं, उनको भी यह बताना है कि इस प्यार भरी भारत माता की गोद में सब कोई निर्भय होकर विचरण कर सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि यह पूरी दुनिया मध्यकालीन बर्बरता, हठवाद और दुराग्रह से अपने को मुक्त कर सके।

इतनी बात लिखकर मैं अपने मन्तव्य को, इस पुस्तक की रचना के प्रयोजन को स्पष्ट कर चुका हूँ। हालैण्ड के वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध प्रोफेसर जे. गोण्डा भारतीय विद्याओं के प्रति समर्पित रहे हैं। वैष्णव एवं शैव आगमों पर उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा था—"चेंज एण्ड कन्टीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन"। यह एक ऐसा शीर्षक है, जिसमें पूरी भारतीयता सिमट गई

है। इस विषय को उन्होंने कुछ उदाहरणों से समझाया है। मेरे मन में आया कि मैं भी अपने ढंग से इस विषय को समझने का प्रयत्न करूँ। इसके लिये मैंने तन्त्रागम शास्त्र को चुना है और उसके माध्यम से यह जानने की कोशिश की है कि भारतीय संस्कारों में विचारों की निरन्तरता के साथ बिना किसी क्रान्ति के किस तरह से परिवर्तन भी होता चला आ रहा है।

तन्त्रागम शास्त्र का यहाँ धर्म और दर्शन की दृष्टि से तो अध्ययन किया ही गया है, साथ ही उसके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस शास्त्र की सभी शाखाओं में अपनी-अपनी शाखा की प्रवृत्ति के विषय में अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं। पाश्चात्त्य दृष्टि मिथिक कहकर उनकी उपेक्षा कर देना चाहती है। २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों के विषय में उनकी तथा उनके अन्धानुवर्तियों की यही दृष्टि है। इस ग्रन्थ में इसको स्वीकार नहीं किया गया। हम अपनी परम्पराओं को तब तक अस्वीकार नहीं कर सकते, जब तक उसके विरोध में प्रबल प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये जाते। अद्वैतवादी वेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर के काल के विषय में आधुनिक दृष्टि में यही दोष है। भारतीय परम्परा के अनुसार आचार्य शंकर भट्ट कुमारिल के पास शास्त्रार्थ करने की इच्छा से गये थे। आज के इतिहासज्ञों की दृष्टि में इन दोनों के बीच लम्बा अन्तराल माना गया है। इसके विपरीत शक्तिसंगम तन्त्र के दो स्थलों के प्रमाणों के आधार पर आचार्यश्री की वही तिथि आती है, जिसको भारतीय मान्यता मिली हुई है। हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ. तून [१]गान्द्रियान ने भी इतना स्वीकार किया है कि आचार्य शंकर का समय आजकल निर्धारित समय ७८८-८२० ई. से सौ वर्ष पहले अवश्य माना जा सकता है।

विज्ञानभैरव के उपोद्घात में अपने विचार प्रकट करते हुए हमने लिखा था कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दु आदि के कल्पित कालविभागों में बाँटकर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभाग सत्य की खोज में बाधक नहीं होने चाहिये। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ प्रविष्ट हो गई हैं। बौद्ध धर्म में श्रावकयान, महायान और मन्त्रयान की तथा जैन धर्म में दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी प्रवृत्तियाँ किस तरह प्रविष्ट

---

१. द्रष्टव्य—हिन्दु तान्त्रिक लिटरेचर इन संस्कृत, पृ. १३१

हुईं? इस प्रश्न का सही उत्तर आधुनिक ऐतिहासिकों के पास नहीं है। इस ग्रन्थ के उपक्रमाधिकार में इस प्रश्न का सही उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी (संस्थान) ने १८ खण्डों में संस्कृत साहित्य का बृहत् इतिहास तैयार कराने की योजना बनाई थी। उसमें तन्त्रागम खण्ड का सम्पादक मुझे बनाया गया था। उन्हीं दिनों तिब्बती संस्थान, सारनाथ में भी तन्त्रशास्त्र पर एक सप्तदिवसीय कार्यशाला के आयोजन पर विचार चल रहा था। इसका संयोजक भी मैं ही था। इस अवसर का अधिक से अधिक लाभ ले सकने की दृष्टि से बृहत् इतिहास के तन्त्रागम खण्ड को इतिहास-प्रधान तथा कार्यशाला को विषय-प्रधान बनाने का विचार उठा और इसके लिये एक समिति बना कर दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मातृका, मुद्रा, न्यास, पीठ, बाह्य एवं आन्तर पूजा, षडंग योग, कुण्डलिनी (चण्डाली) योग, वज्रदेह, प्राणापान-व्यापार जैसे विषयों का चुनाव किया गया, जिनकी चर्चा तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में मिलती है। इन दोनों योजनाओं को इसी रूप में कार्यान्वित किया गया और अब ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

इन दोनों ग्रन्थों की पद्धति से आगम-तन्त्रशास्त्र को यहाँ छः मोटे विभागों में बाँटा गया है—वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त। इनको पुनः विभाजित करते समय वैष्णवागमों के तीन, शैवागमों के सात, शाक्तागमों के मुख्यतः दो, बौद्ध तन्त्रों के चार एवं चतुर्थ अनुत्तर तन्त्र के पुनः तीन भेद किये गये हैं। पंचायतन पूजा और दस महाविद्याओं के रूप में विकसित साहित्य का यहाँ स्मार्त तन्त्रों में समावेश किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के पढने से इस शास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं के विषय में पर्याप्त जानकारी मिल सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी जानकारी को परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। संक्षेपरुचि व्यक्तियों के लिये सारनाथ की कार्यशाला के विवरण के सिंहावलोकन का तथा बृहत् इतिहास के तन्त्रागम खण्ड के संपादकीय "आगम-तन्त्रशास्त्र का सिंहावलोकन" (पृ. ३१-४१) का देखना पर्याप्त हो सकता है। इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वहाँ हिन्दी पुरोवाक् (पृ. १३-२१) में तन्त्रशास्त्र के अध्ययन की जो दृष्टि प्रस्तुत की गई है, उससे हम सहमत नहीं हैं, यद्यपि आजकल का अध्ययन बहुत कुछ इसी ढर्रे पर चल रहा है। इसकी अपेक्षा वहाँ का संस्कृत पुरोवाक् अधिक सन्तुलित लगता है।

इस ग्रन्थ की मुख्य सामग्री ऊपर सूचित चार ग्रन्थों के विस्तृत संस्कृत उपोद्घातों, संस्कृत निबन्धों तथा संस्कृत भाषा में ही लिखित अपनी प्रस्तावनाओं से ली गई है। इन पंक्तियों के लेखक ने तन्त्रागम शास्त्र के विषय में हिन्दी भाषा में भी थोड़ा-बहुत लिखा है। बहुत आवश्यकता प्रतीत होने पर उसमें से भी कुछ सामग्री

यहाँ ली गई है, किन्तु ज्यादातर स्थलों पर ग्रन्थ के आकार को सीमित रखने की दृष्टि से ऐसी सामग्री का स्थल-निर्देश मात्र कर दिया गया है। भारतीय तन्त्र- शास्त्र और बृहत् इतिहास के तन्त्रागम खण्ड की सामग्री का निर्देश इसी रूप में यहाँ विशेष रूप से किया गया है। पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत संबन्धी सामग्री इसमें अपवाद है।

अन्त में एक विशेष बात की ओर हम पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं कि यहाँ भारत की आज की सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का समाधान भी खोजा जा सकता है। उदाहरण के लिये तन्त्रागम शास्त्र की प्राय: सभी शाखाओं में यह सिद्धान्त मान्य है कि मनुष्य इसी जन्म में मुक्त हो सकता है। अवधूतसिद्ध के भक्तिस्तोत्र के एक श्लोक के साथ अन्य अनेक प्रमाणों को हम इस ग्रन्थ में उद्धृत कर चुके हैं। इससे एक संभावना बन सकती है। सेमेटिक धर्मों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं है। मृत्यु के उपरान्त आदमी कब्र में ही दबा रहता है। कयामत आने पर ईश्वर उसके किये कर्मों का लेखा-जोखा लेता है और तदनुसार उसको जन्नत या दोजख देता है। इन धर्मों में मोक्ष की, कर्मबन्धन से छुटकारे की कोई व्यवस्था नहीं है। हमारे यहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शन में दुःखान्त को ही मोक्ष माना गया है। इस पाषाण-कल्प स्थिति की दार्शनिक जगत् में पर्याप्त समालोचना हुई तथा शैव और पाशुपत मत के अनुवर्ती व्योमशिव, भासर्वज्ञ जैसे न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने इस समालोचना को स्वीकार कर मोक्ष की परिभाषा में आवश्यक परिवर्तन किया। मनुष्य की प्रतिभा को तो अब विज्ञान ने भी स्वीकार कर लिया है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी भारत में इसे बहुत पहले से मान्यता मिली हुई है। कयामत आने तक रूह को कब्र में दबाये रखने के बजाय उसे तुरन्त अपने पास बुला लेने की दुआ माँगना क्या बुरी बात है? भारत में यदि ऐसा संभव होता है तो यह एक नये विश्व-धर्म और विश्व-संस्कृति की नींब रखने के बराबर होगा।

भगवद्गीता में ही नहीं, तन्त्रागम शास्त्र की विभिन्न शाखाओं में भी यह वर्णित है कि जीवन में एक ऐसी भी स्थिति आती है, जब व्यक्ति के शुभाशुभ कर्म फलदान से विरत हो जाते हैं। यह स्थिति "काश्यां मरणान्मुक्तिः" अथवा "मुक्तिरेकेन जन्मना" जैसे वाक्यों के जपने मात्र से नहीं आ सकती, इसके लिये तो व्यक्ति को जीवन्मुक्ति की स्थिति तक पहले पहुँचना पड़ेगा। ऐहिक एवं पारलौकिक भोगों से, त्रिविध एषणाओं से विरक्त व्यक्ति ही वहाँ तक पहुँच सकता है और तभी योगी अरविन्द की अतिमानस स्थिति धरती पर उतर कर अखण्ड महायोग के माध्यम से एक अखण्ड विश्व-संस्कृति का पथ प्रशस्त कर सकती है।

❋❋❋

विषय-सूची

शुभाशीर्वचन — *i-iii*

प्रस्तावना — *iv-xiii*

विषय-सूची — *xiv-xviii*

संकेत-सूची — *xix-xx*

उपक्रमाधिकार

तन्त्रागमशास्त्र का सामान्य परिचय — १-२१

विदेशी प्रभाव — सिद्धिविषयक मत — पांचरात्र-पाशुपत मतों का प्रामाण्य एवं प्राचीनता — अन्य तान्त्रिक मत — अध्ययन की दिशा एवं क्रम।

तन्त्रागमशास्त्र का अवतार एवं उसकी विशेषता — २१-३४

तन्त्रशास्त्र की शाखा-प्रशाखाएँ — तीन स्रोत — पाँच स्रोत — अनुस्रोत — छः स्रोत — पीठ विभाग — आम्नाय विभाग।

तन्त्रों का प्राचीन-नवीन विभाग — ३४-३६

तन्त्रागमीय दर्शन — ३६-४०

निगमागम विवेचन — ४०-४३

पुराणों पर निगमागम का प्रभाव — ४३-५०

तन्त्रागमीय संस्कृति — ५१-५६

तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता — ५६-६९

स्वात्मदेवता — एक ही जन्म में मुक्ति — स्वात्मप्रत्यभिज्ञा — समता-दृष्टि — शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था — विधि-निषेध मीमांसा — ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक — जातिग्रह — शंका — सत्तर्क और स्वानुभव — भगवद्गीता में संशोधन — समन्वयात्मक दृष्टिकोण — परतत्त्व की प्रकाश-विमर्शात्मकता — वैज्ञानिक-उन्मेष।

वैष्णवाधिकार

पृष्ठभूमि ७१-७८

त्रिविध वैष्णवागम — दशविध वैष्णव सम्प्रदाय।

वैखानस आगम ७९-९७

इनकी वेदानुवर्तिता — दीक्षा — साकार और निराकार आराधन — वैदिक आराधना से समानता — ऐतिहासिक विवेचन — वैखानस वाङ्मय — संहिता, टीका, व्याख्या एवं पद्धति ग्रन्थ — प्रतिपाद्य विषय — वैखानसीय दर्शन — वैखानसीय योग — क्रिया एवं चर्या — सार-संक्षेप।

पांचरात्र आगम ९८-१५६

पांचरात्र शास्त्र की प्राचीनता — पांचरात्र पद की प्रवृत्ति — पांचरात्र साहित्य [सात्वतसंहिता — अलशिंग भट्ट — सात्वतभाष्य में उद्धृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार — ब्रह्मसूक्त एवं महोपनिषत् — हयशीर्ष-पंचरात्र — वामननाथ] — पांचरात्रीय दर्शन [त्रिविध एवं पंचविध ब्रह्म — परब्रह्म का लक्षण — परब्रह्म की द्विविध दशा [पर एवं व्यूह] — व्यूहान्तर — विभवावतार — लोकनाथ — नर-नारायण — शक्तीश और उसकी शक्तियाँ — शक्तीश का मन्त्रमय शरीर — सत्य आदि प्राणाधिपति — भवोपकरण — सिद्धदशक — शब्दब्रह्म — वर्ण (मातृका) चक्र — मन्त्र — प्रणव — जप और मुद्रा — पांचरात्रीय योग — पांचरात्रीय क्रिया एवं चर्या — याग (अर्चन) — दीक्षा एवं अभिषेक — भोग एवं मोक्ष — आधुनिक साहित्य।

भागवत आगम १५७-१७५

भागवतागम नामावली — भक्ति सम्प्रदाय — भक्ति साहित्य — अष्टविध भक्ति — भगवान् — प्रीति-पुष्टि-प्रपत्ति — शरणागति — भक्ति पंचम पुरुषार्थ एवं दशम रस — अद्वय भक्ति — उपसंहार।

शैवाधिकार

पाशुपत मत १७७-१९२

शैवागम — चतुर्विध शैव — दशविध शैव — द्विविध शिवागम — श्रीकण्ठ — लकुलीश — शिवावतार श्रीकण्ठ — योगाचार्य लकुलीश — पाशुपत योगाचार्य।

लकुलीश पाशुपत मत १९२-२०४

लकुलीश पाशुपत दर्शन — गुरु — गणनवक — पंचार्थ [कार्य-कारण-योग-विधि-दु:खान्त] — लकुलीश पाशुपत मत की विशेषता — गुरु-शिष्य — दीक्षा — मन्त्र — चर्या और योग — निष्ठा।

कालामुख एवं कापालिक मत २०४-२१३

कौल मत २१३-२३४

सिद्ध और नाथ — सहज योग — मत्स्येन्द्रनाथ — गोरक्षनाथ — मत्स्योदरी मत — सिद्धनाथपाद — कुलार्णवतन्त्र — शक्तिसंगम निर्दिष्ट सम्प्रदाय — कौल दर्शन — कौलिक योगविधि।

सिद्धान्तशैव मत २३५-२९७

शिवज्ञान — सिद्धान्तशास्त्र — दक्षिण भारतीय दर्शन — २८ सिद्धान्तागम — उपलब्ध आगम — प्रकरण ग्रन्थ — मध्यदेश से शैवागमों का प्रचार — शैवमठ-परम्परा — आमर्दक मठ का परिचय — १८ पद्धतिकार — निश्वासतत्त्वसंहिता — मतंगपारमेश्वर — शिवपुराण — अष्ट-प्रकरण — सद्योज्योति शिवाचार्य — बृहस्पतिपाद — हृदयशिव — हरप्रबोध शैवाचार्य — प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय — अवधूतसिद्धपाद — रामकण्ठ-चतुष्टयी — श्रीकण्ठ (रत्नत्रयकार) — नारायणकण्ठ — रामकण्ठ — भोजदेव — कर्मकाण्डक्रमावली — ईशानशिवपद्धति — त्रिलोचन शिवाचार्य — सर्वात्मशम्भु — कुमारदेव — दासगुप्त और हांडीकी के मत की समालोचना — तात्पर्यदीपिका — अघोरशिव — अघोरशिव के मत की समीक्षा — कुमारदेव और अघोरशिव के मतभेद।

शब्दरूप और अवबोध रूप ज्ञान २९७-३५७

शास्त्र का विस्तार — शास्त्रों में प्रमाण-तारतम्य — सभी शास्त्रों का प्रामाण्य — शास्त्रों के उपदेष्टा (आयातिक्रम) — पंचविध अथवा षड्विध संबन्ध — शास्त्र का प्रयोजन। त्रिपदार्थ चतुष्पाद शास्त्र — **पति** (शिव) — अशरीरी शिव — शक्ति की करणता — शक्ति और शक्तिमान् — शिव की पंचमन्त्रतनुता — शिव की पंचकृत्यकारिता — सृष्टि-विवेचन — पति की निमित्तकारणता — पति की त्रिविधता — जीवोन्मुख शिव — शिव का सकल स्वरूप (मन्त्रमय शरीर) — **पशु** (जीव) — त्रिविध पशु — जीवों के अन्य प्रकार — भोगोन्मुख जीवात्मा — शिवोन्मुख

जीव — [केवलावस्थ-सकलावस्थ-अमलावस्थ] — **पाश** — १.मल– २.तिरोधान शक्ति – ३.महामाया (बिन्दु) – [महामाया कुण्डलिनी-चतुर्विध वाग्वृत्ति]– ४.माया – ५.कर्म — अवबोधरूप ज्ञान।

सांग दीक्षा ३५७-४२७

मलपरिपाक, कर्मसाम्य और शक्तिपात — दीक्षा और अभिषेक — [दीक्षा का महत्त्व — दीक्षा का लक्षण — मलक्षयकारी दीक्षा — दीक्षा के अधिकारी — दीक्षा के भेद] — अभिषेक — गुरु और शिष्य [गुरुपादुका — शिष्य] — भोग और मोक्ष — [मोक्ष — जीवन्मुक्त — मुक्त — मुक्ति (मोक्ष)] — मुक्ति के साधन — शिवसाम्य विषयक चतुर्विध पक्ष — मोक्ष के भेद — अद्वयदृष्टि में भोग और मोक्ष — षडध्व विवेचन — कालाध्वा और देशाध्वा — **(क) कालाध्वा** — १.वर्णाध्वा-[अनुत्तर तत्त्व — विसर्ग त्रैध — काम, विष और निरंजन तत्त्व — एकार — बिन्दु] — २.पदाध्वा — ३.मन्त्राध्वा [मन्त्रवीर्य–मन्त्रजप] — **(ख) देशाध्वा** — ४.कलाध्वा — ५.तत्त्वाध्वा [परतत्त्व — पाँच शुद्ध तत्त्व — सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व — चौबीस अशुद्ध तत्त्व — भावप्रत्यय सर्ग] — शैव एवं सांख्य-दृष्टि में अन्तर [त्रिगुण — प्राण आदि पाँच वायु — आहंकारिक सृष्टि] — अन्य मतों की समीक्षा — पांचभौतिक सृष्टि — तत्त्वत्रय — ६.भुवनाध्वा — षडध्वशुद्धि — षडध्वविलय की द्विविध प्रक्रिया।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र एवं दर्शन ४२८-४८८

स्पन्दशास्त्र — प्रत्यभिज्ञाशास्त्र — त्रिकशास्त्र — ऐतिहासिक विवेचन — आगम-ग्रन्थ [तन्त्रसद्भाव – त्रिशिरोभैरव – नेत्रतन्त्र(मृत्युंजयभट्टारक) – परात्रीशिका – परापंचाशिका – योगवासिष्ठ (मोक्षोपाय) – रुद्रयामल – विज्ञानभैरव – विज्ञानभैरवव्याख्या – सर्वमंगलाशास्त्र – सर्ववीरभट्टारक – स्वच्छन्द-तन्त्र] — विशिष्ट ग्रन्थ-ग्रन्थकार [शिवसूत्र – कल्लट – स्पन्दकारिका – प्रद्युम्न भट्ट – सोमानन्द – उत्पल भट्ट – शिवस्तोत्रावली – शम्भुनाथ – भास्कर भट्ट – स्पन्दप्रदीपिका – अभिनवगुप्त – विश्वावर्त – क्षेमराज – जयरथ – विमर्शदीपिका – भास्करकण्ठ – शंकरनन्दन – आलोकमाला]।

दार्शनिक विवेचन ४५९-४८८

अण्डचतुष्टयात्मिका सृष्टि — महामाया कुण्डलिनी — वर्णों और तत्त्वों की उत्पत्ति — वर्णोदय — कालोदय — चक्रोदय — अद्वयवादी

प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीवात्मा — द्विविध ज्ञान और अज्ञान — बन्ध और मोक्ष — त्रिविध उपाय और समावेश [आणव-शाक्त-शांभव उपाय - त्रिविध समावेश] — अनुपाय प्रक्रिया — आचार्य (गुरु) — दीक्षा — त्रिविध योग।

वीरशैव मत ४८९-५१६

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि — वीरशैव साहित्य [चन्द्रज्ञान - सूक्ष्मागम - मकुटागम - कारणागम - पारमेश्वरागम] — शैव भेदोपभेद।

वीरशैव दर्शन

शिव का स्वरूप — शक्ति का स्वरूप — शिवशक्ति का संबन्ध — शक्ति के छः भेद — स्थल (ब्रह्म) — लिंगस्थल — अंगस्थल — लिंगांग-संयोग — लिंगैक्य — जीवात्मा (अंग) — षड्विध भक्ति एवं षट्स्थल।

❋❋❋

संकेत-सूची

अनु. सू. अनुभवसूत्र
अ. प्र. अष्टप्रकरण
अभि. अभिनवगुप्त
अभिनवगुप्त. अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी
अर्थ. अर्थरत्नावली, नि. षो. टीका
अष्ट. उपो. अष्टप्रकरण उपोद्घात
अ. सं. अहिर्बुध्न्यसंहिता
आफ्रेख्ट. कैटलागस् कैटलागरम्
आ. सं. आनन्दसंहिता
इन्ट्रोडक्शन. इन्ट्रोडक्शन टू दी पांचरात्र लिटरेचर एण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता
ई. प्र. वि. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई. प्र. वि. वि. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
ऋ. ऋग्वेद
ऋजु. ऋजुविमर्शिनी, नि. षो. टीका
क. क्र. कर्मकाण्डक्रमावली
कि. वि. किरणागम विद्यापाद
कुला. कुलार्णव
कू. पु. कूर्मपुराण
खिला खिलाधिकार
गु. प. क्रि. गुरुदेवपद्धति, क्रियापाद
गु. सि. गुह्यसिद्धि
चन्द्र. क्रिया. चन्द्रज्ञानागम, क्रियापाद
त. प्र. तत्त्वप्रकाश
त. सा. तन्त्रसार
तन्त्रा. तन्त्रालोक
तन्त्रा. वि. तन्त्रालोकविवेकव्याख्या
तन्त्राज् तन्त्राज् : स्टडीज् ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर
ता. सा. तान्त्रिक साहित्य
त्रि. म. ना. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्
धर्मशास्त्र. धर्मशास्त्र का इतिहास
न. प. टी. नरेश्वरपरीक्षाटीका
ना. पु. नारदीयपुराण
नि. पू. निर्वाणप्रकरण, पूर्वार्ध
नि. षो. नित्याषोडशिकार्णव
नि. षो. से. नित्याषोडशिकार्णव सेतुबन्धटीका
ने. उ. नेत्रतन्त्र-उद्योतटीका
ने. त. नेत्रतन्त्र
न्यू. कैट. न्यू कैटलागस् कैटलागरम्
प. त्री. वि. परात्रीशिकाविवृति
पद्म. पद्मपुराण
प. मो. का. परमोक्षनिरासकारिका
प. सा. परमार्थसार

पा. त. च. पाद्मतन्त्र चर्यापाद
प्र. ल. सा. प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय
प्रा. भा. सा. प्राचीन भारतीय साहित्य
बिब्लियोग्राफी. डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओ-ग्राफी आफ प्रिन्टेड टेक्स्ट आफ पांचरात्रागम
बृहदिति. तन्त्रा. संस्कृत साहित्य का बृहदितिहास, तन्त्रागम खण्ड
बृ. सं. बृहत्संहिता
बो. च. भू. बोधिचर्यावतारभूमिका
भा. त. भारतीय तन्त्रशास्त्र
म. क्रि. मतंगपारमेश्वर, क्रियापाद
म. पा. वि. मतंगपारमेश्वर, विद्यापाद
म. म. प. महार्थमंजरीपरिमलव्याख्या
महाना. महानारायणोपनिषत्
महा. शान्ति. महाभारत, शान्तिपर्व
महि. महिम्नस्तव
मृ. वि. मृगेन्द्रागम, विद्यापाद
मैत्रा. उ. मैत्रायणी-उपनिषत्
यो. हृ. योगिनीहृदय
यो. हृ. दी. योगिनीहृदयदीपिकाटीका
रघु. रघुवंश महाकाव्य
लक्ष्मी. लक्ष्मीतन्त्र
लुप्ता. लुप्तागमसंग्रह
लुप्ता. उपो. लुप्तागमसंग्रह-उपोद्घात
वि. पं. विरूपाक्षपंचाशिका
वि. भै. विज्ञानभैरव
वेदान्तदेशिक. वेदान्तदेशिक ए स्टडी
श. त. सं. शतरत्नसंग्रह
शक्ति. उ. शक्तिसंगमतन्त्र-उपोद्घात
शान्ति. शान्तिपर्व, महाभारत
शि. सू. वि. शिवसूत्रविमर्शिनी
शै. बि. शैवदर्शनबिन्दु
शैव कल्ट्स. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया
श्वे. उ. श्वेताश्वतर-उपनिषत्
स. द. सं. सर्वदर्शनसंग्रह
सां. का. सांख्यकारिका
सा. सात्वतसंहिता
सा. का. सार्धत्रिशतिककालोत्तर
सा. का. वृ. सार्धत्रिशतिककालोत्तरवृत्ति
सा. पं. टी. साम्बपंचाशिकाटीका
सि. शि. सिद्धान्तशिखामणि
सूक्ष्मा. सूक्ष्मागम
स्टडीज. स्टडीज इन दी तन्त्राज
स्तव. क्षेम. स्तवचिन्तामणि, क्षेमराज-कृतवृत्तिसहित
स्प. नि. स्पन्दनिर्णय
स्प. प्र. स्पन्दप्रदीपिका
स्पन्द. राम. स्पन्दकारिका, रामकण्ठ-कृतवृत्तिसहित
स्व. उ. स्वच्छन्दतन्त्र, उद्योतसहित
स्व. त. स्वच्छन्दतन्त्र
ह. प्र. हठयोगप्रदीपिका
हिन्दुइज्म. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म

❋❋❋

तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन

प्रथम खण्ड

उपक्रमाधिकार

१. तन्त्रागमशास्त्र का सामान्य परिचय
२. तन्त्रशास्त्र का अवतार एवं उसकी विशेषता
३. तन्त्रों की प्राचीन–नवीन विभाग
४. तन्त्रागमीय दर्शन
५. निगमागम विवेचन
६. पुराणों पर निगमागम का प्रभाव
७. तन्त्रागमीय संस्कृति
८. तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता

उपक्रमाधिकार

१. तन्त्रागमशास्त्र का सामान्य परिचय

आगम और तन्त्र शब्दों की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्राय: सभी ग्रन्थों में विस्तार और संक्षेप से लिखा जा चुका है। हमें यहाँ केवल इतना ही कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा-विशेष में रूढ हैं, जो पहले आगम और बाद में तन्त्र शब्द से अभिहित हुई। प्रो.[१] विण्टरनित्ज का कहना है कि ठीक-ठीक कहा जाय तो संहिताएं वैष्णवों के, आगम शैवों के तथा तन्त्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं। इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि आगम शब्द से जैसे आजकल शैव और वैष्णव दोनों ही तरह के आगम-ग्रन्थों की प्रतीति होती है, वैसे ही संहिता शब्द से केवल वैष्णवागमों का बोध नहीं होता। वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्यौतिष, पुराण आदि से संबद्ध संहिता नाम से अभिहित होने वाले ग्रन्थों की एक विशाल राशि विद्यमान है। इसीलिये वे[२] आगे लिखते हैं—वस्तुत: इन शब्दों में कोई भेद करने वाली स्पष्ट रेखा नहीं है और तन्त्र शब्द का प्रयोग बहुधा इस प्रकार के संपूर्ण ग्रन्थों के लिये हुआ है। इन सारे ग्रन्थों की कुछ समान विशेषताएँ हैं। ये पवित्र ग्रन्थ द्विजातियों के लिये ही नहीं, बल्कि शूद्रों और स्त्रियों के लिये भी हैं।

श्री चार्ल्स ईलियट[३] ने सन् १९२१ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में भागवतों और पाशुपतों के प्रकरण में उक्त विषय पर विचार करते हुए लिखा था कि तन्त्र, आगम और संहिताओं ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बाँटा था—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर पद मिलता है।

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी संस्करण), भा. १, ख.२, पृ. २४५; मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६६

२. वहीं, पृ. २४५, टिप्पणी भी द्रष्टव्य। वैष्णवों की पाद्मसंहिता को पाद्मतन्त्र कहा गया है। भागवत (१.३.८) में निर्दिष्ट सात्वततन्त्र शायद सात्वतसंहिता ही है। लक्ष्मीतन्त्र एक वैष्णव ग्रन्थ है। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि हयशीर्ष पंचरात्र (आदि, पटल २) और अग्निपुराण (अ.३९) में पांचरात्र-ग्रन्थ तन्त्र के नाम से संबोधित हैं।

३. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, लन्दन, भा.२, पृ. १८८-१८९ मूल एवं टिप्पणी।

यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पांचरात्र संहिताएँ ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु बिना पाद-विभाग के ये सभी विषय प्रायः सभी तन्त्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार आगम अथवा तन्त्र शब्द से समान प्रकृति और विशेषताओं वाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध होता है।

प्रो. विण्टरनित्ज[१] यद्यपि ईलियट की उक्त परिभाषा को मानते हैं और तदनुसार संक्षेप में शैवागमों और पांचरात्र संहिताओं का परिचय भी देते हैं, तो भी आगे चलकर वे कहते हैं[२]—पर जब हम तन्त्रों की बात करते हैं, तब हमारा ध्यान शाक्तों के पवित्र ग्रन्थों पर चला जाता है। ऐसा कहते समय वे ईलियट की इस उक्ति को भूल जाते हैं[३]—किन्तु मुझे यह पुनः कहना पड़ेगा कि सब मत तान्त्रिक हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे सब शाक्त हैं। शाक्त मत मूलतः आनुपूर्वी से सिद्धान्त और व्यवहार में विशुद्ध तान्त्रिक है। विण्टरनित्ज इस शास्त्र का परिचय उन ग्रन्थों के आधार पर देते हैं, जिनका आविर्भाव-काल नितान्त परवर्ती है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराणों और तन्त्रों का अध्ययन कोई आनन्ददायक कार्य नहीं है। यह बात तन्त्रों के बारे में अधिक सही है। ये सारे के सारे हीन कोटि के लेखकों की कृतियाँ हैं और प्रायः असंस्कृत और व्याकरण के नियमों से अछूती भाषा में लिखे गये[४] हैं। तन्त्रशास्त्र पर किये गये इस तरह के आक्षेपों का भारतरत्न म. म. पी. वी. काणे [५]महोदय ने प्रतिवाद किया है।

किन्तु भारतरत्न डॉ. पी. वी. काणे [६]जब लिखते हैं कि लोग तन्त्रों से तात्पर्य लगाते हैं शक्ति (काली देवी) की पूजा, मुद्राएँ, मन्त्र, मण्डल, पंचमकार, दक्षिणमार्ग, वाममार्ग एवं ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ, जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इसी तरह से शक्तिवाद और तन्त्रों के उद्भव के विषय में जानकारी देते हुए वे जब कहते हैं कि उन्होंने पुराणों पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा मध्यकाल की धार्मिक रीतियों और व्यवहारों (आचारों) को प्रभावित किया[७], तब वे तन्त्र शब्द का प्रयोग विण्टरनित्ज के उसी संकुचित अर्थ में करते हैं, यद्यपि वे इस

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ. २४५-२४९ तक।

२. वहीं, पृ. २४९

३. हिन्दुइज्म, भा. २, पृ. १९१

४. प्रा. भा. सा., भा. २, पृ. २६२

५. धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी संस्करण), भा. ५, अ. २६, पृ. ४६; हिन्दी समिति, उत्तर-प्रदेश शासन, लखनऊ, सन् १९७३

६. वहीं, पृ. १

७. वहीं, पृ. १

प्रसंग में [१]जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, प्रपंचसार, शारदातिलक, ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति जैसे वैष्णवागम एवं शैवागम के ग्रन्थों का भी परिचय देते हैं, जो इन शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत नहीं आते।

इसका कारण यह है कि श्री चार्ल्स ईलियट[२] की पद्धति पर इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया गया। इसके विपरीत श्री जान [३]वुडरफ के ग्रन्थों को इस शास्त्र के अध्ययन में आवश्यकता से अधिक प्रमाण मान लिया गया है। इस विद्वान् के द्वारा तन्त्रशास्त्र की की गई सेवाओं के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए भी हमें यह कहना पड़ रहा है कि इनका प्रायः सम्पूर्ण अध्ययन उन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत हुआ है, जिनका आविर्भाव काल अपेक्षाकृत परवर्ती है। जब प्रो. विण्टरनित्ज[४] कहते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बंगाल में हुआ मालूम पड़ता है, जहाँ से वे असम और नेपाल में गये तथा भारत के बाहर बौद्ध धर्म के माध्यम से वे तिब्बत और चीन में भी पहुँचे, तब वे परवर्ती काल में आविर्भूत इसी शास्त्र की ओर इंगित करते हैं, क्योंकि यह सही है कि परवर्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में ही आविर्भूत हुआ था, किन्तु यह वह साहित्य नहीं है, जो असम और नेपाल में और बौद्ध धर्म के माध्यम से तिब्बत तथा चीन में गया। यह निर्यातित ज्ञान अभिनवगुप्त के पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आविर्भूत हुआ था। इसके विपरीत परवर्ती काल का पूरा साहित्य, इस्लाम के आक्रमण के कारण पूर्ववर्ती साहित्य के प्रायः नष्ट हो जाने के बाद नेपाल और तिब्बत में सुरक्षित तन्त्रों की सहायता से पुनरुद्धार के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसका मुख्य केन्द्र बंगाल था। जब कुछ विद्वान्[५] भारतीय तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की बात करते हैं, तब उनकी यह बात इसी परवर्ती काल में आविर्भूत शास्त्र पर लागू होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि भागवतों (पांचरात्र) और पाशुपतों ने एक ऐसी पूजाविधि का आविष्कार किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास और मुद्राओं की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। "देवो भूत्वा देवं यजेत्"

---

१. वहीं, पृ. ५५-५८ एवं ७८-८३

२. हिन्दुइज्म, भा. २, पृ. १८७ से प्रारंभ हुए "भागवताज् एण्ड पाशुपताज्" आदि अध्यायों को देखिये।

३. प्रा. भा. सा., भा. २. पृ. २४९

४. प्रा. भा. सा., भा. २. पृ. २५०

५. म. म. भारतरत्न पी. वी. काणे ने उक्त ग्रन्थ के पृ. २-३ (मूल एवं टिप्पणी) में इन विद्वानों के मतों का उल्लेख और खण्डन किया है। प्रकारान्तर से प्रस्तुत प्रकरण में भी इस विषय पर आगे विचार किया गया है।

यह उसका सिद्धान्त-वाक्य था। स्वयं देवस्वरूप होकर वह अपने आराध्य को भी इसी विधि से मूर्ति, पट, यन्त्र, मण्डल आदि में प्रतिष्ठित करता था और इस प्रकार अपने इष्टदेव की बाह्य वरिवस्या संपादित करता था। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिये यहाँ व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान था और आन्तर वरिवस्या के लिये वह कुण्डलिनी योग का सहारा लेता था। वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिये जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज आगम या तन्त्रशास्त्र के नाम से जाना जाता है। अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिये इसका अपना दर्शन और योग-पद्धति है और बाह्य वरिवस्या के लिये मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विशिष्ट विधियाँ इनमें वर्णित हैं। इन्हींके आधार पर प्रत्येक आगम में विद्या (ज्ञान), योग, क्रिया और चर्या नाम के चार पादों का विधान है। शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द आदि देवताओं की आराधना इसी पद्धति से होने लगी थी। इन पूर्ववर्ती शैव और वैष्णव आगमों की तथा परवर्ती शाक्त तन्त्रों की ऊपर वर्णित आराधना-विधि में कोई अन्तर नहीं है। भारतीय [१]वाङ्मय में कहीं श्रुति-स्मृति के, कहीं पुराणों और धर्मशास्त्रों के समकक्ष इनका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

इस संबन्ध में ईलियट[२] का यह कहना एकदम सही है कि तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्म-ग्रन्थ और जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं। तन्त्रशास्त्र के पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है। तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के, रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के एवं संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिये विवश किया जाय। तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है — भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उनको रूपान्तरित कर भगवान् बना देना। मनुष्य विश्वातीत के साथ संबन्ध रखते हुए विश्व के साथ भी संबद्ध रहता है। यह मानव शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों का छोटा प्रतिरूप है। इस विश्व के छोटे-बड़े सभी अंशों में ये शक्तियाँ समान रूप से कार्यरत हैं।

---

१. प्रो. चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने "दि तन्त्राज : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर" (कलकत्ता, सन् १९६३) नामक ग्रन्थ के "प्लेस ऑफ दि तन्त्राज अमोंग अदर शास्त्राज्" नामक अध्याय (पृ. २९-३७) में भागवत, वायुसंहिता, मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट, भास्करराय, मित्रमिश्र, मधुसूदन सरस्वती आदि को उद्धृत कर इस विषय की स्थापना की है। नि. षो. के टीकाकार शिवानन्द ने त्रैवर्णिक-विषयक और सर्ववर्ण-विषयक आगमों के रूप में इसकी व्याख्या की है (पृ. २४)।

२. हिन्दुइज्म. भा. २, पृ. १९०

यह बात आगम और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे साहित्य पर लागू होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र नाम से अभिहित होने वाली साहित्यधारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि चार्ल्स ईलियट जैसे विद्वानों के द्वारा इन दोनों धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आमगशास्त्र की उपेक्षा-सी कर दी है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं। वस्तुतः कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्रशास्त्र ने, अपितु इससे भी पहले आगमशास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा भी न केवल मध्यकालीन, प्रत्युत बुद्धोत्तरकालीन भारतीय धार्मिक रीतियों तथा व्यवहारों (आचारों) को भी प्रभावित किया।

विदेशी प्रभाव

प्रसंगवश यहाँ अभी तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की चर्चा की गई है। "गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः। पीठोपपीठक्षेत्रेषु कुरु सृष्टिमनेकधा।।" [१]इस श्लोक के आधार पर अनेक विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बाह्य उपादानों के आधार पर हुआ। [२]कुछ विद्वानों ने इस श्लोक को कुब्जिकामततन्त्र का, [३]कुछ ने कुब्जिकामत का और [४]कुछ ने कुब्जिकातन्त्र का बताया है। कुब्जिकामत[५] और कुब्जिकातन्त्र ये दो अलग-अलग ग्रन्थ हैं, किन्तु कुब्जिकामततन्त्र नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। कुब्जिकामत में यह वचन उपलब्ध नहीं होता। कुब्जिकातन्त्र का यह वचन हो सकता है, जो परवर्ती काल की रचना है। कुब्जिकामत छठी-सातवीं शती की [६]रचना मानी जाती है। उस समय भारत में पीठ-उपपीठ आदि की स्थिति की सूचना इस ग्रन्थ से मिलती है। फलतः म. म. डॉ. पी. वी. काणे[७] का यह कहना ठीक ही है कि उस समय तक भारत में तन्त्र-सिद्धान्त प्रचलित हो चुके थे। इस स्थिति में इनका बाहर से आयात हुआ, इस कल्पना का कोई आधार नहीं है।

---

१. म. म. हरप्रसाद शास्त्री का कैटलाग, ताड़पत्र पाण्डुलिपि, नेपाल दरबार लाइब्रेरी (कलकत्ता, सन् १९०५), भा. १, भूमिका, पृ.८९ देखिये।
२. धर्मशास्त्र, भा. ५. अ. २६, पृ.२
३. तन्त्राज्०, पृ. ४७
४. स्टडीज इन तन्त्राज्, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, भा. १, पृ. ४५
५. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के तन्त्र-विषयक सूचीपत्र में ५८०४ और ५८०५ संख्यक ग्रन्थों का विवरण देखिये।
६. धर्मशास्त्र., भा. ५, पृ. २, टि. ४
७. वहीं, पृ. ३

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची[१] ने तन्त्रों के दो मोटे बिभाग किये हैं। शास्त्रानुमोदित (आर्थोडाक्स) तन्त्रों में उन्होंने आगम, यामल तथा इनसे संबद्ध साहित्य को रखा है और शास्त्राननुवर्ती (हिटरोडाक्स) तन्त्रों में कुलाचार, वामाचार, सहजयान और वज्रयान के तन्त्रों को। उनका कहना है कि द्वितीय विभाग के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों की उत्पत्ति पर विदेशी प्रभाव था। कुब्जिकातन्त्र, चीनाचार, तारातन्त्र और संमोहनतन्त्र के आधार पर उन्होंने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वस्तुत: ये सभी ग्रन्थ परवर्ती काल की रचनाएँ हैं, क्योंकि इनकी अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती उपलब्ध तन्त्रों से कोई समानता नहीं मिलती। यहाँ उद्धृत संमोहनतन्त्र कम्बुज-शिलालेख[२] में स्मृत ग्रन्थ नहीं है। [३]जयद्रथयामल अपेक्षाकृत प्राचीन रचना है। इसके आधार पर डॉ. बागची ने जो कुछ कहा है, वह विचारणीय है। उसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि आठवीं शती के आसपास भारतीय तन्त्रशास्त्र तिब्बत में प्रविष्ट हो गया था। बाद में परस्पर आदान-प्रदान के माध्यम से परवर्ती काल में इनमें स्थानीय तत्त्वों का समावेश होना असंभव नहीं माना जा सकता। भारतीय तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं की उत्पत्ति मूलत: भारतीय ही है। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे।

---

१. स्टडीज़्० में "ऑन फोरेन एलिमेन्ट इन दी तन्त्र" नामक प्रकरण देखिये।

२. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ (पृ. १-१३) में कम्बुज-शिलालेख में उद्धृत चार प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों का उल्लेख कर उनका परिचय देने का प्रयत्न किया है। यहाँ उद्धृत संमोहतन्त्र को वे विष्णुक्रान्ता विभाग में स्मृत संमोहनतन्त्र से अभिन्न मानते हैं और इसी ग्रन्थ की मातृका के आधार पर अपना अध्ययन भी प्रस्तुत करते है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि तन्त्रों का श्री जान वुडरफ द्वारा प्रतिपादित अश्वक्रान्ता, रथक्रान्ता और विष्णुक्रान्ता विभाग परवर्ती तन्त्रसाहित्य पर आधृत है। कम्बुज-शिखालेख में स्मृत शिरश्छेद, वीणाशिख (बिनाशिख नहीं, जैसा डॉ. बागची ने उद्धृत किया है) और संमोंह तन्त्रों का सही परिचय म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित विश्वकोश के पंचम खण्ड में "तन्त्र साहित्य" शब्द का विवरण प्रस्तुत करते हुए दी है।

३. म. म. पी. वी. काणे ने इसी प्रसंग में रुद्रयामल का प्रमाण दिया है (पृ. ३)। कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणिनिगम में जैसे क्षेमराज की शिवसूत्रविमर्शिनी में उद्धृत इस ग्रन्थ का श्लोक नहीं मिलता, उसी तरह रुद्रयामल के आधुनिक संस्करणों में भी इस ग्रन्थ के प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत वचन एवं विषय नहीं उपलब्ध होते। अत: इन संस्करणों की प्राचीनता यद्यपि संदिग्ध है, तथापि प्राय: यही विषय ब्रह्मयामल, देवीभागवत (स्टडीज, चक्रवर्ती, पृ. ४६) आदि में भी आता है। इसका समाधान बौद्ध और शाक्त तन्त्रों की घातप्रतिघातात्मकता में ही खोजा जा सकता है। किसी सही निर्णय पर पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि इन ग्रन्थों के आविर्भाव-काल को पहले निश्चित कर लिया जाय।

शाक्त तन्त्रों को बौद्ध और हिन्दु तन्त्रों में विभक्त कर हिन्दु तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव को डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य[१] ने बड़े विस्तार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वे बौद्ध महायान धर्म पर पौराणिक प्रभाव की बात मानते हैं[२], जो वस्तुतः पौराणिक न होकर आगमिक (तान्त्रिक) प्रभाव था।

सिद्धिविषयक मत

डॉ. बी. [३]भट्टाचार्य ने आठ, अठारह और चौबीस प्रकार की सिद्धियों का उल्लेख करने के बाद ब्रह्मवैवर्तपुराण में वर्णित ३४ सिद्धियों में से कुछ का वर्णन किया है। उनके कथनानुसार ये सिद्धियाँ हिन्दु तन्त्रों में वर्णित हैं। इनसे भिन्न खड्ग, अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रसरसायन, खेचर, भूचर, और पाताल नाम की आठ सिद्धियाँ बौद्ध तन्त्रों में विशेष रूप से वर्णित हैं, ऐसा उनका आग्रह है। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित ये सभी सिद्धियाँ शक्तिसंगमतन्त्र में भी निर्दिष्ट हैं, किन्तु उनका कहना है कि हिन्दु तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव के ये उदाहरण हैं। [४]डॉ. बी. भट्टाचार्य और डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने बहुत विस्तार से इस पर विचार किया है। वे कहते हैं कि पद्मान्तक, मंजुघोष, वैरोचनाष्टक, पार्श्वनाथ, पद्मावती जैसे शब्दों की व्याख्या शक्तिसंगम आदि तन्त्रों में वैसी नहीं मिलती, जैसी बौद्ध एवं जैन तन्त्रों में मिलती है। हमें परवर्ती काल के तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों का प्रभाव मानना ही पड़ेगा, तो भी अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती काल में आविर्भूत तन्त्रों पर इस तरह का प्रभाव देखने को नहीं मिलता। नि. षो. जैसे प्राचीन शाक्त तन्त्रों में भी खड्ग, अंजन आदि सिद्धियाँ वर्णित हैं। अतः बौद्ध एवं हिन्दु तन्त्रों की सिद्धियाँ भिन्न-भिन्न हैं, इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्राचीन तन्त्रों का प्रभाव बौद्ध तन्त्रों पर भी आसानी से दिखाया जा सकता है।

वास्तव में यह सब भारतीय ज्ञान है। वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त—इन सभी मतों के मानने वाले विद्वान् एक साथ रहते रहे हैं। विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहा है और इसी प्रक्रिया से देश और काल के भेद से भारतीय विद्याओं का विकास हुआ है। धर्म और सम्प्रदाय से निरपेक्ष, दुराग्रह से दूर

---

१. "एन इण्ट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म" नामक ग्रन्थ का 'इन्फ्लुएन्स आफ बुद्धिष्ट तान्त्रिसिज्म ऑन हिन्दुइज्म" (पृ. १४७-१६४) शीर्षक प्रकरण द्रष्टव्य (चौखंबा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९६४)। डॉ. पी. वी. काणे ने इस मत की विस्तार से समालोचना की है। द्रष्टव्य — धर्मशास्त्र, पृ. ७-८

२. भट्टाचार्य, वहीं, पृ. ५०

३. "एन इंट्रोडक्शन टू बुद्धिष्ट इसोटेरिज्म", पृ. ८३-८९ द्रष्टव्य।

४. उक्त ग्रन्थ के १४७-१६४ पृष्ठों के साथ "स्टडीज इन तन्त्राज्" के ४५-५५ पृष्ठ देखिये।

गवेषणा की सहायता से ही हम यथार्थ स्थिति तक पहुँच सकते हैं। श्रद्धेय श्री श्री [1]गोपीनाथ कविराज ने मन्त्रयान के नाम से प्रसिद्ध बौद्ध तन्त्रों को वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान में विभक्त किया है। यहाँ के सभी विषय अन्य प्राचीन कौल तन्त्रों में भी मिलते हैं। इन प्राचीन कौल तन्त्रों के साथ इन त्रिविध बौद्ध तन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन अपेक्षित है, जो अभी तक हो नहीं पाया है। तभी ८४ सिद्धों की यथार्थ स्थिति भी स्पष्ट हो सकती है। शक्तिसंगमतन्त्र में नौ नाथों और ८४ सिद्धों का दशाधिक स्थानों पर एक साथ उल्लेख मिलता है। आजकल की गवेषणा के अनुसार सिद्धों को बौद्ध मत से और नाथों को शैव मत से संबद्ध माना जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो मत्स्येन्द्रनाथ सकल कुलशास्त्रों के अवतारक के रूप में प्रसिद्ध हैं। सिद्धों और नाथों की भी नामावली में पहला नाम इन्हींका है। इनके द्वारा प्रवर्तित छः ओवल्लियों में प्रभु, पाद और बोधि-शब्दान्त तथा [2]आनन्द, आवलि, योगि-शब्दान्त सिद्ध अवतरित हुए हैं। ये सब कौल मत का अनुसरण करते हैं और शैव, शाक्त तथा बौद्ध मत का अनुसरण करने पर भी इनके मूल सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इनकी योगपद्धति और क्रियापद्धति भी समान है।

पांचरात्र-पाशुपत मतों का प्रामाण्य एवं प्राचीनता

पांचरात्र (भागवत) और पाशुपत मत की प्राचीनता के संबन्ध में अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी[3] ने छान्दोग्य उपनिषद् पर भागवत मत के प्रभाव का अच्छा विश्लेषण किया है। शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय में तथा कृष्ण यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में पाशुपत मत की स्पष्ट झलक मिलती है। [4]महाभारतकार ने वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मतों को समान प्रमाण कोटि का माना है। कालिदास जब कहते हैं—"बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः। त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।।" (रघु. १०.२६) और पुष्पदन्त जब कहते हैं—"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने.... नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।" (महि. श्लो. ७), और फिर वीरमित्रोदयकार[5] जब पूछते हैं—"ननु सांख्य-योग-पाञ्चरात्र-पाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न" तब ये सब इन्हीं शास्त्रों के प्रामाण्य की बात करते हैं।

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव कृत "बौद्ध धर्म-दर्शन" की भूमिका (पृ. २८) देखिये।
२. तन्त्रालोक (२९.३६) में यह विषय प्रतिपादित है। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।
३. "अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट", पृ. ३९-५४ (कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १९२०
४. शान्तिपर्व नारायणीयोपाख्यान (३४९.६८) गीता प्रेस, गोरखपुर।
५. परिभाषा प्रकरण, पृ. २०, वाराणसी, सन् १९०६

बहुत ही विनम्रता के साथ हम पूछना चाहते हैं कि वैदिक एवं पौराणिक दृष्टिकोणों में भारी परिवर्तन कैसे उत्पन्न हुआ? साथ ही, उसी विनम्रता से अपना उत्तर भी प्रस्तुत करना चाहते है कि वैदिक यज्ञों को न केवल उपनिषदों[1] ने कमजोर नाव बताया, किन्तु उसी समय सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत जैसे दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। बुद्ध और महावीर ने जब वैदिक यज्ञीय धर्म पर प्रबल आक्रमण किया, तब भारतीय प्रबुद्ध चिन्तकों ने एक नवीन दृष्टिकोण की उद्भावना की, जिसका पूर्ण प्रतिबिम्ब हमें महाभारत और पुराणों में मिलता है। इनमें उक्त कृतान्तपंचक का ही नहीं, बुद्ध और महावीर के उपदेशों का सार भी हमें मिलता है और वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड से सर्वथा विपरीत भक्तिप्रधान पौराणिक धर्म के दर्शन होते हैं, जिसमें स्त्री और शूद्र को भी समान अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार नवीन पौराणिक धर्म की ही नहीं, अपितु भक्तिप्रधान बौद्ध महायान धर्म की भी उत्पत्ति हुई। पौराणिक धर्म को हम बौद्ध महायान धर्म का सहोदर मान सकते हैं, जनक नहीं। इस पर की जाने वाली अनुपपत्तियों का निराकरण हम आगमिक, महायानिक और पौराणिक प्रभाव की घात-प्रतिघातात्मकता के आधार पर ही कर सकते हैं। यह निश्चित है कि इन तीनों में आपेक्षिक दृष्टि से आगमिक धर्म ही अधिक प्राचीन है, भले ही आज उसका लिखित साहित्य उपलब्ध न होता हो।

सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का प्राचीन वाङ्मय आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु वह था अवश्य। छान्दोग्य उपनिषत्[2] में एकायन शब्द आया है। यह शब्द निर्विवाद रूप से भागवत (पांचरात्र) श्रुति का निदर्शक माना जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषत् की प्रकृति अन्य उपनिषदों से सर्वथा भिन्न है। हमारा नम्र निवेदन है कि उक्त कृतान्तपंचक ने न केवल वैदिक धर्म पर, किन्तु बौद्ध धर्म पर भी प्रभाव डाला। फलतः महायान बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। महायान साहित्य और आगम साहित्य (वैष्णव और शैव) का घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन होना चाहिये। दुर्भाग्य से प्राचीन आगम-साहित्य स्वल्प मात्रा में ही बचा है, तो भी पुराणों में हमें इनका पर्याप्त अंश सुरक्षित मिल जायगा। प्राचीन पांचरात्र संहिताओं का विशेष कर उपलब्ध शैवागमों का प्रकाशन और उनका महायान-सूत्रों और पुराणों से तुलनात्मक अध्ययन होना नितान्त अपेक्षित है। अग्निपुराण के अध्याय ३९-७० [3]हयशीर्ष पांचरात्र के आदिकाण्ड से

१. "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (मुण्डको. १.२.७)।
२. "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि.....वाकोवाक्यमेकायनम्" (७.१.२)।
३. हयशीर्षपंचरात्र आदिकाण्ड दो भागों में वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगलादेश से प्रकाशित है। अग्निपुराण के उक्त अध्यायों के वक्ता हयग्रीव भगवान् हैं। इस प्रकरण का प्रारंभ करने से पहले अग्निपुराण में कहा गया है—"हयशीर्षः प्रतिष्ठार्थं देवानां ब्रह्मणेऽब्रवीत्" (३८.५१)। हयशीर्ष पंचरात्र का उपदेश भगवान् हयशीर्ष ने ब्रह्मा को दिया है। अग्निपुराण के ३९वें अध्याय के प्रारंभ में दिये गये २५ पांचरात्र-तन्त्रों के नाम वे ही हैं, जो हयशीर्ष पंचरात्र के द्वितीय पटल के प्रारंभ में पठित हैं। उक्त ग्रन्थ में पठित भागवत संहिताओं और सामान्य संहिताओं के नाम अग्निपुराण में छोड़ दिये गये हैं।

तथा वहीं के ७१-१०६ अध्याय लीलावती शिवागम तथा सोमशम्भु-कृत [1]कर्मकाण्डक्रमावलि से मिलते-जुलते हैं, जो संवत् ११३० में लिखा गया ग्रन्थ है। पुराणों पर परवर्ती काल में आविर्भूत शाक्त तन्त्रों के प्रभाव की बात को तो स्वीकार[2] किया जाता है, किन्तु इन पुराणों पर वैष्णव और शैव आगमों के प्रभाव की ओर विद्वानों की दृष्टि अभी नहीं गई है। अग्निपुराण के समान ही अन्य अनेक पुराणों में इन आगम-ग्रन्थों और प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों के पर्याप्त उद्धरणों की उपलब्धि हो सकती है। पुराण-साहित्य के लिये ही नहीं, सांप्रदायिक[3] परवर्ती उपनिषत् साहित्य के लिये भी यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर इनमें घात-प्रतिघातात्मक पद्धति से नवीन तत्त्वों का समावेश हुआ या सर्वथा नवीन साहित्य की रचना हुई।

श्री चार्ल्स ईलियट[4] ने परवर्ती भारतीय साहित्य को चार भागों में बाँटा है—१. महाभारत-रामायण, २. पुराण, ३. तन्त्र और ४. सन्त साहित्य। जिसमें आगमों और संहिताओं का भी समावेश किया है, उस तन्त्र-साहित्य को उन्होंने तृतीय स्थान पर रखा है। हम इसको प्रथम स्थान देना चाहेंगे। अभी यह बताया जा चुका है कि कृतान्तपंचक की पृष्ठभूमि में इतिहास और पुराण-साहित्य का विकास हुआ। आगमों की अपेक्षा इतिहास और पुराण-साहित्य की विशेषता यह थी कि इन्होंने वेदों का सर्वोपरि प्रामाण्य स्वीकार किया और वर्णाश्रम-व्यवस्था को कोई क्षति न पहुँचने दी। इनकी दूसरी विशेषता परस्परविरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करना था। इन कारणों से इतिहास-पुराण साहित्य की परवर्तिता स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके विपरीत सन्त-साहित्य सीधे आगमिक एवं तान्त्रिक धारा से प्रभावित रहा है और पौराणिक समन्वयवादी दृष्टिकोण को भी वह अस्वीकार नहीं करता।

---

१. कर्मकाण्डक्रमावली, पृ. ३१ से १८६ (कश्मीर ग्रन्थमाला, सन् १९४७) से अग्निपुराण के इन अध्यायों की तुलना कीजिये। अग्निपुराण के इन अध्यायों के वक्ता ईश्वर हैं। "स्कन्दायेशो यथा प्राह प्रतिष्ठार्थं तथा शृणु" (७०.९) इस उक्ति के बाद यह प्रकरण प्रारंभ होता है। कर्मकाण्डक्रमावली संवत् ११३० की रचना है। इस ग्रन्थ का ३१वां पृष्ठ—"अथ संक्षेपतो दृष्टं लीलावत्यां शिवागमे" इस वचन से प्रारंभ होता है। यह कहा जा सकता है कि लीलावती नामक शिवागम के आधार पर कर्मकाण्डक्रमावली और अग्निपुराण—इन दोनों में उक्त प्रकरण का समावेश किया गया।

२. धर्मशास्त्र॰, भा. ५, अ. २६, पृ. १ एवं ४८-४९

३. "किन्तु ये उपनिषदें, ऐसा लगता है कि तन्त्रों को आलम्बन देने के लिये (क्योंकि वे अनादृत हो चले थे) प्रणीत हुईं और उनका उल्लेख राघव भट्ट एवं भास्कराचार्य (भास्कर-राय) जैसे मध्यकालीन लेखकों ने ही किया है" (धर्मशास्त्र॰, पृ. १२)।

४. हिन्दुइज्म., भा. २, पृ. १८६-१९१

तब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इसने महत्त्व का यह पूरा प्राचीन साहित्य लुप्त कैसे हो गया? पातंजल महाभाष्य, शाबरभाष्य, युक्तिदीपिका (सांख्यकारिकाटीका) जैसे प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत विशाल भारतीय साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, जिसका आविर्भाव ईसा के पूर्व तथा बाद की कुछ शताब्दियों में हुआ था। इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास पर कृतभूरि-परिश्रम विद्वान् ही दे सकते हैं।

बादरायण ने[१] वेदान्तसूत्र के तर्कपाद में बौद्ध और जैन दर्शन का खण्डन करने से पहले सांख्य-योग एवं वैशेषिक दर्शन का और बाद में पाशुपत और पांचरात्र[२] मत का खण्डन किया है और स्थापित किया है कि ये सब दर्शन अवैदिक हैं। बौद्ध और जैन धर्म से भी इनकी प्रतिद्वन्द्विता चली होगी। इस दुहरी प्रतिद्वन्द्विता को और इतिहास-पुराण की संग्राहिका प्रवृत्ति को हम पांचरात्र और पाशुपत मत के प्राचीन साहित्य के विलुप्त हो जाने का प्रमुख कारण मान सकते हैं।

इस परिस्थिति में पांचरात्र और पाशुपत मत ने भारतीय समन्वयवादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध महायान धर्म, जैन धर्म, पौराणिक धर्म और न्याय-वैशेषिक दर्शन पर अपनी कितनी छाप छोड़ी, इसका विश्लेषण करना अभी बाकी है। यह विश्लेषण, इसका जो कुछ अंश बचा है, उसके आधार पर भी किया जा सकता है। खेद का विषय यह है कि यह विशाल आगम-साहित्य अभी अप्रकाशित एवं उपेक्षित ही पड़ा है। पांचरात्रों और पाशुपतों के संबन्ध में कुमारिल भट्ट एवं आचार्य शंकर की विरोधी उक्तियों के रहते हुए भी प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने एक निश्चित अंश में उनको प्रमाण माना है।[३] तो भी यह आश्चर्य की ही बात है कि जिन आगम-ग्रन्थों के सहारे विशाल पुराण एवं स्मृति साहित्य का, धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों का, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं का और संगीतशास्त्र का विकास एवं पोषण हुआ, वह स्वयं उपेक्षित हो गया। वैष्णव और शैव आगमों का अध्ययन-अध्यापन स्वल्प मात्रा में केवल दक्षिण भारत में ही बचा है।

---

१. ब्रह्मसूत्र, तर्कपाद (द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद)।

२. पांचरात्राधिकरण की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से की है। आचार्य शंकर पांचरात्र आगम को कुछ अंशों में प्रमाण और कुछ अंशों मे अप्रमाण मानते हैं। रामानुज इसको पूरी तरह से प्रमाण ही मानते हैं। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण के मत से इस अधिकरण में शाक्त मत समालोचित है। इस सम्बन्ध में हमने "ब्रह्मसूत्र का पांचरात्राधिकरण" शीर्षक निबन्ध में विस्तार से विचार किया है। देखिये—"आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ४१-४६

३. देखिये—अपरार्क-कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका, भा. १, पृ. १०-१९; आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, सन् १९०३

अन्य तान्त्रिक मत

डॉ. भाण्डारकर[१] के ग्रन्थ से तथा अन्य प्रमाणों से भी हम जानते हैं कि किसी समय भारत में सूर्य, स्कन्द, गणेश एवं शक्ति के उपासक सम्प्रदाय भी विद्यमान थे। शाक्त सम्प्रदाय भी उतना नवीन नहीं है, जितना उसे बताया जाता है[२]। लगभग २३०० वर्ष प्राचीन मौर्य-शुंग काल की अतिप्रसिद्ध यक्षी प्रतिमा (मनसा देवी) मथुरा से लगभग बीस किलोमीटर दक्षिण की ओर स्थित झांग का नगला ग्राम से मिली मथुरा संग्रहालय में विद्यमान हैं। महाभारत में दुर्गा को संबोधित दो स्तोत्र हैं। इनमें पहला विराट पर्व (२३ अध्याय) में है। इन दोनों स्तोत्रों को क्षेपक माना जाता है[३], किन्तु महाभारत के भाण्डारकर संस्करण में श्रीपर्वत[४], शाकम्भरी और धूमावती देवी का वर्णन मिलता है। उदयपुर के पुरातत्त्व संग्रहालय में सन् ४९० ई. का एक शिलालेख[५] सुरक्षित है, जिसमें देवी की स्तुति की गई है। इस प्रसंग में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या शाक्त तन्त्र भी उतने ही प्राचीन हैं?

नेपाल से वैरोचन शिवाचार्य का प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसमें शिव के पाँच मुखों से आविर्भूत १६४ तन्त्रों के नाम गिना कर कहा गया है—

सिद्धान्ते चतुर्वर्णान्निभोजनं गारुडे विषम् ।
एकत्र भोजनं घोरे वामे वामामृतं तथा ।।
भूततन्त्रे शवस्पर्शः पञ्चस्रोतःस्वयं विधिः ।
(२.१३१-१३२)

---

१. "वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स", डॉ. रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (इण्डो-आर्यन रिसर्च ग्रन्थमाला), सन् १९१३

२. शाक्त तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव का खण्डन करने के बाद डॉ. पी. वी. काणे ने विस्तार से शाक्त मत की प्राचीनता को सप्रमाण सिद्ध किया है (धर्मशास्त्र॰, भा. ५, पृ. ७-१३)। उनका कहना है कि दुर्गापूजा अपने कतिपय रूपों में ३०० ई. से कम से कम सौ वर्ष पुरानी है (वहीं, पृ. १२, टि.१७)।

३. धर्मशास्त्र॰, भा. ५, पृ.१२

४. "श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः" (वन. ८३.१७), "ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम्। शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता।।" (वन. ८२.११), "धूमावतीं ततो गच्छेत्" (वन. ८२-२०)।

५. यह शिलालेख "एपिग्राफिया इण्डिका" (व. ३०, अं. ४, पृ.१२०-१३७) में विवरण के साथ प्रकाशित हुआ है।

तन्त्रालोक की टीका विवेक में जयरथ ने श्रीकण्ठीसंहिता के आधार पर ६४ भैरवागमों की नामावली दी है। नि. षो. के प्रारंभ में एक दूसरी ६४ तन्त्रों की नामावली[१] है। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने [२]कम्बुज-शिलालेख के आधार पर चार प्राचीन तन्त्रों का उल्लेख किया है। इनके नाम शिरश्छेद, विनाशिख (वीणाशिख), संमोह तथा नयोत्तर हैं। इन प्राचीन तन्त्रों की उपलब्धि हो जाने पर ही इनके आविर्भाव काल के संबन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। अभी तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन सभी ग्रन्थों का आविर्भाव एक ही समय में हुआ। इस काल का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसके आधार पर अभी केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनमें अधिकांश तन्त्र आगम-ग्रन्थों से कुछ भिन्न प्रकृति के हैं, किन्तु जिन तत्त्वों के समावेश के कारण तन्त्रवाद की भर्त्सना की जाती है, वे तत्त्व इनमें उपलब्ध नहीं होते, अर्थात् इन तन्त्रों की प्रकृति कौल तन्त्रों से भी भिन्न हैं।

आगमिक अथवा तान्त्रिक उपासना का लक्ष्य भोग और मोक्ष दोनों को माना गया है। भोग शब्द यहाँ ऐहिक भोग के लिये ही प्रयुक्त है, पारलौकिक के लिये नहीं, क्योंकि आगमशास्त्र का यह[३] उद्घोष है कि इसका अनुवर्तन करने से एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है। [४]"रुरुसिद्धान्तसंसिद्धौ भोगमोक्षौ ससाधनौ" और "[५]शिवापदाम्भोज-युगार्चकानां भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थितेव" ये दोनों ही वाक्य यद्यपि भोग और मोक्ष का विधान करते हैं, तथापि आगमिक भोग शब्द जहाँ ऐहलौकिक सामान्य ऐश्वर्य का वाचक[६] है, वहीं कुछ शाक्त तन्त्रों में प्रयुक्त भोग शब्द संभोग में रूढ हो जाता है और शाक्त तन्त्र की इस एक शाखा के कारण पूरा तन्त्रशास्त्र समालोच्य बन गया है। भोग

---

१. इन तथा अन्य ६४ तन्त्रों की नामावलियों पर आगे विचार किया जायगा।

२. "स्टडीज इन दी तन्त्राज्" (पृ. १-२) देखिये। इस शिलालेख में तिथि अंकित नहीं है, किन्तु शक संवत् ९७४ (१०५२ ई.) तक की सूचनाएँ इसमें प्राप्त हैं। यहाँ बताया गया है कि शक संवत् ७२४ (८०२ ई.) में राजा जयवर्मा द्वितीय के राज्यकाल में हिरण्यदाम ने शिवकैवल्य को उक्त चार तन्त्रों की शिक्षा दी।

३. इस संबन्ध में अवधूत सिद्ध के भक्तिस्तोत्र का ३०वाँ श्लोक, महार्थमंजरीपरिमल (पृ.१४५) में शिवधर्म और परमार्थसार की क्षेमराज की टीका (पृ.१९५) में उद्धृत शिवधर्मोत्तर का वचन द्रष्टव्य है।

४. अष्टप्रकरण स्थित सद्योज्योति शिवाचार्य कृत मोक्षकारिका की रामकण्ठ-कृत टीका (पृ. २४५) देखिये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८८

५. सौन्दर्यलहरी की सौभाग्यवर्धनी टीका (पृ.२२) में उद्धृत अशेषकुलवल्लरी का श्लोक। गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, सन् १९५७

६. इसकी तुलना वैशेषिकसूत्र के "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१. १.२) धर्म के इस लक्षण से की जा सकती है।

शब्द के अर्थ में यह परिवर्तन कैसे आया? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना सरल नहीं है। सामान्यत: विद्वानों का विचार है कि ये उपादान बौद्ध तन्त्रों में पहले प्रविष्ट हुए और उनकी लोकप्रियता[१] के आधार पर अन्य शाक्त तन्त्रों में भी इनका समावेश हो गया। तन्त्रशास्त्र की यह विशिष्ट पद्धति कुलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह परीक्षणीय है कि तन्त्रशास्त्र में कुलाचार अथवा वामाचार का प्रवेश कब और किन परिस्थितियों में हुआ।

शिव के वामदेव मुख से निर्गत वाम-तन्त्रों का स्वरूप अभी ऊपर उद्धृत "वामे वामामृतं तथा" इस वाक्य से कुछ ज्ञात होता है, किन्तु इन वाम-तन्त्रों और कुल-तन्त्रों के साम्य-वैषम्य के विषय में तन्त्रालोक के विभिन्न आह्निकों से जानकारी मिल जाती है। कुल अथवा कौल-ग्रन्थों के विषय में अघोरशिव के एक वचन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं, जिससे एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। मृगेन्द्रागम की दीपिका में वे [२]कहते हैं—"हिरण्यगर्भ-कपिल-मत्स्येन्द्रादयो वेद-सांख्य-कौलादितन्त्राणाम्"। इससे यह ज्ञात होता है कि कौल मार्ग के प्रवर्तक प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र हैं। यही बात [३]जयरथ ने भी कही है। मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव-काल और गोरक्षनाथ से उनके संबन्ध के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये अधिकांश विद्वानों के मत से इन पंक्तियों का लेखक सहमत नहीं है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय[४] ने मत्स्येन्द्र का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी माना है। यह लेखक इस बात से सहमत है कि इसीके आसपास कामरूप क्षेत्र में इनका आविर्भाव हुआ। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प[५] में शैव और वैष्णव तन्त्रों का उल्लेख है, शाक्त या कुल तन्त्रों का नहीं। इसके विपरीत गुह्यसमाज एक कुल-तन्त्र है। इसका आविर्भाव-काल अब छठी-सातवीं शती निश्चित हो गया है। अघोरशिव के वचन पर यदि हम विश्वास करें, क्योंकि अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मत्स्येन्द्र के आविर्भाव के बाद ही इस तन्त्र की प्रवृत्ति हुई।

---

१. धर्मशास्त्र०, भा. ५, अ. २६, पृ. ३७

२. विद्यापाद की नारायणकण्ठ की वृत्ति पर दीपिका टीका (पृ.७४)।

३. "सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः....मच्छन्दः" (तन्त्रा. वि. १.७)। मच्छन्द पद की व्युत्पत्ति वहाँ इस प्रकार दी गई है—"मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः। छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः।।" (पृ.२५)।

४. "अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी" (पृ. ५४६) चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९६३

५. द्रष्टव्य—पृ. २३-२४; मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् १९६४

मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपज्ञात ज्ञान को छः राजपुत्रों में बाँट दिया और इस प्रकार छः कुलों में उनकी परम्परा चली। यहाँ इस परम्परा के लिये ओवल्ली शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन ओवल्लियों में दीक्षित साधकों के नाम के अन्त में आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी शब्द जोड़े जाते थे। इसी नियम के अनुसार हम अनेक बौद्ध साधकों के नामों के अन्त में बोधि, प्रभु और पाद शब्दों को प्रयुक्त देखते हैं। भारतीय साहित्य में ८४ सिद्धों[१] की परम्परा प्रसिद्ध है। इनमें सभी वर्णों और धर्मों के उत्कृष्ट साधकों के नाम मिलते हैं। राजयोग, सहजयोग, कुण्डलिनीयोग और हठयोग के साधकों की इस परम्परा में भोग शब्द संभोग-परक कैसे हो गया, यह एक गवेषणा का विषय है। भोग शब्द की इस नूतन व्याख्या के आधार पर तन्त्रशास्त्र की इस शाखा में एक नवीन दृष्टि का उन्मेष हुआ, जिसने पूरे तन्त्रशास्त्र को भर्त्सना-योग्य बना दिया। इस आक्षेप को हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि कभी-कभी यह साहित्य कामशास्त्र[२] के घेरे में प्रविष्ट हो जाता है। मारविजयी शैव और बौद्ध धर्म में मार (काम) के इस अनोखे प्रवेश से ही परवर्ती शाक्त और बौद्ध कौल-प्रकृति के तन्त्रों की सृष्टि हुई। यह कहा जा सकता है कि धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में काम और अर्थ के इस अवांछनीय प्रवेश के कारण ही यह देश पराधीन हो गया और अब भी नहीं सँभल रहा है।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। इसकी एक-दो शाखाओं में कालान्तर में उद्भूत कुछ त्रुटियों के आधार पर पूरे शास्त्र को अग्राह्य नहीं माना जा सकता। भारत में विगत ढाई हजार वर्ष के धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक इतिहास पर आगम अथवा तन्त्रशास्त्र की गहरी छाप पड़ी है और आज का भारतीय जनजीवन वैदिक धर्म की अपेक्षा तान्त्रिक धर्म से अधिक संचालित है।

पूरा तान्त्रिक दर्शन जगत् को मायानिर्मित तथा अलीक नहीं मानता। इस जगत् को वह परमतत्त्व की ही परिणति मानता है। जैसे तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाएँ-

---

१. इन सिद्धों की विभिन्न नामावलियाँ उपलब्ध हैं। उन सबमें प्रथम स्थान निर्विवाद रूप से मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) को दिया जाता है। इससे भी हमारे उक्त मत की पुष्टि होती है।

२. दी तन्त्राज्०, चक्रवर्ती, पृ. ३८ एवं ४३ देखिये। म. म. काणे ने तन्त्रशास्त्र की इस प्रकृति का विस्तार से परिचय देने के बाद उसकी समालोचना की है (पृ. २६-४८)। प्रस्तुत लेखक इस समालोचना से सहमत है। इस प्रसंग में उन्होंने श्री जान वुडरफ की भी समालोचना (पृ. ३७-३९) की है। इस पर हमारा इतना ही कहना है कि श्री वुडरफ ने अपने पक्ष के समर्थन में जो प्रमाण दिये हैं, वे सभी प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। तन्त्रालोक (३.२२७) की टीका विवेक में अर्घ-निष्पादन के प्रसंग में "यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम्। तस्मात्तस्मात्र बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्। तस्मात्तस्मात्र बीभत्सेत" (२.३.७) यह ऐतरेयारण्यक का वचन निर्दिष्ट है।

उपशाखाएँ हैं, वैसे ही उनकी दार्शनिक चिन्ता भी अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में बँटी है। इन शाखाओं में नाद, बिन्दु, कला जैसे शब्दों की अपनी-अपनी व्याख्याएँ हैं। कुछ शाखाओं के ये मौलिक तत्त्व हैं। आगमिक अथवा तान्त्रिक षडध्व-प्रक्रिया के ये अंग हैं। यह स्वाभाविक है कि केवल प्रपंचसार, शारदातिलक जैसे परवर्ती काल की रचनाओं को इनका मूल मानने वालों[1] की दृष्टि में इनका अर्थ स्पष्ट प्रतीत न हुआ हो।

प्रसंगवश यह कहना अस्वाभाविक नहीं माना जायगा कि तान्त्रिक वाङ्मय में प्रपंचसार और शारदातिलक की अपनी विशिष्टता है। इनमें शिव, शक्ति, गणपति, सूर्य, स्कन्द आदि देवताओं की तान्त्रिक उपासना-विधियों को एक साथ कर दिया गया है। इन ग्रन्थों को हम स्मार्त धर्म का आधार मान सकते हैं। प्रपंचसार के साथ आचार्य शंकर का नाम जुड़ा है। ११वीं शती की ईशानशिवगुरुदेवपद्धति[2] में यह ग्रन्थ उद्धृत है। छठी-सातवीं से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शती के बीच प्रकट हुआ विपुल तान्त्रिक साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा है। इसके प्रकाशन के बाद ही प्रपंचसार और शारदातिलक का सही मूल्यांकन किया जा सकता है, क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ इनके पूर्व आविर्भूत सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों और सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

हमने ऊपर बताया है कि ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग, वैशेषिक, बौद्ध और जैन दर्शन के साथ पाशुपत और पांचरात्र मतों का भी खण्डन किया गया है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इन सभी मतों को अवैदिक और अनौपनिषद बताया। इसके विपरीत आगम वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में आगमशास्त्र को वेद से ऊँचा स्थान दिया गया था। इस प्रसंग में कुलार्णवतन्त्र (२. ७-८) के दो श्लोक द्रष्टव्य हैं। उनका भाव यह है कि सभी शास्त्रों में वेद सर्वोत्तम हैं, किन्तु इनसे भी ऊँचा स्थान क्रमशः आगमिक अथवा तान्त्रिक वाङ्मय की वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम और सिद्धान्त शाखाओं का है और इनमें कौल मत का स्थान सर्वोपरि है। अभिनवगुप्त[3] भी वेद, शैव, वाम, दक्ष, कुल, मत और त्रिक शाखाओं की क्रमशः श्रेष्ठता मानते हैं। किन्तु आचार्य शंकर के आविर्भाव के बाद धीरे-धीरे तान्त्रिक वाङ्मय ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की अपेक्षा अपने मत को वैदिक और औपनिषद सिद्ध करने में

---

१. धर्मशास्त्र०, भा. ५, अ. २६, पृ. २६

२. प्रथम भाग, पृ. ४० एवं ७१; त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम्, सन् १९२०; यह ग्रन्थ पुनः प्रतिमुद्रित हो चुका है।

३. परात्रीशिकाव्याख्या, पृ. ९२

ही पूरी शक्ति लगा दी।[१] इसका जो अंश स्वीकृत हुआ, वह वैदिकीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही। इसके विपरीत तन्त्रशास्त्र की विद्रोही शाखा में धर्म और आध्यात्मिकता (मोक्ष) के आवरण में काम और अर्थ ने प्रवेश पा लिया। फलतः बौद्ध धर्म के साथ ही यह तान्त्रिक धर्म भी यहाँ उपेक्षित हो गया।

म. म. पी. वी. काणे[२] ने लिखा है—"तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से संबद्ध इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव भाइयों (१४वीं शती) ने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में पन्द्रह दर्शनों की चर्चा की है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने तन्त्रों के विषय में एक भी शब्द नहीं लिखा, जब कि इन्होंने चार्वक-दर्शन एवं बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असंभव है कि इन दो विद्वान् भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञान नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के राजा वल्लालसेन ने अपने दानसागर में देवीपुराण को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से संभवतः इन विद्वान् भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की। इतना ही नहीं, तब तक तन्त्र-ग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग उनका विरोध करने लग गये थे" (पृ.७७)। उनकी यह बात शाक्त तन्त्रों की केवल ऊपर चर्चित शाखा के लिये ही लागू हो सकती है। प्रपंचसार[३] और शारदातिलक[४] में तान्त्रिक दर्शन तथा अन्य सामान्य विषयों का निरूपण करने के बाद सर्वप्रथम शक्ति की उपासना वर्णित है। सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर[५] ने कुलाचार को अवैदिक और समयाचार को वैदिक सिद्ध किया है और आज भी महान् आचार्य शंकर के द्वारा स्थापित मठों की परम्परा में त्रिपुरा की उपासना उसी विधि से सम्पन्न होती है। सर्वदर्शनसंग्रह में भी न(ल)कुलीश पाशुपत, शैवसिद्धान्त दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन और रसेश्वर दर्शन के

---

१. यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य, रामानुजाचार्य के पांचरात्राधिकरण, वेदान्तदेशिक की पांचरात्ररक्षा, भट्टोजी दीक्षित के तन्त्राधिकारिनिर्णय जैसे ग्रन्थों में यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

२. धर्मशास्त्र०, भा. ५. अ. २६, पृ. ७७

३. नवम पटल देखिये। यहाँ सर्वप्रथम त्रिपुरा भगवती की उपासना वर्णित है।

४. सप्तम से द्वादश पटल पर्यन्त

५. इस प्रसंग में यह बताना आवश्यक है कि सौन्दर्यलहरी के "चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः" इस श्लोक में ६४ तन्त्रों के उल्लेख के बाद कहा गया है—"स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्" (श्लो. ३१)। यहाँ स्वतन्त्र पद से प्राचीन और आधुनिक विद्वान् ज्ञानार्णव, कादिमत, स्वतन्त्रतन्त्र आदि का उल्लेख करते हैं। इन ६४ तन्त्रों को लक्ष्मीधर ने अवैदिक सिद्ध किया है (पृ. १३७-१३८)।

अलग-अलग प्रकरण हैं। ये सभी दर्शन आगम और तन्त्रशास्त्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्णप्रज्ञ दर्शन का परिचय प्रस्तुत करते हुए यहाँ (पृ. ४९) कहा गया है कि "पांचरात्रोपजीव्यत्व"[१] रामानुज और माध्व दर्शन की समान विशेषता है।

तन्त्रशास्त्र का अध्ययन हमें इस शास्त्र के मध्यकालीन (१०-११वीं शती) महान् आचार्य अभिनवगुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ तन्त्रालोक को केन्द्रबिन्दु मानकर करना चाहिये। अभिनवगुप्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा में उद्धृत विशाल आगमिक एवं तान्त्रिक साहित्य को हम प्राचीन तथा इससे भिन्न साहित्य को नवीन काल में आविर्भूत मान सकते हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से इनके समय, प्रकृति और प्रतिपाद्य विषय का भेद स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अभिनवगुप्त से पहले और बाद में आविर्भूत शास्त्रों के अध्ययन को एक में मिला देने से नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ उठ खड़ी हुई हैं। हम तन्त्रशास्त्र के आगम-निगम[२] अथवा आगम, यामल, तन्त्र आदि विभागों को ही लें, अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन ग्रन्थों में आगम और निगम जैसा विभाजन उपलब्ध नहीं होता। साधारणतः यहाँ आगम शब्द तन्त्रशास्त्र के और निगम शब्द वेद-वेदान्त, दर्शन आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शिव अथवा देवी के द्वारा उपदिष्ट उभयविध साहित्य आगम-कोटि के अन्तर्गत है। [३]क्रम दर्शन के अधिकांश आगम-ग्रन्थ देवी के द्वारा उपदिष्ट हैं। इस दर्शन की काली प्रधान उपास्य देवता है। इस उपासना का स्वरूप बंगाल में आजकल प्रचलित काली की उपासना से नितान्त भिन्न है। कुलचूडामणि क्षेमराज की शिवसूत्रविमर्शिनी[४] में उद्धृत है। यहाँ का श्लोक कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणिनिगम में उपलब्ध नहीं है। स्पष्ट है कि यह संस्करण और उसके साथ निगम शब्द का संयोजन परवर्ती काल का प्रभाव है। यही बात कुलार्णवतन्त्र और तन्त्रराजतन्त्र के विषय में कही जा सकती है। तन्त्रालोकविवेक[५] में उद्धृत श्रीकण्ठीसंहिता के अनुसार यामलों की चौसठ भैरवागमों में गणना की जाती है। अतः इनकी प्रकृति अन्य भैरवागमों के अनुकूल ही होनी चाहिये। वाराहीतन्त्र[६] के आधार पर इनकी नई व्याख्या कालभेद-प्रयुक्त हो सकती है।

---

१. द्रष्टव्य—पृ. ४९; आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना, सन् १९२८

२. ये उभयविध विभाग इस निबन्ध में ऊपर उद्धृत प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलते हैं। प्राचीन तन्त्रों में यह विभाग देखने को नहीं मिलता।

३. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय का अभिनवगुप्त॰ द्वितीय संस्करण, पृ. ४६७ एवं ५५१ देखिये।

४. द्रष्टव्य—पृ. ५८; कुलार्णवतन्त्र और तन्त्रराजतन्त्र के तन्त्रालोकविवेक में उद्धृत वचन इन नामों से प्रकाशित ग्रन्थों में नहीं मिलते।

५. द्रष्टव्य—भा. १, पृ. ४२-४३

६. दी तन्त्राज्. चक्रवर्ती, पृ. २

अध्ययन की दिशा एवं क्रम

तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती की पुस्तक "दि तन्त्राज : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर" को हम इस विषय की अब तक प्रकाशित पुस्तकों में सबसे अधिक युक्तिसंगत मान सकते हैं। इस ग्रन्थ के प्रारंभिक कुछ अध्यायों के निष्कर्षों से हम प्राय: सहमत हैं। असहमति वहीं उपस्थित होती है, जहाँ वे अभिनवगुप्त के परवर्ती काल में आविर्भूत ग्रन्थों पर ही आधारित हैं। जब वे स्वयं कहते हैं[१] कि तान्त्रिक पूजाविधि ने हिन्दु-समाज के धार्मिक जीवन में लगभग ४००-५०० वर्षों से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। यह बात बंगाल के विषय में ही सही है कि वहाँ का जनजीवन इस काल में आविर्भूत इस नवीन तान्त्रिक धारा से पूरी तरह से प्रभावित रहा है। इससे हमारी इस स्थापना को बल मिलता है कि परवर्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में आविर्भूत हुआ था। पांचरात्र और पाशुपत मत की प्राचीनता का उल्लेख करते हुए भी ये इनके पूर्ववर्ती प्रभाव को आगमिक अथवा तान्त्रिक न मानकर अन्य विद्वानों के समान उसे पौराणिक[२] मानते हैं।

प्राचीन पांचरात्र और पाशुपत साहित्य अब उपलब्ध नहीं है। वैष्णवागम मुख्यत: तीन भागों में बँटा है—वैखानस, पांचरात्र और भागवत। वैखानस आगम के कुछ ग्रन्थ तिरुपति से प्रकाशित हुए हैं। पांचरात्र आगम में सात्वता, पौष्करा और जयाख्या संहिताओं का विशेष स्थान है। "सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः" (भीष्म. ६६.४०) महाभारत के इस श्लोक में विद्वानों के अनुसार सात्वतसंहिता का उल्लेख है। यह संहिता अहिर्बुध्न्यसंहिता (५.५९) में भी उद्धृत है। जयाख्यसंहिता बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। जयाख्यसंहिता और अहिर्बुध्न्यसंहिता की प्राचीनता के विषय में विद्वानों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। हयशीर्षपंचरात्र में पांचरात्र और भागवत तन्त्रों की नामावली है। डॉ. श्रादर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में इन सबको पांचरात्र संहिता मान लिया है। उन्होंने २१५ संहिताओं की सूची दी है। यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य, रामानुजाचार्य के पांचरात्राधिकरण तथा वेदान्तदेशिक की पांचरात्ररक्षा में अनेक संहिताएँ प्रमाण के रूप में उद्धृत हैं। लक्ष्मीतन्त्र की प्रस्तावना में भी पांचरात्र संहिताओं की सूची दी गई है। अनिरुद्धसंहिता के सम्पादक श्री आसूरि श्रीनिवास अय्यंगार (मैसूर) के अनुसार अब तक २७५ संहिताओं की नामावली उपलब्ध हो चुकी है।

पाशुपत योगाचार्यों की परम्परा में ईसा की दूसरी शती में लकुलीश का आविर्भाव हुआ। इनका मत न(ल)कुलीश-पाशुपत के नाम से सर्वदर्शनसंग्रह में

---

१. दी तन्त्राज्., चक्रवर्ती, पृ. ४९

२. वहीं, पृ. ४९

समाविष्ट है। इनका पाशुपतसूत्र कौण्डिन्य के भाष्य के साथ त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित है। सटीक गणकारिका बड़ोदा से प्रकाशित हुई है। लकुलीश पाशुपत मत के उपलब्ध साहित्य का परिचय डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने शैवदर्शनबिन्दु में दिया है। लकुलीश से विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपत आचार्यों की नामावली मिलती है। इनका विशाल साहित्य आज नामशेष हो चुका है।

शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत शास्त्रों की चर्चा ऊपर की गई है। २८ शैवागमों के अतिरिक्त २०७ उपागमों[1] की नामावली पाण्डिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के प्रारंभ में दी गई है। इन मूल आगमों के अतिरिक्त उग्रज्योति से लेकर अघोरशिव पर्यन्त १८ पद्धतिकारों, व्याख्याकारों और भाष्यकारों का विशाल साहित्य **सिद्धान्त** पद से अभिहित हुआ है। बौद्ध तन्त्रों की विशाल राशि भोट-भाषा में अनुवाद के रूप में तथा मूल रूप में भी उपलब्ध है। श्रीकण्ठीसंहिता और नि. षो. में परिगणित ६४ तन्त्रों के अतिरिक्त कुल, क्रम, मत, त्रिक आगमों का विशाल साहित्य तन्त्रालोक आदि में उद्धृत मिलता है। २८ सिद्धान्तागमों की पृष्ठभूमि में ही वीरशैव दर्शन का भी विकास माना जाता है।

इस विशाल आगमिक और तान्त्रिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि में किया गया अध्ययन इस शास्त्र के विषय में उत्पन्न की गई अनेक भ्रान्तियों को स्वतः निर्मूल कर देगा और भारतीय विद्या के विद्वानों के लिये अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण में नूतन मार्ग-दर्शन करेगा।

तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद ; काश्मीरीय शैवदर्शन, तान्त्रिक बौद्ध साधना, तान्त्रिक दृष्टि, वैष्णव साधना और साहित्य, सहजयान और सिद्धमार्ग जैसे महनीय निबन्धों में तथा अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" में श्रद्धेय कविराजजी ने आगमशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र में समाविष्ट संपूर्ण साहित्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इससे इस साहित्य की विशालता और दार्शनिक गंभीरता का परिचय मिलता है। कविराज जी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्धदर्शन और मायावादी शांकर दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुँचाया था। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की परिमल नामक व्याख्या में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे परिपुष्ट किया है।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान

---

१. हिन्दुइज्म., भा. २, पृ. २०५ पर उपागमों की संख्या केवल १२० बताई गई है।

शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति-साहित्य का, सिद्धों, नाथों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैतवेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक गहरा प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति कविराज जी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सजहयान और शाक्त दर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराज जी को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रुचि नहीं दिखाई। जहाँ तक योग का प्रश्न है, व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव और विरूपाक्षपंचाशिका—ये तीनों ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे। इन ग्रन्थों को उन्होंने अपने शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक इनकी अथाह गंभीरता को उद्घाटित करते हुए पढ़ाया था। उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा।

***

२. तन्त्रागमशास्त्र का अवतार एवं उसकी विशेषता

भारतीय वाङ्मय में निगम और आगम शब्द बहुधा प्रयुक्त हैं। इनमें से वैदिक साहित्य के लिये निगम शब्द और तान्त्रिक साहित्य के लिये आगम शब्द प्रचलित है। यह ऐकान्तिक नियम नहीं है, क्योंकि [१]भर्तृहरि आदि आचार्यों ने निगम के अर्थ में भी आगम शब्द का प्रयोग किया है। परवर्ती काल में केवल दस, अठारह और चौसठ भेदों में विभक्त शैव, रुद्र और भैरवागमों के लिये ही नहीं, वैष्णवागमों के लिये भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है और साथ ही इनके लिये तन्त्र शब्द भी प्रयुक्त है। शैवागमों

१. द्रष्टव्य—वाक्यपदीय १.१३२; इस विषय पर आगे (पृ. ४०–४३) विस्तार से विचार किया जायगा।

में मृगेन्द्रतन्त्र, मतंगपारमेश्वरतन्त्र आदि और वैष्णवागमों में लक्ष्मीतन्त्र, पाद्मतन्त्र आदि नाम मिलते हैं। तो भी शैव और वैष्णव शास्त्रों के लिये आगम और शाक्त एवं बौद्ध शास्त्रों के लिये तन्त्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। इस आगम-तन्त्र शास्त्र की निगम शास्त्र की अपेक्षा अपनी कुछ विशेषताएँ हैं।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान (१२.३४९.६४) में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक नामक कृतान्तपंचक का प्रामाण्य स्वीकृत है, किन्तु ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में वेदबाह्य बौद्ध एवं जैन मत के साथ इन सभी मतों का भी समावेश कर उनकी अप्रामाणिकता स्थापित की गई है। आचार्य शंकरभगवत्पाद ने भी इसी रूप में इस प्रकरण की व्याख्या की है। जैमिनि के दो सूत्रों (१.३.३-४) की व्याख्या करते हुए भट्ट कुमारिल भी सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन मतों को अवैदिक मानते हैं। बाद में यामुनाचार्य आदि ने पांचरात्र आदि आगमों की वेदानुवर्तिता को सिद्ध करने में बहुत प्रयत्न किया, "त्रयी सांख्यम्" इत्यादि महिम्नस्तोत्र की पद्धति से प्रस्थानभेद को मानकर धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों एवं भास्करराय[१] आदि तन्त्रशास्त्रज्ञों ने भी स्मृतिशास्त्र के समान इनकी प्रामाणिकता स्थापित की, तो भी तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में वेदों की अधरशासनता को बताने वाले वचन बादरायण, कुमारिल एवं शंकर की उक्ति को ही पुष्ट करते हैं[२]।

भगवान् बुद्ध और महावीर के प्रादुर्भाव के समय भारत में नाना प्रकार की दृष्टियाँ प्रचलित थीं और परवर्ती काल में भी अनेक दृष्टियाँ प्रचलित हुईं। इनमें से कुछ वेदों का अनुवर्तन करती थी, कुछ वेदविरुद्ध थी, तो अन्य अपना स्वतन्त्र स्थान मानती थी। बौद्ध और जैन वेदविरोधी थे, तो सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत अपनी स्वतन्त्र सत्ता के पक्षपाती थे। भारतीय दर्शनों में समन्वय स्थापित करने के लिये भगवद्गीता, महाभारत, भागवत आदि पुराण, स्मृति एवं आगम-तन्त्रशास्त्र और धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थों में प्रस्थान का भेद, अधिकारी का भेद आदि के आधार पर परस्पर के विरोधों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। आचार्य शंकर आदि माहेश्वरों और भागवतों को वेदबाह्य मानते हैं, किन्तु आज शैव और वैष्णव वेदों की भी प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। इसमें कारण यही है कि समय बीतने के साथ ये दृष्टियाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता के साथ वेदों के प्रामाण्य के प्रति भी कोई संकोच नहीं दिखाती।

---

१. वरिवस्याहस्यप्रकाश, पृ. ७ अड्यार लाइब्रेरी, संस्करण, सन् १९४८

२. "उत्तमाः पाञ्चरात्रस्था मध्यमास्तु त्रयीमयाः" (लक्ष्मी. २२.३६), "सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम्" (कुला. २.७), "वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्" (परा. व्या., पृ. ९२) इस तरह के वचन उक्त आचार्यों के वचनों के विपरीत वेदों की अधरशासनता को बताते हैं।

इतना सब होने पर भी तान्त्रिक और वैदिक दृष्टियों में अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। वाक्चतुष्टयात्मक शब्दब्रह्म की उपासना और षडध्व की प्रक्रिया से सारे जगत्प्रपंच की सृष्टि एवं प्रविलापन को मान्यता आगमिक दृष्टि की पहली विशेषता है। शास्त्रों में स्त्री और शूद्र के भी अधिकार की स्वीकृति इसकी दूसरी विशेषता है। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में भी शब्दब्रह्म की उपासना विहित है, वाक्चतुष्टय की प्रतिपादिका ऋग्वेदीय श्रुति (१.१६४.४५) भी प्रसिद्ध है, संकेतपद्धति के समान अकार की महिमा को बताने वाले वचन भी ऐतरेय आरण्यक (२.३.६, ८;३.२.३) में उपलब्ध हैं और वाणी की महिमा को गाने वाले श्रुतिवचन भी तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.८.८.४-५) और तैत्तिरीय संहिता (३.२.५.१) में मिलते हैं, तो भी षडध्व की प्रक्रिया से शब्दब्रह्म की उपासना-पद्धति जैसी आगम-तन्त्रशास्त्र में मिलती है, वैसी प्राचीन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। वेदाध्ययन आदि में स्त्री-शूद्र का अधिकार भी उनको मान्य नहीं है। तन्त्रशास्त्र में तो सभी को समान[1] अधिकार दिया गया है।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर विद्वानों का कहना है कि वैदिक और तान्त्रिक वाङ्मय मूलत: भिन्न प्रकृति के हैं। सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध शिवलिंग, वृषभ, योगी आदि के चिह्नों का वैदिक वाङ्मय में वर्णन न मिलने के कारण वैदिक सभ्यता से भिन्न कोई सभ्यता भारत में विद्यमान थी। उसीसे तान्त्रिक धारा की प्रवृत्ति हुई। वैदिक सभ्यता से इसका सम्पर्क होने पर सांख्य के प्रकृति-पुरुष के समान इनमें आदान-प्रदान हुआ। फलस्वरूप अथर्ववेद में तान्त्रिक कर्मकाण्ड प्रविष्ट हुआ और यजुर्वेद में तान्त्रिक शिव रुद्र के रूप में मान्य हुए। अथर्ववेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये जयन्त भट्ट को न्यायमंजरी में बहुत आयास करना पड़ा है। वैदिक वाङ्मय में **त्रयी** शब्द अपनी कहानी कहता है। स्पष्ट है कि यहाँ प्राचीन काल में दो संस्कृतियाँ प्रचलित थी। एक में विशिष्ट जनों को ही और दूसरी में सामान्य जनों को भी अधिकार प्राप्त हुए थे।

यह सब कुछ कल्पनामात्र है, तो भी बादरायण, कुमारिल, शंकराचार्य आदि के वचनों को और तन्त्रशास्त्र में स्थान स्थान पर निर्दिष्ट वेदविषयक उक्तियों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि बौद्धों और जैनों की तरह इन्होंने यद्यपि वेद के प्रामाण्य को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया, तो भी कुछ अंशों में लोक-संग्रह के लिये अथवा अन्य किसी प्रयोजन से उस पर बहुत जोर नहीं दिया। कुछ अंशों में वेदविरुद्ध रहने पर भी

---

१. "अस्यां च पूजायां सर्वजातीनामधिकार:" (पृ. २२३) इस तरह से भास्करराय ने अपने सौभाग्यभास्करभाष्य में तान्त्रिक पूजा में सभी का अधिकार माना है। स्पष्ट है कि इनको तन्त्रशास्त्र की सर्ववर्णविषयता स्वीकार है।

इन दृष्टियों को भारतीय समाज में संमान न मिला। दक्षिणभारत में वैष्णव और शैव सन्तों की परम्परा में और उत्तरभारत में सिद्ध, नाथ और सन्तों की परम्परा में उसी दृष्टि के आधार पर विकसित हुआ ज्ञानप्रवाह आज भी भारत में बह रहा है।

वेदों के समान इन दृष्टियों की भी अपौरुषेयता मान्य है। ब्रह्मा पूर्व कल्प में विद्यमान वेदों को अपनी स्मृति में उतार कर इस कल्प में उनको पुनः प्रवृत्त करते हैं, उसी तरह से शिव, नारायण, संवित् आदि के द्वारा दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा के माध्यम से इन दृष्टियों का प्रसार होता रहा है। आधुनिक ऐतिहासिक इसको स्वीकार नहीं करते, यह अलग बात है। कालक्रम से तन्त्रशास्त्र की नाना शाखाओं का विस्तार हुआ, ऐसा उनका कहना है।

तन्त्रशास्त्र की शाखा-प्रशाखाएँ

अजितागम के क्रियापाद (२.२२-२३) में सिद्धान्त, भूत, वाम, दक्षिण, भैरव, पाशुपत, वैष्णव, बौद्ध और जैन तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। अजितागम की भूमिका में उद्धृत कामिकागम (१.११४-११६) में गारुड़, भूत, भैरव, वाम, कापाल, पांचरात्र, लाकुल, कुलशास्त्र एवं पाशुपत तन्त्र के साथ बौद्ध और आर्हत मतों की भी चर्चा है। अजितागम की भूमिका में ही उद्धृत पूर्व-कारणागम में [1]चतुर्विध शैवों में शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल सम्प्रदायों की चर्चा की गई है। नेत्रतन्त्र (१३.३८-४२) में, गारुड़, भूत, वाग्विधान[2], यामल, एकवीर, नवक, त्रिक, समभेद, देवी, दुर्गा, विन्ध्यवासिनी, चण्डिका आदि के तन्त्र ; चतुष्क, स्वयंभू, महेश्वर आदि के ऋषि, मानुष आदि की परम्परा से प्राप्त तन्त्र ; विद्यापीठ से निर्गत तन्त्र एवं पाताल, नाग, द्रामिड तन्त्रों का उल्लेख है। कुलार्णव (२.२९) में भी शैव, वैष्णव, दुर्गा, सूर्य, गणपति, जैन[3] और कुल-तन्त्रों का परिगणन है। इन सभी [4]भेदोपभेदों को छोड़कर यहाँ केवल षड्विध तन्त्रों की चर्चा की जायगी।

---

१. चतुर्विध शैवों का विशेष परिचय शैवागम अधिकार (पृ. १-४) में दिया गया है।

२. नेत्रतन्त्रोद्योत (१३.३८-४२) में क्षेमराज ने इनमें से कुछ शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है—यामल शब्द से ब्रह्मयामल, रुद्रयामल आदि का ग्रहण किया जाता है। एकवीर से परात्रीशिका, मतत्रीशिका आदि का, नवक से नवात्मचक्र आदि का, त्रिक से षडर्धनय (प्रत्यभिज्ञाशास्त्र) का, समभेद से समविषम आख्या वाले मतशास्त्र का, देवीनय से महाघोरा, जया आदि के तन्त्रों का, विन्ध्यवासिनी नाम से इसी देवी के शास्त्र का, चण्डिकाद्य चतुष्क से दक्षिण और वाम स्रोत में पूज्य चार-चार देवियों की आराधना के प्रतिपादक शास्त्रों का ग्रहण होता है।

३. इन्दुसंभव शब्द से भास्करराय ने सौभाग्यभास्कर-भाष्य (पृ. १९४) में जैन दर्शन का ग्रहण किया है।

४. इस प्रसंग में डॉ. चक्रवर्ती के तन्त्राज्० (पृ. ५०-५८) का अवलोकन कीजिये। तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखा-उपशाखाओं का यहाँ परिचय दिया गया है।

इन तन्त्रों में परस्पर तरतमभाव (श्रेष्ठता का क्रम) भी प्रदर्शित है। जैसा कि परात्रीशिका की व्याख्या (पृ.९२) में उद्धृत वचन के अनुसार वेदों से सिद्धान्त शैव, शैव से वाम, वाम से दक्ष, दक्ष से कुल, उससे मत तथा त्रिक शास्त्र सर्वोत्तम हैं। वहीं (पृ. ९२) उद्धृत निशाचार के वचन में [1]वाम से भैरव, भैरव से कुल, [2]कुल से कौल और उससे भी श्रेष्ठ त्रिक मत है। कुलार्णव (२.७-८) में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा वेदों को सर्वोत्तम माना गया है। आगे की श्रेष्ठता का क्रम इस प्रकार है—वैष्णव, [3]शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कौल। यहाँ बताया गया है कि कौलशास्त्र से बढ़कर अन्य कोई शास्त्र नहीं है।

शैव और शाक्त तन्त्रों का [4]त्रिविध विभाग देखने को मिलता है। इनमें पहला स्रोतोविभाग, दूसरा पीठविभाग और तीसरा आम्नायविभाग है। क्रमशः यहाँ इनका परिचय दिया जा रहा है। इनमें स्रोतोविभाग तीन और पाँच स्रोतों में विभक्त हैं।

तीन स्रोत

अजितागम की भूमिका में निर्दिष्ट पूर्व-कारणागम के वचन के अनुसार शुद्ध शैवमत वाम, दक्षिण और सिद्धान्त नामक तीन स्रोतों में विभक्त है। मूलावतार आदि तन्त्रों का वाम विभाग में, स्वच्छन्द आदि तन्त्रों का दक्षिण विभाग में और कामिक आदि तन्त्रों का सिद्धान्त विभाग में समावेश किया जाता है (२६.५९-६०)। वाम, दक्षिण और सिद्धान्त मतों की चर्चा नेत्रतन्त्र (१६.३) में भी है। शिव ही सदाशिव, भैरव और [5]तुम्बुरु का रूप धारण कर क्रमशः सिद्धान्त, दक्षिण और वाम स्रोतों का

---

१. वाम शब्द का अर्थ तन्त्रालोक (१५.२७९) और उसकी विवेक-टीका में दिया गया है। यहाँ वाम पद का अलग से ग्रहण किया गया है, अतः कुल और कौल तन्त्र वाम-तन्त्रों से पृथक् हैं। ऋजु-विमर्शिनी (पृ.२२) में भी वेद, शैव, वाम, कौल और त्रिक तन्त्रों की पृथक् गणना की गई है।

२. कुल और कौल शब्दों की भिन्नता के आधार पर इनकी भी पृथक् गणना करनी होगी। तन्त्रालोकविवेक (१३.३०२) में यह वचन उद्धृत है—"हौत्री दीक्षा तु सिद्धान्ते तन्त्रे योजनिका मता। त्रिके समावेशवती कुले स्तोभात्मिका मता।। सामरस्यमयी कौले दीक्षा पञ्चविधोदिता।" यहाँ पंचविध दीक्षा प्रतिपादित है। स्पष्ट है कि कुल और कौल ये दो भिन्न मत हैं। तन्त्र शब्द यहाँ वामतन्त्रों का सूचक है।

३. यहाँ का शैव शब्द चतुर्विध शैवों में से सिद्धान्त-भिन्न तीन मतों का सूचक है।

४. डॉ. प्रबोधचन्द्र वागची ने "स्टडीज इन तन्त्राज्" (पृ. ३) में यह त्रिविध विभाग किया है और उसका विवरण भी दिया है।

५. कम्बुज-शिलालेख में तुम्बुरु के चार मुखों से शिरश्छेद, विनाशिख, संमोह और नयोत्तर तन्त्रों का आविर्भाव हुआ, ऐसी सूचना मिलती है। योगवासिष्ठ (निर्वाण. १.१८.२३-२६) के प्रमाण से यह भी ज्ञात होता है कि तुम्बुरु और भैरव शिव के ही अवतार हैं। इन विषयों की सूचना हमें डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची के ग्रन्थ (पृ.२, २२) से मिलती है। नेत्रतन्त्र (९.११) में भी तुम्बुरु को शिव का अवतार बताया गया है, किन्तु यहाँ इनको केवल वाम मार्ग का उपदेष्टा बताया गया है, जब कि कम्बुज-शिलालेख के अनुसार तुम्बुरु के चार मुखों से इन चार शास्त्रों की प्रवृत्ति मानी गई है।

उपदेश करते हैं, यह भी वहीं (९.११) बताया गया है। सिद्धान्तशिखामणि (५.११) में शैवागमों के चार भेद इस प्रकार बताये गये हैं—शक्तिप्रधान वाम तन्त्र, भैरवात्मक दक्ष, सात मातृकाओं के प्रतिपादक मिश्र तन्त्र और वेदसंमत सिद्धान्त शास्त्र। यहाँ पूर्व-कारणागम के उक्त वचन में वर्णित त्रिविध विभाग के साथ मिश्र नामक चतुर्थ विभाग को भी दिखाया गया है। डॉ. [1]प्रबोधचन्द्र बागची ने चतुर्थ स्रोत के रूप में भैरव-तन्त्रों की गणना की है। अजितागम के प्रथम भाग के उपोद्घात (पृ. ९) में कापाल, कालामुख, अघोर आदि का वाम विभाग में और स्वच्छन्दभैरव आदि ९२ भेदों वाले शैवागमों पर आश्रित त्रिक के नाम से प्रसिद्ध काश्मीर शैवदर्शन का दक्षिण विभाग में अन्तर्भाव बताया गया है। नेत्रतन्त्र (भा. १, पृ.२२५) की उद्योत टीका में क्षेमराज ने स्वच्छन्द, चण्ड, त्रिशिरोभैरव आदि भैरवागमों को दक्षिण स्रोत से उद्भूत माना है। कापाल, कालामुख, अघोर आदि तन्त्र त्रिकशास्त्र से भिन्न प्रकृति के हैं। शुद्ध-शैव में इनका कहीं भी परिगणन नहीं किया गया है। त्रिकदर्शन की भी सर्वत्र पृथक् स्वतन्त्र स्थिति मानी गई है। आजकल [2]वाम और दक्षिण के रूप में तन्त्रों का द्विविध विभाग अधिक प्रचलित है। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची पर इसी विभाग का प्रभाव है।

पाँच स्रोत

नेत्रतन्त्र (१९.३३) में पाँच स्रोतों की सूचना मिलती है। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (१.३५-३६) में उनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—कामिक आदि का ऊर्ध्व स्रोत में, असितांग आदि का दक्षिण में, संमोह आदि का उत्तर (वाम) तन्त्रों में, त्रोतल आदि का पूर्व स्रोत में और चण्डनाथ के द्वारा उपदिष्ट चण्डासिधार आदि का आप्य (पश्चिम) स्रोत में परिगणन किया जाता है। तन्त्रालोकविवेक (भा. १, पृ. ४०-४४) में उद्धृत श्रीकण्ठीसंहिता के अनुसार दस शिवागम और अठारह रुद्रागमों को मिला कर २८ आगमों का ऊर्ध्व स्रोत से, [3]चौबीस भेद वाला दक्षिण मार्ग अथवा ६४ भेद वाला अद्वयदृष्टि-प्रधान भैरवागम का दक्षिण मुख से, २८ भेद वाला गारुड विभाग पूर्व तत्पुरुष मुख से और पश्चिम स्रोत से भूत तन्त्रों के उद्भव को बताया गया है। वामदेव मुख से उद्भूत तन्त्रों के विषय में कोई वचन उद्धृत नहीं है। शतरत्नसंग्रह की उल्लेखिनी टीका (पृ.९) में सिद्धान्त, गारुड़, वाम, भूत और भैरव तन्त्रों की मान्त्रिक विभाग में गणना कर इनकी उत्पत्ति यथाक्रम ऊर्ध्व, पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण

---

१. स्टडीज इन दी तन्त्राज्, पृ. ३

२. इसके लिये "वामावर्तेन पूजयेत्" (१.१७६) यहाँ की सेतुबन्ध-व्याख्या और "सव्यापसव्यमार्गस्था" (पृ. १८१-१८४) यहाँ का सौभाग्यभास्कर-भाष्य देखिये।

३. चौबीस भेद वाले दक्षिण मार्ग की सूचना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय में बत्तीस और श्रीकण्ठीसंहिता में चौसठ दक्षिण (भैरव) तन्त्र परिगणित हैं।

मुख से मानी गई है। यहाँ सिद्धान्तशास्त्र को मुक्तिप्रद, गारुड़-तन्त्रों को सभी तरह के विषों का निरासक, वाम-तन्त्रों को सभी को वश में करने में समर्थ, भूत-तन्त्रों को भूत-प्रेत, ग्रह आदि की बाधाओं को दूर करने वाला और भैरव-तन्त्रों को सर्वविध शत्रुबाधा का निवारक माना गया है।

अजितागम में और [1]अन्यत्र भी दशविध शिवागमों और अष्टादशविध रुद्रागमों का शिव के पाँच मुखों से प्रादुर्भाव का क्रम बताया गया है। इनमें अजितागम का क्रम यह है—

ऊर्ध्व (ईशान) मुख से विनिर्गत — कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत् और सुप्रभेद।

सद्योजात मुख से विनिर्गत — विजय, पारमेश्वर, निःश्वास, प्रोद्गीत और मुखबिम्ब।

वामदेव मुख से विनिर्गत — सिद्ध, सन्तान, शर्वोक्त, चन्द्रज्ञान और विमल।

अघोर मुख से विनिर्गत—स्वायंभुव, वीर, रौरव, मकुट और किरण।

तत्पुरुष मुखोद्गत — ललित, आग्नेय और वातुल।

अन्यत्र, [2]प्रदर्शित क्रम इस प्रकार है —

ईशान मुख से — प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, शर्वोक्त, पारमेश्वर, किरण और वातुल।

सद्योजात मुख से — कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण और अजित।

वामदेव से — दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत् और सुप्रभेद।

अघोर से — विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, अनल और वीर।

तत्पुरुष से — रौरव, मकुट, विमल, चन्द्रज्ञान और बिम्ब।

इन आगमों के प्रथम वक्ता और अनुवक्ता, श्रोता, श्लोकसंख्या और २०७ उपागमों का परिचय अजितागम में तथा अन्य आगमों में भी दिया गया है। पाण्डिचेरी से मुद्रित रौरवागम के प्रथम भाग में पाठभेद आदि के साथ इनका विवरण देखा जा सकता है।

---

१. मालिनीविजयवार्त्तिक (पृ. ३६-३८) और उसका अनुसरण करने वाले तन्त्रालोकविवेक (भा. १, पृ. ३६-४१) में शिव के पाँच मुखों से दस शिवागमों एवं अठारह रुद्रागमों के साथ चौसठ भैरवागमों के आविर्भाव का क्रम प्रदर्शित है। इसका विशेष विवरण "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि" (पृ. ४६-४९) में देखा जा सकता है।

२. रौरवागम के प्रथम भाग की भूमिका का ११वाँ पृष्ठ तथा हिन्दी विश्वकोश के पंचम खण्ड में व्याख्यात 'तन्त्र साहित्य' शब्द का विवरण (पृ. २८०) देखिये।

पशुपति शिव के पाँच मुखों से पाँच स्रोतों के रूप में सिद्धान्त, गारुड़, भूत, दक्ष और वाम शास्त्रों का प्रसार हुआ। इन १६४ शैव तन्त्रों की नामावली वैरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय[१] में मिलती है। इनमें ऊर्ध्व मुख से निःसृत कामिक आदि दस शिवागम और विजय आदि १८ रुद्रागम कहलाते हैं। [२]जयरथ ने श्रीकण्ठीसंहिता के प्रमाण से शिवागमों को द्वैतवादी और रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी माना है। [३]डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध इन सभी २८ आगमों को द्वैतवादी और लकुलीश पाशुपत को द्वैताद्वैतवादी मानते हैं। इन २८ शिवागमों के २०७ उपागमों की नामावली किरण, कारण, सुप्रभेद, अजित आदि आगमों में दी गई है। [४]गारुड़-तन्त्रों का उपयोग विष-चिकित्सा में किया जाता है। यहाँ इनकी संख्या २८ बताई गई है। भूत, ग्रह आदि की बाधाओं के निवारक [५]भूत तन्त्रों की संख्या २० है। शत्रु का नाश करने वाले [६]भैरव (दक्ष) तन्त्रों की संख्या ६४ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ३२ तन्त्रों के ही नाम बताये गये हैं। ६४ तन्त्रों की नामावली श्रीकण्ठीसंहिता में दी गई है। सर्ववशीकरण में समर्थ [७]वाम तन्त्रों की संख्या प्र. ल. (२.१२४) के अनुसार २४ है। इस प्रकार शिव के पाँच मुखों से विनिःसृत इन शैव तन्त्रों की संख्या कुल मिला कर १६४ होती है। इनमें उपागमों का समावेश नहीं किया गया है।

---

१. काठमाण्डु नेपाल से दो भागों में मुद्रित इस ग्रन्थ के प्रथम भाग (२.११२-१२८) में यह नामावली देखी जा सकती है।

२. तन्त्रालोक की व्याख्या (विवेक) में जयरथ दस शिवभेदों को भेदप्रधान (पृ. ३७) और अठारह रुद्रभेदों को भेदाभेदप्रधान मानते हैं।

३. द्रष्टव्य—शैवदर्शनबिन्दु, संस्कृत प्रास्ताविक, पृ. ख।

४. क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत और स्वच्छन्दोद्योत में तोतुलतन्त्र को उद्धृत किया है। प्र. ल. (२.११५) की गारुड़-तन्त्रों की नामावली में यह उपलब्ध है।

५. क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत में अनेक स्थलों पर तोतुल के साथ क्रियाकालगुणोत्तर को भी उद्धृत किया है। उद्धरणों को देखने से ज्ञात होता है कि यह भूततन्त्र होना चाहिये। इसकी मातृका नेपाल के वीर पुस्तकालय में उपलब्ध है।

६. नेत्रतन्त्र (१०.१-१०) में स्वच्छन्द, चण्ड, त्रिशिरोभैरव आदि को दक्षिण स्रोत से विनिःसृत भैरवागम बताया गया है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १७२) में दिया गया स्वच्छन्द का विवरण दर्शनार्ह है। वहाँ इसकी परम्परा वर्णित है।

७. नेत्रतन्त्र के ११वें अधिकार में तथा तन्त्रालोक के १५वें आह्निक में वाम-तन्त्रों की विषयवस्तु विवृत है। अभी वीणाशिख नाम का तन्त्र भी प्रकाशित हो चुका है। कम्बुज-शिलालेख में इसकी विनाशिख नाम से चर्चा है। डॉ. एन. एन. भट्टाचार्य के ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ दी तान्त्रिक रिलीजन" (पृ. १०८-१५१ एवं ३४१-३४७) में भी इस विषय की चर्चा मिलती है। प्राचीन वाम-तन्त्रों से इसकी तुलना अपेक्षित है। कुछ विषय नवीन तन्त्रों से लिये गये लगते हैं। आधुनिक अर्थों में वाम-दक्षिण शब्दों का प्रयोग १०-११वीं शताब्दी के जैन विद्वान् सोमदेव सूरि के यशस्तिलकचम्पू में मिलता है। यशतिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. २०६, ३०८ आदि देखिये।

जयरथ द्वारा तन्त्रालोकविवेक में उद्धृत श्रीकण्ठीसंहिता में इन पांच स्रोतों का सभेद उल्लेख मिलता है। वहाँ (भा.१, पृ. ४०-४४) २८ सिद्धान्तागमों, २८ गारुड़-तन्त्रों, पश्चिम के भूत-तन्त्रों (संख्या निर्दिष्ट नहीं है), २४ दक्षिण-तन्त्रों और वाम-तन्त्रों का उल्लेख है। इनकी भी संख्या नहीं दी गई है। दक्षिण के २४ तन्त्रों की चर्चा यहाँ अस्पष्ट लगती है, क्योंकि श्रीकण्ठीसंहिता में ६४ भैरव-तन्त्रों का परिगणन किया गया है। यहाँ की ६४ तन्त्रों की नामावली भी त्रुटिपूर्ण है।

सदाशिव के पाँच मुखों से लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक विभागों की भी उत्पत्ति मानी गई है। इनमें से प्रत्येक के पुनः पाँच-पाँच विभाग करने पर स्रोतों की संख्या २५ हो जाती है। ऊपर बताये गये पाँच स्रोत इस मत में मान्त्रिक विभाग के अन्तर्गत आते हैं।

अनुस्रोत

त्रिविध और पंचविध स्रोतों की चर्चा ऊपर की गई है। इनके अतिरिक्त अनुस्रोतों की चर्चा भी शास्त्रों में मिलती है। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद में आठ अनुस्रोतों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं — शैव, मान्त्रेश्वर, गाणप, दिव्य, आर्ष, गौह्यक, योगिनीकौल और सिद्धकौल। वहाँ का मूल पाठ इस प्रकार है —

शैवं मान्त्रेश्वरं गाणं दिव्यमार्षं च गौह्यकम्।।
योगिनीसिद्धकौलं च स्रोतांस्यष्टौ विदुर्बुधाः।
प्रतिस्रोतोऽनुयायीनि तानि ब्रूयाद् विभागशः।।

शैवं प्राक् तन्त्रनिर्माणमाज्ञासिद्धमसंशयम्।
तदीशानगणैर्देवैर्मुनिभिश्च तदिच्छया।।

विज्ञाय सम्भृतं स्वोक्त्या तादाख्यं समुपागतम्।
गुह्यका भुजगा यक्षा दानवाश्च शिवेरिताः।।

यदूचुरुपसंहृत्य तत्स्रोतो गौह्यकं स्मृतम्।
योगिन्यो लेभिरे ज्ञानं सद्यो योगावभासकम्।।

येन तद्योगिनीकौलं नोत्तीर्णं ताभ्य एव तत्।
तथान्यदपि संहारो यो मिश्रो मिश्र एव सः।।

(१.३६-४१)

छः स्रोत

क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (१६-७६) में—"गारुड़े पूर्वस्मिन्, [1]मातृतन्त्रादौ पश्चिमे, जयादिनये वामे, भैरवशास्त्रे च दक्षिणे, चण्डासिधारादावूर्ध्वे, ज्येष्ठे मतकुलादौ रहस्ये स्रोतसि" इस तरह से उन छः स्रोतों की चर्चा की है, जो बाद में षडाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी चर्चा तन्त्रालोक (१५.२०४.२०६) में भी मिलती है। क्षेमराज ने यहीं (पृ. ९१) ऊर्ध्व पद का प्रयोग सिद्धान्तशास्त्र के लिये और पृ. १२५ पर चण्डासिधार आदि तन्त्रों के लिये किया है। पाँच स्रोतों से विनिर्गत तन्त्रों में ऊर्ध्व मुख से सिद्धान्तशास्त्र का ही उद्भव माना गया है। चण्डासिधार की गणना भूत-तन्त्रों में की गई है। आगे (पृ. ११२) क्रम, कुल, मत और षडर्ध की भी चर्चा की गई हैं, किन्तु नेत्रतन्त्र में कुलाम्नाय का ही उल्लेख है। वहाँ क्रम, मत अथवा षडर्ध नामक रहस्यस्रोत की चर्चा कहीं नहीं मिलती। हाँ, त्रिक (१३.३९) शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है।

तन्त्रालोक के व्याख्याता जयरथ ने एक स्थान पर (१.३६) पंचस्रोतो-रूप शिवशासन की, पारमेश्वर दर्शन की तथा अन्यत्र (२९.१२४) पिचुवक्त्र के नाम से योगिनीवक्त्र नामक षष्ठ स्रोत की चर्चा की है। वे ऊर्ध्वशासन का अर्थ त्रिक, कुल आदि करते हैं (२६.२०)। वस्तुतः इनका अन्तर्भाव पिचुवक्त्र अथवा योगिनीवक्त्र के नाम से प्रसिद्ध षष्ठ स्रोत में करना ही उचित है। यह षड्विध स्रोतोविभाग आगे चलकर षडाम्नाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

पीठ विभाग

इस विभाग की अब तक बहुत कम चर्चा हुई है। ब्रह्मयामल आदि ग्रन्थों में इसके चार विभाग वर्णित हैं — विद्यापीठ, मन्त्रपीठ, मुद्रापीठ और मण्डलपीठ। डॉ. [2]प्रबोधचन्द्र बागची ने ब्रह्मयामल के स्रोतोनिर्णय नामक ३९वें पटल के आधार पर इनकी सूचना दी है। इनका विवरण वहाँ नहीं मिलता, किन्तु डॉ. बागची के ग्रन्थ में ही अन्यत्र [3]उद्धृत वचनों से यह ज्ञात होता है कि भैरवाष्टक और यामलाष्टक विद्यापीठ से विनिर्गत हैं। योगिनीजाल, योगिनीहृदय, मन्त्रमालिनी, अघोरेशी, अघोरेश्वरी, क्रीडाघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारीचि, महामारी, उग्रविद्या आदि तन्त्र भी विद्यापीठ से संबद्ध हैं। वीरभैरव, चण्डभैरव, गुडिकाभैरव, महाभैरव और महावीरेश तन्त्र मुद्रापीठ से संबद्ध हैं। जयद्रथयामल के पुष्पिका-वाक्यों से ज्ञात होता है कि यह विद्यापीठ से

१. अन्यत्र सभी स्थानों पर पश्चिम में भूततन्त्रों की स्थिति मानी गई है।

२. स्टडीज इन तन्त्राज्, पृ. ३

३. वहीं, पृ. १०४-१०५

संबद्ध तन्त्र है। स्वच्छन्दतन्त्र की क्षेमराज की उद्योत टीका (भा. १, पृ. १०) में उद्धृत सर्ववीरतन्त्र के अनुसार भैरवाष्टक मन्त्रपीठ से जुड़ा हुआ है। स्वच्छन्दतन्त्र[1] (१.५) अपने को चारों पीठों से संबद्ध मानता है। स्वच्छन्दोद्योत में इसी स्थल पर उद्धृत सर्ववीर[2] के वचन से भी इस विषय की पुष्टि होती है। नि. षो. की टीका अर्थरत्नावली में उद्धृत [3]संकेतपद्धति में ओड्याण, पूर्णगिरि, जालन्धर और कामरूप पीठ को क्रमशः आज्ञा, मन्त्र, विद्या और मुद्रा पीठ बताया गया है। इसके आधार पर हम कल्पना कर सकते हैं कि इन पीठों से आविर्भूत तन्त्रों का उन-उन विभागों में समावेश किया गया होगा। स्वच्छन्द और सर्ववीर के ऊपर उद्धृत वचनों की संगति हम इस प्रकार बैठा सकते हैं कि सभी पीठों की सामग्री इनमें उपलब्ध है।

महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ व्याख्या परिमल में महेश्वरानन्द ने चरणसूत्र के प्रमाण से इसकी भिन्न प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की है। तदनुसार विद्यापीठ मातृकापीठ है और यह पृथिवी तत्त्व से संबद्ध है। मण्डल को यहाँ कुण्डलीपीठ बताया गया है। इसका संबन्ध जल तत्त्व से हैं। [4]मन्त्र को क्रियापीठ कहा गया है और यह अग्नितत्त्वमय है। मुद्रा ज्ञानपीठ है और यह वायुतत्त्व का प्रतिनिधि है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति आकाश-तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है, अतः उसकी पीठ के रूप में कल्पना नहीं की जाती। तन्त्रालोक में इससे संबद्ध दो स्थल मिलते हैं। २९वें आह्निक के आरंभ की जयरथ की अवतरणिका से ज्ञात होता है कि तन्त्रालोक चतुष्पीठ-शास्त्र है। इनमें से मन्त्र और मुद्रा के सम्प्रदाय को बताने के बाद अब २९वें आह्निक में विद्या और मण्डल के सम्प्रदाय का निरूपण किया जा रहा है (पृ. ११४) पूर्व में उद्धृत स्वच्छन्द और सर्ववीर के वचनों के अनुरूप यह व्याख्या है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सिद्धान्तागम ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग पादों में विभक्त हैं, उसी तरह से दक्ष, वाम, कौल आदि आगम विद्या, मन्त्र, मुद्रा और मण्डल पीठों के रूप में विभक्त होंगे। अथवा बौद्ध तन्त्रों में जैसे क्रिया, चर्या आदि के प्रतिपादक अलग-अलग तन्त्र हैं, उसी तरह से विद्या, मन्त्र आदि के प्रतिपादक भी अलग-अलग तन्त्र रहे होंगे। तन्त्रालोक में ही आगे ३७वें आह्निक में शास्त्र के पंचस्रोत विभाग को बताकर बाद में चार पीठ वाले विभाग का भी वर्णन किया गया है और इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहा

---

१. "चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुष्टयफलोदयम्" (१.५)।

२. "स्वच्छन्दभैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः। ग्रन्थान्तराणि चत्वारि मन्त्रपीठं वरानने"।। (१.४-७)। सर्ववीर के इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि आठ भैरव-तन्त्रों की गणना मन्त्रपीठ में की जाती है। यहीं क्षेमराज ने चारों पीठों का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'विद्या स्वच्छन्दशिवरूपा स्फुरत्ता परमार्थमातृका, मन्त्राश्चतुष्कलाद्याः, मण्डलं नवनाभादि, मुद्रा कपालाद्यनुकारा" (वहीं, पृ.५)।

३. पृ. २२०-२२२ देखिये।

४. यहाँ मन्त्र, मुद्रा और पीठ को क्रमशः ज्ञान, क्रिया और इच्छा स्वरूप माना गया है।

गया है कि सिद्धयोगीश्वरीमत विद्यापीठ का प्रधान तन्त्र है और इसका सार मालिनीविजयोत्तर में संगृहीत है (३७.२४-२५)। यहाँ आगमशास्त्र का स्रोतोविभाग और पीठविभाग दोनों स्वीकृत हैं। इस प्रतिपादन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ तन्त्रों में केवल किसी एक पीठ का स्वरूप प्रतिपादित हुआ और अन्यों में सभी पीठों की सामग्री का। इस विषय पर ब्रह्मयामल जैसे प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन के उपरान्त ही अधिक विस्तार से कुछ कहा जा सकता है।

योगिनीहृदय में स्थित महाज्ञानार्णव (२.७७) और विद्यापीठ-निबन्ध (२.७८) शब्दों की अमृतानन्द यौगिक व्याख्या करते हैं, किन्तु भास्करराय महाज्ञानार्णव को तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ मानते हैं और विद्यापीठ-निबन्ध का अर्थ विद्यापीठ का, अर्थात् काशी, कश्मीर आदि का निबन्ध, याने ब्रह्मसूत्र आदि का व्याख्या-ग्रन्थ कहते हैं। वामकेश्वरीमत के विवरणकार जयरथ महाज्ञानार्णव को षड्विध मन्त्रार्थ के प्रसंग (पृ. १३९) में उद्धृत करते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। ब्रह्मयामल के प्रमाण से डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने योगिनीहृदय आदि को विद्यापीठ से संबद्ध तन्त्र कहा है (पृ. १०४-१०५)। विद्यापीठ से संबद्ध निबन्धों (ग्रन्थों) में महातत्त्वार्थ का निरूपण हुआ होगा। यहीं (यो. हृ., २.८५) विद्यार्णागम शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। यह चतुष्पीठ विभाग आगे चलकर विस्मृत सा हो गया, अमृतानन्द और भास्करराय की व्याख्या से यह स्पष्ट है। षड्विध अर्थ का भिन्न प्रकार से विवेचन बौद्ध तन्त्र गुह्यसमाज की प्रदीपोद्योतन-व्याख्या में मिलता है। इस संबन्ध में **'धीः'** पत्रिका के छठे अंक में प्रकाशित हमारा "सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय" (पृ. ७३-८६) शीर्षक निबन्ध देखिये। वहाँ (पृ.८४) की टिप्पणी में हमने इसी विषय की चर्चा की है।

आम्नाय विभाग

[1]डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची का कहना है कि स्रोतोविभाग और पीठविभाग की अपेक्षा आजकल आम्नायविभाग अधिक प्रसिद्ध है। ये [2]आम्नाय शिव के तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर, वामदेव और ईशान नाम के पाँच मुखों से विनिर्गत हुए और क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्व [3]आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुए। दिशाओं का

---

१. द्रष्टव्य—स्टडीज इन तन्त्राज्, पृ. ३

२. कुलार्णव में ये इस प्रकार वर्णित हैं—"मम पञ्चमुखेभ्यश्च पञ्चाम्नायाः समुद्गताः। पूर्वश्च पश्चिमश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा।। ऊर्ध्वाम्नायश्च पञ्चैते मोक्षमार्गाः प्रकीर्तिताः।।" (३.७)

३. "पञ्चभिर्मुखैः पञ्चाम्नायान्···प्रणिनाय" (१.२) परशुरामकल्पसूत्र के इस सूत्र की व्याख्या में इनका क्रम इस प्रकार बताया गया है—"सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान नाम के पाँच मुखों से पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्ध्वाम्नाय नाम के पांच आम्नायों का आविर्भाव हुआ" (पृ. २१)। यह क्रम शिवागमों का अनुसरण नहीं करता।

यही विभाग तन्त्रालोक (१५.२०४-२०५) में भी स्वीकृत है। स्रोतोविभाग और आम्नायविभाग दोनों ही शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत हुए हैं, अतः नाम-भेद के अतिरिक्त कोई अन्य भेद यद्यपि दृष्टिगोचर नहीं होता, तो भी हम यह कह सकते हैं कि स्रोतोविभाग शैवागमों में और आम्नायविभाग शाक्तागमों में मान्य है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि स्रोतोविभाग में शैवागमों को और आम्नाय-विभाग में शाक्तागमों को [1]ऊर्ध्व वक्त्र से विनिर्गत माना गया है। कुलार्णव (३.४२-४५) में इनके प्रतिपादन में एक भिन्न ही सरणि स्वीकृत है। तदनुसार मन्त्रयोग को पूर्वाम्नाय, भक्तियोग को दक्षिणाम्नाय, कर्मयोग को पश्चिमाम्नाय और ज्ञानयोग को उत्तराम्नाय बताया गया है। यहाँ पूर्वाम्नाय के चौबीस[2] संकेत, दक्षिणाम्नाय के पचीस, पश्चिमाम्नाय के बत्तीस और उत्तराम्नाय के छत्तीस संकेत सूचित हैं। ऊर्ध्वाम्नाय में संकेत नाम का कोई भेद परिगणित नहीं है।

नि. षो. (१.१२) में चार ही आम्नाय स्वीकृत हैं। शिवानन्द और विद्यानन्द ने तदनुरूप ही अपनी व्याख्या की है। अमृतानन्द आदि के ग्रन्थों में भी इसीका अनुसरण किया गया है। भास्करराय ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए ऊर्ध्वाम्नाय का भी परिगणन कर पंचाम्नाय पक्ष को स्वीकार किया है। इसके विपरीत वरिवस्यारहस्यप्रकाश (पृ. २३) में वे चार ही अन्वय मानते हैं और कहते हैं कि समय, अन्वय, आम्नाय—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। अमृतानन्द आदि के ग्रन्थों में इन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। वामकेश्वरीमत के व्याख्याता जयरथ (२.१) ने द्वीपाम्नाय के उपदेश को अनावश्यक माना है। मत-तन्त्रों में यह विषय उपदिष्ट है।

सौन्दर्यलहरी (१.१०) में छः आम्नाय सूचित हैं और कैवल्याश्रम ने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अनुत्तर — इनके नाम बताये हैं। नेत्रतन्त्र की उद्योतटीका (१६.७६) में गारुड़-तन्त्रों का पूर्व, मातृतन्त्र आदि का पश्चिम, जयादि का वाम, भैरवशास्त्र का दक्षिण, चण्डासिधार आदि का ऊर्ध्व और मत-कुल आदि रहस्यशास्त्रों का ज्येष्ठ (अनुत्तर) स्रोत में समावेश बताया गया है। तन्त्रालोक (१५.२०४-२०६) में भी इन छः स्रोतों की चर्चा है। नेत्रतन्त्रोद्योत तथा तन्त्रालोक में इन स्थलों पर षष्ठ स्रोत का उल्लेख रहस्यस्रोत, अधोवक्त्र, पातालवक्त्र अथवा पिचुवक्त्र के नाम से हुआ है। यही ज्येष्ठाम्नाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। विवेक टीकाकार जयरथ ने इस प्रकार इस स्थल की व्याख्या की है — ईशान प्रकाश-स्वरूप होने से ये ऊर्ध्व दिशा के स्वामी हैं। तत्पुरुष का प्रकाश की तरफ प्रसरण होने से ये प्राची के अधिपति हैं।

---

१. कुलार्णव तन्त्र का तृतीय उल्लास देखिये।

२. यहाँ दिये गये संकेत शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

फैल रहे प्रकाश का फैलाव दक्षिण दिशा में होने से अघोर दक्षिण दिशा के स्वामी हैं। इसके विपरीत प्रमेयात्मक चन्द्रकला का वाम भाग में स्पर्श होने से उत्तरा दिक् के अधिपति वामदेव हैं। पश्चिम दिशा में प्रकाश के स्थान पर अन्धकार प्रविष्ट होने लगता है, अतः सद्योजात इसके स्वामी हैं। अधर स्रोत में प्रकाश की स्थिति नहीं रहती, अतः इसे अधरा दिक् कहते हैं। त्रिकशास्त्र में पिचुवक्त्र के नाम से यह दिशा जानी जाती है। इस रूप में हम षडाम्नाय विभाग को भी प्राचीन मान सकते हैं।

शक्तिसंगमतन्त्र में पंचाम्नाय, षडाम्नाय, नवाम्नाय, अष्टादशाम्नाय आदि की विभिन्न स्थलों पर चर्चा मिलती है। इनका परिचय इस तन्त्र के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात की ५५-५६, ५८-५९ एवं ६४ संख्या की टिप्पणियों से मिल सकता है।

***

३. तन्त्रों का प्राचीन-नवीन विभाग

डॉ. चिन्ताहरण[१] चक्रवर्ती ने तन्त्रों के काल और कर्तृत्व के विषय में विचार किया है। उनके द्वारा उद्धृत कूर्म, भागवत, पराशर आदि पुराणों-उपपुराणों तथा पांचरात्रप्रामाण्य जैसे ग्रन्थों के वचनों से वैष्णवागम और शैवागमों की मानव कृति के रूप में स्थिति स्पष्ट होती है, किन्तु ऐसे वचनों पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाया ही जा सकता है। अथवा "न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्" इस न्याय के अनुसार इसका समाधान किया जा सकता है। अथवा सुन्दोपसुन्द-न्याय से सभी आगम अप्रामाणिक सिद्ध हो जायँगे।

वेद, आगम, पुराण आदि के काल और कर्तृत्व के विषय में दो तरह की दृष्टियाँ देखने को मिलती हैं—प्राच्य दृष्टि के अनुसार ये सभी शास्त्र अपौरुषेय, दिव्य अथवा मुनिभाषित हैं। पाश्चात्य दृष्टि इन सबको समय-समय पर मानवों के द्वारा ही निर्मित मानती है। किसी विशिष्ट देश और काल में इन शास्त्रों का प्रचार देखा जाता है। सुदीर्घ काल तक निरन्तर सत्कार के साथ किये गये अभ्यास से शुद्ध अन्तःकरण वाले योगियों के चित्त में शब्दब्रह्म के विवर्त के रूप में परा, पश्यन्ती आदि चतुर्विध वाणी के क्रम से शास्त्रों का अवतार देश और काल की दृष्टि से प्रवृत्त होता है। यही तन्त्रागमशास्त्र की मान्यता है। इसीलिये शक्तिसंगमतन्त्र के पर्यायसप्तक प्रकरण में देशपर्याय और कालपर्याय के रूप में नानाविध तन्त्रों का आविर्भाव माना गया है। योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ.२) में उद्धृत महास्वच्छन्दतन्त्र में बताया गया है कि स्वयं सदाशिव ही गुरु और शिष्य का स्वरूप धारण कर प्रश्नोत्तर-पद्धति से पश्यन्ती

१. दी तन्त्राज्०, पृ. १९-२८ द्रष्टव्य।

भूमि में तन्त्रों की अवतारणा करते हैं। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (१.४३) में बताया गया है कि शिवाविष्ट रुद्रों के द्वारा रुद्रागम उपदिष्ट हैं, अपनी बुद्धि से नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समय-समय पर ईश्वरीय स्फुरण से शास्त्रों का अवतार होता रहता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त के काल एकादश शताब्दी से पहले आविर्भूत शास्त्र प्राचीन और परवर्ती काल में अवतीर्ण शास्त्र नवीन माने जायँगे। प्राचीन तन्त्रों में जैसे दार्शनिक एवं योगशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन मिलता है, वैसा नवीन तन्त्रों में देखने को नहीं मिलता। इस दृष्टि से विचार करने पर वैखानस, पांचरात्र, भागवत नामक त्रिविध वैष्णवागमों में पठित सात्वत, जयाख्य, पौष्कर, अहिर्बुध्न्य संहिता जैसे तथा हयशीर्षपंचरात्र, अग्निपुराण, आगमप्रामाण्य, श्रीभाष्य, पांचरात्ररक्षा जैसे ग्रन्थों में स्मृत नाम प्राचीन माने जायँगे। पाशुपत और लकुलीश पाशुपत मत के आचार्यों की विस्तृत नामावली और उनके सिद्धान्तों की चर्चा विविध पुराणों और लकुलीश पाशुपत मत के ग्रन्थों में मिलती है। पाशुपत-सूत्र, कौण्डिन्य-भाष्य, गणकारिका जैसे [1]प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। १० और १८ भेद वाले शिवों और रुद्रों के द्वारा उपदिष्ट २८ सिद्धान्तागमों और उनके २०७ उपागमों की नामावली रौरवागम के [2]प्रथम भाग में दी गई है। शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत इन सिद्धान्तागमों के साथ २८ गारुड़तन्त्र, ३२ अथवा ६४ भैरवतन्त्र, २० भूततन्त्र और २४ वामतन्त्र — कुल मिलाकर १६४ तन्त्रों की नामावली नवीं शताब्दी के वैरोचन शिवाचार्य के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.१०७-१३२) में मिलती है। इन आगमों के अतिरिक्त उग्रज्योति आदि १८ पद्धतिकारों, भाष्यकारों एवं वृत्तिकारों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। बौद्ध तन्त्रों की विशाल ग्रन्थराशि भोट भाषा में अनूदित उपलब्ध हैं और इनमें से कुछ ग्रन्थ मूल संस्कृत भाषा में भी प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीकण्ठीसंहिता में ६४ भैरवागमों की नामावली परिगणित है। ६४ तन्त्रों की दूसरी नामावली [3]नित्याषोडशिकार्णव में उपलब्ध है। इनके सिवाय कुल, क्रम, मत, त्रिक आदि सम्प्रदायों का विशाल साहित्य तन्त्रालोक एवं उसकी विवेक टीका में तथा स्पन्दप्रदीपिका, योगिनीहृदयदीपिका, महार्थमंजरीपरिमल जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध है। इन सबका प्राचीन वाङ्मय में समावेश माना जायगा।

सर्वोल्लासतन्त्र में उद्धृत तोडलोत्तरतन्त्र-वर्णित ६४ तन्त्रों की तथा महासिद्धसार-तन्त्र में स्मृत विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता, अश्वक्रान्ता नामक त्रिविध ६४ तन्त्रों की नामावली अर्वाचीन मानी जायगी। इन नामावलियों में पूर्ववर्णित प्राचीन तन्त्रों का

---

१. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय का ग्रन्थ शैवदर्शनबिन्दु (पृ. २९-३३) देखिये।

२. यह ग्रन्थ पाण्डिचेरी से सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ है।

३. नि. षो. उपोद्घात (पृ. २३-३१) देखिये।

उल्लेख प्रायः नहीं मिलता और प्राचीन नामावली में तोडलोत्तर अथवा महासिद्धसार-तन्त्र का कहीं उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में प्राचीन तन्त्रों में इन दो तन्त्रों में वर्णित नामावली की मान्यता का कोई प्रश्न ही नहीं है। तान्त्रिक साहित्य[१] (पृ. ३०-३१) में आगमतत्त्वविलास में उपलब्ध १६० तन्त्रों की नामावली दी गई है। यहाँ प्राचीन और नवीन तन्त्रों का घालमेल सा हो गया है। यह परवर्ती काल के रघुनाथ तर्कवागीश द्वारा रचित ग्रन्थ है। शक्तिसंगमतन्त्र की चर्चा केवल रथक्रान्ता विभाग में आई है, प्रायः अर्वाचीन ग्रन्थों का ही इसमें उल्लेख है, ग्रन्थ में ही इस तन्त्र के अवतारकाल का स्पष्ट उल्लेख होने से इस तन्त्र का समावेश भी अर्वाचीन तन्त्रों में माना जायगा। तब भी इसका अपना महत्त्व अक्षुण्ण है। यहाँ लुप्तप्राय शताधिक सम्प्रदायों का, मत-क्रम-मार्ग आदि का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है और इससे विशाल तान्त्रिक वाङ्मय का परिचय मिलता है।

४. तन्त्रागमीय दर्शन

भारतीय साहित्य के इतिहासकार डॉ. कीथ ने कहा था कि तन्त्रशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। इस मत को अपनी स्वीकृति देते हुए से म. म. पी. वी. काणे अपने महनीय ग्रन्थ "धर्मशास्त्र का इतिहास" के तन्त्रशास्त्र के प्रकरण में कहते हैं कि सायण-माधव बन्धुओं ने सर्वदर्शनसंग्रह में तान्त्रिक दर्शन के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। इस मत का खण्डन हम कर चुके हैं। संस्कृत के विद्वानों में भी इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। दर्शनशास्त्र की खण्डन-मण्डन प्रधान कुछ शाखाओं का अध्ययन करने वाले इस तरह के दार्शनिक विद्वानों और इतिहासकारों ने शायद सर्वदर्शनसंग्रह के न(ल)कुलीश पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा एवं शैवदर्शन प्रकरणों को नहीं देखा है। म. म. श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के प्रयत्न से अब इस दृष्टि में परिवर्तन आया है और तन्त्रागमीय दर्शन को भी भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास-ग्रन्थों में स्थान मिलने लगा है।

यह हमें समझ लेना चाहिये कि आगम और तन्त्र दो भिन्न शास्त्र नहीं हैं। पांचरात्र की सात्वतसंहिता सात्वततन्त्र और पाद्मसंहिता पाद्मतन्त्र भी कहलाती है। लक्ष्मीतन्त्र भी पांचरात्र आगम का ही ग्रन्थ है। इसी तरह सिद्धान्त शैवागम का मृगेन्द्रागम मृगेन्द्रतन्त्र और मतंगपारमेश्वरागम मतंगतन्त्र भी कहलाता है। तन्त्रागमशास्त्र

---

१. शक्तिसंगमतन्त्र, चतुर्थ खण्ड के उपो. की पृ. २४ की ५४वीं टिप्पणी देखिये। इन सबका तन्त्रों के नवीन विभाग में समावेश होगा।

की सभी शाखा-प्रशाखाओं के संग्राहक अपने ग्रन्थों को अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक और तन्त्रसार नाम दिया है। सिद्धान्तसारावलि की टीका (पृ. २८३-२८४) में उद्धृत कारणागम के वचनों में २८ सिद्धान्तशैवागमों के लिये आगम, संहिता और तन्त्र शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है। आगम, संहिता और तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राय: एक-सरीखे विषय वर्णित हैं। शाक्त तन्त्रों को शाक्तागम भी कहा जाता है। वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ का तान्त्रिक शब्द सम्पूर्ण आगमिक और तान्त्रिक साहित्य का संग्राहक है। इस पूरे साहित्य को हम आगम अथवा तन्त्र के नाम से संबोधित कर सकते हैं।

वैदिक वाङ्मय, पांचरात्र-पाशुपत मत, जैन-बौद्ध मत, पौराणिक वाङ्मय और सन्त साहित्य—यह है भारतीय वाङ्मय का कालक्रम। सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक **कृतान्तपंचक** के नाम से प्रसिद्ध हैं। तन्त्रागमशास्त्र पर इनका पूरा प्रभाव है और सन्त कबीर की वाणी भी इनसे अनुप्राणित है। तन्त्रागमशास्त्र में आन्तर वरिवस्या और भावशुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है।

विष्ठापूर्णे मृद्घटे तु बहि:शुद्धौ हि किं फलम्।
अन्त:शुद्धिं समासाद्य बहि:शुद्धिं समाचरेत्।।
(४.११.७४)

शक्तिसंगमतन्त्र के इस वचन में यही प्रतिपादित है और सन्त कबीर की उलटबासियों में भी भावशुद्धि पर ही तो जोर दिया गया है। विज्ञानभैरव, संकेतपद्धति, तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों में मानस पूजा के प्रसंग में इस विषय का विस्तार मिलता है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से सिद्धों, नाथों, सन्तों एवं सूफियों ने तन्त्रागमशास्त्र की पद्धति का अनुसरण करते हुए ही यह सब लिखा है, श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी की इस स्थापना को धीरे-धीरे आधुनिक विद्वान् भी मानने लगे हैं, यह हमारे लिये प्रसन्नता का विषय है।

तन्त्रागमीय दर्शन भी इसी भावना से अनुप्राणित है। इसीलिये यहाँ शुष्क तर्क का कोई स्थान नहीं है। मालिनीविजय (१७.१८) में योग के अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु यह स्थान शास्त्रानुमोदित तर्क को ही दिया गया है। निरुक्त, मनुस्मृति, महाभारत, बादरायण ब्रह्मसूत्र, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों में शुष्क तर्क को अग्राह्य बताते हुए आगमानुमोदित तर्क को प्रतिष्ठित किया गया है। इस शास्त्रानुमोदित तर्क के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की सर्वत्र अपेक्षा है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति भी सम्यक् चारित्र के अभाव में तर्कपद्धति का सही उपयोग नहीं कर सकता। ऐसे तार्किकों और दार्शनिकों को लक्षित

करके ही "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव" इस तरह की लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं।

तन्त्रागमशास्त्र में सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सिद्धि के लिये ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या नामक पादों का विधान है। इनमें सम्यक् दर्शन की सिद्धि के लिये ज्ञान (विद्या) पाद, सम्यक् ज्ञान के लिये योगपाद और सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिये क्रिया और चर्या पाद का विधान है। पादविभाग के न रहने पर भी शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रों में इस तरह के विषय सर्वत्र वर्णित हैं। इन सबमें क्रिया और चर्या सम्बन्धी विषयों का ही यद्यपि अधिक विस्तार है, तो भी साधक के लिये आवश्यक दार्शनिक दृष्टि का भी समुन्मेष किया ही गया है। केवल स्पन्द-प्रत्यभिज्ञा-त्रिक दर्शनों में ही नहीं, द्वैतवादी सिद्धान्तागमों में और शाक्तागमों में भी विशिष्ट दार्शनिक अंश वहाँ के विद्या पाद में तथा अन्यत्र भी प्रदर्शित हैं। अष्टप्रकरण के नाम से मुद्रित ग्रन्थ में पाँच प्रकरण सद्योज्योति शिवाचार्य के हैं। इनका शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने भी आदर के साथ स्मरण किया है। नरेश्वरपरीक्षा भी सद्योज्योति की कृति है। इस पर भट्ट रामकण्ठ ने व्याख्या लिखी है। कश्मीर से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। भोजदेव-रचित तत्त्वप्रकाश पर कुमारदेव और अघोरशिव ने व्याख्या लिखी है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर सर्वदर्शनसंग्रह में शैवदर्शन संगृहीत है। कुमारदेव की इस व्याख्या में और नरेश्वरपरीक्षा की रामकण्ठ-कृत व्याख्या में तान्त्रिकों की गहन दार्शनिक दृष्टि और तर्कपद्धति को देखा जा सकता है।

न(ल)कुलीश पाशुपत दर्शन में भी सूत्र, भाष्य, कारिका आदि के रूप में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस दर्शन के प्रवर्तक लकुलीश हैं। पुराणों में वर्णित २८ योगाचार्यों में ये अन्तिम हैं। इनकी शिष्य-परम्परा लाकुल, मौसुल, वैमल और कारुक के नाम से प्रसिद्ध है और कश्मीर के क्षेमराज आदि विद्वानों ने इनकी चर्चा की है। कारोहण तीर्थ में अवतीर्ण लकुलीश-शिष्य मुसुलेन्द्र ने हृदयप्रमाण नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज यह उपलब्ध नहीं है। प्रपंचसार, शारदातिलक, ईशानशिवपद्धति जैसे ग्रन्थों में भी आवश्यक दार्शनिक अंश उपलब्ध होते हैं। नित्याषोडशिकार्णव जैसे शाक्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी त्रिपुरा, क्रम, कुल, त्रिक आदि मतों की विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि का परिचय दिया गया है। इस स्थिति में तन्त्रों का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, यह कहना नितान्त अनुचित है।

इस प्रसंग में हम अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज की उक्तियों की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। ई. प्र. वि. वि. (भा. १, पृ. ११) में अभिनवगुप्त कहते हैं कि इस तरह से अपने में उन्माद को जगाने वाली और दूसरों का अपमान करने वाली पण्डिताई से हमें क्या लेना-देना है? स्पन्दनिर्णय (पृ.१६) में क्षेमराज का कहना है कि सुकुमार

हृदय वाले साधक-जनों में शास्त्रों के प्रति उपेक्षाभाव को जगाने वाली तर्क-कथाओं से हम दूर रहना चाहते हैं। हम देखते हैं कि आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इसका पूरी तत्परता से पालन किया गया है। स्वकीय पक्ष की स्थापना यहाँ की गई है। पर पक्ष के निराकरण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इस प्रसंग में हमारे "आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टिप्रक्रिया"[१] शीर्षक निबन्ध को देखा जा सकता है। इस तरह से तन्त्रागमशास्त्र का कोई दर्शन नहीं है, यह कथन कुतर्क की श्रेणी में ही समाविष्ट होगा।

बात यह है कि जान वुडरफ जैसे पाश्चात्य विद्वानों और उनके सहयोगी भारतीय विद्वानों ने भी सर्वप्रथम जिस तान्त्रिक वाङ्मय को प्रकाशित किया, उसको देखकर ही संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक डॉ. विण्टरनित्ज जैसे जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने पुराणों के साथ तन्त्रशास्त्र के अनुशीलन को भी अरुचिकर बता दिया। इस तरह के आक्षेपों का म. म. काणे ने खण्डन कर दिया है। यह सही है कि कुछ तान्त्रिकों ने लोकाचार की उपेक्षा कर स्वेच्छाचार का वरण कर लिया था और उनकी दानसागर-कार वल्लालसेन ने समालोचना की थी। यही कारण था कि इस तरह के सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय के साथ बौद्ध मत में प्रवृत्त इस तरह के साहित्य की भी उपेक्षा होने लगी। पांचरात्र, पाशुपत आदि मत अवैदिक हैं, इस तरह के मतवादों ने भी इसमें सहायता की। इस उपेक्षा के कारण तान्त्रिक वाङ्मय में विकृति आने लगी। उस विकृति के कारण और व्याकरण के नियमों की अवहेलना के कारण ये ग्रन्थ भाषा और विचार की दृष्टि से कमजोर पड़ गये। ऐसे तान्त्रिक वाङ्मय को देखकर ही आजकल के पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की इस तरह की उक्तियाँ प्रचारित हो गईं हैं कि तन्त्रशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

पांचरात्र आदि वैष्णवागमों से रामानुज आदि के दर्शनों का और पाशुपत आदि शैवागमों से शैव दर्शनों का प्रसार हुआ, इसको कौन अस्वीकार कर सकता है? सर्वदर्शनसंग्रह में बताया गया है रामानुज और मध्वाचार्य के मत पर समान रूप से पांचरात्र आगम का प्रभाव है। सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र आदि पांचरात्र आगमों में स्थापित दार्शनिक दृष्टि का वैष्णवाचार्यों ने विस्तार किया है। श्रीकण्ठभाष्य के व्याख्याता अप्पय दीक्षित ने श्वेत आदि पाशुपत योगाचार्यों का सादर स्मरण किया है और सद्योज्योति शिवाचार्य की मोक्षकारिका एवं रौरवागम के वार्त्तिककार बृहस्पतिपाद के वचनों को उद्धृत किया है। ये दोनों आचार्य शैवागमों के प्रथम व्याख्याता रहे हैं, इसकी सूचना भट्ट रामकण्ठ ने मोक्षकारिका की अपनी व्याख्या के आरंभ में इस प्रकार दी है —

१. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ८९-९८

याभ्यां प्रकाशितं वर्त्म सिद्धान्ते सिद्धभावत:।
गुरूणामपि तौ वन्द्यौ सद्योज्योतिर्बृहस्पती।।

इस स्थिति में तन्त्रों का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, यह कथन सही नहीं माना जा सकता। इस विषय की पुष्टि के लिये **आगे प्रत्येक मत के दर्शन को बिना खण्डन-मण्डन के विस्तार से प्रस्तुत किया जायगा।**

तन्त्रागम शास्त्र का यह विशाल दार्शनिक वाङ्मय विस्मृति के गर्त में पड़ा हुआ आज विद्वानों के द्वारा उपेक्षित सा हो गया है। इसको बिना जाने बौद्ध मत की महायान और वज्रयान शाखाओं के एवं जैन धर्म के परवर्ती विकास में और पौराणिक स्मार्त मत की प्रतिष्ठा में आगम-तन्त्रशास्त्र का कितना प्रभाव है, इसका अनुशीलन नहीं हो पाया है। दक्षिणभारत के वैष्णव और शैव भक्तों के, उत्तरभारत के सिद्धों, नाथों और सन्तों के और इस्लाम मत के अनुयायी सूफियों के साहित्य पर वेदान्त दर्शन और पौराणिक दृष्टि के प्रभाव की तो चर्चा हुई है, किन्तु शांकर अद्वैतवाद को छोड़कर वेदान्त की अन्य सभी शाखाओं पर वैष्णव और शैव आगमों का अक्षुण्ण प्रभाव रहा है तथा वैष्णव एवं शैव सन्तों और सिद्धों एवं नाथों के साहित्य पर भी पूरी तरह से आगम-तन्त्रशास्त्र का प्रभाव रहा है, सूफी मत भी शांकर अद्वैतवाद की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का तथा अद्वैतवादी शाक्त मत का अनुसरण करता है, इन सब विषयों का सप्रमाण प्रतिपादन सर्वप्रथम श्रद्धेय कविराज महोदय ने ही अपने निबन्धों में किया है। वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान की शैव-शाक्त-कौल मत से अनुस्यूतता पर उन्होंने इंगित किया था। वेदोत्तरकालीन सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन उनके द्वारा निर्धारित इसी दृष्टि के आधार पर हो, यह बहुत जरूरी है। इसीके लिये हमारा यह लघु प्रयास है।

* * *

५. निगमागम विवेचन

सन्त तुलसीदास अपने रामचरितमानस को नानापुराण-निगमागम-संमत बताते हैं। यहाँ निगम शब्द वैदिक वाङ्मय का और आगम शब्द तन्त्रागम शास्त्र का सूचक है। इन शब्दों की प्रवृत्ति शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में देखी जाती है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि "इतरेष्वागमाद् धर्म:" (१.८२) यहाँ आगम शब्द की व्याख्या करते समय उसको वेद का वाचक मानते हैं। निगम शब्द भी वेद का वाचक है, इसकी जानकारी "इत्यपि निगमो भवति" ऐसे अनेक निरुक्त-वाक्यों से मिलती है। महाभाष्य-पस्पशाह्निक के — "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इस वाक्य

को महामुनि पतंजलि आगम-वाक्य कह कर उद्धृत करते हैं, जो स्पष्टतः श्रुतिवाक्य माना जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि अपने ग्रन्थ में आगम शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर (१.२७,३०,४१,१३३-१३४; २.४९०,४९२-४९३) करते हैं। टीकाकार आगम पद से ऋषि-प्रणीत शास्त्रों और निगम पद से अपौरुषेय वेदों का ग्रहण करते हैं।

कश्मीर के महान् आगमाचार्य तान्त्रिकप्रवर श्रीमान् अभिनवगुप्तपाद भी निगम पद के इसी अर्थ को मान्यता देते हैं। वे ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा. १, पृ. १५) में निगम पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म को समझने के लिये हमारे जानने लायक उपायों की निश्चित सूचना देने वाला शास्त्र [१]निगम, अर्थात् वेद है।

आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक (३५.१-२) में वे कहते हैं कि आगमशास्त्र में समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को आगम नाम से जाना जाता है। प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने वहीं (३५.१९) बताई है कि प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आते हैं। ई. प्र. वि. वि. में वे कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इसमें वे भगवान् [२]अनन्त के वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र-व्यासभाष्य (१.७) में यह वचन आनुपूर्वी से मिल जाता है। इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उस शास्त्र का वाचक माना जायगा[३], जिस पर उसका विश्वास जम गया हो। वे पुनः कहते हैं कि [४]बुद्ध कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है, अपनी भावना के सहारे क्षणिकवाद में जो दृढ़ आस्था जमा लेता है, वही बुद्ध हो जाता है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया था और उसमें भी उसके पूर्ववर्ती बुद्ध ने। इस तरह से पारमेश्वरी विमर्श-शक्ति ही वस्तुतः अन्ततः इस ज्ञान की भी उपदेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी तरह से प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिल के विषय में भी समझना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी

१. "वेद्यं धर्माद्युपायं निश्चितं गमयतीति निगमो वेदः" (ई. प्र. वि. वि., भा. १, पृ. १५)।

२. "आगमो हि नामायं शब्दनसंक्रान्तिशरीरः। यथाह भगवाननन्तः — "परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते" (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ८९)।

३. "स च यो यस्य हृदये निरूढिमागतः स एव" (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ९६)।

४. "नहि बुद्धो नाम नियतः कश्चित्, अपि तु भावनाबलप्रतिलब्धक्षणिकादिदृढविमर्शः। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरुः पूर्वबुद्धः, तस्याप्यन्य इति क्रमेणानियतवक्तृकत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुतः। एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावितः कपिलो मन्तव्यः। अत एव सर्वागमा अनादय एव" (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ९७-९८)।

आगम अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस पद्धति से हम सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों का आगमशास्त्र में समावेश कर सकते हैं।

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने [१]वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि मतों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसको यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति के अनुसार ही करनी चाहिये।

[२]वराहमिहिर का यह श्लोक भी प्रसिद्ध है, जिसमें वे कहते हैं कि म्लेच्छों (यवनों) में ज्यौतिषशास्त्र व्यवस्थित रूप में विद्यमान है, अतः उनका भी ऋषियों के समान आदर किया जाता है। इस पूरे प्रकरण के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आज की दुनियाँ में वर्तमान सभी धर्मों के आकर-ग्रन्थों का आगमशास्त्र में समावेश माना जा सकता है, क्योंकि इन सभी धर्मों के उपदेष्टाओं ने समाधि-अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इनको प्राप्त किया है। अतः इनकी प्रामाणिकता में हमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिये।

आजकल आगम और निगम के लक्षणों को बताने वाले दो श्लोक[३] बहुत जगह उद्धृत मिलते हैं। उनका भाव यह है कि शिव के मुँह से निकल कर गिरिजा के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव को मान्य शास्त्र आगम कहलाते हैं और गिरिजा के मुँह से निकल कर शिव के कान तक पहुँचे और वासुदेव को मान्य शास्त्र निगम कहलाते हैं। इस लक्षण के अनुसार शिवोपदिष्ट शास्त्र आगम और देवी के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र निगम कहलाते हैं। इसी परिभाषा के अनुसार कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणितन्त्र को निगम के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। इसकी समालोचना हम पहले (पृ. १९-२०) कर चुके हैं। इस परिभाषा का अनुसरण करने पर शैव-शाक्त तन्त्र ही इस परिधि में आ सकेंगे, वैष्णव तन्त्रों का यहाँ समावेश नहीं हो सकेगा। शक्तिसंगमतन्त्र में भी निगम और आगम शब्दों का पर्यायवाची शब्दों के रूप में पूरे तन्त्रशास्त्र के लिये यथेच्छ प्रयोग किया गया है। वहाँ (१.२.७९) अथर्ववेद से निगमाख्य उपवेद, अर्थात्

१. "यथाह वराहमिहिरः—"विष्णोर्भागवता मघाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजाः, मातॄणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः। शाक्याः सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया।।" (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. १००)। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५९.१९) में यह उपलब्ध है।

२. वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते…।

३. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।। निर्गतं गिरिजावक्त्राद् गतं च गिरिशश्रुतौ। मतं च वासुदेवस्य तस्मान्निगम उच्यते।।

तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव बताया गया है। "निगमाद् वाम एव च" (४.८.११०) यहाँ भी निगम शब्द का प्रयोग तन्त्रशास्त्र के लिये ही हुआ है। इसी तरह से "आगम ग्रन्थ संख्या च" (२.१.१०), "एवमागमसन्दोहः" (२.१.२३), "आगमे बहवो भेदाः" (२.५.४८) इत्यादि स्थलों पर तन्त्रशास्त्र के लिये आगम शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे वैष्णव आदि तन्त्रों की समस्या का तो समाधान हो जायगा, किन्तु स्वयं इस ग्रन्थ की सामग्री से ही इसका परवर्ती प्रादुर्भाव सिद्ध हो चुका है, फलतः—हमें यही मानना पड़ेगा कि सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय आगम पद से और वैदिक वाङ्मय निगम पद से संबोधित होगा। प्रायः आजकल ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गये हैं, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। अभिनवगुप्त के ऊपर उद्धृत वचन इसी का समर्थन करते हैं और हमने भी इन्हीं अर्थों में इन शब्दों का प्रयोग किया है।

***

६. पुराणों पर निगमागम का प्रभाव

पुराणों का प्राचीनतम स्वरूप कैसा था? इसके विषय में अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः पुराण आज जिस रूप में उपलब्ध हैं, उन्हीं पर आगमशास्त्र के प्रभाव की समीक्षा की जा सकती है। इन वर्तमान पुराणों पर आगम-तन्त्रशास्त्र की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है, यही हमें यहाँ बताना है।

पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं, इस विषय पर तो अनेक विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है, इस विषय पर अभी विचार नहीं के बराबर हुआ है। हमने ऊपर बताया है कि अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय "हयशीर्षपंचरात्र" के आदिकाण्ड से तथा वहीं के ७१-१०६ अध्याय सोमशंभु कृत कर्मकाण्डक्रमावली से आनुपूर्वी से मिलते हैं। सोमशंभु ने संवत् ११३० में इस ग्रन्थ को पूरा किया था और उसका यह प्रकरण लीलावती नामक शिवागम की सहायता से लिखा गया था। वैरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.१७९-१८१) में शिवोक्त २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। ये नाम शैवागमों, उपागमों अथवा उपपुराणों की सूचियों में मिलते हैं। यहाँ[1] (२.१५६) बताया गया है कि लिंग, प्रासाद, द्वार, मण्डप आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेद में नहीं वर्णित है। बृहन्नारदीय[2] (२.२४.१९-२१) में भी उन विषयों की सूची दी गई है, जिनका वर्णन

---

१. "न वेदे त्रिविधं लिङ्गं न च प्रासादलक्षणम् । न वारं मण्डपादिश्च स्थापनं न शिवादिके।।" (२.१५६)।

२. "न वेदे ग्रहसंचारो न शुद्धिः कालबोधिनी। तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णयः।। इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा। यत्र दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ।। उभयोर्यत्र दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते।" (२.२४. १९-२१)

वैदिक वाङ्मय में नहीं है। पुराणों में ये सब विषय आगम अथवा तन्त्रशास्त्र से ही लिये गये हैं। भविष्यपुराण (२.१.११.१) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तटाक आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिक विधि के अनुसार बताई गई है।

इष्ट और पूर्त — ये दो धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव[१] का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम कह सकते हैं कि इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्त ऐहलौकिक। पुराणों में इष्ट और पूर्त दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। इसी तरह से मूर्ति, प्रासाद आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा तथा वापी, कूप आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा का वर्णन पुराणों में तन्त्रागम शास्त्र के आधार पर ही किया गया है।

त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं प्रचक्षते।
भोगमोक्षक्रियाचर्याह्वयाः पादाः प्रकीर्तिताः।।

बृहन्नारदीयपुराण (१.६३.१३) में यह वचन उपलब्ध है। पति, पशु, पाश नामक तीन पदार्थों के विवेचन से और ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या नामक चार पादों से समन्वित शैवागमों से हम सभी परिचित हैं। तदनुसार इस श्लोक में भोग के स्थान पर योग पद होना चाहिये। यहाँ का सम्पूर्ण अध्याय इसी तरह की अशुद्धियों से भरा हुआ है। शैवागम के तत्त्वप्रकाश आदि ग्रन्थों की सहायता से इसको शुद्ध किया जा सकता है। इस अध्याय में कुछ श्लोक ऐसे भी हैं, जिनको [२]अष्टप्रकरण में प्रकाशित मोक्षकारिका में देखा जा सकता है। कूर्मपुराण के उत्तर भाग (अ. १-११) में ईश्वरगीता स्थित है। इसमें पूरी तरह से शैवागम के सिद्धान्त वर्णित हैं। तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमारदेव ने इसको उद्धृत किया है। इससे आगम और पुराण की परस्पर अनुस्यूतता स्पष्ट होती है। वैष्णवागमों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त और प्रादुर्भाव (अवतार) वाद महाभारत के नारायणीयोपाख्यान, पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ही उपबृंहित है। पुराणों में शिव और नारायण की एकता ही नहीं प्रतिपादित है, किन्तु शक्ति, स्कन्द, गणेश, सूर्य आदि की भी उपासना पंचायतन पूजा के अन्तर्गत समन्वित रूप में प्रपंचसार और शारदातिलक की पद्धति से वर्णित है। अग्निपुराण[३] आदि में विशेष रूप से और अन्यत्र

---

१. "धर्मो द्विविधः — इष्टः पूर्तश्चेति। तत्रेष्टो वैदिकः, पूर्तस्तान्त्रिकः" (अ. प्र. , पृ. ३७, काशी संस्करण)।

२. "अन्तःकरणवृत्तिर्या" (श्लो. १०६), "शिवार्कशक्तिदीधित्या" (श्लो. १११) मोक्षकारिका के ये दो श्लोक बृहन्नारदीय (१.६३.११२ एवं ११०) में उपलब्ध हैं।

३. अग्निपुराण में हयशीर्षपंचरात्र और कर्मकाण्डक्रमावली के श्लोक आनुपूर्वी से मिलते हैं, यह बताया जा चुका है (पृ. १०-११)।

भी सामान्य रूप से यह प्रवृत्ति प्राय: सर्वत्र मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में केवल वेदार्थ का ही उपबृंहण नहीं मिलता, अपितु ऐसे विषयों को भी यहाँ संकलित किया गया है, जिनकी चर्चा वेदों में नहीं मिलती। इनमें से अधिकांश विषयों का संकलन तन्त्रागम शास्त्र से किया गया है। अत: पुराण आगमों का भी अनुवर्तन करते हैं, इस विषय में किसी प्रकार के संदेह की कोई स्थिति नहीं रह जाती।

उपपुराणों के अनुशीलन में पर्याप्त परिश्रम करने वाले डॉ. आर. सी. हाजरा ने पुराणों पर तान्त्रिक प्रभाव पर विचार किया है। उन्होंने पांचरात्र संहिताओं और शैवागमों को भी इसमें संमिलित किया है, जो उचित ही है, किन्तु तन्त्रों को ब्राह्मणविरोधी और वेदविरोधी मानना उचित नहीं है। भारतीय वाङ्मय में समन्वय की प्रधानता है। यह परस्पर के विरोध को दूर करने के लिये सदा सचेष्ट रही है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे विभाजन केवल भगवान् काल के कलन-व्यापार की ही सूचना देते हैं। इन सभी दृष्टियों के विस्तारकर्ता प्राय: ब्राह्मण ही रहे हैं। अत: वैदिक वाङ्मय के प्रवर्तक ब्राह्मणों के लिये किया गया इस शब्द का प्रयोग केवल भारतीय समाज में विद्वेष ही फैला सकता है, जैसा आजकल हो रहा है। अत: भारतीय वाङ्मय के इतिहास में इस तरह के भ्रान्ति से भरे शब्दों का प्रयोग अनुचित है। इस पर कम से कम विद्वानों को तो अवश्य ध्यान देना चाहिये।

भगवद्गीता में सांख्य-योग, उपनिषत् और पांचरात्र शास्त्र विवेचित हैं। इस पर सभी विद्वान् सहमत हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसमें एकायन धर्म का विशेष रूप से उपपादन हुआ है। [१]शिवपुराण में श्रौत और स्वतन्त्र नामक द्विविध शिवागम प्रदर्शित हैं। इनमें से अतिविस्तीर्ण श्रौत शिवागम में पाशुपत व्रत और ज्ञान का विवेचन हुआ है। इस तरह से सांख्य-योग के समान पांचरात्र एवं पाशुपत मतों के प्रामाण्य में भी महाभारत, पुराण आदि में कोई विवाद नहीं है। इस ग्रन्थ में कृतान्तपंचक के प्रामाण्य की चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के १२वें अध्याय में यह सर्वाधिक विस्तार से चर्चित है। पुराणों में कुछ शास्त्रों को मोहक माना गया है, किन्तु वहाँ (पद्म. ६.२६३.७१) तो मायावाद को भी असच्छास्त्र माना गया है। अत: इस तरह के वाक्यों की संगति अर्थवाद-न्याय से बैठानी चाहिये। शाक्तागमों में विशेष रूप से वर्णित भगवती त्रिपुरसुन्दरी और श्रीचक्र की उपासना शांकर मठों में आदर के साथ की जाती है, इससे सभी विद्वान् परिचित हैं। अत: तन्त्रों को वेदविरोधी मानना सही नहीं है।

पांचरात्र और पाशुपत मत की प्राचीनता के विषय में अब पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। यह भी सिद्ध हो चुका है कि कृतान्तपंचक के आधार पर ही

---

१. शिवपुराण वायवीयसंहिता (१.३२, ११-१३) द्रष्टव्य।

महाभारत तथा वर्तमान महापुराणों की प्रवृत्ति हुई है। ऐसी स्थिति में डॉ. हाजरा का यह कहना है कि ८०० ई. से पहले पुराणों पर तन्त्रशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं था, कथमपि स्वीकार्य नहीं हो सकता। केवल न्यास, मुद्रा, आभिचारिक कर्म, यन्त्र-मण्डल निर्माण जैसे विषय ही नहीं, प्रासाद-मूर्ति निर्माण, प्रतिष्ठा जैसे विषय भी प्रथमत: आगम-तन्त्रशास्त्र में ही वर्णित हुए हैं और इनका पुराणों में भी उसी रूप में वर्णन मिलता है। स्वयं डॉ. हाजरा वराह आदि पुराणों में निर्दिष्ट पांचरात्र, शैवागम आदि के विषयों की सूचना देते हैं। आजकल के इतिहासज्ञ तन्त्रागमशास्त्र की प्रवृत्ति का काल यही मानते हैं, किन्तु इसके विरुद्ध अब पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

आजकल के इतिहासज्ञ वायुपुराण की प्राचीन पुराणों में गणना करते हैं। ६-७वीं शताब्दी के महाकवि बाण भट्ट के हर्षचरित में इनकी चर्चा है। इसमें पाशुपत आदि आगमों में निर्दिष्ट विषय उपलब्ध हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आठवीं शताब्दी से पहले तन्त्रागम शास्त्र की कोई स्थिति नहीं थी, इस तरह की बातें कोरी कल्पना की उड़ान मात्र हैं। अग्निपुराण, गरुड़पुराण, बृहन्नारदीयपुराण की ही तरह अन्य पुराणों में भी प्रयत्न करने पर तन्त्रागम शास्त्र के अनेक प्रकरण पूरी आनुपूर्वी के साथ मिल सकते हैं। पौराणिकों की यह पद्धति रही है कि वे अन्य शास्त्रों से गृहीत प्रकरणों को, संबोधन आदि में थोड़ा परिवर्तन करके, आनुपूर्वी से ग्रहण कर लेते हैं। अग्निपुराण को हम यहाँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

इस प्रसंग में पुराणों की एक विशेषता पर हमें ध्यान देना होगा। यहाँ निगम के साथ ही आगम शास्त्र का भी यद्यपि उपबृंहण हुआ है, तो भी वैदिक दृष्टि को ही प्रधानता दी गई है। पूर्वमीमांसा शास्त्र की पद्धति के अनुसार वेदों का यहाँ सर्वोपरि प्रामाण्य माना गया है और वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था को भी पूरी मान्यता मिली है। शैव और वैष्णव आगमों में अनेक विषयों में परस्पर विरोध देखने को मिलता है, किन्तु पुराणों में यह बात नहीं है। पुराणों में शैव पुराण, वैष्णव पुराण आदि विभाग अवश्य मिलता है, किन्तु इन सभी पुराणों में शिव और नारायण की एकता सर्वत्र प्रतिपादित है। जैसे एक ही देवता कृत्य-भेद से इन्द्र, वरुण, शिव, विष्णु आदि विविध नामों से जाना जाता है, उसी तरह से पुराणों के भी सात्त्विक आदि विभाग कर दिये गये हैं। इनमें परस्पर किसी भी प्रकार का ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव नहीं है। इस स्थिति में वामन, वराह, कूर्म आदि पुराण सात्त्विक हैं और इनमें विष्णु की ही महिमा गाई गई है, इस तरह की उक्तियों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह से कूर्मपुराण में पहले वैष्णव दृष्टि प्रधान थी, बाद में इसमें शैव उपादान भर दिये गये, इस तरह की [१]उक्तियों का भी कोई औचित्य नहीं है।

---

१. डॉ. आर. सी. हाजरा ने "स्टडीज इन दि पुराणिक." (पृ. ६४) में इस विषय की स्थापना की है।

बृहन्नारदीयपुराण के पूर्वभाग के ६३वें अध्याय में पाशुपत ज्ञान वर्णित है, किन्तु उस प्रकरण का प्रारंभ इस तरह से होता है —

शृणु नारद वक्ष्यामि तन्त्रं भागवतं तव।
यज्ज्ञात्वाऽमलया भक्त्या साधयेद् विष्णुमव्ययम्।।

यहाँ पाशुपत मत भागवत के नाम से और भगवान् शिव विष्णु के नाम से संबोधित हैं। शिव-नारायण की एकता की यही दृष्टि कूर्मपुराण, महाभारत तथा अन्य पुराणों में भी मिलती है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।
(६.५.७४)

इस तरह से विष्णुपुराण में भग नाम से अभिहित ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त विष्णु को भगवान् कहा गया है और पांचरात्र आगमों में व्यूह वासुदेव भी इन छः गुणों से सम्पन्न हैं। इसी तरह से —

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।
(१२.१३)

इस वायुपुराण के वचन में शिव को भी छः गुणों से मण्डित किया गया है। भक्तिस्तोत्रकार अवधूतसिद्ध भी इसकी पुष्टि करते हैं—

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विराग-
स्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्ति-
र्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव।।

पुराणों के समान वैष्णव और शैव दृष्टियों में समन्वय के वाहक कश्मीर के उत्पल वैष्णव ने अपने ग्रन्थ स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १०३) में इन शैव सर्वज्ञता आदि और वैष्णव ज्ञान आदि छः गुणों में समन्वय स्थापित किया है। पुराण ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ही ब्रह्म की तीन मूर्तियाँ मानते हैं। इस दृष्टि का प्रतिपादन आगम-तन्त्रशास्त्र में विशेष रूप से देखा जा सकता है। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ९२) में उद्धृत मायावामनसंहिता का कहना है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में भगवान् एक ही हैं। नेत्रतन्त्र के १३वें अधिकार में जयाख्या, मायावामनिका, सौरसंहिता आदि के प्रमाण से इनकी पूजाविधि भी वर्णित है। विभवावतारों में भगवान् बुद्ध की

गणना सर्वप्रथम पांचरात्र संहिताओं में मिलती है। वायुपुराण (१०४.१६) में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और आर्हत नामक छः दर्शनों को मान्यता दी गई है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.३.८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्नमस्ता के भेद से छः-छ:दर्शनों का वर्णन है, जिनमें बौद्ध एवं जैन दर्शन भी समाविष्ट हैं। कश्मीर के सद्योज्योति शिवाचार्य और भट्ट रामकण्ठ के सभी आगमों के प्रामाण्य के प्रतिपादक सर्वागमप्रामाण्य जैसे ग्रन्थों का उल्लेख मोक्षकारिकावृत्ति (पृ. २७५) में मिलता है। ऐसी स्थिति में पुराणों पर वैष्णव, शैव आदि दृष्टियों का आरोप केवल बुद्धिविलास ही माना जायगा। वे तो इसी समन्वयात्मिका दृष्टि के वाहक हैं।

लाकुल[1] आदि शास्त्रों की मोहकता का वर्णन करने वाले वचनों पर ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद के व्याख्याताओं का तथा मायावाद को असच्छास्त्र बताने वाले वचनों पर दाक्षिणात्य वैष्णव मत का प्रभाव मानना पड़ेगा। आधुनिक विचारक मायावाद पर बौद्ध प्रभाव को देखते हैं। यह सब होते हुए भी आज न तो कोई मायावाद को असच्छास्त्र मानता है और न कोई पांचरात्र, पाशुपत आदि शास्त्रों की मोहकता को स्वीकार करता है। इसके विपरीत प्राय: सभी पुराणों और स्मृति-निबन्धों में इन सबका प्रामाण्य स्वीकृत है और इनमें प्रतिपादित व्यूहवाद, षाड्गुण्यवाद, पंचमन्त्रतनुत्व जैसे विषयों का पुराणों में पूरे आदर के साथ समावेश किया गया है।

शैव, शाक्त आदि आगमों के अन्तर्गत कौल आदि मत भी समाविष्ट हैं। इनकी मोहकता हम अवश्य स्वीकार कर सकते हैं। सिद्धान्तशैव मत के आचार्यों ने [2]शास्त्रों को पंचधा विभक्त कर पुन: उनके पाँच-पाँच भेद किये हैं और अतिमार्ग नामक विभाग में कौल आदि का समावेश किया है। बौद्ध वज्रयान कौलमत का अनुसरण करता है। इसकी मोहकता इसीसे स्पष्ट है कि इसका अनुसरण करने से मोहग्रस्त हुआ बौद्ध धर्म भगवान् बुद्ध के मारविजयी स्वरूप को भूलकर भारतवर्ष में विस्मृतप्राय हो गया और शैव-शाक्त मत में प्रविष्ट कौलिक दृष्टि ने भगवान् शिव के कामदाहक स्वरूप को भुलाकर इस देश को ही पराधीनता की शृंखला में जकड़ दिया। "जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः" (१.५.१५) जैसे श्रीमद्भागवत के वचन में इसी कुदृष्टि की ओर इंगित किया गया है। धर्मशास्त्र-निबन्धकार वल्लालसेन ने श्रौत और स्मार्त कर्म के प्रसंग में इस तरह के आगम-तन्त्रशास्त्र, पुराण, उपपुराण आदि के वचनों को पूरी तरह से नकार दिया है।

---

१. "अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् मोहनानि तु। वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु।। वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम्।" (कू. पु. २.२७. १४५-१४६)।

२. सर्वात्मशम्भु-कृत सिद्धान्तप्रकाशिका एवं उसकी प्रस्तावना देखिये। यह ग्रन्थ शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी से अभी सन् १९९६ में प्रकाशित हुआ है।

इसके आधार पर सभी शैव-शाक्त आगमों की अप्रामाणिकता और अर्वाचीनता मान लेना भी उचित नहीं है। ब्रह्माण्डपुराण के अन्त में विद्यमान ललितोपाख्यान को खिलभाग माना जा सकता है, किन्तु मत्स्यपुराण (१३.२६-५४) और देवीभागवत (७.३०.५५-८४; ७.३८.५-३१) के बीच में विद्यमान १०८ पीठ-स्थानों का वर्णन, मार्कण्डेयपुराण में [1]विद्यमान देवीमाहात्म्य (दुर्गासप्तशती) और कूर्मपुराण में विद्यमान अष्टोत्तरशतनामावली को उन पुराणों के अन्तर्गत ही माना जायगा। दुर्गासप्तशती पाठ के अंगभूत कीलक स्तोत्र का पहला श्लोक (विशुद्धज्ञानदेहाय॰) भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक का प्रथम मंगल श्लोक है। "सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये (११.७) दुर्गासप्तशती का यह श्लोक ६०८ ई. में उत्कीर्ण दधिमती (मातृ) शिलालेख में उपलब्ध है। छठी शताब्दी के महाकवि सुबन्धु की वासवदत्ता में बौद्ध देवी तारा स्मृत है। उदयपुर के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित ४९० ई. का शिलालेख[2] चित्तौड़ के पास विद्यमान छोटी सादड़ी के भ्रमराम्बा के मन्दिर में उपलब्ध हुआ था। दुर्गासप्तशती (११.५५) में भ्रामरी देवी के रूप में इनकी महिमा वर्णित है। इस तरह से यही मानना उचित होगा कि पुराणों में शैव, शाक्त, वैष्णव आदि आगमों को प्राय: प्रमाण के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

यह भी एक तथ्य है कि पुराणों की रचना में पांचरात्र, पाशुपत आदि आगमों के अनुवर्तियों का कोई हाथ नहीं है। वैदिक वाङ्मय में परम श्रद्धालु और साथ ही आगम-तन्त्रशास्त्र को आदर देने वाले स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा में लगे हुए पौराणिकों ने शिव-नारायण की एकता के रूप में ही नहीं, पंचायतन पूजा के माध्यम से भी सभी धर्मों में समन्वयात्मिका दृष्टि का उन्मीलन करने के महान् उद्देश्य से यह कार्य किया था। वायुपुराण के इन तीन वचनों को आप देखिये —

पुराणं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेदसंमितम्।
धर्मार्थन्यायसंयुक्तैरागमैः सुविभूषितम्।।
(१.११)

योगधर्मा बहुविधाः सांख्या भागवतास्तथा।...
ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथार्हतम्।

१. दुर्गासप्तशती (१.७४) में अर्धमात्रा की नित्यता एवं अनुच्चार्यता सूचित है। प्रणव आदि पिण्ड मन्त्रों में स्थित अर्धचन्द्र से समना पर्यन्त ध्वनियों की अर्धमात्रता और अनुच्चार्यता का वर्णन शैव-शाक्त तन्त्रों में मिलता है। अत: इन तन्त्रों की प्राचीनता स्वत: सिद्ध है।

२. इस शिलालेख का परिचय "एपिग्राफिया इण्डिका" पत्रिका के ३०वें वर्ष के चतुर्थ अंक (पृ.१२०-१२७) में उपलब्ध है।

षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च।।
(१०४.१४,१६)

नातः परतरं किञ्चिन्निगमागमयोरपि।
(१०४.५४)

इन वचनों से पुराणों की निगमानुवर्तिता के साथ आगमानुवर्तिता भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि आगम और निगम में समन्वय का कार्य पुराण-वाङ्मय द्वारा तथा अनेक आगमाचार्यों के द्वारा बहुत पहले किया जा चुका है। हम आगम और निगम शब्द की नई व्याख्या कर पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौकिक शक्ति ने प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसी शक्ति ने मनुष्य को ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं और दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है। यहाँ दी गई निगमागम शब्दों की नई परिभाषा के अन्तर्गत आने वाले धर्मों में परस्पर समन्वय का आधार आगम दृष्टि हो सकती है, जो मानवमात्र को ज्ञान का ही नहीं, मुक्ति का भी अधिकारी मानती है। सही अर्थों में मानवाधिकारों की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है।

[1]मुकुटसंहिता का कहना है कि ब्राह्मण पाप कर्म में लगा रहता है और शूद्र सन्मार्ग पर चलता है। ऐसी स्थिति में किसी जाति को सदाचरण और दुराचरण का आधार नहीं माना जा सकता। उसका यह भी कहना है कि द्विज भी यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये और म्लेच्छ यदि पवित्र मन का है, तो उसका आदर होना चाहिये। पवित्र आचरण वाला म्लेच्छ शिव को प्रिय है, चारों वेदों को पढ़ने वाला कपटी ब्राह्मण नहीं। मनुस्मृति (४.२४५) का कहना है कि उत्तम आचरण करने वाला और हीन भावनाओं से मुक्त ब्राह्मण श्रेष्ठता की ओर बढ़ता है तथा इसके विपरीत आचरण करने से वह पतन के रास्ते पर चल पड़ता है। इसी आगमिक और स्मार्त दृष्टि को आगे कर हम आज सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर सकते हैं।

* * *

१. "ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम्। किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते।।", "द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः। स प्रियस्तु महेशस्य 'चतुर्वेदो न दाम्भिकः।।" इस तरह के वचन लुप्ता., द्वि. भा. (पृ. १४१) में संगृहीत हैं।

७. तन्त्रागमीय संस्कृति

तान्त्रिक शब्द आज बदनाम सा हो गया है। मात्र जादू-टोना और मन्त्र-यन्त्र आदि के उपयोग तक ही यह शब्द सीमित कर दिया गया है। धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास-ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गई है। वहाँ शैव एवं वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका संबन्ध तान्त्रिक वाङ्मय से न जोड़कर पुराणों से जोड़ा जाता है। भारतीय इतिहास, विशेष कर उसके धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की इस त्रुटि की ओर हम प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

केवल महाभारत नहीं, प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपचिर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति शिव स्तेन और तस्कर ही नहीं, शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। महाभारत में श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आद्य प्रवक्ता माना गया है। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव और शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। बौद्ध और जैन धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन का प्रयत्न किया सही, तो भी इसने कभी भी बौद्ध और जैन धर्म के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय ही पहले आगमशास्त्र और बाद में तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित हुआ।

आज से लगभग ८५ वर्ष पहले श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सिस्टम्स" (वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत) में तान्त्रिक संस्कृति की न केवल वैष्णव और शैव, अपितु शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का भी प्राथमिक परिचय देने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न जहाँ तक हमारा परिचय है, बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। तन्त्रशास्त्र की पांचरात्र, शैव, शाक्त, बौद्ध आदि धाराओं पर स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य लिखे गये, किन्तु ये सब प्रयत्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नहीं किये गये और न इन धाराओं की परस्पर अनुस्यूतता की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया।

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा में वर्णाश्रम-व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाता था। हिंसा-प्रधान कर्मकाण्डों की कभी इसमें प्रचुरता हो गई थी। इसका औपनिषद, आगमिक, बौद्ध और जैन धाराओं ने विरोध किया। औपनिषद धारा का वैदिक ज्ञानकाण्ड में समावेश हो गया। बौद्ध एवं जैन धाराओं ने वेद का प्रामाण्य अस्वीकार कर दिया। आगमिक धारा इन वैदिक और अवैदिक धाराओं के बीच समानान्तर रूप

से बहती रही। महाभारत-काल से लेकर महिम्नस्तोत्र की रचना के समय तक भारतीय साहित्य में वेदारण्यक, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का समान स्वतन्त्र प्रामाण्य अभिप्रेत था। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता और पुराणों में इन सभी मतों के समन्वय का प्रयत्न हुआ। परवर्ती धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने भी इनको वेद के बाद स्मृति के समान ही प्रमाणभूत माना। तान्त्रिक धर्म की अन्य शाखाओं के समान ही बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों में भी तान्त्रिक योग और विशिष्ट कर्मकाण्ड-पद्धति का विकास हुआ है। इनकी मूल मान्यताएँ सर्वत्र समान हैं। आज के भारतीय धर्मों पर वैदिक धारा की अपेक्षा इस तान्त्रिक धारा का अधिक गहरा प्रभाव है। तान्त्रिक संस्कृति की पांचरात्र और पाशुपत धारा के सातत्य में शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का किस प्रकार विकास हुआ और आज वे किस रूप में भारतीय संस्कृति में घुल-मिलकर एक हो गईं, यह एक रुचिकर अनुशीलन का विषय है।

इस तान्त्रिक संस्कृति ने बौद्ध एवं जैन धाराओं के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान प्राप्त किये अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का भी इनको अवदान प्राप्त हुआ, इस विवाद में हम अभी पड़ना नहीं चाहते। इस विषय का सही निर्णय तो तभी किया जा सकता है, जब सिन्धु-घाटी में उपलब्ध लिपि को पढने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी तान्त्रिक संस्कृति, विशेष कर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने उनको दर्शाया भी है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ पांचरात्र और पाशुपत शब्दों के स्थान पर वैष्णव एवं शैव शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः ये दोनों शब्द परवर्ती हैं और ये पौराणिक संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं। हमारी दृष्टि में पौराणिक साहित्य में किसी न किसी नवीन दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन विचारों का तथा साथ ही समय-समय पर प्रचलित हुए शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द, सौर आदि मतों के सिद्धान्तों का भी समन्वय कर नवीन स्मार्त धर्म की एवं समग्र भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा में महनीय योगदान किया है। इस दृष्टि से पुराणों का अध्ययन करने पर ही हम यहाँ के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के क्रमिक विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे मत से न केवल पुराणों, अपितु साम्प्रदायिक उपनिषदों का भी इसी दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिये। भारतीय संस्कृति के अविरल पावन प्रवाह में विभिन्न धाराओं के उद्‌गम के बाद ही उनको मूल धारा में मिलाने का प्रयत्न हुआ, यही मानना उचित और तर्क-संगत प्रतीत होता है। अल्लोपनिषद् को हम इसी प्रकार के उपक्रम की कड़ी मान सकते हैं।

तान्त्रिक उपासना में सभी को समान अधिकार दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य के बाद जैसे ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की परम्परा चली, उनसे पहले छान्दोग्य उपनिषद् पर भाष्य लिखने का प्रचलन था। इस पर द्रविड़ाचार्य के भाष्य का उल्लेख मिलता है। सुन्दरपाण्ड्य ने भी संभवत: इसी पर भाष्य लिखा था। छान्दोग्य के वृत्तिकार और वाक्यकार का भास्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उल्लेख किया है। स्वयं भास्कराचार्य ने इस पर विस्तृत भाष्य लिखा था। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य बार-बार वाक्यकार को उद्धृत करते हैं। ब्रह्मसूत्र के आधार पर आद्य शंकराचार्य के द्वारा अपने मत की स्थापना कर लेने के बाद वैष्णव और शैव आचार्यों ने भी अपने मत के समर्थन के लिये ब्रह्मसूत्र का आश्रय लिया और अपशूद्राधिकरण की व्याख्या में संभवत: वीरशैवाचार्य ही शांकर प्रभाव से मुक्त रह सके।

शंकराचार्य का यह जादू ही माना जायगा कि उनके बाद आगमाचार्यों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखने की अपेक्षा अपने मत को वैदिक और औपनिषद सिद्ध करने में ही पूरी शक्ति लगा दी। इसीका यह परिणाम हुआ कि उत्तरभारत में तान्त्रिक संस्कृति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं बचा। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि अधिकांश आगमों का प्रादुर्भाव प्राय: मध्यदेश में ही हुआ है।

दक्षिणभारत में वैष्णव आगम की वैखानस और पांचरात्र शाखाओं का विशाल साहित्य आज भी उपलब्ध है। तिरुपति और श्रीरंगम् जैसे दक्षिणभारत के प्रसिद्ध मन्दिरों की पूजाविधि इन्हीं पर आधृत है। जर्मन विद्वान् डॉ. श्रादर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में २१५ पांचरात्र संहिताओं का उल्लेख किया था। मद्रास से अभी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है — "पैनारोमा आफ पांचरात्र लिटरेचर"। इसमें अब तक उपलब्धं १०४ पांचरात्र संहिताओं का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया गया है और लगभग ३०० संहिताओं के नाम संगृहीत हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत की जागरूकता के कारण विशाल पांचरात्र साहित्य आज भी बचा हुआ है।

पाशुपत आगम की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। लकुलीश पाशुपत मत के कुछ ग्रन्थ मिले हैं। लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपत आचार्यों के नाम जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं, किन्तु लकुलीश से पूर्व के उस पाशुपत मत का, जिसकी प्रतिष्ठा महाभारत के अनुसार श्रीकण्ठ ने की, कुछ भी स्वतन्त्र साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। कई पुराणों में २८ पाशुपत योगाचार्यों और उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की नामावली उपलब्ध होती है, किन्तु किसी के भी किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं, कुछ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों, रामायण-महाभारत एवं पुराण-स्मृति ग्रन्थों से ही हम आज उस प्राचीन पाशुपत मत का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सिद्धान्तशैव संप्रदाय के मूल एवं टीका-ग्रन्थों में हमें

पांचरात्र और पाशुपत मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का पता चलता है, जहाँ वे पूर्व पक्ष के रूप में उद्धृत हैं। अभिनवगुप्त और स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव के समय तक केवल कश्मीर में ही नहीं, पूरे उत्तरभारत में पांचरात्र, पाशुपत और सिद्धान्तशैव दर्शन का व्यापक अध्ययन होता था। बाद में वह केवल दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों तक ही सिमट कर रह गया। [१]उदयपुर में अवश्य इस विषय के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। उदयपुर के पास स्थित एकलिंग जी पाशुपत मत का प्रसिद्ध तीर्थ है। नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर के समान यहाँ भी पंचवक्त्र शिव का विग्रह स्थित है।

वामनपुराण (६.८०-९१) में वर्णव्यवस्था के अनुरूप शैवागमों के चार विभाग किये गये हैं। वहाँ बताया गया है कि ब्राह्मण को सिद्धान्तशैव मत के अनुसार, क्षत्रिय को पाशुपत विधि से, वैश्य को कालामुख और शूद्र को कापालिक मत के अनुसार शिव की आराधना करनी चाहिये। कापालिक को यहाँ महाव्रतधर भी कहा गया है। कर्णाटक में कोल्हापुर और येलम्मा (रेणुका भगवती) ये दो प्रसिद्ध देवी तीर्थ हैं। रेणुका मन्दिर के निकटवर्ती ग्राम हुली में कालामुख संप्रदाय के अनेक स्थान भग्नावस्था में विद्यमान हैं। आज भी वीरशैव सम्प्रदाय के अनुवर्तियों में जैन धर्म के समान व्यापारीवर्ग की प्रधानता है। जैन साहित्य में ६३ शलाकापुरुषों का वर्णन मिलता है। शैवागम साहित्य में भी ६३ शिवाचार्यों की कथाएँ मिलती हैं। शाक्त और बौद्ध तन्त्रों की बाह्य उपासना-विधि में कापालिक अथवा महाव्रतधरों की विधि का बहुत कुछ अनुकरण देखने को मिलता है। इनके अनेक भेदों और उपभेदों की उपलब्ध वाङ्मय में चर्चा है। श्रीकण्ठीसंहिता, नि. षो. आदि ग्रन्थों में ६४ तन्त्रों की नामावलियाँ मिलती हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। डॉ. श्रादर ने जिस प्रकार पांचरात्र संहिताओं की नामावली प्रस्तुत करने का श्रीगणेश किया, उसी पद्धति पर सिद्धान्तशैवागमोक्त और ६४ तन्त्रों की नामावलियाँ लुप्ता. के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ. ८६-१११) में प्रस्तुत की गई हैं।

किसी समय कोणार्क, कालपी और मुलतान (पाकिस्तान) में स्थित मन्दिरों में सूर्य की क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन उपासना की जाती थी। दक्षिणभारत और विशेष कर केरल में आज भी सुब्रह्मण्य के रूप में कुमार स्कन्द की उपासना प्रचलित है। महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान में भाद्र शुक्ल चतुर्थी को बड़े उत्साह के साथ गणपति-जयन्ती मनाई जाती है और काशी में माघ कृष्ण चतुर्थी को गणपति के उपासकों की विशाल भीड़ जुटती है। पुराणों में तो इनकी चर्चा है ही, गणेश, सौर

---

१. "आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित "साहित्य संस्थान में आगमशास्त्र के विशिष्ट ग्रन्थ" (पृ. ३५-४०) शीर्षक निबन्ध देखिये।

आदि उपपुराण भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रहालयों में इन सम्प्रदायों के अनेकानेक ग्रन्थ विद्यमान हैं।

प्रपंचसार और शारदातिलक की चर्चा स्मार्त प्रकरण में होगी। इनमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति, सूर्य और स्कन्द की उपासना-पद्धति को एकत्र कर दिया गया है। इन ग्रन्थों को हम स्मार्त धर्म का आधार मान सकते हैं। प्रपंचसार के साथ शंकराचार्य का नाम जुड़ा हुआ है। ११वीं शती के ईशानशिवपद्धति नामक ग्रन्थ में यह उद्धृत है। छठी-सातवीं से ११वीं-१२वीं शताब्दी के बीच आविर्भूत विपुल तान्त्रिक साहित्य अभी अप्रकाशित है। उसके प्रकाशन के बाद ही प्रपंचसार का सही मूल्यांकन हो सकता है।

हमने ऊपर बताया है कि तान्त्रिक वाङ्मय में वैदिकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, किन्तु यह प्रक्रिया प्रधानत: संस्कृत भाषा के माध्यम से ही कार्यरत रही। भगवान् बुद्ध और महावीर के प्रभाव से तान्त्रिक संस्कृति में भी जनभाषा में साहित्य निर्मित होने लगा और दक्षिणभारत में तमिल भाषा के माध्यम से वैष्णव आलवार और शैव सन्तों का विशाल साहित्य आविर्भूत हुआ। उत्तरभारत में ८४ सिद्धों और नाथों का आविर्भाव तान्त्रिक परम्परा की ही देन है। आलवारों, शैव-सन्तों, सिद्धों और नाथों में सभी धर्मों और वर्णों के प्रतिनिधिजन थे। इनके उपदेश ही इसके बाद विविध देशीय भाषाओं के माध्यम से पूरे देश में विकसित हुए सन्त-साहित्य के प्रेरणास्रोत थे।

वैष्णव आलवारों और आचार्यों की परम्परा में रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ था। इन्होंने यामुनाचार्य के मार्ग पर चलकर वैदिकीकरण की प्रक्रिया को बल दिया, किन्तु इन्हींके प्रधान शिष्य कूरेश ने आलवारों की कृतियों की व्याख्या के रूप में विकसित तमिल साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान किया और तान्त्रिक परम्परा की उदात्त भावनाओं को जीवित रखा। दक्षिणभारत में संस्कृत एवं तमिल भाषा के माध्यम से विकसित हुए वैष्णव साहित्य में परवर्ती काल में १८ विषयों में मतभेद उभर आये और संस्कृत भाषा तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का कट्टर अनुयायी वर्ग बड़कलै तथा तमिल भाषा का अनुयायी वर्ग टेंगलै नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैष्णव धर्म की टेंगलै धारा में ही उत्तरभारत के प्रसिद्ध सन्त स्वामी रामानन्द का जन्म हुआ। इन्होंने अपने वैष्णवमताब्जभास्कर में उन अठारह विषयों का वर्णन किया है, जहाँ उनका अन्य सम्प्रदाय से समय-भेद है।

रामानुज के शिष्य कूरेश की परम्परा में जिस राम-भक्ति धारा का विकास हुआ, उसका मुख्य आधार पांचरात्र आगम की अगस्त्यसंहिता है। पांचरात्र आगम में विविध संहिताएँ उपलब्ध हैं। अधिकांश में चतुर्व्यूहवाद का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु कृष्ण और राम की उपासना का वर्णन करने वाली संहिताएँ भी कम नहीं हैं। रामानन्द के कुछ ग्रन्थों में तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बहुलता कुछ लोगों को अटपटी लगती है, किन्तु

उनके साहित्य पर यह पांचरात्र संहिताओं का प्रभाव था। यह स्पष्ट है कि परवर्ती काल में आविर्भूत तन्त्रसाहित्य में दर्शन और योग की अपेक्षा बाह्य कर्मकाण्ड का अधिक समावेश हो गया। इसमें भी पांचरात्र संहिताओं का ही प्रभाव हम देख सकते हैं, क्योंकि उनमें विद्या (दर्शन) और योगपाद की अपेक्षा क्रिया एवं चर्या पादों का अधिक विस्तार है। यही कारण है कि कालान्तर में वैदिक कर्मकाण्ड की ही भाँति तान्त्रिक कर्मकाण्ड भी जनता की दृष्टि में असामयिक हो गया।

प्रस्तुत प्रसंग यह है कि उपासना के क्षेत्र में कर्म,योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के गरीयस्त्व की घोषणा तन्त्रागमीय वाङ्मय की विशिष्ट उपलब्धि थी। पूरे भारत के सन्त-साहित्य में इसका चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। यही वह शम्बल था, जिसके सहारे यह राष्ट्र परतन्त्रता-काल के एक हजार वर्षों में अपनी संस्कृति और साहित्य को सुरक्षित रख सका। महात्मा गांधी को इस सन्त-धारा की चरम परिणति माना जा सकता है। हमारा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की इस धारा में वह अमृतरससिंचिनी शक्ति अभी मौजूद है, जिसकी सहायता से नवीन भारतीय राष्ट्र और उसके लिये एक समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा। यहूदी एवं ईसाई सन्तों और सूफी सन्तों की भक्तिधारा ने इस ओर लम्बा रास्ता तय किया है। इन धाराओं को भारतीय संस्कृति के पावन प्रवाह में एकाकार कर लेने की मात्र आवश्यकता है।

* * *

८. तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता

तान्त्रिक दीक्षा में मानवमात्र को अधिकार प्राप्त है। इसमें वर्ण या आश्रम प्रयुक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस दृष्टि से छान्दोग्य उपनिषत् की इस शास्त्र से बहुत समानता है। सत्यकाम जाबाल (४.४), महिदास ऐतरेय (३.१६) और रैक्व जानश्रुति (४.१२) के उपाख्यान इस तान्त्रिक दृष्टि का ही पोषण करते हैं। देवकीपुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद (३.१७.१-६) हमें पांचरात्र सिद्धान्तों का स्मरण करा देते हैं। यहाँ (७.१.२) उल्लिखित एकायन विद्या पांचरात्र श्रुति का ही अपर नाम है। यहाँ वर्णित (७.२६.२) ध्रुवा स्मृति रामानुज वेदान्त में भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्यात है, जो उनका स्वोपज्ञ विचार न होकर परम्परा से प्राप्त मालूम होता है। श्रीमद्भगवद्गीता[१] को पांचरात्र सिद्धान्त से अनुप्राणित माना जाता है। यहाँ (५.१८)

१. लोकमान्य बालगंगाधर तिलक रचित गीतारहस्य के उपोद्घात का "भागवत धर्म का उदय और गीता" (पृ. ५४३-५६२) नामक प्रकरण द्रष्टव्य।

बताया गया है कि विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल को पण्डितजन समान दृष्टि से देखते हैं। वहीं (९.३२) स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है।

लकुलीश पाशुपत मत के प्रतिष्ठापक, २८ पाशुपत योगाचार्यों में अन्तिम योगाचार्य लकुलीश का जन्म कायावरोहण तीर्थ में हुआ। इतिहासज्ञ[1] इनका समय ई. दूसरी शताब्दी मानते हैं। इन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि मनुष्य का यह शरीर सभी देवों का निवास-स्थान है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का बोधक वचन इसी सिद्धान्त से अनुप्राणित है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अभेद की स्थापना के लिये आगम-तन्त्रशास्त्र में आन्तर यजन की प्रक्रिया प्रतिपादित है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखा-प्रशाखाओं में भगवद्गीता और योगाचार्य लकुलीश के इन सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

यहाँ बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। राग, द्वेष, लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि मानसिक वेगों के उपशमन के लिये आन्तर यजन का विधान है। शिवानन्द आदि आचार्यों ने सुभगोदयवासना जैसे ग्रन्थों में इस आन्तर वरिवस्या का स्वरूप बताया है। बौद्ध तन्त्रों में भी सप्तविध अनुत्तर पूजा के रूप में आध्यात्मिक पूजा का विधान है। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित चतुर्ब्रह्मविहार-भावना पातंजल योगसूत्र (१.३३) और जैनाचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (७.११) में भी स्वीकृत है। पाशुपतसूत्र (५.२७) वाणी की शुद्धता को विशेष मान्यता देते हैं।

स्वात्मदेवता

अपनी आत्मा को ही देवता मानने वाले वचन बौद्ध एवं शाक्त तन्त्रों में मिलते हैं। अद्वयवज्र प्रकाश को देवता-स्वरूप मानते हैं और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में उसको प्रकाश-विमर्श स्वरूप माना गया है। प्रकाश शिवस्वरूप और विमर्श शक्तिस्वरूप है और ये सदा एक साथ रहते हैं। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द का कहना है कि युक्तिपूर्वक विचार करें, तो यह स्वात्मदेवता अपनी संवित्ति के स्फुरण के सिवाय और कुछ भी नहीं है, अतः यह प्रकाश ही सारे विश्व की उपास्य देवता है। यह प्रकाश स्वात्मस्वरूप ही है। **परतत्त्व की यह परिभाषा चार्वाक दर्शन के साथ आधुनिक वैज्ञानिकों को भी अवश्य ही मान्य होगी।**

एक ही जन्म में मुक्ति

मुक्ति (मोक्ष) एक ही जन्म में मिल सकती है, यह सिद्धान्त शैव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रों में स्वीकृत है। अवधूतसिद्ध के भक्तिस्तोत्र (श्लो. ३०) में बताया

१. शैवदर्शनबिन्दु (पृ. २७-२९) द्रष्टव्य।

गया है कि भगवद्गीता और महायान मत की यह मान्यता है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद ही मुक्ति मिल सकती है, किन्तु शैव मत में तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है। शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर आदि शैव ग्रन्थों में तथा गुह्यसिद्धि, चण्डरोषण जैसे बौद्ध तन्त्रों में भी इसको मान्यता मिली है। ख्रीष्ट, इस्लाम आदि धर्मों के अनुयायी जन्मान्तर में विश्वास नहीं रखते। एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त उसमें भी कुछ संशोधन कर सकता है। वहाँ अनन्त काल तक जीव ईश्वर के न्याय की प्रतीक्षा में पड़ा रहता है और यहाँ उसको तुरन्त मुक्ति मिल जाती है। वैदिक धर्म के समान ही ये सभी सेमेटिक धर्म भी स्वर्ग-नरक से ऊपर नहीं उठ पाये हैं।

स्वात्मप्रत्यभिज्ञा

सामान्य जनता का भी उपकार करने की इच्छा से उत्पल भट्ट ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन की रचना की थी। इसके लिये उन्होंने शैवागमों के द्वैतवाद की जगह अद्वयवाद की, ब्रह्मवाद के मायावाद के स्थान पर शक्तिवाद की और बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद के स्थान पर नित्य स्वात्मेश्वरवाद की अपने दर्शन में प्रतिष्ठा की। सूफी सन्त इसी दर्शन से अनुप्राणित थे। आज उनकी इसी दृष्टि को तन्त्रागमीय समता दृष्टि, शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था, विधि-निषेध मीमांसा आदि का सहारा देकर तथा **जाति आदि के दुराग्रहों को दूर कर एवं सत्तर्क और स्वानुभव का महत्त्व स्वीकार कर पूरी मानवता को एक नया संदेश देने की आवश्यकता है।**

समता-दृष्टि

शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। तन्त्रालोक (४.२७४-२७५) में भी इसकी चर्चा है। टीकाकार जयरथ ने आठ प्रकार की समता के प्रतिपादक त्रिकशासन के एक वचन को उद्धृत किया है। वहाँ के दोनों श्लोक महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ व्याख्या (पृ. १६८) में भी उद्धृत हैं। इसके अनुसार जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवताओं और वर्णों में सब तरह से एक-सी दृष्टि रखना ही समता-दृष्टि कहलाती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार सब कुछ शिवमय है। अतः सभी भावों और धर्मों में भी समता-दृष्टि का उदय हो, यह स्वाभाविक ही है। इस दृष्टि के उन्मेष के उपाय के रूप में विज्ञानभैरव में ४०वीं धारणा का विधान है। आनन्दभैरव-शासन में बताया गया है कि अद्वयदृष्टि के आधार पर वर्णाश्रम आदि के आचारों में सभी देवताओं और द्रव्यों में भी समता का दर्शन करने वाला साधक सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नन्दिशिखाशास्त्र में इसे समताव्रत और भर्गशिखा में वीरव्रत कहा गया है। तन्त्रालोक (१२.१२-२०) तथा परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५) में भी इसकी चर्चा है। शिवसूत्र

(३.३२) और शिवदृष्टि (पृ. १८) में शिवरूपता, सत्यता (पृ. ३४-३५, १२५-१२७) तथा सर्वात्मकता (पृ. १९४-१९५,२०८) का सयुक्तिक प्रतिपादन मिलता है। योगवासिष्ठ तो इस समता-सिद्धान्त का खजाना ही है। वहाँ विस्तार से इसके महत्त्व को स्थापित किया गया है। "समत्वं योग उच्यते" (२.४८), "पण्डिता: समदर्शिन:" (५.१८), "समलोष्टाश्मकाञ्चन:" (६.८), "सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ-द्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।" (६.९), "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" (६.३२), "समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्मकाञ्चन:" (१४.२४) भगवद्गीता के इन सभी वचनों में समता-दृष्टि का ही गुणगान मिलता है। यह कहा जा सकता है कि तन्त्रशास्त्र ने इस समता-दृष्टि का अधिक विस्तार किया।

शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था

समता-दृष्टि के समान ही शुद्धि और अशुद्धि की भी यहाँ नयी व्यवस्था दी गई है। स्वायंभुवागम के एक वचन में रागादिजनित चित्त की मलिनता को ही अशुद्धि माना गया है। विज्ञानभैरव (श्लो. १२०) में भी शुद्धि और अशुद्धि के इस आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है। हमने मालिनीविजय, तन्त्रालोक, वीरावलीशास्त्र आदि के प्रमाण से इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या में उक्त विषय पर विशद विचार किया है। तन्त्रालोक के चौथे और पन्द्रहवें आह्निक में शुद्धि और अशुद्धि के स्वरूप पर गंभीर विचार छेड़ा गया है। वहाँ आनन्दशास्त्र, मतशास्त्र, पूर्वशास्त्र तथा कुल-क्रम एवं त्रिकशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत कर उक्त तान्त्रिक दृष्टि का समर्थन किया गया है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो. ९) में शुद्धि की परिभाषा देते हुए अभिनवगुप्त ने बताया है कि इदन्ता के रूप में मलिन हो रहे समस्त जागतिक पदार्थों को स्वात्माहन्ता में समेट लेना ही वास्तविक शुद्धि है। महेश्वरानन्द (पृ. ४३) ने इस वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते समय शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है। आज शुद्धि और अशुद्धि की तन्त्रशास्त्र-संमत व्याख्या पर ही अधिक जोर देने की आवश्यकता है।

धर्मशास्त्रों में भी शारीरिक शौच को सामान्य धर्म और तत्त्वज्ञान को परम धर्म माना गया है। मिट्टी आदि से की गई शारीरिक शुद्धि की अपेक्षा मानस शुद्धि श्रेष्ठ मानी गई है। याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है —

इज्याचारदमाऽहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।।

शारीरिक शुद्धि के न रहने पर परमात्मा की कोई हानि नहीं है, क्योंकि वह तो आकाश की तरह निर्मल है। शुद्धि यदि की जाती है, तो उससे उसमें कुछ बढ़ोत्तरी होने वाली

नहीं है। मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी शरीर तो मलिन ही रहेगा। वास्तव में तो इस बाह्य शारीरिक शुद्धि के बिना भी निर्विकल्पक ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल बना कर साधक स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

विधि-निषेध मीमांसा

शुद्धि और अशुद्धि की व्यवस्था के समान ही यहाँ विधि और निषेध की भी मीमांसा अपनी दृष्टि से की गई है। महेश्वरानन्द ने उक्त ग्रन्थ (पृ. २१-२२) में विधि और निषेध की भी तन्त्र-संमत व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसा करते समय वे संवित्प्रकाश और संविदुल्लास को उद्धृत करते हैं। वहाँ बताया गया है कि जिस वस्तु को हम छोड़ सकते हैं, वही हमारे लिये हेय और जिसको नहीं छोड़ सकते, वह उपादेय है। यहाँ शैवागमों को ही परम प्रमाण माना गया है और कहा गया है कि यह प्रभु निषेध में भी विधि और विधि में भी निषेध की भावना भरने में समर्थ है। विधि-निषेध की यह व्याख्या तन्त्रालोक (४.२५६-२७४; १२.१४-२०) में भी देखी जा सकती है। मालिनीविजय (१८.७४-८१) में बताया गया है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का आदेश, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या परित्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तीर्थाटन करना या न करना, नियमों का पालन करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम-गोत्र आदि को रखना या न रखना — जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी वस्तुएँ विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें व्यक्ति की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुत: तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्र में केवल इतना ही विधान है कि साधक को प्रयत्नपूर्वक परमतत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी प्राप्त हो, साधक को तदनुसार ही अपनी चर्या बना लेनी चाहिये। इसीको शास्त्रों में सहज स्थिति बताया गया है।

विधि-निषेध की इस दृष्टि को मनुस्मृति भी मान्य करती है —

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।। (५.५६)

यहाँ का चतुर्थ चरण विशेष रूप से अवधेय है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विधि और निषेध की परम्परागत व्यवस्था को तन्त्रशास्त्रीय दृष्टि और समय की माँग के अनुसार बदलने की आवश्यकता है। तन्त्रशास्त्र का यह उद्घोष अवधेय है—

यद्यप्यस्ति त्रिकालज्ञस्त्रैलोक्याकर्षणक्षमः।
तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत्।।
(शक्तिसंगमतन्त्र, २.४६.४२)

ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक

शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध आदि की तरह जाति आदि के आग्रह के कारण आज भारत में अनेकविध सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं अथवा उनको उभाड़ा भी जा रहा है। तन्त्रशास्त्र ने आध्यात्मिक परिधि में ही सही, इन समस्याओं के समाधान का मार्ग भी प्रशस्त किया है। तन्त्रालोक (१५.५९५-५९६) में कुलगुह्वर और निशिसंचारशास्त्र के प्रमाण से जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और अर्थ से प्रयुक्त आठ प्रकार के आग्रहों (दुराग्रहों) की चर्चा कर बताया गया है कि इनके कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। कुलार्णवतन्त्र (१३.९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील नाम के आठ पाश वर्णित हैं। महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १४५) और योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ८१) में भी यह श्लोक मिलता है, किन्तु दीपिकाकार ने इसको अभियुक्तवचन माना है, जब कि कुलार्णवतन्त्र ईश्वरप्रोक्त है। इनमें से जातिग्रह और शंका का शैव-शास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन मिलता है। अन्य शब्दों के अर्थों से हम सब प्रायः परिचित हैं।

जातिग्रह

तन्त्रालोक (१५.५९७-६०४) में निशिसंचार, कुलगुह्वर, स्वच्छन्दतन्त्र, आनन्दशासन और नकुलेश (लकुलीश) के प्रमाण से जातिग्रह की हेयता को दिखाया गया है। परात्रीशिका की व्याख्या (पृ. २३७) में अभिनवगुप्त का कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ कल्पित हैं। इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपनी इस उक्ति के समर्थन में उन्होंने मुकुटसंहिता को उद्धृत किया है। तन्त्रालोक (१५.५१३-५१७) में भी मोक्षधर्म (महाभारत का शान्तिपर्व) और मुकुटसंहिता को उद्धृत कर यही बात कही गई है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने इन वचनों को उद्धृत किया है। जैसे कि —

शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
अन्त्यजातोऽपि हीनाङ्गः साधकः स च मोक्षभाक्।।
एभिर्गुणैर्विमुक्तात्मा ब्राह्मणोऽपि न मोक्षभाक्।।
द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः।।

ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम्।
किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते।।

स्वच्छन्दतन्त्र (४.५४०-५४६) के ये वचन भी इस प्रसंग में दर्शनीय हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये।
सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः।।....
एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाऽव्यया।
तन्त्रमेतत् समाश्रित्य प्राग्जातिं नह्युदीरयेत्।।
प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः।

महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १४५) में ब्राह्मण, चाण्डाल आदि की व्यवस्था को त्याज्य माना है। कालपादा (कालोत्तर) संहिता शिवदृष्टि (३.११) में स्मृत है। क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१०) में इसका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्वपचों को भी दीक्षा का अधिकारी माना गया है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शास्त्र में जाति के अभिमान को दुराग्रह मानकर इसको हेयकोटि में रखा है। भारत हो या अन्य देश, आज जाति का यह दुराग्रह सर्वत्र विकट समस्या बन गया है। इसका निराकरण हम उक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही कर सकते हैं।

शंका

जाति के समान ही शंका को भी पाश के अन्तर्गत माना गया है। शंका को यहाँ विशेष रूप से बन्ध का कारण माना है। यह शंका अज्ञान के कारण होती है। तन्त्रालोक (१२.२०-२५) और परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५-२३६) में सर्ववीरभट्टारक, क्रमसद्भाव, तत्त्वार्थचिन्तामणि, मतशास्त्र, निशाकुल आदि ग्रन्थों के प्रमाण से बताया गया है कि मन में उठने वाले नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के जाल से घिरे हुए व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। मन्त्रशंका, आत्मशंका, द्रव्यशंका, भूतशंका, दिव्यकर्मशंका और तत्त्वशंका के नाम से शंका के छः प्रकार वर्णित हैं। इस षड्विध शंका का परित्याग करने पर ही व्यक्ति को शान्ति मिल सकती है। आज भारतीय समाज पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्य, विधिनिषेध, शुद्धि-अशुद्धि के द्वन्द्वों में फँसकर नाना प्रकार की शंकाओं से घिरा हुआ है। इनसे घिरे होने के कारण ही भारतीय समाज आज विविध धार्मिक और सांस्कृतिक आक्रमणों का सामना करने में अपने को अक्षम पा रहा है। उसकी वह उर्वरा शक्ति समाप्त हो गयी है, जिसके आधार पर इसने पूर्वकाल में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को आत्मसात् कर लिया था।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. ३१-३२) में बताया है कि नाना प्रकार की शंकाओं से छुटकारा पाने के लिये व्यक्ति को याग, होम, जप, व्रत, योग आदि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये, किन्तु वहाँ इनके बाह्य रूप की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। हम आज बाह्य कर्मकाण्डों के ही दास हो गये हैं। उनका फल यह हुआ है कि भारतीय समाज पूरी तरह से पाखण्ड से घिर गया है और हमारी आध्यात्मिक गरिमा केवल पुस्तकों की अथवा कुछ धर्माचार्यों की वाणी की शोभा बढाने तक ही प्रायः सीमित रह गई है। तन्त्रशास्त्र का उद्घोष है कि विधिनिषेध, भक्ष्याभक्ष्य, शुद्धि-अशुद्धि की व्यवस्था का मानव की आध्यात्मिक उन्नति में कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। मन की पवित्रता पर यहाँ अधिक जोर दिया गया है और बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया है कि जिस विधि से भी यह संभव हो सके, उसी विधि का वह सहारा ले।

सत्तर्क और स्वानुभव

सिद्धों की भाषा में इसे सहज तत्त्व कहा गया है। इसके साक्षात्कार के लिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सत्तर्क और स्वानुभव को वरीयता दी गई है। मालिनीविजय (१७.२८) के प्रमाण से तन्त्रालोक (४.१५) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना है। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी शाखाओं में योग के प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक छः अंगों का ही वर्णन किया गया है। तर्क नामक अंग का विवेचन प्रधानतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन में हुआ है। तन्त्र की अन्य शाखाओं में यह ऊह, वीक्षण, अनुस्मृति आदि नामों से स्मृत है। सत्तर्क और स्वानुभव की व्याख्या अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.३४-८६) में विस्तार से की है। वहाँ किरणागम के प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। वे हैं — गुरु, शास्त्र और स्वकीय प्रातिभ ज्ञान। वहीं यह भी बताया गया है कि गुरु से शास्त्र और शास्त्र से स्वानुभव श्रेष्ठ है। स्वपरामर्श की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिये यहाँ किरणागम, पूर्वशास्त्र (मालिनीमत), परात्रीशिका, ब्रह्मयामल, निशाटन आदि शास्त्रों के वचन उद्धृत हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि गुरु शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है और शास्त्रों के अध्ययन से स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती है। इस प्रसंग में योगवासिष्ठ का निम्न वचन स्मरणीय है —

शास्त्रार्थैर्बुद्ध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च।
बुद्ध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतः स्वतः।।

(नि. पू. ४१.१५)

पूर्व के प्रतिपादन और योगवासिष्ठ के इस वचन में अन्तर इतना ही है कि यहाँ शास्त्र की अपेक्षा गुरु को वरीयता दी गई है। यही क्रम हमको भी अधिक रुचिकर लगता है। अस्तु, इतना स्पष्ट है कि इन सब शास्त्रों में स्वीय प्रातिभ ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में इस सिद्धान्त की कितनी उपयोगिता है।

भगवद्गीता में संशोधन

अपने इसी प्रातिभ ज्ञान के सहारे तन्त्रशास्त्र में भगवद्गीता में भी कुछ संशोधन प्रस्तुत किये गये हैं। वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत कृतान्तपंचक के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाभारत और भगवद्गीता में इन सभी शास्त्रों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवद्गीता का कहना है कि अनेक जन्मों के सु-संस्कारों के बाद ही योगभ्रष्ट व्यक्ति का पवित्र वंश में जन्म होता है। इसके बाद ही वह मुक्ति का अधिकारी बन पाता है। बौद्धों का भी कहना है कि पारमितानय में अनेक जन्मों की साधना के उपरान्त ही मुक्ति मिल पाती है। इसके विपरीत शिवशासन में और बौद्ध मन्त्रनय में एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को मान्यता मिली है।

महाभारत के अनुसार भीष्म पितामह को सद्गति की प्राप्ति के लिये उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, किन्तु आगम-तन्त्रशास्त्र के इन वचनों को आप देखिये —

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।।

शैव और वैष्णव परमार्थसार के दोनों संस्करणों में यह वचन मिलता है।

हिमवति गङ्गाद्वारे वाराणस्यां कुरौ प्रयागे वा।
वेश्मनि चण्डालादेः शिवतत्त्वविदां समं मरणम्।।

यह निर्वाणयोगोत्तर का वचन है।

रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चण्डालगेहे निरये श्मशाने।
सचिन्तको वा गतचिन्तको वा ज्ञानी विमोक्षं लभतेऽपि चान्ते।।

यह वचन आधारकारिका का है। इन सभी वचनों में मुक्ति को देश और काल के प्रतिबन्ध से मुक्त माना गया है। "तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथवा" (नि. पू. १२२.११) यह योगवासिष्ठ का वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थक है।

भगवद्गीता के छठे अध्याय में योगाभ्यास से मन को निगृहीत करने की शिक्षा दी गई है। इसके विपरीत—"यत्र यत्र मनो याति, यत्र यत्र मनस्तुष्टिः, सर्वं शिवमयं

यत:'' इत्यादि विज्ञानभैरव और स्वच्छन्दतन्त्र के वचनों में बताया गया है कि जब सबकुछ शिवमय ही है, तो जहाँ-कहीं भी मन जाता हो अथवा जो भी विषय उसको रुचिकर लगता हो, सर्वत्र शिवभावना को ही देखने वाले साधक को अपना मन वहीं लगा देना चाहिये।

आज पूरा भारतीय समाज युगों की व्यवस्था से जकड़ा हुआ है। उसका सोचना है कि आजकल जो कुछ अनाचार-अत्याचार फैला हुआ है, यह सब कलियुग का प्रभाव है, किन्तु नेत्रतन्त्र का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि की भी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। हम सोच सकते हैं कि आज इन सब सिद्धान्तों की कितनी उपयोगिता है। विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण वर्तमान काल संकटापन्न हो गया है। हम तन्त्रागम शास्त्र में व्याख्यात इस दृष्टिकोण के आधार पर इन सबमें समन्वय स्थापित कर सारे जगत् को सांस्कृतिक एवं धार्मिक संकट से उबार सकते हैं।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण

मोक्षकारिका की वृत्ति में भट्ट रामकण्ठ का कहना है कि शैवशास्त्र अन्य दर्शनों को असत्य नहीं मानता। इस विषय का प्रतिपादन उन्होंने सर्वागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ में किया है। स्पन्दप्रदीपिका में उत्पल वैष्णव ने मायावामनसंहिता को उद्धृत करते हुए कहा है कि एक ही भगवान् विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। नेत्रतन्त्र के तेरहवें अधिकार में भी यह बात विस्तार से बताई गई है। महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ टीका में इस विषय को उठाया है। बौद्ध-जैन और शैव-शाक्त सम्प्रदायों में आत्मसप्तति, आत्मसंबोध (स्वात्मसंबोध), इष्टोपदेश, चन्द्रगर्भ, ज्ञानसार आदि विभिन्न ग्रन्थों के नामों का समान रूप से उपयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **उस समय इन सम्प्रदायों में समन्वयवादी दृष्टिकोण का उन्मेष हो चुका था, जो आज की परिस्थितियों में भी उतना ही क्या, उससे भी अधिक उपयोगी है।** इस प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परतत्त्व का स्वरूप भी सहायक हो सकता है।

परतत्त्व की प्रकाश-विमर्शात्मकता

प्रकाश-विमर्शात्मक परतत्त्व की और स्वात्मदेवतावाद की चर्चा अभी हो चुकी है। अभिनवगुप्त ने ई. प्र. वि. (भा. २, पृ. २०९) में विज्ञान को ब्रह्मस्वरूप माना है। विज्ञानभैरव यह नाम भी इसी ओर इंगित करता है। सत्तर्क और स्वानुभव से जिस स्वात्मदेवता की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह परतत्त्व यहाँ प्रकाश-विमर्शात्मक माना गया है। यह सारा जगत् उस प्रकाश-विमर्शात्मक परतत्त्व का, परमशिव का विलास है, क्योंकि सब कुछ शिवशक्तिमय है।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि नट अपनी इच्छा के अनुसार कृष्ण-कंस, राम-रावण की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दु:खों की अनुभूति स्वयं तटस्थभाव से करता हुआ भी जैसे दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की सी अनुभूति पैदा कर देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते करते वह बौद्ध और आणव अज्ञान से आवृत हो जाता है और इस तरह से उसकी शक्ति और स्वरूप में संकोच आ जाता है। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भुला बैठता है। यह स्वरूप की विस्मृति ही इनके यहाँ बन्ध है और स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। इस तरह से इनके मत में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। उनकी दृष्टि से यह सारा विश्व 'अहम्' का ही विलास है। चित्रकार कागज, कपड़ा या दीवाल पर अपनी कल्पना का चित्र बनाता है। यह शिव ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना आधार के अपने आपमें इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता है। अपनी अहन्ता को वह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर लेता है और फिर वही परप्रमाता के रूप में इस पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है—"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" और "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं — एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हींको हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं। इन उभयविध मानसों के परिष्कार के लिये हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश कर एक समग्र विश्वसंस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। तन्त्रागमशास्त्र में प्रतिपादित उपर्युक्त दृष्टि अवश्य ही इसमें सहायक हो सकती है।

महार्थमंजरीपरिमल (पृ.११६) में धृत महानयप्रकाश के अनुसार मद्य, मांस और मैथुन में जनसामान्य की स्वाभाविक आसक्ति देखने को मिलती है। मनुस्मृति (५.५६) के वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। वाल्मीकिरामायण में प्रसंगवश बताया गया है कि मनुष्य जो कुछ खाता-पीता है, अपने इष्टदेवता की भी उसी से पूजा करता है। अत: इस तरह के व्यक्ति या समाज के लिये इनकी आवश्यकता भले ही हो, किन्तु

"निवृत्तिस्तु महाफला"(५.५६) मनु की इस उक्ति के अनुसार इस तरह के व्यवहार को हेय-पक्ष में रखते हुए परिष्कृत मानवता के विकास के लिये व्यक्ति को प्रत्यभिज्ञा दर्शन की अद्वय-दृष्टि का विनियोग करना चाहिये। **इसके लिये यह आवश्यक होगा कि हम वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में जातिग्रह, शंका जैसे विषयों में थोड़ी शिथिलता लावें, तान्त्रिक रहस्यवादी विधानों को योगशास्त्र की परिधि से निकाल सकें, बाह्य वरिवस्या के स्थान पर आन्तर वरिवस्या को प्रधानता दें और परिमित अहन्ता से हटाकर साधक को विश्वाहन्ता में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर सकें। इससे व्यष्टि एवं समष्टि की दूरी कम हो सकती है, प्रत्येक मानव का नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तर उन्नति की ओर डग भर सकता है। तन्त्रशास्त्र के अनुशीलन का यही उत्तम पक्ष हो सकता है और इसीमें तन्त्रागम शास्त्र की सामयिक उपयोगिता भी मानी जा सकती है।**

इस प्रसंग में हम अपने कुछ विचार रखना चाहते हैं। सभी धर्मों और संस्कृतियों के इस तरह के उदात्त विचारों का आलोडन कर, अपने-अपने धर्म एवं संस्कृति की देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर, उनके कालातीत तत्त्वों का परिहार एवं उपादेय तत्त्वों का संग्रह कर तथा उनमें परस्पर सामंजस्य बैठा कर हमें एक विश्व-संस्कृति के निर्माण के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इसके बिना परस्पर अविश्वास से ग्रस्त इस दुनियाँ में एकता स्थापित करना कठिन हो जायगा। इसके लिये प्राथमिक आवश्यकता यह है कि हम द्वैत दृष्टि को हटा कर, "परस्परदेवो भव" इस उपनिषत्कल्प वाक्य के सहारे परस्पर के अविश्वास को हटा कर, राग-द्वेष आदि से कलुषित अपने चित्त को निर्मल करने का प्रयास करें और धीरे-धीरे अद्वय दृष्टि के सहारे उसे विश्वाहन्ता की ओर उन्मुख करें। उसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्वसंस्थाओं की सार्थकता हो सकती है। उसके द्वारा सारे विश्व को एक राजनीतिक धरातल प्रदान किया जा सकता, विश्वनागरिता के उच्चावच भेदों को मिटाया जा सकता है और उनमें परस्पर भावात्मक एकता स्थापित की जा सकती है।

देश, काल आदि का भेद रहते हुए भी मानव की विचारधारा कल्याण-मार्ग में प्रायः एक-सरीखी बहती है। भारत और यूनान के विद्वानों के विचारों की समानता इसका एक उदाहरण है। सम्पूर्ण विश्व के प्राचीन और आधुनिक साहित्य में इस तरह की समानता देखी जा सकती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम सारे विश्व के वाङ्मय को देश, धर्म आदि की सीमा से हटाकर कालक्रम से हुए इसके विकास अथवा ह्रास का क्रमिक अनुशीलन करें। तभी मानव मन के विकास अथवा ह्रास के क्रम को सही रूप में समझा जा सकेगा। काल-क्रम और देश(स्थान)-क्रम से विकसित भारतीय वैदिक, बौद्ध, जैन साहित्य में अद्भुत समानता देखने को मिलती है। इसकी ओर से आँख फेर कर आजकल धर्म पर आधारित अध्ययन ही प्रधान रूप से प्रचलित

है। फलतः एक ही धर्म में विभिन्न दृष्टियों का विकास कैसे हो गया? इस प्रश्न का सही समाधान वे दे नहीं पाते। अतः इस संकीर्ण धार्मिक दृष्टि को छोड़कर, परलोक की चिन्ता को थोड़ा शिथिल कर, वर्तमान मानवता के मानसिक परिष्कार के लिये आज तक उपार्जित सारे मानवीय आध्यात्मिक ज्ञान का सदुपयोग हमें करना होगा। तभी समग्र मानवीय संस्कृति का विकास संभव हो सकेगा, राज्य, राष्ट्र, भाषा, जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के घरौंदों में बँटा हुआ मानव तभी संघबद्ध हो सकेगा, राष्ट्रों और राज्यों के विभाजन की प्रक्रिया तभी थम सकती है, विभिन्न भू-खण्डों में स्थित राष्ट्रों की एकता तभी संभव हो सकती है।

इसके लिये कौन पहल करेगा? संयुक्त राष्ट्रसंघ ! या इस दुनिया का प्रबुद्ध विचारक !! अस्तु.

वैज्ञानिक-उन्मेष

तन्त्रशास्त्र की सामाजिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक उपयोगिता पर अभी विचार किया गया है। विज्ञान के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता पर भी विचार हो सकता है। पुराणों के समान ही तन्त्रागमशास्त्र भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान के विश्वकोश माने जाते हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि षट्कर्मों के, विष-प्रतीकार, गुटिका-अंजन निर्माण, भूत-प्रेत (मानसिक व्याधि) बाधा-निवारण, अभिचार-शमन आदि के प्रसंग में नाना प्रकार के प्रयोग तन्त्रागम-शास्त्र की सभी शाखाओं में मिलते हैं। भगवान् शिव के पूर्व तत्पुरुष वक्त्र से विनिःसृत गारुड़ तन्त्रों में और पश्चिम सद्योजात वक्त्र से विनिःसृत भूत तन्त्रों में से कुछ अभी भी उपलब्ध हैं। अथर्ववेद से प्रचलित आयुर्वेद शास्त्र की लम्बी परम्परा से ये जुड़े हुए हैं।

प्राचीन भारत में एक ही विशाल प्रस्तर-खण्ड से निर्मित तंजोर के बृहदीश्वर मन्दिर जैसे विशाल मन्दिरों को, खुली हवा में सर्दी, गर्मी और वर्षा के प्रभाव से रहित सैकड़ों वर्षों से निर्विकार भाव से खड़े विशाल लोह-स्तम्भों को, सम्राट् अशोक के बनवाये कीर्ति-स्तम्भों के पाषाणों और गुफाओं की दीवालों की चिकनाहट को, अजन्ता की गुफाओं में चित्रित चित्रों के रंगों की चमक को देखकर आज का वैज्ञानिक भी चकित हो उठता है। तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में ही तो यह सारा विज्ञान संगृहीत था। वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र और संगीतशास्त्र तो मन्दिर के निर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा और प्रतिदिन की भगवदर्चना के अंग ही रहे हैं। यह सही हो सकता है कि तन्त्रशास्त्र के आध्यात्मिक रहस्यों को सार्वजनिक न किया जाय, किन्तु भौतिक विज्ञान को भी छिपाकर रखने का ही यह दुष्परिणाम है कि आज इस पूरे विज्ञान से हम वंचित से हो चुके हैं।

नाना प्रकार के वृक्षों के पंचांग से, औषधियों से, जड़ी-बूटियों से, नाना प्रकार के मन्त्रों और यन्त्रों की सहायता से, निश्चित नक्षत्र, योग आदि में संगृहीत द्रव्यों से नाना प्रकार के रोगों को दूर करने की प्रक्रिया का ज्ञान आज भी कुछ परिगणित वैद्यों में विद्यमान है। इस विषय में अगदतन्त्र और तन्त्रशास्त्र समरस हैं। तान्त्रिक प्रयोगों और योगाभ्यास से नाना प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति की बात कही जाती है। रसेश्वर दर्शन और प्राचीन रसायन शास्त्र में आयु को बढ़ाने वाले प्रयोग भी वर्णित हैं। इन सबके रहते हुए भी आज यह स्थिति हो गई है कि इनको इन्द्रजाल के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं माना जाता। तन्त्रशास्त्र के सहारे अपनी जीविका चलाने वाले लोग अपनी जीविका के उच्छेद के भय से जो कुछ उनकी जानकारी में है, उसे भी वह दूसरों को बता नहीं पाते और उनका ज्ञान उन्हीं के साथ लुप्त होता चला जा रहा है। इसकी रक्षा का उपाय क्या है?

भारतीय ज्यौतिषशास्त्र, चिकित्साविज्ञान, तन्त्रविज्ञान आदि में पाश्चात्य विज्ञान की अपेक्षा अपनी क्या विशेषता है? इसको परखना होगा और आवश्यकता के अनुसार इनका प्रायोगिक अध्ययन भी अपेक्षित होगा। आज भारतीय संगीतशास्त्र के अतिरिक्त शिल्पशास्त्र आदि की परम्परा कुछ चुने हुए स्थानों तक ही सीमित रह गई है। स्थापत्य आदि शास्त्रों की तरह अब संगीतशास्त्र पर भी आधुनिकता के प्रवेश के कारण खतरा मंडराने लगा है। इस विषम स्थिति में इन सभी प्राचीन शास्त्रों की सुरक्षा के लिये विभिन्न विश्वविद्यालयों में इनके अध्ययन-अध्यापन एवं शोध की व्यवस्था होना बहुत जरूरी है। **इसके लिये साहस और दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है। आज तो भारतीय मनीषा पाश्चात्य चकाचौंध के आगे हीनभावना से ग्रस्त हो गई है। ऐसी स्थिति में इन सब शास्त्रों के पुनरुद्धार का विचार विशुद्ध कल्पनाजाल के अतिरिक्त क्या हो सकेगा? किन्तु यह भी सही है कि इस कल्पनाजाल में ही नवीन सर्जन के उपादान भी छिपे हुए हैं। मात्र उनको साकार करने की, सामग्री का सही उपयोग करने की अपेक्षा है।।**

❋ ❋ ❋

वैष्णवाधिकार

१. पृष्ठभूमि
२. वैखानस आगम
३. पांचरात्र आगम
४. भागवत आगम
५. उपसंहार

वैष्णवाधिकार

पृष्ठभूमि

भारतीय वाङ्मय में उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तीनों ग्रन्थ क्रमशः भारतीय श्रौत-परम्परा, दार्शनिक-परम्परा और स्मार्त-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने अपने-अपने मत की प्रतिष्ठा के लिये इन पर भाष्य-वृत्ति आदि की रचना की है। इनमें भगवान् शंकराचार्य के भाष्य-ग्रन्थों की अपनी विशिष्ट स्थिति है। इनमें परस्पर साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। वैष्णव और शैव मत के अनुयायी भाष्यकारों में कहीं साम्य तो कहीं वैषम्य भी देखने को मिलता है। हम कह सकते हैं कि इनमें वैषम्य की अपेक्षा साम्य ही अधिक है।

इसका कारण क्या है? इसकी खोज में जब हम निकलते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि निगम और [१]आगम के आधार पर ऐसा हुआ है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२.२) में सांख्य, योग आदि के साथ पाशुपत (शैव) और पांचरात्र (वैष्णव) मतों को भी वेदविरोधी बता कर इनका प्रामाण्य अस्वीकृत कर दिया गया है। यह आचार्य शंकर का मत है। इसके विपरीत शैव एवं वैष्णव आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तों को वेदसंमत मानते हैं। यही वह दृष्टि है, जिसका अनुसरण करते हुए शैव और वैष्णव आचार्य शंकर के मत को प्रायः स्वीकार नहीं करते। इन आचार्यों के विचारों में परस्पर भिन्नता होने पर भी आगमों में प्रतिपादित जगत्सत्यत्व आदि विषयों में समानता ही अधिक देखने को मिलती है। फलतः स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, वेदारण्यक) का प्रामाण्य स्वीकृत हुआ। पांचरात्र मत की अहिर्बुध्न्यसंहिता के १२वें अध्याय में कृतान्तपंचक का विस्तार से परिचय दिया गया है।

---

१. "सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्। साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।। षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः।।" ये दो श्लोक आगम शब्द का निर्वचन करते समय प्रायः सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इनके अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, देवतासाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन और चतुर्विध ध्यानयोग—इन सात विषयों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ आगम हैं। कुछ विद्वान् वाराहीतन्त्र के तथा अन्य पाद्मसंहिता के वचनों के रूप में इनको उद्धृत करते हैं।

पांचरात्र, पाशुपत आदि मतों की चर्चा संहिता, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी मिलती है। शतपथब्राह्मण (१३.६.१) में पांचरात्र सत्र और छान्दोग्योपनिषत् (७.१.२) में एकायन विद्या का उल्लेख है। [१]श्रीमद्भगवद्गीता को भी एकायन शास्त्र का ही ग्रन्थ माना जाता है। संहिता, आरण्यक आदि में पंचब्रह्म पद से अभिहित ईशान आदि पाँच मन्त्र उपलब्ध हैं। शैवागमों में शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है, अर्थात् ये [२]पाँच मन्त्र ही शिव के शरीर के विभिन्न अवयव हैं। वागाम्भृणी (ऋ.१०.१२५) आदि सूक्तों में भगवती की महिमा वर्णित है और केनोपनिषत् (३.१२) में उमा हैमवती चर्चित है। निगम और आगम की प्राचीनता की यहाँ चर्चा न कर अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि वैष्णव, शैव और शाक्त—ये तीनों ही आगम बौद्ध और जैन मत के समान निगमों को अप्रामाणिक नहीं मानते, किन्तु उनको प्रमाण मानते हुए ही शास्त्र-चर्चा में प्रवृत्त होते हैं। इसी तरह से महाभारत, पुराण आदि में भी इन त्रिविध आगमों का प्रामाण्य स्वीकृत है। ऐसा होते हुए भी सगुणता और साकारता, जीवाणुत्ववाद, जगत् की सत्यता, मुक्ति के साधनों में भक्ति का प्राधान्य जैसे सिद्धान्त आगमों में विशेष रूप से वर्णित हैं। इस स्थिति में ब्रह्मसूत्र के आधार पर प्रवृत्त विभिन्न मतवादों में साम्य-वैषम्य की परीक्षा के लिये इन सब आगमों का अनुशीलन अतीव आवश्यक है। इसीके सातत्य में यहाँ प्रथमत: वैष्णवागमों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

त्रिविध वैष्णवागम

वैखानस, पांचरात्र और भागवत के नाम से [३]त्रिविध वैष्णवागम प्रसिद्ध हैं। महाकवि बाण भट्ट के [४]हर्षचरित में भागवतों और पांचरात्रों का अलग-अलग उल्लेख है। हयशीर्ष पंचरात्र (आदि. २.२-९) में पचीस पांचरात्र संहिताओं के अतिरिक्त भागवत संहिताओं की भी नामावली मिलती है। यहाँ उपदिष्ट पचीस पांचरात्र संहिताओं

---

१. "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. १२७-१३०) में प्रकाशित हमारा "गीता के प्रवक्ता समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण" शीर्षक निबन्ध देखिये।

२. "तद्वपु: पञ्चभिर्मन्त्रै: पञ्चकृत्योपयोगिभि:। ईशतत्पुरुषाघोरवामाजैर्मस्तकादिकम्।।" (विद्या. ३.८) यह मृगेन्द्रागम का तथा मतंगपारमेश्वर का—"ईशानमूर्धा पुंवक्त्रो ह्यघोरहृदय: प्रभु:।। उच्यते वामगुह्योक्त्या सद्योमूर्ति: स्थिता पृथक्।।" (विद्या. ४.१४-१५) यह प्रकरण इसके लिये देखिये।

३. नित्याषोडशिकार्णव-सेतुबन्ध में उद्धृत यह वचन देखिये—"पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम्" (आनन्दाश्रम, पूना, प्रथम संस्करण, पृ. ३)। यहाँ आगे (पृ. ७९) उद्धृत आनन्दसंहिता के वचन से भी वैष्णवागमों की त्रिविधता सिद्ध होती है।

४. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित इस ग्रन्थ का पंचम संस्करण (पृ. २३६-२३७) देखिये।

की सूची अग्निपुराण (३९.२-५) में भी उपलब्ध है। वहाँ भागवत संहिताओं की नामावली नहीं दी गई है। इससे भी पांचरात्र और भागवत मतों की भिन्नता ही सिद्ध होती है। वैखानस आगम तो प्रसिद्ध ही है। इस मत के अनेक ग्रन्थ तिरुपति से छपे हैं।

दशविध वैष्णव सम्प्रदाय

शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.३८-४०) में दशविध वैष्णव सम्प्रदायों का वर्णन है। इनमें उन तीन आगमों के अतिरिक्त राधावल्लभी, गोकुलेश, वृन्दावनी, वीरवैष्णव, रामानन्दी, हरिव्यासी और निम्बार्क नामक सात सम्प्रदायों का समावेश है। आगममीमांसा में हमने वैखानस और भागवत आगमों का संक्षेप में ही परिचय दिया था। अब यहाँ उन तीनों आगमों का तथा सात अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का विशेष परिचय दिया जा रहा है।

शक्तिसंगमतन्त्र के पहले कालीखण्ड के आठवें पटल के १-८५ श्लोकों में दशविध वैष्णव और सप्तविध पाशुपतों का स्वरूप बताया गया है। वहीं वैखानस आदि पदों की व्युत्पत्ति भी दी गई है। **वैष्णव** वह है, जो सबको व्याप्त कर रहता है। इस सामान्य व्युत्पत्ति के बाद यहाँ बताया गया है कि वैखानस मत में दीक्षित स्मार्त वैष्णव **१. वैखानस;** वैष्णवाचार का पालन करने वाला, वैष्णव तन्त्रों में निष्णात, विष्णु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी मन न लगाने वाला, शान्तमना, वैष्णव-चिह्नों को धारण करने वाला **२. राधावल्लभी;** नाना प्रकार के आभूषणों को धारण करने वाला, नाना प्रकार के सुगन्धि-द्रव्यों का लेपन करने वाला, कृष्ण की सी वेष-भूषा धारण करने वाला, भीतर से शाक्त धर्म का और बाहर वैष्णव धर्म का पालन करने वाला, गन्धर्वों के जैसे नृत्य-गान में निरत, लता को लपेट लेने वाला **३. गोकुलेश;** सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित, प्रसन्नचित्त, विष्णु-भक्ति में निरत, कामिनी के लिये चपलचित्त, वनक्रीडा में विनोदशील, सुगन्धि-द्रव्यों से लिप्तशरीर, स्त्री के ध्यान में लगा रहने वाला, विष्णु के समान वेष-भूषा आदि धारण करने वाला **४. वृन्दावनी;** पाँच दिन तक शैवों को न देखने का व्रत लेने वाला, पांचरात्र शास्त्र में वर्णित नियमों का पालन करने वाला तथा शिव की निन्दा में लगा रहने वाला **५. पांचरात्र;** केवल विष्णु की आराधना करने वाला और अन्य सभी देवताओं की निन्दा में निरत **६. वीर वैष्णव; रा** का अर्थ शक्ति है और **म** का अर्थ शिव। शक्ति और शिव की आराधना में लगा हुआ, शान्तचित्त, प्रसन्नात्मा, विचारशील और सर्वत्र समान भाव रखने वाला **७. रामानन्दी;** पापों का नाश करने में समर्थ, विष्णु का भक्त, जितेन्द्रिय, यम-नियम का पालन करने वाला, आचार पर अधिक जोर न देने वाला, उपयोगी वस्तुओं का संग्राहक, दूसरों की भलाई में लगा

रहने वाला, शिव और शक्ति का स्वरूप धारण करने वाला **८. हरिव्यासी;** नित्यार्चन क्रम में सदा लगा रहने वाला, स्वतन्त्रता पर जोर देने वाला, बाह्य पूजा में लगा रहने वाला, केवल कृष्ण की उपासना में निरत, प्रसन्नचित्त, स्वच्छ, स्वच्छन्द आचरणशील, स्मार्त धर्म से दूर रहने वाला **९. निम्बार्क;** और विष्णु का भक्त, चतुर, विजितात्मा, प्रसन्नचित्त, स्मार्त धर्म का भी पालन करने वाला, आचार-परायण, लाल वस्त्र धारण करने वाला, शैवों से द्वेष रखने वाला, उनका सम्पर्क होने पर पुनः स्नान करने वाला, विष्णु में सदा अपने चित्त को लगाये रखने वाला **१०. भागवत** है।

इस तरह से सभी दशविध वैष्णवों के लक्षण बताने के बाद एकादशी आदि तिथियों के निर्णय के विषय में भी विस्तार से वहाँ (१.८.६१-८२) बताया गया है। आगे (१.८.८३-८५) कहा गया है कि सुरेन्द्रसंहिता, षट्शाम्भव, गोपालपांचरात्र, षडन्वयमत, गोपीपरिशिष्ट, मोहशक्तीश्वर, षट्शाम्भवरहस्य जैसे ग्रन्थों के आधार पर यह विवरण दिया गया है। इसी पटल में पाषण्ड, कापालिक, चीन, जैन, बृहद्गुरु, शाक्त, शैव, चान्द्र, स्वायम्भुव और दौर्ग मतों की चर्चा कर चार प्रकार की मुद्राओं[1] का स्वरूप भी बताया गया है। शक्तिसंगम के प्रथम खण्ड के ही समान इसके द्वितीय तथा तृतीय खण्डों में भी विभिन्न वैष्णव मतों की चर्चा मिलती है।

ऊपर बताये गये सम्प्रदायों से भिन्न रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि सम्प्रदाय भी वैष्णव मत के अन्तर्गत ही आते हैं। इनमें से पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शन का परिचय देते समय सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुज और मध्व दर्शन के विषय में कहा गया है कि ये दोनों ही मत पांचरात्र[2] आगम पर आश्रित हैं। ब्रह्मसूत्र तर्कपाद (२.२) का अन्तिम अधिकरण पांचरात्राधिकरण[3] के नाम से जाना जाता है। भगवत्पाद शंकराचार्य

---

१. शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.३६) में मुद्रा शब्द का प्रयोग बौद्ध तन्त्रों के अभिप्रेत अर्थ में हुआ है। 'मुद्रा' पद के बहुविध अर्थ दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधयोजना, केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित हो रही 'धी:' नाम की षाण्मासिक पत्रिका के प्रथम अंक (पृ. ११३-११५) में देखे जा सकते हैं। वैष्णवागमों और पाशुपतागमों में वर्णित तप्तमुद्रा, षण्मुद्रा आदि इनसे भिन्न हैं ।

२. "पाञ्चरात्रोपजीवत्व... साम्येऽपि" (पृ. ४९), आनन्दाश्रम, पूना, द्वितीय संस्करण द्रष्टव्य।

३. पांचरात्राधिकरण की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार की है। आचार्य शंकर ने पांचरात्र आगम को कुछ अंशों में प्रमाण और कुछ में अप्रमाण माना है। रामानुज इसको पूरी तरह से प्रमाण मानते हैं। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण के मत में इस अधिकरण में शाक्त मत समालोचित है। इस संबन्ध में हमने "ब्रह्मसूत्र का पांचरात्राधिकरण" शीर्षक निबन्ध में विस्तार से विचार किया है। देखिये—आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ४१-४६.

ने यहाँ पांचरात्र मत का आंशिक प्रामाण्य माना है, जब कि रामानुजाचार्य सर्वात्मना इसका प्रामाण्य स्वीकृत करते हैं। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण का कहना है कि यहाँ शाक्त मत का खण्डन किया गया है। प्राय: सभी वैष्णवाचार्य पांचरात्रागम को वेद के समान ही आदर देते हैं। शांकर मत के साथ वैष्णवाचार्यों के मतभेद का यही प्रमुख कारण है, इस बात से हम सभी परिचित हैं। वैष्णवागमों में भक्ति और प्रपत्ति का सिद्धान्त प्रधान रूप से प्रतिपादित है।

"ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या" इस सिद्धान्त को वैष्णवाचार्य नहीं मानते। "सब कुछ ब्रह्म का ही विलास है" इस मत के अनुसार जीव और जगत् की भी परमार्थता तथा जीव का अणुत्वभाव केवल वैष्णवों को ही नहीं; शैवसिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा आदि सभी आगमीय दर्शनों को भी मान्य है। वैष्णवाचार्यों में केवल वल्लभाचार्य पांचरात्र मत का खण्डन करते हैं, वह इसलिये कि इनकी भागवत सम्प्रदाय में विशेष आस्था है। इसीलिये इनको प्रस्थान-चतुष्टयी का प्रतिष्ठापक माना जाता है। **यों हम सभी आगमीय दर्शनों को प्रस्थान-चतुष्टयी का अनुवर्तक मान सकते हैं, क्योंकि यहाँ प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त अपने-अपने सम्प्रदाय के आगमों का भी प्रामाण्य अभिप्रेत है।** पांचरात्र के प्रामाण्य को न स्वीकारते हुए भी वल्लभाचार्य जगत्सत्यत्व आदि के विषय में आगमों का ही अनुसरण करते हैं। इस तरह से आजकल उपलब्ध सभी वैष्णव सम्प्रदाय वैखानस, पांचरात्र और भागवत नामक त्रिविध वैष्णवागमों में से किसी एक का अनुसरण करते हुए इनको वेद के समान ही प्रमाण मानते हैं। इसीलिये भागवत आदि ग्रन्थों में वैदिकी और तान्त्रिकी—इन द्विविध श्रुतियों की चर्चा मिलती है।

शक्तिसंगमतन्त्र के तीन खण्डों के सम्पादक डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने प्रथम खण्ड की प्रस्तावना (पृ. ६-७) में निम्बार्क, रामानन्द आदि की अपेक्षा राधावल्लभी, हरिव्यासी आदि सम्प्रदायों की नवीनता स्थापित[1] की है। इन सभी वैष्णव सम्प्रदायों का परिचय पद्मभूषण पं. श्री बलदेव उपाध्याय के हिन्दी भाषा के ग्रन्थ "भागवत सम्प्रदाय" में विस्तार से दिया गया है। इनमें हंस सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय, देवर्षि सम्प्रदाय आदि नामों से प्रसिद्ध निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तक द्वैताद्वैतवादी निम्बार्काचार्य ने बारहवीं शताब्दी में अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना की थी। इनका विस्तृत परिचय पूर्वोक्त ग्रन्थ (पृ. ३१२-३५०) में और निम्बार्कभाष्य[2] की आंग्ल भाषा में निबद्ध भूमिका में देखा

---

१. इस विषय की चर्चा शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के संस्कृत भाषा में लिखित उपोद्घात (पृ. ८-९) में भी की गई है।

२. वेदान्तपारिजातसौरभ (तीन भाग), एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, सन् १९४०-४२.

जा सकता है। 'सखी सम्प्रदाय' के नाम से वृन्दावन में प्रसिद्ध इसीका अवान्तर सम्प्रदाय शक्तिसंगमतन्त्र में वृन्दावनी नाम से वर्णित है। इसका भी परिचय उक्त ग्रन्थ (पृ. ३५०-३६२) में देखा जा सकता है। रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानन्द राघवानन्द स्वामी के शिष्य थे। वैष्णवाचार्य रामानुज के शिष्य कूरेश की शिष्य-परम्परा में इनका आविर्भाव १५वीं शताब्दी में हुआ। इन्होंने वैष्णवमताब्जभास्कर जैसे ग्रन्थों की रचना की। सन्त कबीर, रविदास आदि सन्त-महात्मा इन्हीं के शिष्य थे। उक्त ग्रन्थ के "रामावत सम्प्रदाय" शीर्षक प्रकरण (पृ. २३१-२८७) में इनका और इनके कबीर आदि शिष्यों का विस्तृत परिचय दिया गया है।

यहाँ इस विषय पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि आचार्य रामानुज के बाद उनकी शिष्य-परम्परा द्विधा विभक्त हो गई। इनमें से एक नाथमुनि, यामुनाचार्य आदि आचार्यों की परम्परा का प्रधान रूप से अनुसरण करती थी और दूसरी पांचरात्र आगम की परम्परा के साथ तमिल भाषा में रचित आलवारों के साहित्य (तमिल वेद) का। वेदान्तदेशिक पहली और लोकाचार्य दूसरी परम्परा का अनुसरण करते थे। समय बीतने के साथ इन दोनों[१] परम्पराओं में परस्पर अठारह प्रकार की भिन्नता प्रकट हो गई। [२]अष्टादशभेदविचार जैसे ग्रन्थों से इनका परिचय मिलता है। रामानन्द के वैष्णवमताब्जभास्कर में भी इनको देखा जा सकता है। यहाँ १८ श्लोकों (श्लो० ९३-११०) में अपने मत में स्वीकृत १८ वादों का विवरण दिया गया है।

पांचरात्र आगम के हम चार भेद कर सकते हैं। प्राचीन संहिताओं में पर वासुदेव पर-ब्रह्म-स्वरूप वर्णित हैं। नारायणीयोपाख्यान तथा अन्य कुछ संहिताओं में और वैखानस आगम में भी नारायण को, कुछ में राम को तथा अन्य में कृष्ण को परब्रह्म-स्थानीय माना गया है। साकार और निराकार दोनों रूपों में इनकी उपासना की जाती है। रामानुजाचार्य के साक्षात् शिष्य कूरेश ने रामभक्ति की परम्परा का अनुसरण किया। रामानन्द इसी परम्परा के अनुयायी हैं। ऐसी स्थिति में रामभक्ति (रामावत) सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्तक रामानन्द के गुरु राघवानन्द स्वामी हैं, हिन्दी भाषा में निबद्ध ग्रन्थों के लेखकों का यह आग्रह सही नहीं है। इस पर हिन्दी भाषा के पण्डितों को विचार करना

---

१. इन परम्पराओं को बड़कलै और टैंगलै नाम दिये गये हैं। दक्षिणभारत की यात्रा में हमने देखा कि इन नामों से संबोधित होना उनको अभीष्ट नहीं है।

२. अष्टादशभेदविचार, अष्टादशवाद जैसे ग्रन्थों की मातृकाएँ अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास आदि में उपलब्ध हैं। इन अठारह वादों का संग्राहक श्लोक इस प्रकार मिलता है—

भेद: स्वामिकृपाफलान्यगतिषु श्रीव्याप्त्युपायत्वयोस्तद्वात्सल्यदयानिरुक्तिवचसोर्न्यासे च तत्कर्तरि ।
धर्मत्यागविरोधयो: स्वविहिते न्यासाङ्गहेतुत्वयो: प्रायश्चित्तविधौ तदीयभजनेऽणुव्याप्तिकैवल्ययो:।।

चाहिये। सन्त कबीर के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों पर भी उनके पूर्ववर्ती विज्ञानभैरव सरीखे अद्वैतवादी काश्मीरागमों का प्रभाव था। इसकी स्थापना हम अपने "सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व" शीर्षक[१] निबन्ध में कर चुके हैं।

प्रसंगवश यह चर्चा आ गई है। प्रकृत में राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश गोस्वामी और उनके ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय भी पूर्वोक्त ग्रन्थ (पृ. ४२१-४६४) में ही देखा जा सकता हैं। १५०३ ई. में इनका मथुरा में जन्म हुआ था। हरिव्यासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिव्यास निम्बार्क मत के अन्तर्गत रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में इनका जन्मकाल माना जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों में सूरदास के समान, निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त कवियों में इनका विशेष स्थान है। इनका तथा इनकी रचनाओं का परिचय भी उपाध्याय जी के उक्त ग्रन्थ (पृ. ३२४-३२९) में देखा जा सकता है। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ ने जहाँगीर के राज्यकाल में गोकुलेश सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। वीरवैष्णव पद से किस सम्प्रदाय का ग्रहण होता है, यह एक विचारणीय विषय है। वीरशैव के समान वीरवैष्णव शब्द से कर्णाटक राज्य में प्रचलित माध्व सम्प्रदाय का ग्रहण हम कर सकते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र (१.८. २७-२९) में केवल शिव की उपासना करने वाला वीरशैव माना गया है। इसी तरह से केवल विष्णु की उपासना करने वालों को वीरवैष्णव कहा जा सकता है। इन दोनों ही मतों की यहाँ निन्दा की गई है।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैखानस, पांचरात्र और भागवतों के अतिरिक्त शक्तिसंगमतन्त्र में वर्णित अन्य सात सम्प्रदायों का त्रिविध वैष्णवागमों की पृष्ठभूमि में विकसित रामानुज, निम्बार्क आदि सम्प्रदायों में समावेश किया जा सकता है। इन त्रिविध वैष्णवागमों से इन विविध वैष्णव सम्प्रदायों का प्रसार कैसे हुआ? इन पर श्रुति, स्मृति और पुराणों का प्रभाव कितना है? यह एक गम्भीर गवेषणा का विषय है। वैष्णव दर्शनों में आजकल रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि सम्प्रदाय प्रचलित हैं। इनकी दार्शनिक दृष्टि द्वैत, द्वैताद्वैत अथवा अद्वैत दर्शन का अनुवर्तन करती है। आगमों में भी इसी प्रकार का दृष्टिभेद देखने को मिलता है। समय बीतने के साथ इन सभी वैष्णवागमों के प्रभाव से तथा परस्पर के विचार-मन्थन से किस तरह से इन विविध दृष्टियों का उन्मेष हुआ, इनको जानने और उनका तुलनात्मक अनुशीलन करने के लिये यहाँ इन त्रिविध आगमों का परिचय देने का यह लघु प्रयास किया जा रहा है।

---

१. यह निबन्ध वीरशैव अनुसन्धान संस्थान, जंगमबाड़ी मठ वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थ "निगमागम संस्कृति" (पृ. ४९-५४) में देखा जा सकता है। सन् १९९२.

इनमें से वैखानस सम्प्रदाय आजकल भी प्रधानतया आन्ध्रप्रदेश में तथा सामान्य रूप से समीपवर्ती तमिलनाडु एवं कर्णाटक राज्यों में प्रचलित है। तिरुपति के पास श्रीशैल (तिरुमलै) पर विराजमान भगवान् वेंकटेश्वर (बाला जी) की आराधना वैखानस आगम की पद्धति से की जाती है। इसी तरह से पांचरात्र सम्प्रदाय तमिलनाडु में आज भी प्रचलित है। श्रीरंगम् स्थित श्री रंगनाथ जी की आराधना पांचरात्र आगम की पद्धति से ही की जाती है। तन्त्रभागवत, श्रीमद्भावत आदि में वर्णित भागवत सम्प्रदाय का प्रचलन आजकल उत्तरभारत में विशेष रूप से है, ऐसा हम कह सकते हैं। इन सबका परिचय देने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है। इन वैष्णवागमों में आधुनिक[1] इतिहासज्ञों की दृष्टि में वैखानससूत्र सबसे प्राचीन हैं। अत: यहाँ सर्वप्रथम वैखानस आगमों की ही चर्चा की जा रही है।

❋ ❋ ❋

---

१. डॉ. जे. गोण्डा का "मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर" शीर्षक ग्रन्थ देखिये — पृ. १४३.

वैखानस आगम

वैखानस आगम की आनन्दसंहिता (८.२३-२४) में पूर्वोक्त त्रिविध वैष्णवागमों का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

निगमस्तान्त्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्त आगमः।
निगमो विखनःप्रोक्तो मिश्रो भागवतः स्मृतः।।
[1]चतुःसिद्धान्तसहितः पाञ्चरात्रस्तु तान्त्रिकः।

यहाँ वैखानस आगम को [2]निगम कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यह आगम निगम (वेद) का प्रधान रूप से अनुसरण करता है, क्योंकि वैखानसों के सारे आध्यात्मिक एवं लौकिक संस्कार इसी शास्त्र की पद्धति से किये जाते हैं। ये लोग देवालय की आराधना के साथ वैदिक श्रौत और गृह्य विधि-विधानों का भी पालन करते हैं। इनमें [3]अठारह प्रकार के संस्कार एवं छब्बीस[4] प्रकार के यागों का अनुष्ठान भी

---

१. आगम, मन्त्र, तन्त्र और तन्त्रान्तर नाम के चार पांचरात्र सिद्धान्तों का परिचय डॉ. अशोककुमार कालिया के निबन्ध से प्राप्त कीजिये। (बृहदिति० तन्त्रा०, पृ. ९५-९७)।

२. "वैखानसं हि निगमः पाञ्चरात्रं तथागमः" (आ. सं. ९.५), "वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं मतम्" (आ. सं. १३.१) इन वचनों में भी वही अर्थ प्रतिपादित है। "विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तं सौम्यमाग्नेयमित्यपि। सौम्यं वैखानसं प्रोक्तमाग्नेयं पाञ्चरात्रकम्। सौम्याग्नेये तथा प्रोक्ते शास्त्रे वैदिकतान्त्रिके।।" (खिला. ४१.१-२)। यहाँ वैष्णव तन्त्रों को द्विधा विभक्त कर वैखानस को सौम्य तथा पांचरात्र को आग्नेय बताया है। भागवत नामक तृतीय प्रकार का यहाँ उल्लेख नहीं है। "शिवोपदिष्ट तन्त्र आगम और शक्त्युपदिष्ट तन्त्र निगम कहलाते हैं" इस आशय के वाराहीतन्त्र के दो श्लोकों की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है। यहाँ निगम पद का प्रयोग मात्र शाक्त तन्त्र की उत्कृष्टता के सूचनार्थ है।

३. गृह्यसूत्रों में षोडश संस्कारों का विधान मिलता है। यहाँ निर्दिष्ट अठारह संस्कारों का परिचय "पांचरात्रागम" नामक ग्रन्थ (पृ. ३०९-३२०) में वैखानस गृह्यसूत्र के आधार पर दिया गया है।

४. गौतमधर्मसूत्र, शैव-शाक्त आगम तथा कुछ पुराणों में भी अड़तालीस संस्कार वर्णित हैं, इनमें आठ आत्मगुण भी समाविष्ट हैं। इसके लिये लुप्ता. उपो. (पृ. २०५, टि. २), बृहदिति. तन्त्रा. में समाविष्ट "पुराणगत योग एवं तन्त्र" (पृ. ५२५-५४०) शीर्षक निबन्ध देखिये। छब्बीस प्रकार के याग इन्हीं में समाविष्ट हैं।

समाविष्ट हैं। इन सबका समायोजन ये अपने शास्त्र की पद्धति से ही करते हैं, जो कि वैदिक पद्धति का अनुसरण करती है। नित्य, नैमित्तिक आदि अनुष्ठानों के अवसर पर ये प्रधानतया वैदिक मन्त्रों का ही व्यवहार करते हैं, हुं-फट् जैसे तान्त्रिक बीजाक्षरों का नहीं। [१]मुद्रा, मन्त्रोद्धार, मातृकाचक्र जैसे तान्त्रिक विषय भी यहाँ समाविष्ट नहीं हैं। मन्त्रों में प्रणव (ॐकार) की विशेष महिमा यहाँ गाई गई है।

इनकी वेदानुवर्तिता

मरीचि-कृत विमानार्चनकल्प के ८३ वें पटल में—"अथातो मन्त्राणां कल्पं व्याख्यास्याम:", "अथात: प्रणवस्वरूपं वक्ष्ये", "अथ सावित्रीकल्पं वक्ष्ये" इस तरह से प्रधानतया वैदिक मन्त्रों की, प्रणव की तथा सावित्री मन्त्र की विस्तार से महिमा वर्णित है। त्रिकाल सन्ध्या की विधि, ध्यान आदि का स्वरूप भी यहाँ पूरी तरह से वैदिक पद्धति का ही अनुसरण करते हैं। यजुर्वेद के सर्वानुक्रमसूत्र[२] की पहली कण्डिका में बताया गया है—"जो व्यक्ति मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द को बिना जाने वेदों का अध्ययन करता है, या दूसरों को पढ़ाता है, जप करता है, आहुति देता है, स्वयं यज्ञ करता अथवा दूसरों को कराता है, उसका यह सारा अनुष्ठान निर्वीर्य और निष्फल जाता है। इतना ही नहीं, वह भयानक संकट में पड़ जाता है, वह जड़बुद्धि हो जाता है, उसकी अकालमृत्यु हो जाती है अथवा वह भयंकर पापों से ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत इन सबको जानकर जो वेदाध्ययन करता है, तो उसका यह अध्ययन बलशाली बन जाता है। जो वेदपाठी मन्त्रों के अर्थ को भी जानता है, उसका यह अध्ययन अधिक बलशाली होता है। इनका जप करने वाला, इनसे आहुति देने वाला सर्वात्मना इनके फल को प्राप्त कर लेता है"। इसी पद्धति से यहाँ भी प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का ज्ञान आवश्यक माना गया है।

वैखानस मत के अनुयायी श्रीनिवास मखी का समय ११वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने इस मत के अनुयायियों के दस प्रकार के लक्षण बताये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि पांचरात्रों और भागवतों की अपेक्षा ये वेदमार्ग का प्रधान रूप से

---

१. वैखानस आगमों में करमुद्रा का विधान नहीं है, इसके लिये डॉ. राघवप्रसाद चौधरी का निबन्ध देखिये—भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ. ४२२.

२. "एतानि (ऋषिदैवतच्छन्दांसि) अविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति, अथान्तरा श्वगर्ते वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति। अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्। अथ योऽर्थवित् तस्य वीर्यवत्तरं भवति। जप्त्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते" यह वहाँ का पाठ है। निरुक्त (१.६.१८) के समान यहाँ भी अर्थ-ज्ञान को वरीयता दी गई है।

अनुसरण करते हैं। वैखानस आगम की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये इन्होंने ये कारण बताये हैं—१. समस्त जगत् के कारण-स्वरूप विखनस् द्वारा ये प्रणीत हैं, २. सभी सूत्र-ग्रन्थों से पहले वैखानस-सूत्रों की रचना हुई है, ३. सभी प्रधान कर्मों में यहाँ श्रौत मार्ग का अनुसरण किया जाता है, ४. सारी क्रियाएँ वेद-मन्त्रों से की जाती हैं, ५. निषेक आदि सभी संस्कार यहाँ मान्य हैं, ६. शरीर के अठारह संस्कार यहाँ विहित हैं, ७. सभी क्रियाकलाप वैदिक विधि का अनुसरण करते हैं, ८. मनु आदि स्मृतिकारों को यह मान्य है, ९. समस्त जगत् के एकमात्र कारण श्री नारायण ही केवल उपास्य हैं और १०. वैखानस सूत्रों के द्वारा उपदिष्ट धर्मों का अनुष्ठान करने वालों को यहाँ भगवान् का अत्यन्त प्रिय माना गया है। इन कारणों से इन आगमों की वेदानुवर्तिता तो प्रधान रूप से सिद्ध होती ही है, कुछ अन्य[1] विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। जैसे कि—

आनन्दसंहिता, यजु:क्रियाधिकार, महाभारत शान्तिपर्व, नृसिंहपुराण आदि के प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मा अथवा विष्णु के अवतार समस्त जगत् के कारण-स्वरूप विखनस् मुनि ने कृष्ण यजुर्वेद की [2]औखेय शाखा के आधार पर इस धर्म का प्रवर्तन किया। भगवान् नारायण ही यहाँ परब्रह्म स्थानीय हैं और मनुस्मृति आदि का भी यहाँ प्रामाण्य स्वीकृत है।

वैखानस मत वेदमार्ग का अनुसरण करता है, इसकी चर्चा आगे भी होगी।

दीक्षा

वैखानस दीक्षा की पद्धति भी अन्य तन्त्रों की अपेक्षा भिन्न प्रकार की है। इस मत के अनुसार साक्षात् विष्णु ही दीक्षा देते हैं और इनको गर्भवैष्णव कहा जाता है। विष्णु की आराधना के लिये अलग से यहाँ दीक्षा का कोई विधान नहीं है। दीक्षा के स्थान पर यहाँ गर्भ में ही चक्रसंस्कार किया जाता है और विष्णुबलि के रूप में वह प्रख्यात है। वैखानस गर्भ के आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार के साथ इस संस्कार को करते हैं। वैखानस स्मार्तसूत्र (३.१३-१५), क्रियाधिकार (३६.४२) जैसे ग्रन्थों में इसका विधान मिलता है। इसका मुख्य प्रयोजन गर्भ की रक्षा करना है। इस क्रिया में हवन आदि कर लेने के उपरान्त गर्भिणी को विष्णुचक्र से संस्कृत [3]पायस (खीर)

१. बृहदिति. तन्त्रा. में समाविष्ट "वैखानस सम्प्रदाय : सामान्य परिचय" निबन्ध (पृ. २-८) में डॉ. राघवप्रसाद चौधरी ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है।

२. चरणव्यूहसूत्र में वर्णित कृष्णयजुर्वेद की चार शाखाओं में अन्तिम शाखा का नाम औखेय है।

३. वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड के १६वें सर्ग में पायस-प्रदान की चर्चा है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ गर्भधारण के लिये पायस-प्रदान किया गया है और यहाँ गर्भ की रक्षा के लिये दिया जाता है। वैखानस आगम की पृष्ठभूमि में वाल्मीकिरामायण का अध्ययन अपेक्षित है।

खिलाया जाता है। इस समय जिस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है—गर्भवैष्णव संज्ञा वाला तुम्हारा यह पुत्र भाग्यवान् है, धन्य है। यह स्वाभाविक रूप में महान् आत्मा है कि स्वयं भगवान् इसको गर्भावस्था में ही अपने चक्र से लांछित करते हैं।

इस संस्कार के उपरान्त स्वयं भगवान् विष्णु उस शिशु को शंख, चक्र आदि से चिह्नित करते हैं। जैसा कि क्रियाधिकार में बताया गया है—स्वयं नारायण गर्भस्थ शिशु को अपनी मुद्रा से अंकित करते हैं (३६.४३)। पांचरात्र आगमों में वर्णित तप्तमुद्रा अथवा शीतलमुद्रा से शरीर का अंकन यहां सर्वथा वर्जित है। अर्थ के लोभ से, अज्ञान से अथवा मोहवश यदि कोई ऐसा करता है, तो वह वैखानस प्रायश्चित्ती हो जाता है, ऐसा आनन्दसंहिता (१९.१३-१४), क्रियाधिकार (३६.३८) जैसे ग्रन्थों में बताया गया है। क्रियाधिकार (३६.५४) में ही यह भी कहा गया है कि वैखानस मत के अनुयायी के लिये तप्तमुद्रा, मन्त्रदीक्षा आदि का कोई विधान नहीं है और भगवान् नारायण के अतिरिक्त कोई गुरु भी नहीं है।

भगवान् की पूजा का अधिकार प्राप्त करने के लिये क्रियाधिकार में मानसिकी, वाचिकी और शारीरिकी त्रिविध दीक्षा वर्णित है। इनमें भूतशुद्धि आदि से मानसिकी, चक्राब्ज-मण्डल में मन्त्रजप आदि से साधित वाचिकी तथा तप्तचक्र, मुद्रा आदि से अंकित कायिकी दीक्षा कहलाती है। इनका वर्णन करने के बाद वहाँ बताया गया है कि यह तृतीय दीक्षा वैखानस मत में स्वीकृत नहीं है।

आनन्दसंहिता (८.२४-३०) में इनसे भिन्न त्रिविध दीक्षा इस प्रकार वर्णित है—सामान्य रूप से दीक्षा के तीन भेद हैं। विष्णुबलि की अग्नि में चक्र को तपा कर पायस रूपी हवि को उससे अंकित कर गर्भिणी को जो पायस पिलाया जाता है, उसे गर्भचक्र दीक्षा कहते हैं। उपनयन के समय की अग्नि में तप्तचक्र से कन्धों को अंकित करने को बाह्य तप्तचक्र दीक्षा और दो भुजाओं पर जल से चक्र का आकार बनाने को न्यासचक्र दीक्षा कहा जाता है। इन त्रिविध दीक्षाओं में औखेय, अर्थात् वैखानसों के लिये गर्भचक्र दीक्षा ही विहित है। बाह्य तप्तचक्र दीक्षा पांचरात्र मत में और न्यासचक्र दीक्षा [1]भागवतों में प्रचलित है। इस तरह से त्रिविध वैष्णवों के लिये इन त्रिविध दीक्षाओं का विधान है। तप्तमुद्रा के भी यहाँ (८.३०-३१) दो भेद वर्णित हैं—तप्तचक्रमुद्रा और तप्ताब्जमुद्रा। अन्तस्ताप और बहिस्ताप के भेद से ताप के भी दो प्रकार हैं। इनमें

१. पृ. ७९ की २ री टिप्पणी में भागवतों का उल्लेख नहीं है, किन्तु यहाँ पुनः त्रिविध वैष्णवागम उल्लिखित हैं। स्पष्ट है कि त्रिविध वैष्णवागमों को मान्यता बहुत पहले मिल चुकी थी।

वैखानसों की गर्भचक्र दीक्षा अन्तस्ताप के नाम से तथा पांचरात्र मत की दीक्षा बहिस्ताप के नाम से जानी जाती है।

श्रीवैष्णव नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के साथ बारह आलवार वैष्णव भक्तों को और पांचरात्र आगमों को भी अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हैं। वैखानस मत की गुरुपरम्परा में इनकी गणना या पूजा का कोई विधान नहीं है। अपनी आराधना-पद्धति में ये तमिल प्रबन्धों का या तमिल भाषा का भी समावेश नहीं करते। पूजाविधि में ये केवल संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। जैसे अन्य मत के आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्तों और मतों की स्थापना की, उसी तरह से इस मत के अनुयायी श्रीनिवास मखी ने वैखानस सिद्धान्त के प्रतिपादक लक्ष्मीविशिष्टाद्वैत-भाष्य की रचना की थी। विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन रामानुज-भाष्य में भी हुआ है। नाम की समानता के होते हुए भी इनके सिद्धान्तों में परस्पर वैमत्य है। 'लक्ष्मीविशिष्टाद्वैत' पद की व्युत्पत्ति बताते हुए यहाँ कहा गया है कि इस मत में लक्ष्मी के साथ नारायण की अभिन्नता स्थापित की गई है। दक्षिणभारत के अनेक वैष्णव मन्दिरों में वैखानस आगम की पद्धति से ही भगवान् विष्णु की नारायण के रूप में घर-घर में तथा मन्दिरों में भी साकार पूजा (समूर्तार्चन) की जाती है। वैदिक मत के अनुसार वैदिक पद्धति से ही यहाँ अग्नि की भी आराधना होती है। विखनस् ऋषि ने केवल गृहस्थों के धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान के लिये ही कल्पसूत्र की रचना नहीं की, किन्तु उन्होंने अपने मरीचि, अत्रि, भृगु और कश्यप नाम के चार शिष्यों को भी मूर्तिपूजा की सविधि शिक्षा दी। यहाँ गृहस्थ के घर में अथवा देवालय में अग्नि की आराधना के साथ मूर्तिपूजा का विधान भी वर्णित है।

शैव और पांचरात्र मत के अनुयायी प्रायः अपने शास्त्रों का आगम के नाम से परिचय देते हैं और उनका कहना है कि इनकी पूजा-पद्धति वैदिक विधि-विधान से भिन्न प्रकार की है। वैखानस ऐसा नहीं मानते। वे अपने संहिता-ग्रन्थों को प्रायः भगवच्छास्त्र कहते हैं। इनकी वैदिकता को बौधायन आदि धर्मसूत्रकारों ने भी माना है। "त्रिविधो मखः" (११.२७.७) भागवत के इस वचन की व्याख्या करते हुए सुबोधिनीकार वल्लभाचार्य भी वैदिक पद से वैखानस आगम का ग्रहण करते हैं। भागवत के व्याख्याकार वीरराघव का भी यही मत है। विष्णुपुराण के—

यज्वभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्वतैः।
वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम् ।।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीनिवास मखी ने 'वेदान्तवेदिन्' पद का अर्थ वैखानस किया है। अमूर्ताराधक और समूर्ताराधक के भेद से उन्होंने दो प्रकार के

वैखानासों का वर्णन किया है। वेदविहित श्रौत याग का अनुष्ठान करने वाले अमूर्ताराधक और भगवान् विष्णु के नारायण स्वरूप की आराधना करने वाले समूर्ताराधक कहलाते हैं। निराकाराराधक और साकाराराधक के नाम से भी इनको जाना जाता है।

साकार और निराकार आराधन

भृगु-विरचित खिलाधिकार में आराधना के साकार और निराकार नाम के दो भेद बताये गये हैं। इनमें साकार आराधन को वे श्रेष्ठ बताते हैं। यह साकार आराधन प्रतिमा में किया जाता है और निराकार आराधन [१]स्थण्डिल, जल, सूर्यमण्डल और हृदय में विहित है। इन सबमें प्रथमतः मूर्ति में किये गये आराधन को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि यह भक्तियोग का प्रधान अवलम्बन है (२०.१६-१७)। साकार समाराधन की श्रेष्ठता यज्ञाधिकार, प्रकीर्णाधिकार आदि में भी प्रदर्शित है। मन के स्थिर रहने पर ही निराकार उपासना संभव हो सकती है और किसी स्थूल आलम्बन का सहारा लिये बिना मन की स्थिरता कठिन है। साकार उपासना में ऐसी बात नहीं है, अतः वैखानस मत में अमूर्त की अपेक्षा समूर्त आराधन को श्रेष्ठ माना गया है। यज्ञाधिकार (१.१०-११) में भी बताया गया है कि अमूर्त और समूर्त के भेद से भगवदर्चन के दो भेद हैं। अग्नि में आहुतिदान अमूर्त और बेर (प्रतिमा) पूजन समूर्त कहलाता है। यजमान के अभाव में अमूर्त आराधन समाप्त हो जाता है, किन्तु प्रतिमा की आराधना तो अनवच्छिन्न रूप से निरन्तर चलती रहती है। इसलिये प्रतिमा-पूजन ही श्रेष्ठ माना जाता है।

वैदिक आराधना से समानता

वैदिक याग और आगमीय समूर्ताराधन में अनेक समानताएँ हैं। वैदिक याग में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामक तीन अग्नियों की आराधना की जाती है। इसी तरह से यहाँ भी ध्रुव, कौतुक और उत्सव नामक तीन बेरों (मूर्तियों) की पूजा

---

१. निराकारोपासना के स्थान के रूप में यहाँ स्थण्डिल भी परिगृहीत है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (६.२.४) में एकादश बाह्य पूजा-स्थानों में स्थण्डिल की गणना की है। जयरथ ने यागार्थ परिगृहीत भूप्रदेश को स्थण्डिल कहा है। लोक में "सती भाई का चौरा" जैसे शब्द स्थण्डिल के लिये प्रयुक्त हैं। इनका कोई बिम्बसदृश आकार नहीं होता, अतः इसको निराकार उपासना का स्थान माना जा सकता है। साकारोपासना के चार स्थान अनिरुद्धसंहिता के प्रमाण से पांचरात्रागम (पृ. १२, टि.५) में इस प्रकार बताये गये हैं—"कुम्भमण्डलबिम्बाग्नौ पूजनं चोत्तमं भवेत्।... एकं तु बिम्बकं प्रोक्तं द्विस्थानं बिम्बपावकम्। त्रिस्थानं कुम्भसंयुक्तं चतुःस्थानं तु मण्डलम्।।" (६.६०,६३-६४)। चतुःस्थानार्चन की चर्चा पांचरात्रागमों में सर्वत्र मिलती है। सात्वतसंहिता का उपोद्घात (पृ. ४) देखिये।

होती है। गार्हपत्य अग्नि का स्थान निश्चित है। यहाँ से उसे हटाया नहीं जाता। इसी तरह ध्रुव बेर का स्थान भी निश्चित है। आहवनीय अग्नि का ग्रहण गार्हपत्य अग्नि से किया जाता है। इसी तरह ध्रुव बेर से कौतुक बेर का आधान किया जाता है। उत्सव बेर दक्षिणाग्नि का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि विशिष्ट अवसरों पर ही दक्षिणाग्नि की समाराधना और उत्सव बेर का पूजन होता है। इस तरह से हम देखते हैं कि वैदिक अग्नि-समाराधन ही वैखानस मत में समूर्ताराधन के रूप में स्वीकृत हो गया। एक बात और है कि श्रौत प्रक्रिया में गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण, सभ्य और आवसथ्य नामक पाँच अग्नियाँ भी स्वीकृत हैं। इसी पद्धति से यहाँ भी विष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत और अनिरुद्ध नामक पाँच मूर्तियाँ ध्रुव, कौतुक, उत्सव, स्नपन और बलि नामक पाँच बेरों के रूप में पूजित हैं। इसी तरह से दीक्षा, ऋत्विक्, हविष्, त्रिषवण और अवभृथ शब्दों की प्रवृत्ति भी उन्हीं अर्थों में होती है, जिन अर्थों में ये वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हैं। इस तरह से हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि श्रौत याग की पूरी पद्धति वैखानस मत में समूर्ताराधन के रूप में परिणत हो गई।

ऐतिहासिक विवेचन

ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद, तैत्तिरीयसंहिता, सामब्राह्मण जैसे ग्रन्थों में वैखानस ऋषियों की चर्चा मिलती है। सायण, भरत स्वामी जैसे भाष्यकार भी इसका समर्थन करते हैं। सीतोपनिषत् की पाँचवीं कण्डिका में वैखानस मत का उल्लेख है। व्याख्याकार उपनिषद्ब्रह्मयोगी का कहना है कि यहाँ वैखानस-सूत्रों की चर्चा की गई है। नारदपरिव्राजकोपनिषत्, आथर्वणीयाश्रमोपनिषत्, बौधायन धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र एवं उसके हरदत्ताचार्य विरचित व्याख्यान, आदिकाव्य वाल्मीकीयरामायण और अनेक पुराणों में वैखानसों की चर्चा मिलती है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह वैखानस सम्प्रदाय प्राचीन काल से चला आ रहा है। [१]मनुस्मृति में भी इस मत की चर्चा है। यहाँ भाष्यकार मेधातिथि और व्याख्याकार कुल्लूक भट्ट ने वैखानस शास्त्र की स्थिति की पुष्टि की है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरभारत के आचार्य भी इस प्राचीन मत से भलीभाँति परिचित थे।

वैखानस वाङ्मय

भगवान् विष्णु अथवा ब्रह्मा के अवतार विखनस् मुनि के चार शिष्य थे। इनके नाम है—भृगु, कश्यप, अत्रि और मरीचि। इनमें से अत्रि ने तन्त्रात्मक, भृगु ने

---

१. पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत् सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ।। (६.२१)

अधिकारात्मक, कश्यप ने काण्डात्मक और मरीचि ने संहितात्मक ग्रन्थों की रचना की। ये आगम गद्य और पद्य दोनों में लिखे गये। इनमें विमानार्चनकल्प और काश्यपीय ज्ञानकाण्ड गद्य में तथा समूर्तार्चनाधिकार और क्रियाधिकार जैसे ग्रन्थ पद्य में लिखे गये हैं। वैखानस आगमों की चार तरह की नामावली मिलती है। इनमें पहली विमानार्चनकल्प में और दूसरी आनन्दसंहिता में है। इन दोनों नामावलियों को मरीचि ने प्रस्तुत किया है। तीसरी नामावली भृगु-विरचित यज्ञाधिकार में और चौथी अत्रि-कृत समूर्तार्चनाधिकार में मिलती है। इन चारों नामावलियों का विवरण एवं समीक्षण डॉ. राघवप्रसाद चौधरी ने किया है और कहा है कि इन साठ संहिताओं में से सत्रह संहिताएँ आजकल उपलब्ध होती हैं। इनमें से आठ प्रकाशित हो चुकी हैं। दो का अभी प्रकाशन नहीं हुआ है, किन्तु प्रायः ये दोनों पूरी तरह उपलब्ध हैं। बची हुई सात संहिताएँ अपूर्ण रूप में मिलती हैं। इन सबका परिचय इस प्रकार से दिया गया है।

१. विमानार्चनकल्प—मरीचि-विरचित, व. र. च. भट्टाचार्य सेतुमाधवाचार्य द्वारा सम्पादित, चेन्नपुरी, मद्रास से सन् १९२६ में देवनागरी लिपि में प्रकाशित।

२. आनन्दसंहिता—मरीचि-विरचित, ईगापालेम (आन्ध्रप्रदेश) से सन् १९२४ में तेलुगु लिपि में प्रकाशित।

३. आदिसंहिता—मरीचि-विरचित। इसकी मातृका तिरुपति क्षेत्र निवासी श्री आर. पार्थसारथी भट्टाचार्य के पास है।

४. क्रियाधिकार—भृगु-विरचित, तिरुमलै-तिरुपति देवस्थान, तिरुपति से सन् १९५३ में देवनागरी लिपि में प्रकाशित।

५. खिलाधिकार—भृगु-विरचित, तिरमलै-तिरुपति देवस्थान, तिरुपति से सन् १९६३ में देवनागरी लिपि में प्रकाशित।

६. प्रकीर्णाधिकार—भृगु-विरचित, शैलेन्द्रनाथ एण्ड सन्स, मैलापुर, मद्रास से सन् १९२९ में तेलुगु लिपि में प्रकाशित।

७. यज्ञाधिकार—भृगु-विरचित, डी. डी. रंगाचारी, हिन्दु रत्नाकर प्रेस, मद्रास से सन् १९३० में तेलुगु लिपि में प्रकाशित।

८. अर्चाधिकार—मातृका, आर. पार्थसारथी के पास।

९. वासाधिकार—मातृका, आर. पार्थसारथी के पास।

१०. निरुक्ताधिकार—मातृका, आर.पार्थसारथी के पास।

११. मानाधिकार—मातृका, आंशिक रूप से उपलब्ध।

१२. चित्राधिकार—मातृका, आंशिक रूप से उपलब्ध।

१३. वर्णाधिकार—मातृका, आंशिक रूप से उपलब्ध।

१४. पुरातन्त्र—मातृका, आंशिक रूप से उपलब्ध।

१५. समूर्तार्चनाधिकार– अत्रि-विरचित, तिरुमलै-तिरुपति देवस्थान, तिरुपति से सन् १९४३ में देवनागरी लिपि में प्रकाशित।

१६. ज्ञानकाण्ड– कश्यप-विरचित, आर.पार्थसारथी द्वारा सम्पादित एवं तिरुमलै-तिरुपति देवस्थान, से सन् १९६० में देवनागरी लिपि में प्रकाशित।

१७. भृगुसंहिता– मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास और वेंकटेश्वर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, तिरुपति में मातृकाएँ उपलब्ध।

टीका, व्याख्या एवं पद्धति ग्रन्थ

इन संहिताओं के अतिरिक्त कुछ टीका, व्याख्या और पद्धति-ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. प्रतिष्ठाविधिदर्पण–नृसिंह वाजपेयी विरचित। आर.पार्थसारथी भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, मद्रास से सन् १९४८ में तेलुगु लिपि में प्रकाशित।

२. भगवदर्चाप्रकरण–नृसिंह वाजपेयी विरचित।

३. ब्रह्मोत्सवानुक्रमणिका–नृसिंह वाजपेयी विरचित।

४. अर्चनानवनीत–केशवाचार्य विरचित।

५. प्रयोगवृत्ति–सुन्दरराज विरचित।

६. वैखानसगृह्यसूत्र, तात्पर्यचिन्तामणि व्याख्या सहित– श्रीनिवास मखी विरचित (दो भाग), आर. पार्थसारथी द्वारा सम्पादित, तिरुमलै-तिरुपति देवस्थान द्वारा सन् १९६७ में प्रकाशित। यहाँ संजीवयाजी, वरदराज सूरि, भास्कर भट्ट, कोदण्डराम याजी विरचित टीकाओं का उल्लेख मिलता है।

७. वैखानसमहिममञ्जरी–वैखानसकल्पसूत्रव्याख्या, श्रीनिवास मखी विरचित, हिन्दु रत्नाकर प्रेस, मद्रास से सन् १९१३ में प्रकाशित।

८. आनन्दसंहिताटीका–भट्टार पार्थसारथी विरचित, ईगापालेम (आन्ध्रप्रदेश) से सन् १९२४ में प्रकाशित।

९. बादरायणसूत्रवृत्ति–केशवाचार्य विरचित, लक्ष्मीविशिष्टाद्वैत-भाष्य का अनुसरण करने वाली।

१०. काश्यपाज् बुक आफ विज्डम–हालैण्ड के डॉ. तून गान्द्रियान द्वारा आंग्ल भाषा में अनूदित काश्यपीय ज्ञानकाण्ड, सन् १९६५.

प्रतिपाद्य विषय

वैखानस आगम के इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थों और निबन्धों का परिचय "संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास" शीर्षक ग्रन्थ के एकादश तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट "वैखानस सम्प्रदाय : सामान्य परिचय" शीर्षक निबन्ध में डॉ. राघवप्रसाद चौधरी ने दिया है। "पांचरात्रागम" शीर्षक ग्रन्थ के लेखक डॉ. चौधरी ने वैखानस मत से संबद्ध दो निबन्ध लिखे थे। इनमें से पहला "भारतीय तन्त्रशास्त्र" नामक ग्रन्थ में "वैखानस आगम" शीर्षक से छपा था (पृ. ४०५-४२२) और दूसरे की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनमें से पहले निबन्ध में आगम की परिभाषा, त्रिविध वैष्णवागम, दीक्षा, योग, नाडीचक्र, वायु, मन्त्रविचार, सावित्रीकल्प, कुण्डलिनी, मुद्रा जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे निबन्ध में वैखानस मत की प्रवृत्ति, सम्प्रदाय की वर्तमान स्थिति, साकार और निराकार उपासना, वैदिक और वैखानसीय आराधना में समानता, वैखानस और वानप्रस्थ, वैखानस एवं पांचरात्र मत में साम्य-वैषम्य जैसे विषयों की चर्चा की गई है। इस तरह से इन दो निबन्धों में वैखानस मत के इतिहास एवं प्रतिपाद्य विषयों का पर्याप्त समावेश किया गया है। इन विषयों को वहाँ विशेष रूप से देखा जा सकता है।

यहाँ वैखानस मत की प्रवृत्ति और दीक्षाविषयक पक्ष का परिचय देकर सामान्य रूप से इसकी वेदानुवर्तिता को स्थापित कर भगवान् नारायण की समूर्ताराधन की प्रक्रिया को समझाया गया है। उपलब्ध वैखानस वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय भी यहाँ प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार इन आगमों के प्रतिपाद्य कुछ मुख्य विषयों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है, जिससे अन्य आगमों में वर्णित विषयों के साथ इनकी तौलनिक समीक्षा प्रस्तुत की जा सके।

हम यह जानते हैं कि सभी आगम [१]ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग नामक चार पादों में विभक्त हैं। वैखानस आगमों में भी बिना ही पादविभाग के प्राचीन पांचरात्र

१. शिवपुराण (७.२.१०.३१-३३) में इनका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि पशु, पाश और पति के स्वरूप का बोध कराना ज्ञान(विद्या)पाद का विषय है। गुरु की देखरेख में की गई षडध्वशुद्धि आदि का विधान क्रियापाद का, भगवान् शिव के द्वारा विहित वर्णाश्रम धर्म का तथा शिवार्चन आदि विधियों का अनुष्ठान चर्या पाद का और भगवदुपदिष्ट मार्ग से भगवान् के प्रति समर्पित व्यक्ति को चित्तवृत्ति के निरोध का उपाय बताना योगपाद का विषय है। मतंगपारमेश्वर (विद्या. २.८-१३) में इनका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—कार्यकारण की पद्धति से तत्त्वों का विवेचन जहाँ किया गया है, वस्तु की हेयता और उपादेयता को

संहिताओं के समान वे सभी विषय वर्णित हैं। यहाँ भी दर्शन और योग का संक्षेप में तथा क्रिया और चर्या से संबद्ध विषयों का विस्तार से निरूपण किया गया है। तन्त्रागम शास्त्र की इस विशिष्टता को सर्वत्र देखा जा सकता है।

वैखानसीय दर्शन

विमानार्चनकल्प, खिलाधिकार, आनन्दसंहिता जैसे ग्रन्थों में प्राय: वैखानसीय दर्शन वर्णित है। कठोपनिषत्, नारायणीयोपनिषत् आदि की पद्धति से यहाँ भगवान् नारायण ही ब्रह्म के रूप में वर्णित हैं। "नारायण ही परम तत्त्व है"[1] इस श्रुति का यहाँ पूरी तरह से अनुवर्तन किया गया है। इस परम तत्त्व के अमूर्त और समूर्त, ये दो रूप हैं। इनमें से अमूर्त तत्त्व का स्वरूप उपनिषदों में वर्णित परब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं है। उसके समूर्त स्वरूप की आराधना प्रतिमा आदि में की जाती है। महानारायण (९.१२) आदि उपनिषदों में उसका वर्णन करते हुए बताया गया है कि हृदयस्थित पद्मकोश समस्त विश्व का आयतन है, अर्थात् अपने अणु रूप में समस्त जीवात्मा अपने-अपने हृदय-स्थित दहराकाश में निवास करते हैं। काले बादलों में चमकने वाली बिजली के समान, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में वर्तमान प्राण की ज्योति यहाँ दीपशिखा के समान ज्ञान की ज्योति को फैलाती रहती है। इस ज्ञान की ज्योति में ही परमात्मा का निवास है। वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर ब्रह्म है और वही स्वराट् है, अर्थात् अपने आपमें प्रकाशित होने वाला ब्रह्म है। यह परमात्मा ही परब्रह्म और नारायण आदि शब्दों से जाना जाता है। इसी तरह से पुरुषसूक्त में (ऋ.१०.८१.३) इसे विश्व का चक्षु और विश्व का मुख बताया गया है। नारायणपूर्वतापिनी-उपनिषत् (१.४) में इसे नारायण कहा गया है।

नारायण के नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म की अमूर्त और समूर्त के भेद से दो तरह की आराधना की जाती है। यज्ञ-याग आदि में वह्नि में दी गई आहुति को वैखानस आगम में अमूर्ताराधन तथा मन्दिर आदि में प्रतिमा की पूजा को समूर्ताराधन कहते हैं। परब्रह्म नारायण का स्वरूप अमूर्त है। वेद, उपनिषत् आदि में इसका विशेष वर्णन मिलता है।

जहाँ स्पष्ट किया जाता है, वह विद्यापाद है। मुद्रा, मण्डल और मन्त्र का, साधक आदि का तथा आचार्य का लक्षण क्रियापाद में, विरक्त महात्माओं को वैराग्य के साधन षडङ्ग योग का तथा संसार के प्रति अनुरक्तों के लिये भोग मार्ग का उपदेश योगपाद में तथा समय, आचार और सद्वाद का अपने-अपने आश्रम के अनुसार उपदेश चर्यापाद में किया जाता है। यहाँ ज्ञान और विद्या पर्यायवाची शब्द हैं। पाण्डिचेरी से मुद्रित अजितागम के प्रथम भाग के संस्कृत उपोद्घात (पृ. १०-११) में बताया गया है कि विभिन्न आगमों में इनके लक्षणों में कुछ सांकर्य भी देखने को मिलता है।

१. "तत्त्वं नारायण: पर:" (महाना. ९.४)।

इसकी अपेक्षा भक्तियोग का प्रधान रूप से वर्णन करने वाले आगमों में भगवान् नारायण का वासुदेव नाम का षाड्गुण्य से अलंकृत स्वरूप समूर्त, सगुण, सकल कहलाता है।

विशुद्ध स्फटिकमणि जपाकुसुम आदि उपाधियों के संपर्क से जैसे नाना रूपों में दिखाई पड़ता है, उसी तरह से निर्गुण भगवान् नारायण विष्णु साकार स्वरूप धारण कर मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं। जैसे भगवान् वैश्वानर (वह्नि) इन्धन के सम्पर्क से प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी तरह से ध्यान के निरन्तर अभ्यास से अरणि के मन्थन से पैदा हुई वह्नि के समान भक्त के हृदय में और उस पर अनुग्रह करने की दृष्टि से प्रतिमा आदि में भी वे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। यह सारा चराचरात्मक जगत् उसीका मूर्त स्वरूप है।

परब्रह्म नारायण विष्णु ही पुरुष, सत्य, अच्युत और अनिरुद्ध नाम की चार मूर्तियों का स्वरूप धारण करते हैं। इनमें पुरुष नाम का परमात्मा सभी छः[१] गुणों से अलंकृत है। सत्य में गुणों के तीन पाद, अच्युत में दो पाद और अनिरुद्ध में एक ही पाद रह जाता है। परमात्मा नारायण तो स्वयं अपने आपमें विराजमान रहते हैं। ब्राह्मण आदि चार वर्णों की और व्याहृति के चार विभागों की तरह ये चार मूर्तियाँ गुणों के आधार पर विभक्त हो जाती हैं, तो भी वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे एक ही वह्नि आहवनीय, अन्वाहार्य, गार्हपत्य और आवसथ्य नामक कुण्डों में स्थापित होकर चार स्वरूप धारण कर लेती हैं, उसी तरह से ये चार मूर्तियाँ यथाक्रम कान्ति, पुष्टि, सुख और इष्ट प्रयोजन रूप चार फलों को प्रदान करने से चतुर्धा विभक्त मान ली जाती हैं। विष्णु के अर्चावतार के रूप में भी इन मूर्तियों में परस्पर भेद मान लिया जाता है।

विष्णुपुराण (१.२२.७९-८०,८३-८५) में कालस्वरूप, शब्दमूर्ति को धारण करने वाले भगवान् नारायण का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—"कला, काष्ठा, निमेष आदि; दिन, ऋतु, अयन, हायन आदि काल का स्वरूप धारण करने वाले भगवान् हरि निष्पाप और निर्विकार हैं। हे मुनिसत्तम ! भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये सातों भुवन भी उस सर्वत्र व्यापक भगवान् के ही स्वरूप हैं। ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद, इतिहास उपवेद, वेदान्त, वेदांग, मनु आदि के समस्त शास्त्र, आख्यान, अनुवाक, समस्त काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सम्पूर्ण वाङ्मय शब्दमूर्तिधारी भगवान् विष्णु का ही शरीर है"। वैखानस आगम में यह सारा वाङ्मय भगवान् नारायण का स्वरूप माना गया है। इस तरह इस मत में स्वीकृत भगवान् नारायण विष्णु निर्गुण और सगुण, निष्कल और सकल, अमूर्त और समूर्त—इन दोनों ही रूपों में विराजमान

---

१. पांचरात्र आगम में व्यूह वासुदेव में सम्पूर्ण छः गुणों की तथा संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध में दो-दो गुणों की स्थिति मानी गई है। देखिये—अ. सं. ४.१६-१९.

हैं। उपनिषत् आदि में वर्णित निष्कल, निर्गुण ब्रह्म ही भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सकल, सगुण स्वरूप धारण कर लेते हैं। निर्गुण और निर्विकार वह ब्रह्म भक्तों के द्वारा मन्त्रों की सहायता से बुलाये जाने पर प्रतिमा, स्थण्डिल, कूर्च, कुम्भ आदि में उसी प्रकार प्रकट हो जाते हैं, जैसे काष्ठ में विद्यमान वह्नि अरणि आदि के मन्थन से अथवा सर्वत्र विद्यमान पवन व्यजन (पंखा) आदि के डुलाने से अभिव्यक्त हो उठता है। प्रतिमा आदि में अभिव्यक्त हुआ वह साकार स्वरूप आगमशास्त्र की पद्धति से पूजित होने पर भक्तों के मनोरथों को पूरा करता है।

श्रीदेवी भगवान् की प्रधान विभूति है। श्वेताश्वतर श्रुति (४.१०) में प्रकृति को माया और परमेश्वर को मायी कहा गया है। तदनुसार श्रीदेवी मायास्थानीय और भगवान् विष्णु उसके प्रेरक हैं। प्रकृति और पुरुष[1] ये दोनों ही तत्त्व अनादि माने गये हैं। इनमें प्रकृति तत्त्व के चेतन और अचेतन, ये दो भेद हैं। पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ तत्त्वों को अष्टप्रकृति के रूप में भगवद्गीता (७.४-५) में मान्यता मिली है। इन सबको अचेतन प्रकृति कहा जाता है। चेतन प्रकृति जीव का स्वरूप धारण करती है। वैखानस आगम में यह प्रकृति शक्ति या श्री के रूप में मान्य है।

इस शक्तिस्वरूपिणी श्री, अर्थात् प्रकृति की सहायता से भगवान् नारायण जगत् की सृष्टि करते हैं। मनुस्मृति, पुराण आदि में वर्णित प्रक्रिया से प्रथमत: वे सुवर्णमय अण्ड की उत्पत्ति करते हैं। वैखानस आगम में प्रकृति, माया आदि सभी अण्डों के ऊपर विद्यमान वैष्णवाण्ड की स्थिति मानी गई। इसकी महिमा को देवगण भी जान नहीं पाते। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले भक्तजन ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। यहाँ आमोद, संमोद, प्रमोद और वैकुण्ठ नाम के चार लोक एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इनमें से श्रीदेवी और अपने समस्त आभूषणों एवं आयुधों से परिवृत (घिरे हुए) भगवान् विष्णु आमोद लोक में, महाविष्णु प्रमोद, सदाविष्णु संमोद और सर्वव्यापी भगवान् नारायण वैकुण्ठ लोक में निवास करते हैं। पांचरात्र, शैव आदि आगमों की दृष्टि से इसे शुद्ध सृष्टि कह सकते हैं।

सांख्य दर्शन में वर्णित २५ तत्त्वों वाली सृष्टि को शुद्धेतरा, अर्थात् अशुद्ध सृष्टि कहा जा सकता है। विमानार्चनकल्प में इस सृष्टि का देह की उत्पत्ति की प्रक्रिया के साथ विस्तार से वर्णन है। उपनिषदों में, विभिन्न आगमों और तन्त्रों में वर्णित प्रक्रिया से

---

१. प्रपंचसार (१.२१) में प्रकृति और पुरुष के साथ काल को भी नित्य माना गया है। कुछ लोग प्रपंचसार को वैष्णव तन्त्र मानते हैं। अ. सं. (६.८) में पुरुष, काल और गुण (प्रकृति) का शुद्धेतर सृष्टि में परिगणन किया गया है। शैव-शाक्त आगमों में भी यही मत मान्य है।

इसमें कहीं साम्य, तो कहीं वैषम्य भी देखने को मिलता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कल्पना, अक्रोध, शुश्रूषा, शौच, सन्तोष, आस्तिक्य, आर्जव आदि सात्त्विक गुण; मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, इस तरह अभिमान-प्रधान राजस गुण और निन्दा, आलस्य, मोह, मैथुन, स्तेय (चौर्य) आदि तामस गुण माने गये हैं। मतंगपारमेश्वरागम (विद्या. १६.१७-२२) में सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की वृत्तियों के रूप में क्रमशः स्थैर्य-धैर्य आदि, क्रौर्य-शौर्य आदि तथा अरति-मन्दता आदि का वर्णन मिलता है। सांख्यकारिका (का.५४) में वर्णित सत्त्वप्रधान ऊर्ध्व देव-सृष्टि, तमःप्रधान अधः पाताल सृष्टि और रजःप्रधान मध्य की मानव आदि की सृष्टि, अर्थात् यह त्रिविध सृष्टि भी यहाँ वर्णित है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक चार अवस्थाएँ भी प्रायः उपनिषदों और तन्त्रागमों में वर्णित पद्धति से ही यहाँ स्वीकृत हैं। पचीसवें तत्त्व के रूप में पुरुष तत्त्व का और उसके देह का वर्णन भी यहाँ सांख्यदर्शन की पद्धति से किया गया है।

शरीर की उत्पत्ति की प्रक्रिया को बताते समय यहाँ शरीर का प्रमाण, प्राण और अपान का प्रमाण, मूलाधार आदि स्थान, उनमें स्थित देवता, नाभि में स्थित द्वादशार चक्र, कुण्डलिनी[१] शक्ति, हृदय में स्थित सूर्यमण्डल, नासिका के अग्र भाग में चन्द्रमण्डल, उसमें विद्यमान मूर्तियाँ, मुक्ति का द्वार, हृदय-कमल में भगवान् का ध्यान—जैसे योगशास्त्र से संबद्ध विषयों का भी यहीं वर्णन किया गया है। इन सभी विषयों का भगवान् विष्णु की आन्तर और बाह्य पूजा से संबन्ध है। आन्तर पूजा में प्रधानतया कुण्डलिनी योग का सहारा लिया जाता है। अतः इससे संबद्ध नाडी, चक्र, वायु आदि विषयों का समावेश भी यहाँ दार्शनिक पद्धति में ही कर लिया गया है। इस तरह भावना-प्रधान दार्शनिक एवं यौगिक पद्धति से सारे विश्व में तेजोमय रूप में व्याप्त भगवान् विष्णु के ध्यान, आवाहन आदि के द्वारा संभूत अमूर्त एवं समूर्त स्वरूप के माध्यम से भगवान् नारायण की आराधना की जाती है।

शरीर की उत्पत्ति के प्रसंग में ही यहाँ नाडी एवं वायु का स्वरूप भी प्रदर्शित है। योगपाद के विषय प्रसंगवश यहाँ दर्शन-प्रकरण में विवेचित हो गये हैं। विमानार्चनकल्प में इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी नाम की चौदह

---

१. वैखानस आगमों में वर्णित कुण्डलिनी का स्वरूप डॉ. राघवप्रसाद चौधरी के "वैखानस आगम" शीर्षक निबन्ध में देखिये (भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ. ४२१-४२२)। बौद्ध तन्त्रों में 'चाण्डाली' के नाम से यह वर्णित है। आगम-तन्त्रशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों के योग प्रकरण में नाडी, वायु, चक्र, आधार आदि के साथ इसका विवरण मिलता है।

प्रधान नाडियाँ स्वीकृत हैं। यद्यपि योगशास्त्र और तन्त्रागमशास्त्र के ग्रन्थों में दस प्रधान नाडियाँ ही वर्णित हैं, तो भी शारदातिलक की टीका (पृ. ३८-३९) में इस पक्ष को भी दिखाया गया है। वैखानस आगम में इनका वर्णन हुआ है, ऐसा हम मान सकते हैं। पुराण आदि में भी इस मत की खोज होनी चाहिये। इन नाड़ियों का विशेष परिचय विमानार्चनकल्प और डॉ. राघवप्रसाद चौधरी के ऊपर चर्चित निबन्ध (पृ. ४१५-४१६) में देखा जा सकता है।

इसी तरह योगशास्त्र एवं आगम-तन्त्रशास्त्र आदि में वर्णित—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक दस प्रकार के वायु यहाँ भी वर्णित हैं। इनके भी लक्षण वहीं देखने चाहिये। योगिनीहृदय नामक शाक्त तन्त्र में सोलह प्रकार के वायुओं की सूचना मिलती है। यहाँ टीकाकारों ने लिखा है कि दशविध वायु सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, अन्य छः की आगमान्तर में खोज होनी चाहिये (पृ. ३१७)। लिंगपुराण[१] में इनमें से चौदह के नाम मिलते हैं। दो नाम अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

वैखानस आगम में जीवात्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध एवं निर्विकार स्वभाव का है, अणु परिमाण का होते हुए भी सर्वगत है। विभिन्न देहों को धारण करता हुआ यह शुभ और अशुभ कर्म करता रहता है। यह कर्म ऐहिक और आमुष्मिक के भेद से दो प्रकार का है। भोजन-वस्त्र, आसन-शयन आदि ऐहिक और अहिंसा, दान, धर्म, परोपकार, भगवदाराधन– ये सब आमुष्मिक फल को देने वाले हैं। अपने कर्मों के अनुसार ही जीव नाना योनियों में जन्म लेता है और इनसे निवृत्त हो जाने पर मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज के भेद से जीव नाना योनियों में प्रविष्ट होकर अपने किये कर्मों के फल को भोगता है। भगवान् की आराधना से वह माया से मुक्त हो कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् इसके बाद उसको नया जन्म नहीं लेना पड़ता। यहाँ सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य लक्षण चतुर्विध मोक्ष वर्णित है। पुराण आदि में भी इनका वर्णन मिलता है। इस शास्त्र की विशेषता यह है कि मरीचि के अनुसार यहाँ सालोक्य में आमोद की, सामीप्य में प्रमोद की, सारूप्य में संमोद की और सायुज्य में वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है तथा भगवान् नारायण की आराधना से ही यह चतुर्विध मोक्ष मिलता है।

भगवान् की आराधना जप, हवन, अर्चन एवं ध्यान के भेद से चार तरह से की जाती है। भगवान् का ध्यान करते हुए सावित्री, अष्टाक्षर आदि मन्त्रों का निरन्तर

---

१. "प्राणो व्यानस्त्वपानश्च उदानश्च समानकः।। वैरम्भश्च तथा मुख्यो ह्यन्तर्यामः प्रभञ्जनः।। कूर्मकश्च तथा श्येनः श्वेतः कृष्णस्तथानिलः। नाग इत्येव कथिता वायवश्च चतुर्दश।।" (१.८६.८२-८४)।

अभ्यास **जप**, अग्निहोत्र आदि वेदविहित विधियों का आचरण **हवन**, घर या देवालय में वैदिक और आगमिक पद्धति से प्रतिमा आदि की आराधना **अर्चन** तथा अष्टांग योग की पद्धति से जीवात्मा और परमात्मा में अभेदभाव का चिन्तन **ध्यान** कहलाता है। इस चतुर्विध आराधन से प्रसन्न हुए भगवान् नारायण साधक भक्त को उसकी योग्यता के अनुसार चतुर्विध मुक्ति प्रदान करते हैं।

इस तरह से यहाँ संक्षेप में वैखानस आगमों में वर्णित दर्शन का विवेचन किया गया है। अब इसी पद्धति से यहाँ प्रदर्शित योग का भी स्वरूप बताया जा रहा है।

वैखानसीय योग

विमानार्चनकल्प में जीवात्मा और परमात्मा के मिलने को ही योग का लक्षण माना गया है। योग का यह लक्षण पातंजल योग में वर्णित लक्षण से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वहाँ चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। पुराणों एवं तन्त्रागम शास्त्र में योग का लक्षण वही बताया गया है, जो ऊपर मरीचि के द्वारा उपदिष्ट है। आगमशास्त्र में भक्ति की महिमा के कारण भक्त के लिये भगवान् का मिलन ही सब कुछ है। तदनुसार ही इन लक्षणों की भिन्नता की व्याख्या करनी चाहिये।

योग के लक्षण में पार्थक्य होते हुए भी यहाँ पातंजल योग-संमत अष्टांग योग को ही स्वीकार किया गया है। इनके विवरण में अवश्य कुछ भिन्नता भी देखने को मिलती है। जैसे कि पातंजल योग में यम और नियम के पाँच-पाँच ही भेद हैं। यहाँ उनके दस-दस भेद बताये गये हैं और कहा गया है कि इन बीस गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही योगशास्त्र का अधिकारी माना जाता है। पाशुपत मत और अनेक पुराणों में भी यम और नियम के इन भेदों का वर्णन वैखानस आगम की पद्धति से ही किया गया है। योग के तृतीय अंग आसन के नौ भेदों का वर्णन मरीचि ने विमानार्चनकल्प में किया है। उनके नाम वहाँ इस प्रकार दिये गये हैं—ब्राह्म, स्वस्तिक, पद्म, गोमुख, सिंहमुख, मुक्तासन, वीरासन, भद्रासन और मयूरासन। इनमें से क्रमानुसार तीन-तीन आसनों का यहाँ उत्तम, मध्यम और अवर विभाग किया गया है। यहाँ प्राणायाम के रेचक, पूरक और कुंभक नामक[१] तीन ही विभाग वर्णित हैं।

प्रत्याहार के पांच भेद हैं—१. विषयों से बलपूर्वक इन्द्रियों का आहरण, २. समस्त जगत् को स्वात्मवत् देखना, ३. शास्त्रविहित कर्मों का नियमपूर्वक सम्पादन, ४. पादांगुष्ठ से लेकर सिर तक स्थित १८ मर्म-स्थानों में वायु को ले जाना, धारण

---

१. पांतजल योगसूत्र (२.५१) में प्राणायाम के चतुर्थ प्रकार का लक्षण एवं महत्त्व बताया गया है। ना. पु. (१.३३.११८-१२८) में शून्यक नामक चतुर्थ प्राणायाम वर्णित है। "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" (पृ. २६५-२६७) देखिये।

करना और उसको ऊपर-नीचे ले जाना तथा ५. नाडी मार्ग में वायु को ले जाना और रोकना। मरीचि ने ऊपर निर्दिष्ट अठारह [1]मर्म-स्थानों के नाम और उनका प्रमाण भी बताया है।

धारणा के आठ भेद हैं—१. यम-नियम गुणों से सम्पन्न मन का आत्मा में नियोजन, २. हृदयाकाश अथवा बाह्याकाश में मन को स्थिर करना, ३-७. पृथिवी आदि पाँच महाभूतों और उनके अधिपतियों में मन की स्थिरता और ८. दहराकाश में परमात्मा के परमानन्दमय विग्रह में मन की स्थिरता। इन आठ धारणाओं में से पाँच महाभूतों का आश्रय लेकर की गई पंचविध धारणाओं का वर्णन यहाँ विस्तार से मिलता है। प्रायः सभी आगम-तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र के ग्रन्थों में इनका स्वरूप प्रदर्शित है।

जीवात्मा के द्वारा किया गया परमात्मा का चिन्तन ही ध्यान कहलाता है। निष्कल और सकल के रूप में इसके दो भेद हैं। इनमें निष्कल ध्यान का स्वरूप देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। सकल ध्यान निर्गुण और सगुण के भेद से दो प्रकार का है। इनमें निर्गुण निष्कल-स्वभाव का है। इसमें परमात्मा के अतिरिक्त किसी का भी भान नहीं हो पाता। परमात्मा काष्ठ में वह्नि की तरह सर्वत्र व्याप्त है। आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी आत्मगुहा (दहराकाश) में प्रविष्ट हो नित्य, अचिन्त्य, निष्कल रूप में वहाँ विराजमान रहता है। प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास से अपने को संस्कृत कर जीवात्मा निष्कल परमात्मा का इस निष्कल ध्यान से ही साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है। [2]श्रुति नारायण को परम ज्योतिःस्वरूप एवं परमात्म-स्वरूप बताती है। यहाँ उसके निर्गुण स्वरूप की ही स्तुति की गई है। महानारायणोपनिषत् (उ. ११.१०) में निर्गुण ध्यान का ही एक दूसरा प्रकार बताया गया है, जिसमें नारायण को ऊर्ध्वकेश, विरूपाक्ष और कृष्णपिंगल पुरुष कहा है। इसी स्थल पर मरीचि ने सगुण ध्यान के [3]चार प्रकारों का वर्णन किया है।

अष्टांग योग का अन्तिम अंग समाधि है। जीवात्मा का परमात्मा के साथ साम्यलाभ ही समाधि कहलाती है। सूर्य की किरणों के स्पर्श से जैसे पत्थर गरम हो

---

१. अठारह मर्म-स्थानों के नाम और प्रमाण उक्त निबन्ध (भा. त., पृ. ४११-४१२) में दिये गये हैं। पाद्मसंहिता(तन्त्र) के योगपाद में भी ये नाम मिलते हैं—"पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च।। मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च। मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूबरम् ।। तालुमध्यं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम्। भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्धा चापि ततः परम्।। मूलं च कर्णयोर्मूलं मर्माण्येतानि पद्मज।" (४.१०-१३)।

२. "श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः" (त्रि. म. ना. ७.११), "नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः" (महाना. ११.४)।

३. उक्त निबन्ध (भा. त., पृ. ४१३-४१४) में ध्यान के इन चार प्रकारों का स्वरूप देखिये। आगम के सप्तविध लक्षण में चतुर्विध ध्यानयोग की भी चर्चा हुई है।

जाता है, उसी तरह परमात्मा का दर्शन कर प्रत्यगात्मा (जीव) नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव का बन जाता है और परमानन्द का अनुभव करता हुआ भगवान् नारायण के साथ एकरस हो जाता है। इस दशा में पहुँचा जीवात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन्मुक्त साधक अन्त में यहाँ वर्णित योग की पद्धति से इस देह का त्याग कर देता है।

कुण्डलिनी योग की प्रक्रिया यहाँ दर्शन-प्रकरण में ही बता दी गई है।

क्रिया एवं चर्या

ऊपर योग के आठ अंगों का विवेचन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि नाम की समानता होते हुए भी उसके लक्षण में और उनके भेद-उपभेद के वर्णन में बहुत भेद है। आगमों में दर्शन और योग का संक्षेप में तथा क्रिया एवं चर्या पक्ष का विस्तार से वर्णन मिलता है, यह बताया जा चुका है। यही स्थिति वैखानस आगमों की भी है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना-अपना क्रियापक्ष और चर्यापक्ष है। देवालय का निर्माण, मूर्ति की कल्पना, भगवदाराधन के लिये पात्र आदि की कल्पना—इस तरह के वास्तुशास्त्र और शिल्पशास्त्र से संबद्ध विषय; तालमान, अंगुलिमान, उपादान द्रव्य, प्रतिमा-निर्माण की विधियाँ—ये सब विषय क्रियापाद से तथा नित्यार्चन, नैमित्तिकार्चन, पर्वोत्सव, प्रायश्चित्त से संवद्ध अंकुरार्पण आदि विधियाँ चर्यापाद से संबद्ध हैं। सभी आगमों में इनका विस्तार से वर्णन मिलता है। तदनुसार वैखानस आगमों में भी ये सब विषय वर्णित हैं। उनका वहीं अवलोकन करना चाहिये।

सार-संक्षेप

इस प्रकार हमने यहाँ वैष्णवागमों के अन्तर्गत वैखानस आगम का परिचय देने के प्रसंग में वेद की संहिताओं के साथ वैखानस श्रौतसूत्र आदि का तथा मुद्रित वैखानस संहिताओं का परिचय दिया है। इनमें से ज्यादातर संहिताओं का प्रकाशन तिरुमलै-तिरुपति देवस्थान से हुआ है। विभिन्न संहिताओं में लगभग साठ संहिताओं की नामावली मिलती है। इनमें सत्रह संहिताएँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। आठ संहिताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अमुद्रित ग्रन्थों में दो ग्रन्थ सम्पूर्ण तथा शेष सात आंशिक रूप में उपलब्ध हुए हैं। यहाँ वैदिक वाङ्मय के प्रति बहुत आदरभाव है। नारायण, पुरुष, सत्य, अच्युत और अनिरुद्ध के रूप में यहाँ भगवान् की आराधना की जाती है। इनमें नारायण आदिमूर्ति और पुरुष आदि चार चतुर्मूर्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये पाँच मूर्तियाँ **पंचवीर** के नाम से भी शास्त्रों में वर्णित हैं। वैखानस मत के अनुयायी हृदयस्थित पद्मकोश में प्रकाशित होने वाले, इस समस्त विश्व के आश्रयभूत, दहराकाश में

प्रज्वलित अग्निशिखा के मध्य में विराजमान, नारायण के नाम से प्रसिद्ध परमात्मा विष्णु को अक्षर ब्रह्म मानते हैं। यह ब्रह्म निष्कल और सकल स्वरूपों में विराजमान है। अमूर्त और समूर्त के भेद से इसकी दो प्रकार से उपासना की जाती है। **श्री** भगवान् नारायण की शक्ति है। यह श्री नित्या, आद्यन्तरहिता और अव्यक्तस्वरूपिणी है। विष्णु के संकल्प के अनुसार यह कार्य करती है। भक्तगण ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या की पद्धति से भगवान् की आन्तर अथवा बाह्य उपासना उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये करते हैं।

❋❋❋

पांचरात्र आगम

पांचरात्र शास्त्र की प्राचीनता

शतपथब्राह्मण (१३.३.४; १३.६.१) में पांचरात्र सत्र का उल्लेख है और छान्दोग्य उपनिषत् (७.१.३) में एकायन विद्या का। वहीं (३.१७.१-६) घोर आंगिरस द्वारा देवकी-पुत्र कृष्ण को दिये गये उपदेश में सत्य और अहिंसा का भी समावेश है, जो पांचरात्र मत के मूल सिद्धान्त हैं। एकायन विद्या का स्वरूप कैसा था? इसके विषय में कुछ बता पाना कठिन है। किन्तु विद्वानों का कहना है कि उत्पल वैष्णव के द्वारा उद्धृत पांचरात्रश्रुति अथवा पांचरात्रोपनिषत् के नाम से स्मृत शास्त्र का इस शब्द से ग्रहण करना चाहिये। एकायन विद्या अथवा एकायन वेद एक तरह से पांचरात्र संहिताओं का ही अपर नाम है।

एकायन वेद का अध्ययन करने वाले [१]औपगायन, कौशिक, शाण्डिल्य, भरद्वाज और मौंजायन नामके पाँच आचार्यों ने इस शास्त्र का प्रवर्तन किया था। काण्वशाखामहिमसंग्रह नामक ग्रन्थ के कर्ता पाण्डुरंगपुर के निवासी नागेश[२] ने कहा है कि यह शुक्लयजुर्वेद की काण्व शाखा का ही दूसरा नाम है। जयाख्यसंहिता (१.१०९) [३]औपगायन और कौशिक को प्रपत्तिशास्त्र में निपुण मानती है। इससे भी उक्त विषय की पुष्टि होती है।

---

१. "काण्वीं शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ।। शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा। इमौ च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः।।" (पृ. १५) यह जयाख्या का अधिक पाठ है। ईश्वरसंहिता में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—"पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योऽपि महामुनिः।। ···सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवौपगायनम्। मौञ्जायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयद् मुदा। ···एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।। ···मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।। सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्। दिव्यं सच्छास्त्रजातं तदुक्त्वा संकर्षणादिभिः।। प्रवर्तयामास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः।" (१.३८,४१-४३, ५०-५१)। स्पष्ट ही यहाँ कुछ नामों में भिन्नता है।

२. "इयं शुक्लयजुःशाखा प्रथमेत्यभिधीयते। मूलशाखेति चाप्युक्ता तथा चैकायनीति च।।" यह उनका वचन है। देखिये—मद्रास राजकीय ग्रन्थालय सूची, पृ. ३३००; इस मातृका की संख्या २३८९ है।

३. "काण्वीं शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ। प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ" (१.१०९) यह वहाँ का पाठ है।

[१]डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी, डॉ. आर. जी. भाण्डारकर आदि विद्वानों ने छान्दोग्योपनिषत्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पातंजल महाभाष्य (४.३.९८ एवं ५.२..७६) और [२]शिलालेख आदि के प्रमाणों से इस शास्त्र की प्राचीनता को सिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद के अन्तिम अधिकरण में पांचरात्र मत की समालोचना की गई है। भगवद्गीता पांचरात्र-संमत प्रपत्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। [३]नारायणीयोपाख्यान में पांचरात्र शास्त्र की महिमा गाई गई है, जो महाभारत के शान्तिपर्व का अन्तिम भाग है। उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका में पांचरात्रश्रुति, पांचरात्रोपनिषत्, कालपरा, चिच्छक्तिसंस्तुति, जयाख्यसंहिता, जाबालिसूत्र, ज्ञानसंबोध, नारदसंग्रह, बौधायनसंहिता, [४]मायावामनसंहिता, मायावैभवागम, लक्ष्मीसंहिता, विश्वसंहिता, विष्णुयामल, वैहायसीसंहिता, षाड्गुण्यविवेक, संकर्षणसूत्र, सात्वतसंहिता जैसे ग्रन्थ [५]उद्धृत मिलते हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर पांचरात्र शास्त्र की प्राचीनता [६]स्पष्ट हो जाती है।

---

१. क्रमशः "अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट" तथा "वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स" इन दो ग्रन्थों में यह विषय प्रतिपादित है।

२. घोसुण्डी शिलालेख तथा बेसनगर शिलालेख का विवरण देखिये—वैष्णव, शैव और अन्य मत (पृ. ३-४)।

३. नारायणीयोपाख्यान पर सर्वप्रथम डॉ. जी. ए. ग्रियर्सन ने सन् १९०८ ई. में निबन्ध लिखा था, ऐसा डॉ. जे. गोण्डा ने अपने ग्रन्थ "मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर" (पृ. ६, टि.२६) में सूचित किया है। "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ४७-५०) में प्रकाशित हमारा "महाभारत का नारायणीयोपाख्यान" शीर्षक निबन्ध भी देखिये।

४. मायावामनसंहिता को लुप्ता. उपो. (पृ. ५८) में हमने जयाख्यसंहिता के साहचर्य से पांचरात्र-संहिता माना है, किन्तु साथ में यह भी बताया है कि पांचरात्र संहिताओं की नामावली में इसका नाम नहीं है। शैव-शाक्त आगमों की नामावली में भी यह नाम नहीं मिलता। उत्पल वैष्णव (स्प. प्र., पृ. ९२) के कथन से ज्ञात होता है कि नेत्रतन्त्र के समान इस संहिता में भी विभिन्न देवों की उपासनाविधि वर्णित है। ऐसा होने पर भी नेत्रतन्त्र का समावेश शैव तन्त्रों में ही किया जाता है। मायावामनसंहिता में किस मत का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया गया है, इसका निश्चय कर पाना कठिन है। यहाँ ऊर्ध्वलिंगी बालरूपधारी विश्वरूप और दिग्वसना कर्पूरी, चन्दनी, कस्तूरी एवं कुंकुमी देवियों की उपासना के साथ अर्धलक्ष्मीयुत देव का तथा नरसिंह, वराह, वामन, कपिल आदि अवतारों का भी वर्णन मिलता है। ये विषय पाशुपत और पांचरात्र—दोनों ही आगमों से संबद्ध हैं।

५. इन सभी ग्रन्थों का परिचय लुप्ता. उपो. में अकारादि क्रम से प्राप्त किया जा सकता है।

६. पांचरात्रशास्त्र की प्राचीनता के स्थापक प्रमाणों को इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में देखा जा सकता है। देखिये—पांचरात्रागम (पृ. १२-१६) एवं डॉ. अशोककुमार कालिया के निबन्ध। इस विषय में ई. पू. द्वितीय शताब्दी के यज्ञसूरि सातकर्णि के शिलालेख की आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जनपद में उपलब्धि नया प्रमाण है।

पांचरात्र पद की प्रवृत्ति

पांचरात्र पद की [1]प्रवृत्ति कैसे हुई? इस विषय में उन-उन प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में नाना प्रकार की व्युत्पत्तियाँ देखने को मिलती हैं। [2]अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग—इन पंचविध कृत्यों से प्रतिदिन नियत समय में भगवान् की सेवा की जाती है, इसलिये इस शास्त्र का यह नाम पड़ा, ऐसा माना जा सकता है। नारायणीयोपाख्यान (१२.३३६.४६; १२.३३७.३०) में पंचविध काल एवं पंचविध यज्ञों की चर्चा मिलती है। ऊपर चर्चा आई है कि शतपथब्राह्मण (१३.६.१) में [3]पांचरात्र सत्र वर्णित है। वैदिक वाङ्मय में रात्रि शब्द दिन-रात का वाचक है। तदनुसार इस पांचरात्र सत्र का अनुष्ठान [4]पाँच दिनों तक निरन्तर चलता होगा, किन्तु आजकल तो एक ही दिन को पाँच भागों में विभक्त कर भगवान् की यह उपासना की जाती है। इस कालसंकोच के कारणों की खोज होनी चाहिये। जो कुछ भी हो, हमारा मानना है कि पांचरात्र पद की प्रवृत्ति का मुख्य कारण यही रहा होगा। पांचरात्ररक्षा के सम्पादक [5]श्री दुरैस्वामी का कहना है कि जयाख्यसंहिता (१६.९) में पंचकाल और पंचरात्र पदों का अलग-अलग उल्लेख होने से इनकी पृथक् सत्ता माननी पड़ेगी। उनका आशय यह लगता है कि पंचकालों का और पांचरात्र शास्त्र का अलग-अलग उल्लेख होने से पाँच कालों के आधार पर पांचरात्र पद की व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती, किन्तु यदि हम उस वचन का यह अर्थ करें कि पांचरात्र शास्त्र का वेत्ता एक ही दिन के विभिन्न पाँच कालों में इस शास्त्र की पद्धति से भगवान् की उपासना करता है, तो उक्त विसंगति अपने आप हट जाती है। इस स्थिति में जयाख्यसंहिता के वचन का यह अर्थ होगा कि वैष्णव भक्त पांचरात्र शास्त्र को जानता है और तदनुरूप ही दिन के विभिन्न पाँच कालों में अपने नित्य-कर्मों का आचरण भी करता है। डॉ. [6]श्रादर का कहना है कि पर,

---

१. इस प्रसंग में जयाख्यसंहिता की भूमिका (पृ. १६-२६, ५४-६७), डॉ. श्रादर (पृ. २४-२६), डॉ. कालिया (पृ. ३९-४२), डॉ. चौधरी (पृ. १६-२१) आदि के ग्रन्थों में नाना प्रकार की व्युत्पत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

२. अभिगमन आदि का विशिष्ट परिचय डॉ. चौधरी के ग्रन्थ (३२१-३४७) में विस्तार से देखा जा सकता है।

३. पांचरात्र सत्र एक अहिंसक अनुष्ठान है। शतपथब्राह्मण (१३.६.१) में इसका विशेष विवरण मिलता है। नारायणीयोपाख्यान की वसु उपरिचर की कथा से इसकी कड़ी जोड़ी जा सकती है।

४. "दिनपञ्चकपर्यन्तं शैवानां न विलोकनम्" शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.३) के इस वचन में पांचरात्र वैष्णव मत की चर्चा से भी इस कालावधि की पुष्टि होती है।

५. पांचरात्ररक्षा, संस्कृत उपोद्घात (पृ. ३९) द्रष्टव्य।

६. इण्ट्रोडक्शन. (पृ. २५-२६) द्रष्टव्य।

व्यूह, विभव आदि पाँच स्वरूपों का प्रतिपादक होने से इस शास्त्र को पांचरात्र नाम दिया गया है, किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं लगता, क्योंकि सात्वतसंहिता में परब्रह्म के पर, व्यूह और विभव नामक तीन ही स्वरूपों का वर्णन मिलता है, पाँच का नहीं।

पांचरात्र साहित्य[1]

सात्वतसंहिता

एकायन विद्या की ऊपर चर्चा हुई है। इसी एकायन विद्या का सारभूत यह सात्वत-तन्त्र (सात्वतसंहिता) है, ऐसा इसके भाष्यकार अलशिंग भट्ट का स्पष्ट निर्देश है (पृ. १,११)। इस सात्वततन्त्र को मूल (३.५) और भाष्य (पृ. ११) में ब्रह्मोपनिषत् कहा गया है। इस संहिता के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना (पृ. १) में उसके सम्पादक श्रीमान् अनन्ताचार्य का कहना है कि रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध सात्वत, पौष्कर और जयाख्या संहिताओं में से प्रथम संहिता का उपदेश भगवान् वासुदेव ने संकर्षण को दिया था। इसका उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व (६६.३९-४०) में विद्यमान [2]दो श्लोकों में मिलता है।

डॉ. [3]श्रादर इनके मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि इन वचनों की संगति अहिर्बुध्न्यसंहिता के साथ भी बैठाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र संकर्षण-संहिता भी उपलब्ध है। पांचरात्ररक्षा (पृ. ११५) में यह उद्धृत है। इस पर हमारा कहना है कि सात्वतसंहिता का उपदेश संकर्षण की प्रार्थना पर साक्षात् भगवान् चक्रपाणि ने दिया था और संकर्षण ने ही इसका लोक में प्रचार किया था, अतः इसीका यहाँ ग्रहण होना चाहिये। अहिर्बुध्न्यसंहिता का उपदेश साक्षात् भगवान् ने नहीं किया है, किन्तु यह संहिता संकर्षण से अहिर्बुध्न्य को प्राप्त हुई है। इस संहिता (५.५९) में सात्वतसंहिता स्मृत है, इस बात को स्वयं डॉ. श्रादर भी [4]स्वीकार करते हैं। सात्वत विधियों का सर्वांगपूर्ण एवं संक्षिप्त [5]विवेचन सात्वतसंहिता में ही मिलता है।

---

१. पांचरात्र साहित्य का परिचय प्रायः आधुनिक सभी ग्रन्थकारों ने दिया है। अतः यहाँ संक्षेप में कुछ नई सूचनाओं की ही चर्चा की गई है।

२. "ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः। अर्चनीयश्च सेव्यश्च कीर्तनीयश्च सर्वदा।। सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः। द्वापरस्य युगस्यान्त आदौ कृतयुगस्य च।।" ये हैं वे श्लोक।

३. इण्ट्रोडक्शन., पृ. १५-१६ द्रष्टव्य।

४. वहीं, पृ. २०

५. वेदान्तदेशिक ने सच्चरित्ररक्षा में सात्वता को सर्वसंहितासारभूता (पृ. ४३) और भगवच्छास्त्रसारभूता (पृ. ७९) कहा है।

रत्नत्रय संहिताओं में सर्वत्र पहला नाम इसी संहिता का मिलता है। इन सब कारणों से पांचरात्र आगम में इसकी प्राचीनता एवं विशिष्टता निर्विवाद रूप से मान्य है।

डॉ. श्रादर का मत एक दूसरे कारण से भी अस्वीकार्य हो जाता है। [1]उनका कहना है कि सात्वता (९.१३३) में अन्य तीन प्राचीन संहिताओं के नाम मिलते हैं, किन्तु वहाँ के पाठ से इनके मत की पुष्टि नहीं होती। वहाँ का पाठ इस प्रकार है—

य: स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभव: पारमेश्वर: ।
पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते ।।[2]

यहाँ पौष्कर, वाराह और प्राजापत्य नामक त्रिविध सर्ग की चर्चा की गई है, संहिताओं की नहीं। भाष्यकार ने इस त्रिविध सर्ग की व्याख्या श्रीमद्भागवत महापुराण का उद्धरण देते हुए की है (पृ. ११८-११९)। स्पष्ट है कि प्राचीन संहिताओं का [3]कालक्रम निर्धारित करते समय उन्होंने इन तीन संहिताओं का जो समावेश किया है, वह सही नहीं है। अत: अब तक उपलब्ध पांचरात्र संहिताओं में सात्वता को ही प्रथम स्थान देना होगा।

स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव के द्वारा उद्धृत सात्वता किसी ग्रन्थ का नाम न होकर इस संप्रदाय के अनुयायियों के लिये प्रयुक्त हुआ है, यह भी उनका[4] कहना है। उनका यह निष्कर्ष भी सही नहीं है। उत्पल वैष्णव श्रीकालपरा, श्रीपौष्करा, श्रीवैहायसी[5] इत्यादि स्थलों पर जैसे उस उस नाम की संहिताओं का स्मरण करते हैं, उसी तरह श्रीसात्वता से सात्वतसंहिता का ही ग्रहण होगा। ये सभी एकवचनान्त शब्द हैं। 'सात्वता:' पद का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ९८) में यहाँ के[6] दो श्लोक उद्धृत हैं। उनमें से पहला सात्वतसंहिता (१८.१२८) में स्वल्प पाठभेद के साथ उपलब्ध है। दूसरा श्लोक वहाँ नहीं मिलता। यह श्लोक सात्वता का ही है अथवा अन्य किसी ग्रन्थ का, इसके विषय में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। इतना स्पष्ट है कि स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने अपने ग्रन्थ में रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध [7]तीनों संहिताओं को उद्धृत किया है।

---

१. वहीं, पृ. २० देखिये। डॉ. डेनियल स्मिथ (भा. १. पृ. ५३५) आदि ने भी इसीका अनुसरण किया है।

२. सात्वतसंहिता तथा वहाँ का भाष्य भी देखिये।

३. वहीं, पृ. २०; यही गलती अन्य लेखकों ने भी दुहराई है।

४. वहीं, पृ. १८ देखिये।

५. स्पन्दप्रदीपिका, पृ. १०९, ८५, १०९ द्रष्टव्य।

६. तथा च श्रीसात्वता—"अज्ञता व्यापकत्वं च सुखदु:खादिवेदनम् । सर्वज्ञस्यात्मतत्त्वस्य कर्मचक्रावलम्बनात् ।। गतिस्त्वेषा प्रकृत्याख्या शुद्धि: प्राक्कर्मवासना। मायाऽविद्या भ्रमो मोहोऽज्ञानं मलमिति स्मृतम्।।" (पृ. ९८)

७. स्पन्दप्रदीपिका में सात्वता (पृ. ९८), पौष्करा (पृ. ८५) तथा जयाख्या (पृ. ८९,९१,११०, १२७) पर उद्धृत है।

इन संहिताओं का सात्वता, पौष्करा और जयाख्या यह [1]क्रम है। इससे भी सात्वता की ही प्राचीनता स्पष्ट होती है। "तन्त्राणि सात्वतादीनि" (१.६४) इस पारमेश्वर वचन से भी इसी की प्राथमिकता स्पष्ट होती है। इस पक्ष की पुष्टि के लिये हम यहाँ अन्य भी कुछ प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हैं। सात्वता में विभव देवताओं के नाम और ध्यान वर्णित हैं। पौष्करा (३६वाँ अ.) में इन अवतारों के स्थानों का भी समावेश किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि पौष्करा सात्वता की कमी की पूर्ति करती है। "सर्वतः पाणिपादं तत्" (१.२५) सात्वता का यह वचन जयाख्या (४.६३) में भी स्वल्प पाठभेद के साथ उपलब्ध है। इस वचन की जयाख्या (४.७६-८३) में विस्तार से व्याख्या की गई है। इसी तरह से "अकाराद्यो विसर्गान्तः" (२.१७) सात्वता का यह श्लोक जयाख्या (६.१३-१७) के साढ़े चार श्लोकों में व्याख्यात है। इस तरह से सात्वता के श्लोकों की व्याख्या करने वाली जयाख्या स्पष्ट ही उससे अर्वाचीन है। सात्वता के वचनों का विवरण देने वाले अन्य भी अनेक प्रकरण पौष्करा और जयाख्या में मिलते हैं। ऐसे स्थलों का निर्देश हमने टिप्पणियों में किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि शेष दो संहिताएँ सात्वता का उपबृंहण करती हैं।

पातंजल महाभाष्य में—"अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्" (३.३.११) इस तरह से स्मृत प्राचीन मध्यमिका नगरी आजकल राजस्थान राज्य के चित्तौड़ के पास स्थित 'घोसुण्डी' से अभिन्न है। यहाँ कभी शिलाप्राकार से वेष्टित नारायण वाटिका थी। इसे पाराशरि के पुत्र गाजायन ने वासुदेव और संकर्षण को समर्पित किया था। सात्वता (२५.३६६-३६७) में इस तरह के सप्राकार साराम स्थल को भगवदर्पित करने का फल प्रदर्शित है। ई. पूर्व के इस [2]घोसुण्डी शिलालेख से सात्वतोक्त इस विधान की प्राचीनता स्पष्ट होती है।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी सात्वता ही प्राचीनतम सिद्ध होती है। वैष्णव सम्प्रदाय में इन सभी को समान आदर प्राप्त है। ईश्वरसंहिता (१.६७) में स्थान-भेद से इनकी व्यवस्था कर दी गई है कि यादवाचल में सात्वता, श्रीरंगम् में पौष्करा और हस्तिशैल में जयाख्या की पद्धति से भगवान् की आराधना की जाती है। समयानुसार सात्वता के साथ ईश्वरसंहिता, पौष्करा के साथ पारमेश्वरसंहिता और जयाख्या के साथ पाद्मसंहिता का आदर के साथ ग्रहण हुआ। भाष्यकार अलशिंग भट्ट ईश्वरसंहिता को सात्वता की (पृ. २१,४११) और पारमेश्वरसंहिता को पौष्करा की (पृ. १५२) उपबृंहिका मानते हैं। पाद्मसंहिता के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है,

---

१., ईश्वरसंहिता (१.६४) देखिये।

२. "एपिग्राफिया इण्डिका, भा. १०, परिशिष्ट, पृ. २ पर इस शिलालेख का विवरण देखिये।

तो भी—"जयाख्येनाथ पाद्मेन तन्त्रेण सहितेन वै" (१.१११) जयाख्या के इस अधिक पाठ के प्रमाण पर पाद्मसंहिता जयाख्या की उपबृंहिका है, यह स्पष्ट हो जाता है। अलशिंग भट्ट (पृ. ७१,२५५) लक्ष्मीतन्त्र को भी सात्वता का उपबृंहक मानते हैं। वे ऊपर उद्धृत स्थल (पृ. १५२) पर पौष्करा के अनुयायियों की अहिर्बुध्न्य में निर्दिष्ट क्रम में अरुचि को बताते हैं और जितन्ता मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग (पृ. १२८) में अहिर्बुध्न्यसंहिता को प्रमाण मानकर यही सिद्ध करना चाहते हैं कि यह संहिता भी सात्वता की ही उपबृंहिका है। पारमेश्वरसंहिता पौष्करा की उपबृंहिका है, इसका निर्देश तो उस संहिता में भी अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है, किन्तु भाष्यकार पारमेश्वर को भी सात्वता की उपबृंहिका बताने से नहीं चूकते (पृ. २४,५९,६१,६९,७९,९६, ४३४)। इसका एक कारण है। [१]ईश्वर और पारमेश्वर संहिताओं के अनेक प्रकरण समान आनुपूर्वी से मिलते हैं, अत: ऐसा होना असंभव नहीं है। इसी न्याय से ईश्वरसंहिता को भी पौष्करा की उपबृंहिका मान सकते हैं। भाष्यकार ने ऐसे भी अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर और पारमेश्वर संहिता में जयाख्या में प्रतिपादित विषयों का भी समावेश किया गया है। पौष्करसंहिता में भूमिपरिग्रह का विस्तार से वर्णन मिलता है। ईश्वरसंहिता में यह विषय वहीं से लिया गया है। इस तरह के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी संहिताओं की परस्पर सापेक्षता है। "अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्" यह न्याय प्रसिद्ध है। वेद की विभिन्न शाखाओं में भी यही न्याय लागू होता है कि किसी एक शाखा में कोई विषय प्रतिपादित न हुआ हो, तो उसे अन्य शाखाओं में वर्णित पद्धति से सम्पन्न करना चाहिये। सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ. ८) में संगृहीत इस तरह के वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब संहिताओं की परस्पर सापेक्षता के होते हुए भी ये सब सात्वता का ही उपबृंहण करती हैं। स्पष्ट है कि सात्वता ही इन सबमें प्राचीनतम है।

श्रीमद्भागवत में नारदावतार के प्रसंग में यह वचन मिलता है—

तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट [२]नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ।।

---

१. ईश्वर और पारमेश्वर संहिताओं के अनेक प्रकरण परस्पर आनुपूर्वी से मिलते हैं। इन स्थलों की जानकारी हमारे संस्करण में इन दोनों संहिताओं के किये गये स्थलनिर्देश से मिल सकती है। ईश्वरसंहिता के सम्पादक इस कार्य को कर रहे हैं, यह जानकर इस कार्य को छोड़ दिया गया।

२. भागवत की भावार्थदीपिका टीका के रचयिता वंशीधर के अनुसार सभी क्रियायोग संसार के ही कारण हैं, किन्तु श्रीधर आदि अन्य व्याख्याकारों के अनुसार भागवत के इस पद्य में कर्म की भी मोक्षसाधनता वर्णित है। सात्वत. उपो. की पृ. ८ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

यहाँ सात्वततन्त्र की चर्चा मिलती है। प्राय: सभी टीकाकार सात्वततन्त्र को पांचरात्र शास्त्र का ग्रन्थ मानते हैं। यहाँ सात्वततन्त्र के नाम से सात्वतसंहिता का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इसी संहिता का उपदेश नारद ने ऋषियों को किया था। ये ऋषि प्रवृत्तिमार्ग-परायण थे। इससे भी सात्वतसंहिता का वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है।

भगवान् शिव के द्वारा नारद को उपदिष्ट सात्वततन्त्र इस संहिता से सर्वथा भिन्न ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला के ७९ वें पुष्प के रूप में वाराणसी से सन् १९३४ में हुआ है। इसमें मात्र नौ पटल हैं। पं. श्री अनन्त शास्त्री फड़के ने इसका सम्पादन किया था।

अलशिंग भट्ट

सात्वतसंहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट सात्वत-भाष्य की पुष्पिकाओं में स्वयं अपना परिचय देते हैं। तदनुसार ये यदुगिरि या यादवशैल के निवासी थे। इनके पिता का नाम योगानन्द भट्टाचार्य था। नृसिंह के नाम से भी ये प्रसिद्ध थे। इनका गोत्र मौंजायन था। यादवाचलेश भगवान् की उपासना सात्वता के अनुसार होती है, यह पहले बताया जा चुका है। यादवशैल आजकल 'मेलकोटै' के नाम मे प्रसिद्ध है। इन्होंने वहीं रहकर इस भाष्य की रचना की। भाष्य के ही एक उद्धरण (पृ. १०५) से ज्ञात होता है कि इस भाष्य की रचना करते समय वे पिता की छत्रछाया से वंचित हो गये थे।

सात्वतसंहिता के भाष्य के अतिरिक्त इन्होंने ईश्वरसंहिता पर भी सात्वतार्थप्रकाशिका नाम की व्याख्या लिखी। प्रस्तुत भाष्य में दो स्थलों (पृ. १०८, २४८) पर उन्होंने इस व्याख्या को उद्धृत किया है। अत: स्पष्ट है कि प्रस्तुत भाष्य से पहले इन्होंने इस व्याख्या की रचना की थी। वहाँ भी इन्होंने अपना परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि इनकी माता का नाम यदुगिरिनायकी अम्मण्यम्बा था। ये सरस कविताओं की रचना किया करते थे। इन्होंने वज्रमुकुटीविलासचम्पू की रचना की थी। कृष्णराज की राजसभा में ये संमानित हुए थे। इनके गुरु का नाम नारायण था और इस व्याख्या की रचना इन्होंने १७५६ शकाब्द (१८३४ ई.) में पूरी की थी। स्पष्ट है कि ये बहुत अर्वाचीन आचार्य हैं।

न्यू. कैट. (भा. १, पृ. ३००) से ज्ञात होता है कि इन्होंने १८२८ ई. में यतिराजशतक और १८३६ ई. में वज्रमुकुटीविलासचम्पू की रचना की थी। यतिराजविजयव्याख्या और सम्प्रदायदीपिका भी इनकी कृतियाँ हैं। अड्यार-सूची से ज्ञात होता है कि सात्वतामृतसार की भी रचना इन्होंने की थी। मद्रास राजकीय ग्रन्थालय की सूची में इनके पिता योगानन्द को इस ग्रन्थ का कर्ता बताया गया है। तो भी यह स्पष्ट

है कि इन्होंने ६-७ ग्रन्थों की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि सात्वतसंहिता-भाष्य इनकी अन्तिम रचना है।

भाष्यकार ने अपने ग्रन्थ में कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति नामक भगवत्प्राप्ति के चार उपायों में से प्रथम कर्मयोग के अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नामक पाँच प्रकारों के साथ पर-व्यूह-विभवात्मक त्रिविध ब्रह्म का स्वरूप भी विस्तार से समझाया है। भक्ति और प्रपत्ति का भी वहाँ आनुषंगिक विवेचन है, किन्तु प्रधानता कर्मविचार को ही दी गई है। भारतीय शास्त्रों में प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण धर्म की समान रूप से व्याख्या की गई है। इनमें पांचरात्र आगम प्रवृत्ति-लक्षण [1]क्रियामार्ग का प्रतिपादक है। "प्रवृत्तिलक्षणश्चैष धर्मो नारायणात्मकः" (३४७.८३) कहकर महाभारत का नारायणीय उपाख्यान इसी विषय की पुष्टि करता है। यह क्रियामार्ग ज्ञान और भक्ति की सहायता से प्रपत्ति में परिणत हो जाता है। इससे भोग और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है, ऐसा एकान्ती (एकायन) भागवतों का मानना है। नारायणीयोपाख्यान, भगवद्गीता, पांचरात्र संहिताओं तथा वैष्णव पुराणों में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है। प्रस्तुत भाष्यकार इसी मत का समर्थन करते हैं।

अलशिंग भट्ट ने प्रसंगवश अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा अपने भाष्य में की है। प्रथम परिच्छेद में इन्होंने विष्णुसहस्रनाम के भाष्यकार पराशर भट्ट की पद्धति से पर-व्यूह-विभवात्मक त्रिविध ब्रह्म का स्वरूप बताकर लक्ष्मीतन्त्र में निर्दिष्ट अर्चावतार का इन्हीं में समावेश किया है। द्वितीय परिच्छेद में मन्त्र का स्वरूप बताकर, षाड्गुण्य का विवेचन कर, परवासुदेव की शान्तोदित और नित्योदित नामक द्विविध अवस्थाओं का विवेचन गर्गकुलीन रामानुज के मत की समालोचना के साथ किया है। इसी तरह यहाँ शब्दब्रह्म का और जाग्रत् आदि पद-चतुष्टय का स्वरूप भी बताया गया है। छठे परिच्छेद में स्वार्थार्चन और परार्थार्चन, आराधन जपान्त है या होमान्त—इस तरह के विषयों का विवेचन सम्प्रदायप्रदीपिका, क्रियादीप, नित्यग्रन्थ आदि की सहायता से किया गया है। निवेदित-निवेदन नामक दोष का परिहार सच्चरित्ररक्षा की पद्धति से सवन्दनाभिषेक न्याय से किया गया है। इसी परिच्छेद में भाष्यकार ने विषम प्रणाम का निषेध, अनुयाग, योग आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है। अष्टम परिच्छेद में इन्होंने नारायण-मूर्ति के लक्षण यादवाचल की नारायण-मूर्त्ति में क्यों नहीं दिखाई देते? स्नपन

---

१. सात्वतसंहिता (१.७) में निवृत्तिपरायण मुनियों को प्रवृत्तिप्रधान शुद्ध क्रियामार्ग में प्रवृत्त कराने की बात कही गई है। यह क्रियामार्ग पातंजल योगसूत्र में तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान रूप माना गया है (२.१) और कहा गया है कि इससे समाधि की भावना में और क्लेशों को मिटाने में सहायता मिलती है (२.२)। अन्तर्याग की निष्पत्ति समाधि-भावना से ही संभव हो पाती है।

बारह कलशों से होगा या तेरह? इस तरह की शंकाओं का समाधान किया है। एकादशी तिथि के प्रसंग में पूर्ण शब्द का अर्थ बताया है और सरलता से समझाने के लिये चातुर्मास्य व्रत की विधि को पद्धति के रूप में स्पष्ट किया है।

नवम परिच्छेद में ३८ विभव देवताओं का स्वरूप पौष्करसंहिता, विष्वक्सेनसंहिता, तत्त्वत्रयव्याख्यान जैसे ग्रन्थों की सहायता से स्पष्ट किया गया है। भगवान् विशाखयूप ही यहाँ ३९ वें विभवावतार हैं। एकादश परिच्छेद के अन्त में पंचविध कुण्डों की निर्माणविधि को भी प्रयोगविधि के रूप में स्पष्ट समझाया है। बारहवें परिच्छेद में विभव देवताओं का ध्यान पौष्करा की सहायता से स्पष्ट किया गया है। वेदव्यास के ध्यान के प्रसंग में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार वाणियों का स्वरूप बताया है। यहाँ पंच-प्राणात्मक सत्य आदि पाँच वाहनों का तथा शक्तिसंघ का स्वरूप एवं ध्यान भी वर्णित है। सत्रहवें परिच्छेद में लय, भोग और अधिकार नामक त्रिविध याग की साकारता और निराकारता को बताकर शान्तिक, पौष्टिक आदि प्रयोगों का संग्रह किया गया है। सूतक, कारिप्रदान जैसे प्रासंगिक विषय भी यहाँ वर्णित हैं। १९वें परिच्छेद में आदित्यपुराण, सिद्धान्तचन्द्रिका, महाभारत, भारद्वाजसंहिता जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से तप्त-चक्रांकन आदि की विधियाँ वर्णित हैं। यहीं वर्णाध्वा का विवेचन करते समय वाक्चतुष्टय का स्वरूप विविध पक्षों को उपस्थापित करते हुए पुनः विस्तार से समझाया गया है। २०वें परिच्छेद में सात्वता और जयाख्या के प्रमाण से इस पक्ष पर अच्छा विचार किया गया है कि अभिषेक आचार्य का ही होता है या समयी, पुत्रक, साधक जैसे दीक्षा-प्राप्त व्यक्तियों का भी। २१वें परिच्छेद में प्रातः शब्द के मुख्य अर्थ पर विचार किया गया है।

इस तरह के विशिष्ट विषयों पर विचार करते समय विद्वान् भाष्यकार ने अनेक संहिताओं के समानार्थक और उपबृंहक वचनों को उद्धृत किया है। इससे इनके पांचरात्र आगम के तलस्पर्शी ज्ञान की जानकारी मिलती है। पांचरात्र संहिताओं के प्राचीन भाष्य या व्याख्यान उपलब्ध नहीं होते। भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने पारमेश्वर-व्याख्यान को छोड़कर अन्य किसी व्याख्यान या भाष्य का उल्लेख भी नहीं किया है। पारमेश्वर-व्याख्यान की ये अनेक स्थलों पर समालोचना करते हैं। भाष्यकार ने अपने ग्रन्थ में अनेक पांचरात्र संहिताओं के साथ रामानुज, वेदान्तदेशिक जैसे श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों के ग्रन्थों को एवं बकुलाभरण (शठकोप) जैसे वैष्णव भक्तों के उपदेशों को भी मान्यता दी है। लगभग ९० ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचनों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करने वाले इस आचार्य के पांचरात्र शास्त्र एवं श्रीवैष्णव दर्शन के विशद ज्ञान की प्रतीति होती है।

सात्वतभाष्य में उद्धृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार

सात्वतसंहिता के अलशिंग भट्ट कृत भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय हमने इस ग्रन्थ के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ११-१८) में दिया है। इसका प्रधान आधार डॉ. सत्यव्रत सिंह का वाराणसी से सन् १९५८ में प्रकाशित "वेदान्तदेशिक ए स्टडी" रहा है। यहाँ वेदान्तदेशिक द्वारा उद्धृत पांचरात्र संहिताओं एवं श्रीवैष्णव दर्शन के विशिष्ट आचार्यों का प्रामाणिक परिचय दिया गया है। हम यहाँ उनमें से कुछ ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की सूचना दे रहे हैं।

रंगराजस्तव और वरदराजस्तव के व्याख्याता गर्गकुलीन रामानुज श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य से भिन्न हैं। रंगराजस्तव पराशर भट्ट की और वरदराजस्तव श्रीवत्सांक मिश्र की कृति है। रंगराजस्तव की वेंकटाचार्यशिष्य रामानुज-कृत और वरदराजस्तव की रामानुज-कृत व्याख्याओं की मातृकाएँ उपलब्ध हैं। अलशिंग भट्ट के द्वारा उद्धृत व्याख्यान ये ही हो सकते हैं। जैमिनि के नाम से यहाँ स्मृतिकार उद्धृत हैं, मीमांसाशास्त्र के कर्ता जैमिनि नहीं। संभवतः इस नाम की कोई स्मृति मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु यह अनेक ग्रन्थों में उद्धृत अवश्य है। निगमान्तदेशिक अथवा वेदान्ताचार्य पद से वेदान्तदेशिक अभिप्रेत हैं। पराशर पद से विष्णुपुराण के प्रवक्ता पराशर और पराशरभट्टारक पद से विष्णुसहस्रनामभाष्य, गुणरत्नकोश आदि के कर्ता अभिप्रेत हैं।

तमिल भाषा में निबद्ध सहस्रगीति नामक दिव्यप्रबन्ध के रचयिता **शठकोप** का ही दूसरा नाम **बकुलाभरण** है। **परांकुश मुनि** अथवा **नम्मालवार** के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत में तमिल भाषा के माध्यम से भगवान् नारायण की स्तुति के गायक वैष्णव भक्त **आलवार** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या १२ है। ये भारतवर्ष में भक्ति-मार्ग के प्रथम प्रवक्ता माने जाते हैं। इन सब भक्तों की तमिलभाषा में निबद्ध स्तुतियों का चार हजार गाथाओं में संग्रह किया गया है और आज वह दिव्यप्रबन्ध या तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध है। प्राकृत भाषा में निबद्ध पद्यों के लिये गाथा शब्द प्रयुक्त होता है। तमिल भाषा को भी उसी वर्ग में मान कर तमिल भाषा के पद्यों को भी यही नाम दिया गया है। इस तमिलवेद को दक्षिण भारत में वेदों के समान ही मान्यता प्राप्त है। इनमें से सहस्रगीति के प्रवक्ता शठकोप मुनि की स्थिति आठवीं-नवीं [1]शती में मानी जाती है।

भाष्यकार अथवा श्रीभाष्यकार के नाम से रामानुजाचार्य गृहीत हैं। श्रीभाष्य और नित्यग्रन्थ यहाँ विशेष सम्मान के साथ उद्धृत हैं। नित्यग्रन्थ को भी यहाँ (पृ. १८२)

---

१. डॉ. एस. एन. दासगुप्त का हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी. भा. ३, पृ. ६५ देखिये।

भाष्यकार वचन कहा गया है। यहाँ (पृ. २०९) उद्धृत प्रयोगपद्धतिरत्नावली सच्चरित्ररक्षा (पृ. ११७) के अनुसार भोजराज की कृति है। पांचरात्ररक्षा (पृ. ५,५१,१३०) में भी यह ग्रन्थ स्मृत है। वहाँ का तृतीय उद्धरण बहुत लम्बा है (पृ. १३०-१३४)। ये भोजराज शैव ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश के कर्ता भोजदेव से भिन्न हैं या अभिन्न, इसकी परीक्षा अपेक्षित है। पांचरात्र की नाना संहिताओं की सहायता से भोजराज ने यह ग्रन्थ तैयार किया था। लोकाचार्य-कृत तत्त्वत्रय के व्याख्याता रम्यजामातृ मुनि रामानुज वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य हैं। डॉ. एस. एन. [1]दासगुप्त ने इनका समय ई. १३७०-१४४३ निर्धारित किया है। वहीं इनका परिचय भी देखा जा सकता है। नित्यार्चनप्रकरण, नित्यार्चनकारिका अथवा आह्निककारिका रामानुजाचार्य के शिष्य वंगिवंशेश्वर की रचना है। पांचरात्ररक्षा के अनुसार (पृ. ५२) रंगनारायणाचार्य भी इनका नाम था। तदनुसार १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में इनकी स्थिति मानी जायगी। पांचरात्ररक्षा (पृ. १५३) में स्मृत नारायण मुनि [2]वंगिवंशेश्वर के शिष्य थे। ये पराशर भट्ट का भी अनुसरण करते हैं।

अनिरुद्धसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, ईश्वरसंहिता(तन्त्र), कपिंजलसंहिता, जयाख्यसंहिता, पाद्मसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, पौष्करसंहिता, भारद्वाजसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र, सात्वतसंहिता—ये सब पांचरात्र संहिताएँ अब विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हो चुकी हैं और विभिन्न ग्रन्थकारों ने इनका परिचय भी दिया है। पांचरात्र आगमों के अनुशीलन में अपने को समर्पित कर देने वाले डॉ. डेनियल स्मिथ ने अपने ग्रन्थों में मुद्रित संहिताओं अथवा उनके हस्तलेखों का विवरण दिया है। इस विषय के अन्य विद्वानों ने भी इन ग्रन्थों का परिचय देने का प्रयास किया है। प्रधान रूप में शाक्त तन्त्रों का परिचय देने वाले ग्रन्थों में भी इस तरह की वैष्णव संहिताओं के अतिरिक्त शैव आगमों का भी परिचय देखने को मिल जाता है। जैसे कि डॉ. एन. एन. भट्टाचार्य के ग्रन्थ में अहिर्बुध्न्यसंहिता (पृ. ४६-४७) और लक्ष्मीतन्त्र (पृ. ४७-४८) का और डॉ. एस. सी. बनर्जी के ग्रन्थ में अहिर्बुध्न्यसंहिता (पृ. ३७८-३८६) का परिचय दिया गया है।

आचार्यहृदय नामक ग्रन्थ को वरवरमुनि (रम्यजामातृ मुनि) ने अपने तत्त्वत्रयव्याख्यान में उद्धृत किया है। [3]डॉ. एस. एन. दासगुप्त का इनके विषय में कहना है कि आचार्यहृदय के कर्ता वादिकेसरी ज्येष्ठ सौम्यजामातृ मुनि हैं। ये पिल्लई लोकाचार्य के भाई थे। आदित्यपुराण के विषय में [4]डॉ. आर. सी. हाजरा ने विचार किया है।

१. वहीं, भा. ३, पृ. १३७-१३८ देखिये।

२. वंगिवंशेश्वर आदि का परिचय वेदान्तदेशिक. (पृ. १३५) में देखिये।

३. डॉ. एस. एन. दासगुप्त, भा. ३, पृ. १३८ देखिये।

४. स्टडीज इन उपपुराण्स्, पृष्ठांकित स्थल देखिये।

आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, पूना से प्रकाशित सौरपुराण से यह भिन्न है या अभिन्न, इसकी परीक्षा अपेक्षित है। मत्स्यपुराण (५३.५९-६३) में नरसिंह, नन्दी, साम्ब और आदित्य नामक उपपुराण उल्लिखित हैं। इससे आदित्यपुराण की प्राचीनता स्पष्ट होती है। आगमप्रामाण्य (पृ. ९९) में यामुनाचार्य ने इसको उद्धृत किया है। इसी तरह से विष्णुसहस्रनामभाष्य[1] में विष्णु पद का निर्वचन करते समय भट्ट पराशर ने भी इसका प्रमाण दिया है।

नित्यार्चनविधि का प्रदर्शक क्रियादीप नामक छोटा सा ग्रन्थ पराशर भट्ट की कृति है। अन्य नित्य-ग्रन्थों के साथ मंगलोर से तेलुगु लिपि में सन् १८९७ में इसका [2]प्रकाशन हो चुका है। गुणरत्नकोश[3] भी पराशर भट्ट का ही [3]प्रकाशित ग्रन्थ है। सूचियों में इसकी व्याख्या का भी उल्लेख मिलता है। पांचरात्ररक्षा (पृ. १११) से ज्ञात होता है कि ये पराशर श्रीवत्सांक मिश्र के शिष्य थे। कूरेश (श्रीवत्सांक मिश्र) पराशरभट्ट के पिता थे, ऐसा परम्परा से ज्ञात होता है। इस विषय पर डॉ. [4]सत्यव्रत सिंह ने विस्तार से प्रकाश डाला है। चन्द्रिका सिद्धान्तचन्द्रिका से अभिन्न हो सकती है। ''दशनिर्णये चन्द्रिकायाम्'' (पृ. १६६) इस भाष्योक्ति से दशनिर्णय चन्द्रिका का एक प्रकरण हो सकता है। न्यू. कैट. से हारीत गोत्र के रंगनाथसुत वेंकटनाथ वैदिक सार्वभौम का दशनिर्णय विवृत है। नित्यव्याख्यान वेदान्तदेशिक-कृत पांचरात्ररक्षा के तृतीय अधिकार की प्रचलित संज्ञा है, किन्तु वहाँ भाष्य में प्रदर्शित त्रिविध प्राणायाम का क्रम उपलब्ध नहीं है, अतः प्रस्तुत नित्यव्याख्यान उससे भिन्न होना ही चाहिये। पारमेश्वरप्रयोग के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। पारमेश्वरव्याख्यान (विवृति) में नृसिंह के पुत्र श्रीनिवास ने इन दूषणों का परिहार कर नृसिंह यज्वा के मत का समर्थन किया है। इन दोनों ग्रन्थों की मातृकाएँ उपलब्ध हैं।

भाष्यकार ने ईश्वर और पारमेश्वर संहिताओं के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अद्भुत समानता है। प्रश्न उठता है कि किस संहिता ने किससे लिया? पारमेश्वरसंहिता के एक उद्धरण से ज्ञात होता है कि ईश्वरसंहिता यहाँ उद्धृत है। यहाँ दिव्य, मुनिभाषित और पौरुष संहिताओं के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—''सात्वत, पौष्कर, जयाख्या आदि दिव्य शास्त्र हैं। ईश्वरसंहिता, भरद्वाजसंहिता, सौमन्तवी, पारमेश्वर, वैहायसीसंहिता,

---

१. बम्बई, वेंकटेश्वर प्रेस से संवत् १९५० में प्रकाशित ग्रन्थ में ६६३ संख्या के विष्णु पद का निर्वचन (पृ. ५७६) करते समय आदित्यपुराण का यह वचन उद्धृत है।

२. नूतन बृहत्सूची, भा. ५, पृ. १३४ देखिये।

३. वेदान्तदेशिक., पृ. १२० देखिये।

४. वहीं, पृ. १२०.

चित्रशिखण्डिज शास्त्र, जयोत्तर आदि सात्त्विक संहिताएं मुनियों के द्वारा उपदिष्ट हैं। सनत्कुमार, पद्मोद्भव, सत्य, तेजोद्रविण, मायावैभव आदि राजस तन्त्र कहलाते हैं। पंचप्रश्न, शुकप्रश्न, तत्त्वसागरसंहिता इत्यादि संहिताएँ तामस हैं। ये राजस और तामस संहिताएँ पौरुष मानी गई हैं" (१०.३७६-३८२)। यहाँ हम देखते हैं कि मुनिभाषित सात्त्विक संहिताओं में सर्वप्रथम ईश्वरसंहिता का नाम है। इससे पारमेश्वर से पहले ईश्वरसंहिता की स्थिति ज्ञात होती है। आजकल मुद्रित रूप में उपलब्ध ईश्वरसंहिता अर्वाचीन है, ऐसा जयाख्यसंहिता के संपादक श्रीकृष्णामाचार्य अपनी संस्कृत प्रस्तावना (पृ.४९) में कहते हैं। यह हो सकता है कि ईश्वरसंहिता का वर्तमान स्वरूप यादवप्रकाश और नारायणाचार्य के समक्ष नहीं होगा और ईश्वर-पारमेश्वर में प्रदर्शित ब्रह्मसूक्त और महोपनिषत् का स्वरूप पश्चात् प्रचलित हुआ होगा। "सहस्रशीर्षम्" इत्यादि १९ मन्त्रों वाले ब्रह्मसूक्त का जो स्वरूप ईश्वर-पारमेश्वर में मिलता है, उसके ११ मन्त्र महानारायणोपनिषत् के ११वें खण्ड में मिलते हैं। उक्त दोनों प्रकार की महोपनिषत् में ये नहीं मिलते। "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादि आठ मन्त्र मुद्रित उपनिषत्संग्रहों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते।

श्रीमद्भागवत की मुनिभावप्रकाशिका व्याख्या का विवरण कहीं नहीं मिलता, अतः इसके लेखक के और काल आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता। विष्वक्सेनसंहिता अब मुद्रित हो चुकी है, किन्तु इसमें तत्त्वत्रय की व्याख्या में उद्धृत विष्वक्सेनसंहिता के वचन उपलब्ध नहीं होते, अतः यह उससे भिन्न है, ऐसा उसके सम्पादक का भी कहना है। यहाँ उद्धृत समाराधन-ग्रन्थ किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का नाम न होकर सात्वतसंहिता के १७वें परिच्छेद का सूचक है। "भवदुक्तसम्प्रदायप्रदीपिकायाम्" (पृ. १०८) भाष्य के इस वचन से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अलशिंगभट्ट की कृति है। न्यू. (भा. १., पृ. ३००) का भी यही कहना है। सात्वतामृत भाष्यकार के पिता योगानन्द की कृति मानी जाती है। सात्वतामृतसार को कहीं योगानन्द का और अन्यत्र अलशिंगभट्ट का ग्रन्थ माना गया है। सिद्धान्तचन्द्रिका और चन्द्रिका संभवतः एक ही ग्रन्थ के नाम हैं। भाष्यकार दो स्थलों पर (पृ. ७४ एवं ३८३) इसका आदर के साथ स्मरण करते हैं और अन्य दो स्थलों पर (पृ. ३८५ एवं ४०५) इसका खण्डन करते हैं। संभवतः इस नाम के दो ग्रन्थ हों। इनमें तप्तमुद्रा का समर्थक ग्रन्थ पांचरात्र मत का और वैखानस आगम में प्रदर्शित विधि से दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति को वैष्णव (पृ. ३८६) बताने वाली सिद्धान्तचन्द्रिका वैखानस सम्प्रदाय की हो सकती है। मद्रास राजकीय ग्रन्थसूची में (पृ. ८९१) वेदान्ताचार्य-कृत सिद्धान्तचन्द्रिका विवृत है। वैखानस-महिममंजरी की सुन्दरराज भट्टाचार्य कृत चन्द्रिका टीका का उल्लेख मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों में भाष्यकार द्वारा सिद्धान्तचन्द्रिका के नाम से उद्धृत विषयों की तुलना अपेक्षित है।

ब्रह्मसूक्त एवं महोपनिषत्

ब्रह्मसूक्त और महोपनिषत् के विषय में वेदान्तदेशिक के समय से ही विवाद चला आ रहा है। वेदान्तदेशिक ने सच्चरित्ररक्षा में बताया है—"यहाँ भी ब्रह्मसूक्त और परमात्मसूक्त से महोपनिषत् में पठित १९ मन्त्रों वाला ब्रह्मसूक्त ही परिगृहीत है।...महोपनिषत् किसी प्राचीन ग्रन्थ में उद्धृत नहीं है, इस अपवाद का समाधान इससे हो जाता है। भाष्यकार आदि ने तो अनेकों उपनिषदों को उद्धृत नहीं किया है। केवल रामानुज मुनि ने ही नहीं, उनके परमगुरु यामुनाचार्य ने भी पुरुषनिर्णय में इसको उद्धृत किया है। एकायन सिद्धान्त में निष्ठा रखने वाले आचार्यों में ही नहीं, किन्तु उनके विपरीत सन्मात्र ब्रह्म के भेदाभेदवाद के निष्णात विद्वान् यादवप्रकाश ने भी भगवद्गीता के आठवें अध्याय के भाष्य में तथा उन्हीं के मत के अनुयायी नारायणाचार्य ने तत्त्वनिर्णय के श्रुतितात्पर्याधिकार में विस्तार पूर्वक श्रुतियों और उपनिषदों का उदाहरण देते समय महोपनिषत् आदि के "एक एव नारायण:" इत्यादि चार मन्त्रों का उदाहरण देकर बताया है ....इत्यादि अनेक पुराणों के द्वारा भी यह विषय उपबृंहित हुआ है। खिल भाग को अविश्वसनीय मानने वालों का इससे समाधान हो जाना चाहिये" (पृ. १४-१६)। भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने भी कहा है—"एको ह नारायण:" वहाँ से लेकर "य इमां महोपनिषदम्" यहाँ तक के तेईस मन्त्रों का महोपनिषत् है। इसी तरह से "सहस्रशीर्षम्" यहाँ से लेकर "य इमां महोपनिषदम्" यहाँ तक १९ मन्त्रों का ब्रह्मसूक्त है।" (पृ. ७४)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महोपनिषत् में तेईस मन्त्र हैं और इसी के अन्तिम १९ मन्त्र ब्रह्मसूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

यहाँ भाष्यकार पुन: शंका उठाकर उसका समाधान इस प्रकार देते हैं—"प्रश्न उठता है कि महोपनिषत् के कोशों में "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादि मन्त्र नहीं मिलते, तब उनका महोपनिषत् में समावेश कैसे किया जा सकता है? इस आशंका का समाधान तप्तमुद्रा का समर्थन करने वाली सिद्धान्तचन्द्रिका में किया गया है।....महोपनिषत् के कोशों में इस मन्त्र के न होने से इसको श्रुति कैसे कहा जा सकता है? यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचीन कोशों में यह उपलब्ध है। आधुनिक कोशों में इसकी अनुपलब्धि का कारण लेखकों का प्रमाद है। केवल एक ही मन्त्र वहाँ अनुपलब्ध हो, ऐसी बात नहीं है। वहाँ तो "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादि आठ ऋचाओं वाला ब्रह्मसूक्त भी उपलब्ध नहीं है। ब्रह्मसूक्त में तो यह मन्त्र पढ़ा जाता है। कहीं न मिलने मात्र से ब्रह्मसूक्त की श्रुतिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भगवच्छास्त्रों में अनेक स्थलों पर ब्रह्मसूक्त को उदाहृत किया गया है। पुन: एक नया प्रश्न उठता है कि अभी आपने आठ ऋचाओं वाले ब्रह्मसूक्त की अनुपलब्धि की बात कही है। इसके अनुसार "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादि आठ ऋचाओं वाले ब्रह्मसूक्त की ही सत्ता स्पष्ट होती है,

तब आपने "सहस्रशीर्षम्" इत्यादि १९ मन्त्रों वाले ब्रह्मसूक्त की चर्चा कैसे की? सच्चरित्ररक्षा का अनुसरण करते हुए हमने यह कहा है" (पृ. ७४-७५)।

आजकल के [1]उपनिषत्-संग्रहों में दो तरह की महोपनिषत् उपलब्ध है—प्रथम छ: अध्याय वाली और दूसरी चार कण्डिका वाली। प्रथम का पहला अध्याय और दूसरी उपनिषत् सम्पूर्ण प्राय: एक सरीखी है। यहाँ की दूसरी उपनिषत् को ही वेदान्तदेशिक ने उद्धृत किया होगा। वहीं "एक एव नारायण:" इत्यादि चार मन्त्र उपलब्ध हैं। इस तरह से यादवप्रकाश और नारायणाचार्य द्वारा उद्धृत महोपनिषत् यही होनी चाहिये। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि चार मन्त्रों के उदाहरण से २३ मन्त्रों वाली महोपनिषत् का ग्रहण कैसे संभव होगा? खिल मन्त्रों की प्रामाणिकता इससे अवश्य सिद्ध हो जाती है। इसे सभी कोई स्वीकार भी करते हैं। इस तरह से यह मानना पड़ेगा कि यादवप्रकाश और नारायणाचार्य के समय में चार कण्डिका वाली महोपनिषत् ही थी, जो आज भी उसी रूप में उपलब्ध है। इसके बाद महोपनिषत् के चार मन्त्रों को, महानारायणोपनिषत् के ग्यारह मन्त्रों को और "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादि आठ ऋचाओं वाले नूतन ब्रह्मसूक्त को मिलाकर तेईस मन्त्रों वाली महोपनिषत् का स्वरूप बना, ऐसा कहा जा सकता है। महोपनिषत् के प्रथम चार मन्त्रों को हटा देने पर शेष १९ मन्त्रों वाले ब्रह्मसूक्त की भी सत्ता स्वीकारी जा सकती है।

कुछ आचार्यों के मत में ब्रह्मसूक्त में आठ ही मन्त्र हैं। वेदान्तदेशिक का अनुसरण कर अलशिंग भट्ट 'सहस्रशीर्षम्' इत्यादि १९ मन्त्रों वाले ब्रह्मसूक्त को और २३ मन्त्रों वाली महोपनिषत् को मान्यता देते हैं। महोपनिषत् और ब्रह्मसूक्त में विद्यमान इन तेईस मन्त्रों के प्रतीकों को यहीं (पृ. ७२-७४) भाष्य में संगृहीत ईश्वर-पारमेश्वर संहिताओं के समान वचनों में देखा जा सकता है। इन दोनों संहिताओं में समान आनुपूर्वी वाले अनेक प्रकरण मिलते हैं। उनकी सूचना ऊपर १४वीं टिप्पणी में दी जा चुकी है।

हयशीर्ष पंचरात्र

यह संहिता प्रतिष्ठा (आदि), संकर्षण, लिंग और सौर नामक चार काण्डों में विभक्त है। हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड का प्रथम भाग (१-१४ पटल) सन् १९५२ में तथा दूसरा भाग (१५-४४ पटल) सन् १९५६ में वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगलादेश से प्रकाशित हुआ था। अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय इस

---

१. उपनिषत्संग्रह के ४२७-४५३ पृष्ठों में प्रथम तथा ६४९-६५० पृष्ठों में द्वितीय महोपनिषत् उपलब्ध है। द्रष्टव्य—मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९७०, प्रथम संस्करण।

हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड से आनुपूर्वी से मिलते हैं। अग्निपुराण के इन अध्यायों के वक्ता हयग्रीव भगवान् हैं। इस प्रकरण का प्रारंभ करते समय अग्निपुराण में कहा गया है—''हयशीर्षः प्रतिष्ठार्थं देवानां ब्रह्मणेऽब्रवीत्'' (३८.५१)। हयशीर्ष पंचरात्र का उपदेश भगवान् हयशीर्ष ने ब्रह्मा को दिया है। अग्निपुराण के ३९वें अध्याय के प्रारंभ में दिये गये २५ पांचरात्र तन्त्रों के नाम भी वे ही हैं, जो हयशीर्ष पंचरात्र के द्वितीय पटल के प्रारंभ में पठित हैं। यहाँ भागवत संहिताओं और सामान्य संहिताओं के भी नाम पठित हैं। अग्निपुराण में उनको छोड़ दिया गया है। हयशीर्ष पंचरात्र, नारद पंचरात्र, ब्रह्मसंहिता जैसी संहिताओं का उत्तरभारत से, विशेष कर बंगाल और उड़ीसा में फैले वैष्णव सम्प्रदायों से आन्तर संबन्ध माना जाता है।

वामननाथ

लुप्ता. में इनके वचन संगृहीत हैं। अद्वयसम्पत्ति, अद्वयसम्पत्तिवार्तिक और द्वयसम्पत्ति के नाम से इनके एक ही ग्रन्थ का बोध होता है। हमारी दृष्टि में इस ग्रन्थ का नाम अद्वयसम्पत्तिवार्तिक होना चाहिये, क्योंकि अद्वय प्रक्रिया का यहाँ प्रतिपादन किया गया है। विज्ञानभैरव और सिद्धादिष्ट सिद्धान्तसंग्रह का यहाँ उल्लेख मिलता है। सिद्धादिष्ट सिद्धान्तसंग्रह के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। तान्त्रिक साहित्य (पृ. ७०१) के अनुसार पुरश्चर्यार्णव में कोई सिद्धान्तसंग्रह उद्धृत है। अद्वयसम्पत्तिवार्तिक क्रम अथवा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का ग्रन्थ होना चाहिये। सूचना मिलती है कि हर्षदत्त के पुत्र ह्रस्वनाथ ने इस ग्रन्थ की रचना की। ह्रस्वनाथ ही वामननाथ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वामन, वामनक, वामननाथ, वामनदत्त, ह्रस्वनाथ—ये सभी नाम किसी एक ही व्यक्ति के सूचक हैं। संवित्प्रकाश के अनेक वचन उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत हैं। यह भी इन्हीं का ग्रन्थ है। यह अब प्रकाशित हो चुका है। यहां की प्रस्तावना से ऊपर की बातों की पुष्टि होती है।

डॉ. रस्तोगी (पृ. १७६-१८३) दो ह्रस्वनाथों की स्थिति मानते हैं और उनमें से प्रथम का समय (ई. १०२५-१०७५) भी निर्धारित करते हैं। हमारी समझ में ह्रस्वनाथ एक ही हैं और इनकी स्थिति अभिनवगुप्त एवं उत्पल वैष्णव से पहले माननी होगी, क्योंकि इन दोनों ही आचार्यों ने संवित्प्रकाश को उद्धृत किया है। संवित्प्रकाश के अतिरिक्त इनके सुबोधमंजरी, स्वबोधोदयमंजरी और बोधविलास नामक ग्रन्थों की मातृकाएँ उपलब्ध हैं। इन सबकी परीक्षा अपेक्षित है। डॉ. रस्तोगी पृ. १८२ की टिप्पणी में बोधविलास और अद्वयसम्पत्ति के शिवोपाध्याय के द्वारा उद्धृत वचनों की तुलना कर कहते हैं कि ये दोनों एक ही ग्रन्थ के नाम हैं। बोधविलास एक छोटा सा ग्रन्थ है। अद्वयसम्पत्ति के साथ वार्तिक शब्द भी जुड़ा हुआ है। तदनुसार यह कोई

बड़ा ग्रन्थ होना चाहिये। इस विषय पर अभी पर्याप्त विचार अपेक्षित है। इतना अवश्य है कि वैष्णव परमार्थसार के समान संवित्प्रकाश भी अद्वयवादी वैष्णव मत का प्रतिनिधित्व करता है और अद्वयसम्पत्तिवार्त्तिक का विषय भिन्न है। वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वानों ने विभिन्न दर्शनों पर ग्रन्थ लिखे हैं और दृढ़ता के साथ उनका पक्ष रखा है। वही स्थिति यहां भी मानी जा सकती है।

पांचरात्र संहिताओं में [1]पंचरत्न, नवरत्न आदि का विभाग भी देखने को मिलता है। इनमें प्रमुख परमसंहिता है। श्रीभाष्यकार रामानुज ने अपने भाष्य (२-२-४२) में इसका स्मरण आदरपूर्वक किया है। यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य और वेदान्तदेशिक जैसे आचार्यों के द्वारा उद्धृत एवं उन-उन पांचरात्र संहिताओं में चर्चित लगभग [2]तीन सौ संहिताओं का परिचय पूरे परिश्रम के साथ भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तार से दिया है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.८३-८५) में सुरेन्द्रसंहिता, षट्शाम्भव, गोपाल पांचरात्र, षडन्वयमत, गोपीपरिशिष्ट, मोहशक्तीश्वर, षट्शाम्भवरहस्य जैसे नाम पांचरात्र प्रकरण में मिलते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण (४.१३१.२३-२६) में वसिष्ठ, नारदीय, कापिल, गौतमीय और सनत्कुमारीय नामक पाँच पांचरात्रों के तथा ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, गौतम और कुमार नाम की पाँच संहिताओं के नाम मिलते हैं। इधर पांचरात्र संहिताओं के नये हस्तलेख भी उपलब्ध हुए हैं। इन सबके आधार पर पांचरात्र संहिताओं की नये ढंग से एक विस्तृत सूची तैयार की जा सकती है। यह एक आयाससाध्य कार्य है। अब हम इसमें अपने को असमर्थ पा रहे हैं। अत: उनकी यहाँ चर्चा न कर अलशिंग भट्ट के भाष्य के साथ सात्वतसंहिता के सम्पादन के प्रसंग में जो जानकारी हमें मिली है, उस पर तथा तदाधारित पांचरात्र दर्शन पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

१. "संस्कृत साहित्य का बृहत् इतिहास" नामक ग्रन्थ के तन्त्रागम खण्ड में प्रकाशित डॉ. अशोककुमार कालिया का "पांचरात्र परम्परा और साहित्य" शीर्षक निबन्ध (पृ. ९९-१००) देखिये। यहाँ विभिन्न मतों की समीक्षा भी की गई है, किन्तु लक्ष्मीतन्त्र के अपने अध्ययन (पृ. ४३-४४) में वे भी गतानुगतिक हैं।

२. हयशीर्ष पंचरात्र, अग्निपुराण, कपिंजलसंहिता, विष्णुतन्त्र और पाद्मतन्त्र में संकलित २१५ संहिताओं की नामावली डॉ. श्रादर ने अपने इंट्रोडक्शन (पृ. ६-१२) में दी है। मार्कण्डेय और भारद्वाजसंहिता में संकलित नामावली को भी लेकर लक्ष्मीतन्त्र की भूमिका (पृ. १०-१३) में दूसरी नामावली दी गई है। अनिरुद्धसंहिता की भूमिका (पृ. ३) में सूचना दी गई है कि अब तक २७५ पांचरात्र संहिताओं के नाम उपलब्ध हो चुके हैं। पांचरात्रागम (पृ. ३) में बताया गया है कि आसुरी श्रीनिवास अय्यंगार के वैयक्तिक संकलन में पूर्ण अथवा अपूर्ण २४४ पांचरात्र संहिताएँ उपलब्ध हैं।

पांचरात्रीय दर्शन

जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता और लक्ष्मीतन्त्र के प्रारंभ में पांचरात्र-दर्शन व्याख्यात है। पाद्मसंहिता(तन्त्र) में तो स्वतन्त्र रूप से ज्ञानपाद ही उपलब्ध है। इनमें से [१]जयाख्यसंहिता और अहिर्बुध्न्यसंहिता में विवेचित दर्शन का सामान्य परिचय डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त रचित "भारतीय दर्शन का इतिहास" नामक ग्रन्थ के तृतीय भाग (पृ. १२-५७) में और अहिर्बुध्न्यसंहिता में वर्णित दर्शन का विशद विवेचन डॉ. श्रादर द्वारा रचित उसी ग्रन्थ के उपोद्घात (पृ. २७-९३) में देखा जा सकता है। लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित दर्शन का विशद परिचय डॉ. अशोककुमार कालिया के ग्रन्थ "लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन" (पृ. ६१-१७८) में देखना चाहिये। पाद्मसंहिता आदि में वर्णित दर्शन का स्वरूप डॉ. राघवप्रसाद चौधरी के ग्रन्थ "पांचरात्रागम" (पृ. ३७-६२) में बताया गया है। सात्वतसंहिता में दर्शन की प्रक्रिया से संबद्ध स्थल पूरे ग्रन्थ में फैले हुए हैं। इस सामग्री को संकलित कर उसके विशिष्ट अंशों को उस ग्रन्थ के उपोद्घात (पृ. १८-४३) में एवं हमारे द्वारा निबद्ध **आगममीमांसा** (पृ. १२-२२) में प्रस्तुत किया गया है। इस पूरी सामग्री के आधार पर यहाँ उसके विशिष्ट अंशों पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

त्रिविध एवं पंचविध ब्रह्म

सात्वतसंहिता (१.२३) में बताया गया है कि जो व्यक्ति शाश्वत परम ब्रह्म के त्रिविध स्वरूपों की उपासना करते हैं, उनसे रागात्मक मनोवृत्ति दूर ही रहती है। इस तरह से परब्रह्म की त्रिविध सत्ता को बताकर वहीं (१.२५-२७) उनका लक्षण भी बताया गया है कि भगवान् का पर-स्वरूप छः गुणों से बना हुआ है। वह प्रज्वलित अग्नि के समान तेजोमय है। सर्वत्र पाणि-पाद एवं आँख-सिर आदि से सुशोभित है। इस प्रभु का यह पर-स्वरूप सबका आश्रय-स्थल है। यह पर-स्वरूप ही अपने अन्य तीन स्वरूपों के साथ चतुर्व्यूह के रूप में भासित होने लगता है। यह भेद ज्ञान आदि छः गुणों के तारतम्य के कारण होता है। यह भक्तों को मोक्षप्रदान करने में समर्थ है। इस तरह से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्धा विभक्त भगवान् के द्वितीय व्यूह रूप का परिचय देने के बाद अन्त में विभव नामक तृतीय रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गुणों की अनुवृत्ति के आधार पर नाना रूपों में प्रकट होने वाला भगवान् का यह वैभव स्वरूप उपासकों को भोग और मोक्ष प्रदान करता है। इस तरह से सात्वता में त्रिविध ब्रह्म निरूपित है।

---

१. जयाख्यसंहिता की भूमिका में भी जयाख्या का दर्शन वर्णित है।

विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में पराशर भट्ट इस ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"भागवत सिद्धान्त में पर, व्यूह और विभव के नाम से परब्रह्म की त्रिविध सत्ता मानी जाती है। इनमें **पर** स्वरूप नित्य है। नित्य होने से ही इसका कार्य-कोटि में समावेश नहीं होता। यह स्वरूप पूर्ण षाड्गुण्यमय है, अर्थात् भगवान् के सभी गुण इसमें उसी तरह से समाविष्ट हैं, जैसे शान्त महासमुद्र में तरंगें समाई रहती हैं। इसके समान कोई नहीं है। यह नित्य भोग और विभूति को देने वाला है। मुक्त मनुष्य ही इसको पा सकते हैं और यह पर-ब्रह्म का उपाधिशून्य स्वरूप है। इसका **व्यूह** स्वरूप चतुर्धा अवस्थित है। यह मुमुक्षु जनों की सृष्टि करने के निमित्त जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय व्यापार में प्रवृत्त होता है। यह शास्त्रों की, उनके अर्थ के ज्ञान के लिये गुरुओं की तथा उसके फल के रूप में दीक्षा की विधि की रचना एवं विधान बताता है, ध्यान और आराधन की प्रक्रिया को बताने के साथ वह विविध लीलाओं को भी करता है। इस जगत् के विविध विषयों के उपभोग के लिये वह अपने वैभव और श्रेष्ठ गुणों के मात्र एक कण या बूंद से लीलामय सृष्टि करता है और वही मुक्ति के साधन के रूप में भक्तों के सामने चतुर्व्यूह का स्वरूप धारण करता है। इसका **विभव** स्वरूप उसकी छायामात्र है। वह अपनी इच्छा के अनुसार अपने वैभव का विस्तार करते हुए देवता-मनुष्य अथवा पशु-पक्षी आदि का स्वरूप धारण कर लेता है। यह इसका प्रादुर्भाव कहलाता है।···· इन प्रादुर्भावों में कुछ तो इसके साक्षात् स्वरूप हैं, जैसे मत्स्य, कूर्म आदि अवतार। ऋषि आदि विशिष्ट पुरुषों के माध्यम से भी यह प्रादुर्भाव होता है, जैसे भार्गव राम, कृष्ण द्वैपायन आदि का। कभी-कभी आवेश के रूप में भी भगवान् अवतरित होते हैं, जैसे [१]पुरंजन में भगवान् की शक्ति प्रविष्ट हो जाती है। विशिष्ट स्थानों में भी इनकी अभिव्यक्ति होती है, जैसे अर्चावतार नामक चतुर्थ प्रकार में" (पृ. १८२)।

यहाँ पराशर भट्ट ने विभवावतार के चार भेद कर अर्चावतार का इसीमें अन्तर्भाव माना है, किन्तु लक्ष्मीतन्त्र में अर्चावतार को परब्रह्म का चतुर्थ स्वरूप माना गया है। वहाँ (२.५९-६०) बताया गया है कि भगवान् पर अगाध श्रद्धा रखने वाले भक्तों के द्वारा मन्त्र और मन्त्रेश्वर की सहायता से लौकिक अर्चा के लिये मूर्ति में जो षाड्गुण्य का न्यास किया जाता है, वह अर्चावतार के रूप में मान्य है। इस तरह से पर से लेकर अर्चावतार पर्यन्त मेरे चार रूप हैं। यहाँ अर्चावतार का स्पष्ट ही पृथक् उल्लेख है। इसमें हम दिव्य देशों में प्रादुर्भूत स्वरूपों का भी समावेश कर सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो लक्ष्मीतन्त्र में भी परब्रह्म के त्रिविध भेदों का ही वर्णन किया गया है। वहाँ

---

१. भगवान् की विशिष्ट शक्ति से आविष्ट पुरंजन का उपाख्यान—"तेजसाऽऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य महात्मनः" (९.६.१३) इस प्रकरण में श्रीमद्भागवत में वर्णित है।

(२.३९) गुणों की स्तिमितावस्था से युक्त, गुणों के उन्मेष के लिये कृतश्रम और गुणों के मूर्तीभूत स्वरूप के रूप में यह मार्ग त्रिधा विभक्त हुआ है, इस तरह से ब्रह्म का त्रिविध स्वरूप ही प्रदर्शित है, जो अहिर्बुध्न्यसंहिता (५.२०) के व्याप्तिमात्र, गुणोन्मेष और मूर्तीकार—इस त्रिविध स्वरूप के प्रतिपादक वचन का ही व्याख्यान है, तो भी सात्वतसंहिता के भाष्यकार (पृ.११) के मूर्तीभूतगुण रूप विभवावतार का लक्षण विभव एवं अर्चावतार में समान रूप से घटित होता है, इस वचन के अनुसार लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित परब्रह्म के चातुर्विध्य का भी समर्थन किया जा सकता है। वरवरमुनि के तत्त्वत्रयव्याख्यान (पृ. १०१-१०२) में इस पर विचार किया गया है।

तत्त्वत्रयव्याख्यान (पृ. १०१-१२०) में उद्धृत विष्वक्सेनसंहिता में तो परब्रह्म के [1]पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार नाम के पाँच प्रकारों का वर्णन मिलता है। [2]यतीन्द्रमतदीपिकाकार श्रीनिवासदास जैसे रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीवैष्णव पंचविध परब्रह्म की ही उपासना करते हैं। इस तरह से चातुर्विध्य और पांचविध्य पक्ष को समर्थन मिलने पर भी सात्वता के अनुयायी त्रिविध ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। पराशर भट्ट की पद्धति से विभवावतार के चातुर्विध्य के स्वीकृत कर लेने पर इन पक्षों में कोई विरोध भी नहीं रह जाता। "हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान है। वह अपनी माया से सभी प्राणियों को उसी प्रकार घुमाता रहता है, जैसे यन्त्र पर आरूढ़ व्यक्ति घूमता है" भगवद्गीता (१८.६१) के इस वचन के अनुसार परब्रह्म के अन्तर्यामी स्वरूप की स्थिति भी स्पष्ट हो जाती है। सात्वतसंहिता (९.९६-९७) में भी परमेश्वर के उस [3]निष्कल स्वरूप की चर्चा है, जो सभी प्राणियों का अन्तर्यामी है। इतना सब होते हुए भी सात्वता में त्रिविध परब्रह्म की ही उपासना विस्तार से वर्णित है। रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध तीन संहिताओं में सात्वता का नाम ही प्रथम

---

१. वरवरमुनि विरचित व्याख्या के साथ वाराणसी से मुद्रित तत्त्वत्रय का द्वितीय संस्करण (पृ. १०१-१०२) देखिये।

२. यतीन्द्रमतदीपिका का आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, पूना से सन् १९३४ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण (पृ. ८३-८९) देखिये। डॉ. श्रादर ने भी अपने इंट्रोडक्शन के शुद्धसृष्टि प्रकरण (पृ. २९-५९) में तत्त्वत्रय और यतीन्द्रमतदीपिका के प्रमाण से ही पंचविध ब्रह्म का स्वरूप बताया है।

३. ब्रह्म का निष्कल और सकल—उभयात्मक स्वरूप तन्त्रागम शास्त्र में वर्णित है। सात्वतसंहिता के विभव परिच्छेद में भी यह प्रदर्शित है। यह अन्तर्यामी आप्तकाम निष्कल भगवान् कारणवश अपनी शक्ति की सहायता से पद्मनाभ आदि विभव देवताओं के सकल स्वरूप को धारण कर लेता है (९.९७-९८) और वही विभव स्वरूप निष्कल और सकल—दोनों ही रूपों में पूजित भी होता है (९.११४-११५)।

आता है। अत: पांचरात्र दर्शन का स्वरूप उसी की पद्धति से यहाँ बताया जा रहा है। जैसा कि इस प्रकरण के प्रारंभ में सूचित किया गया है, अन्य संहिताओं में व्याख्यात पांचरात्र दर्शन का स्वरूप उन-उन ग्रन्थों में देखना चाहिये।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सात्वता आदि में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से वर्णित चतुर्व्यूह जयाख्या के [1]शुद्धसृष्टि-प्रकरण में वासुदेव, [2]अच्युत, सत्य और पुरुष के नाम से मिलते हैं (४. २-१४)। यहां (४.७) पुरुष को अनन्त भी कहा गया है। वैखानस प्रकरण में हम बता चुके हैं कि परब्रह्मस्थानीय नारायण विष्णु से पुरुष, सत्य, अच्युत और अनिरुद्ध नामक चार मूर्तियों का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ अवधेय विषय यह है कि जयाख्या के अच्युत, सत्य और पुरुष के क्रम को वैखानस मत में विपरीत क्रम—पुरुष, सत्य, अच्युत—से रखा गया है।

परब्रह्म का लक्षण

सात्वतसंहिता (८.५२-५३) में परब्रह्म वासुदेव को सर्वत्र व्याप्त, परम ज्योति, अमूर्त एवं निर्मल स्वरूप बताया है। यह सततोदित तेज (८.५६) ही [3]भूतावास (८.१५१) परब्रह्म [4]नारायण (१७.४१९) पद से भी बोधित होता है। "चिदानन्दघन:

---

१. शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि का विवरण डॉ. श्रादर के इंट्रोडक्शन (पृ. २७-८५) और डॉ. चौधरी के ग्रन्थ (पृ. ४७-६२) में देखना चाहिये। सिद्धान्त शैवागम में वर्णित इसकी प्रक्रिया लुप्ता. उपो. (पृ. १८७-१९७) में देखी जा सकती है।

२. "अच्युताद्या मूर्तयस्तिस्र:" (पृ. २९), "संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युतसत्यपुरुषापरनामधेयत्वं बोध्यम्" (पृ. २९) ये वचन सात्वता के भाष्य के हैं। वासुदेव, अच्युत, सत्य और पुरुष नामक चार मूर्तियाँ अप्यय (संहार) क्रम से चार विदिशाओं (दिक्कोणों) में पूजित होती हैं (पृ. ८८) और इनके चार मन्त्र वहीं (पृ. ५५,८८,१०५,१३३) निर्दिष्ट हैं, यह भी भाष्यकार का ही कथन है। जयाख्या (४.२-१९) में इन चारों मूर्तियों का स्वरूप वर्णित है। वैखानस मत में पुरुष, सत्य, अच्युत और अनिरुद्ध नामक चार मूर्तियों की आराधना की जाती है, यह बताया जा चुका है (पृ. १७)। सात्वता के भाष्य (पृ. २९) में भी यह प्रदर्शित है। यहाँ भाष्य में उद्धृत महाभारत के दो श्लोक केवल दाक्षिणात्य पाठ में ही उपलब्ध हैं।

३. विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में पराशर भट्ट ने—"वसन्ति त्वयि भूतानि भूतावासस्ततो हरे:" इस तरह से भूतावास पद की व्याख्या की है। इस तरह से यह भूतावास पद वासुदेव का पर्याय है।

४. "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव:। अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम्।।" (३४१.४०) यह श्लोक महाभारत शान्तिपर्व का है। इसके उत्तरार्ध का—"ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण: स्मृत:" (१.१०) यह पाठ मनुस्मृति (१.११५) में मिलता है। नारायणीयोपाख्यान में वासुदेव ही नारायण हैं। जयाख्यसंहिता (६.७३-९१) में भगवान् नारायण और उनकी शक्तियों का वर्णन है। नेत्रतन्त्र में भी इनकी चर्चा है। रामानुजीय श्रीवैष्णव लक्ष्मीनारायण की उपासना करते हैं। लक्ष्मीतन्त्र (१.१;२२.५) में भी लक्ष्मीनारायण की ही उपासना वर्णित हैं।

शान्तः'' (६.२१३) और ''चिच्छक्तिलक्षणं ब्रह्म त्वाह्लादानन्दलक्षणम्'' (२०.१३) यहाँ बताया गया है कि वह परब्रह्म चिदानन्द-स्वरूप है। ''सद् ब्रह्म वासुदेवाख्य०'' (२.४) यहाँ उसे सदात्मक भी माना गया है। इस तरह उपनिषदों का सत्-चित्-आनन्द रूप परब्रह्म यहाँ भी स्वीकृत है। इस परब्रह्म की आराधना के लिये यहाँ द्वितीय परिच्छेद में—''शान्तोदितविज्ञानप्राणाय'' (पृ. १७) इस मन्त्र का उद्धार करते समय सात्वता में ब्रह्म की द्विविध दशा का वर्णन किया है। इसमें पहली सततोदिता (नित्योदिता) तथा दूसरी शान्तोदिता के नाम से जानी जाती है।

परब्रह्म की द्विविध दशा (पर एवं व्यूह)

इसमें सततोदिता (नित्योदिता) दशा से युक्त परवासुदेव और शान्तोदिता से युक्त व्यूह वासुदेव कहलाता है। परवासुदेव में छः गुण शान्त (प्रसुप्त) स्थिति में और व्यूह वासुदेव में प्रबुद्ध रूप में रहते हैं। शान्तोदित व्यूह वासुदेव में प्रबुद्ध रूप में विद्यमान छः गुणों में से क्रमशः प्रथम दो गुणों से संकर्षण की, द्वितीय दो गुणों से प्रद्युम्न की तथा अन्तिम दो गुणों से अनिरुद्ध की प्रवृत्ति होती है। अन्य चार गुण प्रत्येक में प्रसुप्त रहते हैं। इस तरह परब्रह्म से चतुर्व्यूह के नाम से चार स्वरूपों की अभिव्यक्ति होती है। व्यूह दीक्षा के अवसर पर अव्यक्त, शब्दमूर्ति, निराकार एवं केवल गुणों के कारण विभिन्न स्वरूपों वाले चतुर्व्यूह का स्वरूप वहाँ (१८.२०७-२११) वर्णित है। इस चातुरात्म्य की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य नामक चार पदों में स्थिति मानी गई है। इनमें से तुर्य पद में स्थित परब्रह्म में चातुरात्म्य प्रसुप्त है, अतः यह एकमूर्ति पद से अभिहित होता है और एक ही मन्त्र से इसकी आराधना की जाती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में चातुरात्म्य के प्रबुद्ध हो जाने से इसकी आराधना के लिये अलग-अलग चार मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। इस चातुरात्म्य स्वरूप के चतुर्विध समाराधन की पद्धति सात्वता के संस्कृत उपोद्घात (पृ. २२-२९) में देखनी चाहिये।

व्यूहान्तर[1]

ऊपर पर और व्यूह स्वरूपों का परिचय दिया गया है। जीवों के सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के लिये वासुदेव आदि चार व्यूहों के प्रत्येक देवता तीन-तीन रूपों को धारण करते हैं। जैसे कि वासुदेव केशव, नारायण और माधव का; संकर्षण गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन का; प्रद्युम्न त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर का तथा अनिरुद्ध

---

१. चतुर्व्यूह से प्रादुर्भूत बारह व्यूहान्तरों का वर्णन बारह मासों के अधिपति के रूप में संहिताओं और पुराणों में भी मिलता है। चतुर्व्यूह से ही दशावतारों और विभव देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ, इसकी प्रक्रिया ''पांचरात्रागम'' (पृ. ५२-५३) में देखिये।

हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर का स्वरूप धारण कर बारह व्यूहान्तर देवता कहलाते हैं। सात्वता के सप्तम परिच्छेद में इनका चक्र आदि चिह्नों से अलंकृत स्वरूप वर्णित है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (५.४६) में इन केशव आदि बारह स्वरूपों को **व्यूहान्तर** कहा गया है। भाष्यकार (पृ. ५४१) का कहना है कि सात्वता (२५.३२२) में **मूर्त्यन्तर** के नाम से व्यूहान्तर की ही चर्चा है। पुराणों और आगमों में ये बारह व्यूहान्तर बारह मासों के अधिपति माने गये हैं। विष्णु की केशव आदि बारह मूर्तियों की नामावली और इनकी पूजा का विधान प्रपंचसार के २१वें पटल में भी मिलता है। व्यूहान्तर के नाम से प्रसिद्ध भगवदभिव्यक्ति के इन स्वरूपों की आराधना करने वाला [1]सुप्रबुद्ध साधक दान, धर्म, व्रत आदि का आचरण करता हुआ इस संसार रूपी दावानल से शीघ्र छुटकारा पाकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

३९. विभवावतार

ब्रह्म के विभव नामक तीसरे स्वरूप का वर्णन सात्वता के नवें परिच्छेद के अन्तर्याग-विधि प्रकरण में किया गया है। यहाँ बताया गया है कि स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से विभवावतार के तीन प्रकार हैं। अपनी इच्छा के अनुसार स्वरूप धारण करने वाले भगवान् कार्य के आरंभ, मध्य और अन्त में सृष्टि, स्थिति और संहार के समय अकेले ही अनेक स्वरूप धारण करते हैं। सृष्टि के समय रक्त, रक्षा के समय शुक्ल और संहार के समय वह कृष्ण वर्ण के बन जाते हैं। विभवावतार का यह स्थूल रूप है। समाधि के अभ्यास में लगे योगियों को सन्मार्ग की प्रेरणा देने के लिये सूक्ष्म रूप है। विभव का तेजोमय रूप परात्मक [2]माना जाता है। (९.४-११)

इस विभव स्वरूप की आराधना के लिये संज्ञा, पद, पिण्ड और बीज नामक मन्त्रों का उपयोग होता है। यहाँ बीज और पिण्ड में से किसी एक से, संज्ञा और पद में से किसी एक से अथवा अभिन्न-भावना के आधार पर दोनों रूपों से एक ही भगवान् की आराधना की जाती है। यहाँ संज्ञा-मन्त्र नाम-मन्त्र भी कहलाते हैं। मूल-मन्त्र, अंग-मन्त्र

---

१. इस शब्द का प्रयोग शैव-शाक्त तन्त्रों में तथा योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध है। विरूपाक्षपंचाशिका में अप्रबुद्ध, प्रबुद्धकल्प, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धकल्प और सुप्रबुद्ध नामक पाँच प्रकार के जीवों का स्वरूप प्रदर्शित हैं। वहाँ के ४१-४४ श्लोक देखिये।

२. सात्वतसंहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने इस प्रकरण में जयाख्या (४.२३-२५) के श्लोकों को उद्धृत किया है। सात्वता के नवम परिच्छेद में वैभवीय रूप का वर्णन करते हुए कहा है—"वैभवीयो महाबुद्धे देवतानिचयो महान्। य उक्तस्ते मया पूर्वमेकैकं विद्धि तत् त्रिधा।।" (९.४)। इस प्रसंग में जयाख्या के उक्त वचन की कोई संगति नहीं बैठती, क्योंकि जयाख्या के इन श्लोकों में ब्रह्म की त्रिविध दशा का वर्णन है, विभवावतार का नहीं।

आदि के रूप में इनके अनेक भेद हो जाते हैं। वैभवीय पिण्ड-मन्त्र और [1]पद-मन्त्रों का स्वरूप सात्वता के २३वें परिच्छेद में तथा बीज एवं पिण्ड-मन्त्रों का परिचय वहीं (९.१८-१९) मिलता है। इनमें पदात्मक मन्त्र जाग्रद्-वृत्ति, संज्ञात्मक स्वप्न-वृत्ति, पिण्डात्मक सुषुप्ति-वृत्ति और बीजात्मक मन्त्र तुर्य-वृत्ति माने गये हैं।

भगवान् विशाखयूप स्वयं विश्व की सृष्टि करने की इच्छा से आद्य पद में स्थित चातुरात्म्य के तुर्य व्यूह की शुद्ध संविन्मय महिमा के सहारे व्यूह और विभवावतार की सृष्टि के सारे साधनों का संग्रह करते हैं। उस समय वासुदेव आदि चतुर्व्यूह के स्वरूप को संवृत कर वैभवीय स्वरूप के उसी तरह स्वामी बन जाते हैं, जैसे सूर्य की किरणों से प्रज्वलित हुई अग्नि बिना उसकी सहायता के समस्त वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है। भगवान् विशाखयूप ही संभूति, स्थिति, संहार, भोग और कैवल्य[2] लक्षण पाँच अर (तीली) वाले इस संसार चक्र को अपनी बुद्धि से प्रेरित करते रहते हैं। इन्हीं से पद्मनाभ आदि अड़तीस विभवावतारों का आविर्भाव होता है। इन विभव-देवताओं की आराधना द्वितीय परिच्छेद में वर्णचक्र की पद्धति से आविष्कृत बीजाक्षरों से तथा नवम परिच्छेद (९.६२-७६) में वर्णित इनके शब्दब्रह्ममय स्वरूप से की जाती है। इन [3]बीजाक्षरों से सर्वेश्वर विशाखयूप एवं पद्मनाभ आदि विभवावतारों का बोध होता है। अन्तर्याग की पद्धति से इनकी आराधना इन बीज-मन्त्रों के माध्यम से ही की जाती है।

---

१. पाँच व्यापक मन्त्र ही वासुदेव आदि के पद-मन्त्र हैं, ऐसा भाष्यकार (पृ. १०१,१२७) ने लक्ष्मीतन्त्र के प्रमाण से बताया है। वासुदेव आदि के पिण्ड-मन्त्रों का उद्धार अष्टम परिच्छेद (श्लो. १०-१४) में मिलता है।

२. संभूति, स्थिति, संहार, भोग और कैवल्य लक्षण पंचार संसारचक्र का यहाँ (९.५७) वर्णन किया गया है। शैव-शाक्त तन्त्रों में वर्णित सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह नामक कृत्यपंचक से इसकी तुलना की जा सकती है। प्रवृत्ति मार्ग के उपदेशक वैष्णवागमों में कर्म से भी भोग और मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। अत: भोग और कैवल्य (मोक्ष) पदों से कृत्यद्वय का बोध कराया गया है। ऐहिक और पारलौकिक भोग भी भगवत्स्वरूप ही हैं। अत: उनकी निरोधकता (तिरोधायकता) नहीं मानी जाती। निग्रह और अनुग्रह पदों की हम शांकर मत के अध्यारोप और अपवाद शब्दों से तुलना कर सकते हैं। वैष्णवागमों पर शांकर मत का प्रभाव नहीं है। अत: सर्वत्र सत्स्वरूप ब्रह्म की ही सत्ता मानने से ये निग्रह और अनुग्रह को स्वीकार न कर उनके स्थान पर भोग और कैवल्य की ही सत्ता मानते हैं। शाक्त क्रम-सम्प्रदाय में अनाख्या और भासा के नाम से अन्तिम कृत्यद्वय वर्णित हैं।

३. परस्वरूप के और व्यूहचतुष्टय के बीज-मन्त्र पंचब्रह्म, ब्रह्मपंचक, ब्रह्मबीजचतुष्टय आदि नामों से लक्ष्मीतन्त्र (१९.१६-१७,३०-३३) आदि में वर्णित हैं। सात्वतसंहिता के भाष्य (पृ. १४४-१४८) में व्यूह, षडंग, व्यूहान्तर एवं देवियों के बीज-मन्त्र उद्धृत हैं। इनमें पिण्ड-मन्त्रों का भी अन्तर्भाव किया जा सकता है। विभव देवताओं के बीज-मन्त्र सात्वता (पृ. १८३-१८४) के भाष्य में देखे जा सकते हैं।

लोकनाथ

विभवावतारों की अभी चर्चा हुई है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (५.५७) में इनकी संख्या ३९ मानी गई है। यहाँ भाष्यकार का कहना है कि पद्मनाभ आदि ३८ विभव देवता हैं और उनके अधिपति विशाखयूप को मिलाकर ३९ विभव देवता होंगे। डॉ. श्रादर ने विशाखयूप को छोड़ कर पद्मनाभ आदि देवताओं की ३९ संख्या को पूरा करने के लिये 'शान्तात्मा' को अलग देवता माना है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के संस्करण (५.५४) में भी उन्होंने शान्तात्मा का अलग उल्लेख किया है। वे यह भी कहते हैं कि सात्वतसंहिता (१२.११०) में शान्तात्मा का ध्यान उपलब्ध है। [१]वास्तव में ऐसा है नहीं।

विभव देवताओं के प्रकरण में "लोकनाथस्तु शान्तात्मा" (९.८१) ऐसा पाठ मिलता है। भाष्यकार का कहना है कि 'शान्तात्मा' लोकनाथ का विशेषण है (पृ.१८४)। बारहवें परिच्छेद में इनका ध्यान इस प्रकार वर्णित है—"लोकनाथ विशाल. नेत्र वाले, सभी देवताओं से नमस्कृत, श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान, आखों को मूँदे हुए, पद्मासन से बैठे हुए, पद्म के गर्भ के समान उज्ज्वल कान्ति वाले, करुणा से ओतप्रोत, हाथ में शंख और पद्म लिये हुए तथा ज्ञान, वैराग्य और सद्धर्म नामक तीन मार्गों का उपदेश करने वाले हैं।" (१२.१०८-११०)। यहाँ भाष्यकार कहते हैं कि इन्हींका दूसरा रूप बुद्धावतार है (पृ.२३९)। इसमें वे पौष्करसंहिता के इस वचन को उद्धृत करते हैं—"लोकेश्वर शान्त स्वभाव के हैं। ये ही बुद्ध के रूप में अवतरित हुए हैं। मनुष्य की बुद्धि का ये नियन्त्रण कर हिंसा जैसे दोषों का परिहार करते हैं" (३६.२२६)। पौष्करसंहिता के प्रमाण से ही वे इनके स्थान को भी बताते हैं—"हे विप्र! मगध मण्डल में महाबोधि की प्राप्ति-स्थली पर ये देवदेव जनार्दन के स्वरूप लोकनाथ निवास करते हैं" (३६.३५९-३६०)। स्पष्ट है कि यहाँ लोकनाथ नामक विभव देवता की चर्चा है, जो बुद्धावतार का दूसरा नाम है।

आगे भाष्यकार तत्त्वत्रयव्याख्यान (पृ.११०) को उद्धृत करते हुए कहते हैं—"आचार्यहृदय में बुद्ध को साक्षात् अवतार बताया गया है। विष्वक्सेनसंहिता में

---

१. "गतानुगतिको लोक:" संस्कृत का यह आभाणक प्रसिद्ध है। इसी न्याय के अनुसार डॉ. श्रादर के परवर्ती सभी विद्वानों ने लोकनाथ और शान्तात्मा का पृथक् देवता के रूप में वर्णन किया है। डॉ. अशोककुमार कालिया ने भाष्यकार अलशिंग भट्ट की उक्ति का अनुसरण किया है (लक्ष्मी. पृ. ७७-७९)। लक्ष्मीतन्त्र में—"त्रिंशच्चाष्टाविमे देवा: पद्मनाभादयो मता:" (११-३८) यहाँ विभव देवताओं की संख्या ३८ ही बताई है। इन सबके अधिपति विशाखयूप की गणना वहाँ अलग से की गई है, किन्तु इन्होंने भी आगे (पृ. १३७) श्रादर का ही अनुसरण किया है।

उन्हें आवेशावतार कहा गया है। कल्पभेद से इस विरोध का परिहार करना चाहिये।" (पृ. १८७)। तत्त्वत्रय की व्याख्या में उद्धृत विष्वक्सेनसंहिता में पूजानर्ह प्रादुर्भावों के प्रसंग में बुद्धावतार को मोहक माना गया है (पृ. ११०)। उसी स्थल पर उद्धृत दूसरी संहिता में बुद्ध आदि को अनुपास्य बताया गया है (पृ. ११०)। अलशिंग भट्ट के मत के अनुसार आचार्यहृदय में बुद्ध को साक्षात् अवतार माना गया है। तत्त्वत्रय की व्याख्या (पृ. ११०) में स्थित "स्वेन रूपेणावतीर्णवान्" यह वचन आचार्यहृदय का ही लगता है। केवल आचार्यहृदय में ही नहीं, विष्वक्सेनसंहिता में परिगणित ३६ विभव देवताओं की नामावली में भी 'लोकनाथ' उपलब्ध हैं। इन परस्पर विरोधी वचनों की संगति भाष्यकार के कथन के अनुसार कल्पभेद से ही बैठ सकती है। भारतीय शास्त्रों की दृष्टि यही है। आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार सात्वता और पौष्करा में लोकनाथ की गणना विभव देवताओं में की गई है और विष्वक्सेनसंहिता बुद्धावतार को अनर्च्य एवं मोहक मानती है।

नर-नारायण

सात्वता (९.८२) में नर, नारायण, हरि और कृष्ण नामक अन्य चार विभवावतार वर्णित हैं। इस प्रसंग में भाष्यकार कहते हैं—"पारिजातहर शब्द से कृष्ण का बोध हो जाता है, अत: विभवावतारों में कृष्ण की चर्चा नहीं हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत स्थल पर जिस कृष्ण की चर्चा है, वे वसुदेव के पुत्र कृष्ण नहीं हैं, किन्तु वे धर्म के पुत्र हैं। पौष्करा (३६.२०७) में इनका विवरण मिलता है। यहाँ केवल कृष्ण का ही उल्लेख है, अत: इससे वसुदेव के पुत्र कृष्ण के ग्रहण करने में क्या बाधा हो सकती है? इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि एक तो यहाँ साहचर्य का विरोध होगा, दूसरा आगे (१२.१४५-१४६) प्रदर्शित ध्यान की संगति भी इसमें नहीं बैठती (पृ. १८९)। केवल कृष्ण ही नहीं, नर आदि चारों विभवावतारों को पौष्करा (३६.२०७) में धर्मात्मज बताया है। महाभारत के निम्न वचनों से इसकी पुष्टि होती है। जैसे—"नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः [1]स्वयम्भुवः" (१२.३३४.९) और—"एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा। धर्मस्य कुलसन्ताने...।। नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा" (१२.३३४.१६-१८)। यहाँ इन चारों स्वरूपों की चर्चा धर्म की कुलसन्तति के रूप में हुई है। पौष्करा (३६.२०९) में भी इसी क्रम से ये चारों नाम उपलब्ध हैं। इन चारों स्वरूपों का ध्यान सात्वता (१२.१३६-१४८) में वर्णित है। यहाँ इन चारों को क्रमशः जप, योग, क्रिया और तप का रक्षक माना गया है।

---

१. टीकाकार नीलकण्ठ ने बताया है कि स्वयंभू, अर्थात् वासुदेव के ही ये चारों स्वरूप हैं।

शक्तीश और उसकी शक्तियाँ

यद्यपि सभी देवता अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने में समर्थ हैं, तो भी सभी देवता एक साथ ऐसा नहीं करते। जाग्रत्पद में स्थित व्यूह वासुदेव आदि में से अथवा पद्मनाभ आदि विभव-देवताओं में से कोई एक जगत् की रक्षा के लिये [1]मुख, भुजा, अस्त्र, शक्ति और वाहन की भिन्नता के आधार पर जिस स्वरूप को धारण करता है, वह शक्तीश कहलाता है (सा. १२.१७३-१७६)। यह स्वरूप विभवावतार से भिन्न माना गया है। विभिन्न शक्तियों का आश्रय लेकर यह शक्तीश छः प्रकार के स्वरूप धारण करता है—१. लक्ष्मी के साथ पहला, २. श्री और पुष्टि के मध्य में स्थित दूसरा, ३. श्री से लेकर माया पर्यन्त चार शक्तियों से आवृत तीसरा, ४. शुद्धि आदि छः शक्तियों से युक्त चौथा, ५. क्रिया से लेकर पुष्टि पर्यन्त शक्तियों से आवृत पाँचवाँ और ६. लक्ष्मी आदि बारह शक्तियों से आवृत स्वरूप छठा है (सा. १२.२०५-२०९)। यह कान्तागण (शक्तिसमूह) शक्तिसंघ के रूप में सात्वता (९.८४) में वर्णित है। सर्वत्र व्याप्त भगवान् का जो पहला अग्नीषोमात्मक स्वरूप है, उसमें अमिश्रित, अर्थात् [2]भिन्नतया दो शक्तियाँ विराजमान हैं। लोक-कल्याण के लिये सबको विविध भोगों को देने वाली लक्ष्मी भोगशक्ति[3] और पुष्टि देने वाली कर्तृशक्ति कहलाती है। ये दोनों शक्तियाँ अव्यय-स्वरूप हैं और शक्तीश के साथ ही इनका उदय होता है। लोक-कल्याण के लिये ये दोनों शक्तियाँ नाना रूप धारण कर लेती हैं।

---

१. मुख, हाथ, अस्त्र, शक्ति और वाहन के भेद से विभिन्न अवतारों के स्वरूप में भिन्नता आ जाती है, इसका ज्ञान उन-उन देवताओं के ध्यानों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। सात्वता में अस्त्रों, शक्तियों और वाहनों का वर्णन स्वतन्त्र रूप में भी मिलता है। भूषण, लांछन आदि के नाम सात्वता के नवम (श्लो. ८६-८९) तथा उनके ध्यान आदि त्रयोदश परिच्छेद (श्लों १-३४) में देखिये।

२. "अमिश्रं भिन्नलक्षणम्" (१३.४९) इन दो विशेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ शक्ति और शक्तिमान् का भेद मान्य है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में पहले (३.२-६) दृष्टान्त देकर शक्तिमान् से शक्ति की अभिन्नता स्थापित की गई है। इसके बाद उनकी भिन्नता को भी दिखाया गया है—"देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः" (३.२५)। यह भेद धर्मधर्मी के रूप में मान्य है। इस तरह से अहिर्बुध्न्यसंहिता में वर्णित शक्ति का स्वरूप प्रायः शैव और शाक्त आगमों में स्वीकृत इसके स्वरूप से मिलता-जुलता है।

३. यहाँ वर्णित भोक्तृशक्ति और कर्तृशक्ति ही अहिर्बुध्न्य में भूतिशक्ति और क्रियाशक्ति कही गई है। यहाँ क्रियाशक्ति से शुद्ध सृष्टि और भूतिशक्ति से शुद्धेतर सृष्टि प्रतिपादित है। शैवागमों में शुद्ध सृष्टि बिन्दु (महामाया) के उपादान से और अशुद्ध सृष्टि माया के उपादान से होती है। शैव-शाक्त आगमों में तीन शक्तियाँ स्वीकृत हैं। यहाँ ऐसा नहीं है। इससे इसकी प्राचीनता द्योतित होती है। लक्ष्मीतन्त्र में तीन शक्तियाँ अंगीकृत हैं। यहाँ शैव-शाक्त आगमों का प्रभाव स्पष्ट है।

शक्तीश का मन्त्रमय शरीर

परब्रह्म अपने सर्वशक्तिसम्पन्न स्वभाव के साथ ही विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। जैसे ओज बल के रूप में, [१]गन्ध द्रव्य के रूप में, बीज वृक्ष के रूप में और समुद्र बुद्बुद आदि के रूप में परिणत होता है, उसी तरह से नाम-रूप आदि से अतीत ब्रह्म शक्ति की सहायता से इस शक्ति-रूपी दर्पण में अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति में स्थिति-लाभ कर मन्त्रमय स्वरूप को धारण करते हैं (२५.१४८-१५१)। जैसे सर्वत्र विद्यमान पवन पंखे को चलाने से प्रकट होता है, उसी तरह से भगवान् का आह्वान करने से वे मन्त्र, मूर्ति, कुंभ, मण्डल, अग्नि आदि में अभिव्यक्त हो उठते हैं (६.१६-१७)। इनमें मन्त्रमय शरीर ही मुख्य माना गया है। इस मन्त्र की सहायता से ही भगवान् की आन्तर आराधना की जाती है और वहीं वे वाच्यवाचक रूप में विद्यमान रहते हैं (६.१३३-१३४)। इसीलिये अग्नि, गुरु, शास्त्र और शास्त्रवेत्ता के साथ मन्त्र में भी भक्ति के रूप में समय-पंचक का उपदेश सात्वता (२१.६२) में किया गया है। यह विमल प्रकाश वाला मन्त्र साधक के हृदय में अवतरित होता है (१७.६१) और नाभिचक्र, हृत्पद्म, कन्दमूल, गलावट, भ्रूमध्य एवं ब्रह्मरन्ध्र में इसका ध्यान किया जाता है (२१.५१)।

सत्य आदि प्राणाधिपति

शक्तीश जब वाहन का स्वरूप धारण करते हैं, तब सत्य, सुपर्ण, गरुड़, तार्क्ष्य और विहगेश्वर के नाम से जाने जाते हैं। सात्वता (१२.१७८) में इन पाँच स्वरूपों को पंचात्मक प्राण का विकार बता कर पुनः कहा गया है कि ये अपान आदि पंचविध पवनों के अधिपति हैं (१२.१८४)। सत्य आदि के स्वरूप, ध्यान आदि का वर्णन वहीं (१२.१७८-२०२) किया गया है। वहीं वाहन पर आरूढ़ दो भुजा वाले शक्तीश का स्वरूप भी निर्दिष्ट है (१२.२०३-२०५)। भुजा, मुख, वर्ण आदि के आधार पर विभक्त शक्तीश के १४८० स्वरूप यहाँ (१२.२१३-२३९) बताये गये हैं। यहाँ शक्तीश को विहगेश्वर पर आरूढ़ (१२.२०२-२०३) तथा अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव को क्रमशः तार्क्ष्य, गरुड़, सुपर्ण और सत्य पर आरूढ़ बताया गया है (१२.२४०-२४१)। आदिमूर्ति वासुदेव के शक्तीश के वर्ण, लांछन आदि के समान होने पर भी उनकी ध्वजाओं से ही भेद की प्रतीति होती है (१२.२४३)। वासुदेव आदि के हाथ में स्थित पद्म आदि लांछन कार्य के अनुरूप शान्त स्वरूप में अमूर्त और कदाचित् इच्छानुरूप मूर्तिमान् रूप में रहते हैं। उस स्थिति में लांछनों से भेद की प्रतीति न होकर ध्वजा के आधार पर ही मूर्तिभेद का ज्ञान हो पाता है। (१२.२४५)।

---

१. गन्ध पद की प्रवृत्ति यहाँ गन्धतन्मात्रा के अर्थ में हुई है।

भवोपकरण

शक्तिसंघ, किरीट आदि चार प्रधान आभूषण, वाहन, चक्र आदि सत्रह प्रधान आयुध और अंग-मन्त्रों के समूह के साथ यह पद्मनाभ आदि विभव-देवताओं का समूह देवाधिदेव विशाखयूप के शरीर में लीन रहता है (९.८४-८९)। इन नाना विभव-मूर्तियों के शासन में विद्यमान भवोपकरण नामक चौबीस देवताओं का भी यहाँ वर्णन किया गया है (९.९०-९५)। इस प्रकरण की [1]डॉ. श्रादर ने अपनी टिप्पणियों के साथ व्याख्या की है। सात्वतसंहिता के प्रथम संस्करण में "समुद्राः सगणाः शिवाः" (९.९१) ऐसा पाठ था। यह पाठ अशुद्ध है, ऐसी संभावना डॉ. श्रादर ने की थी। उनकी यह संभावना ठीक ही थी, क्योंकि यहाँ का शुद्ध पाठ "सरुद्रः सगणः शिवः" ऐसा है। भाष्यकार ने इस तरह से इसकी व्याख्या की है—सरुद्र और सगण शिव के विशेषण हैं। रुद्रों और गणों के साथ विद्यमान शिव, यह उसका अर्थ होगा (पृ. १९२)। भव शब्द की व्याख्या स्वयं संहिता (९.९५-९६) में ही दी गई है। भाष्यकार ने उसकी व्याख्या इस तरह से की है—जिससे सब कुछ होता है, उसे भव कहते हैं, अर्थात् यह प्रकृति का नाम है। इसे प्रधान भी कहते हैं (पृ. १९२)। [2]मन्त्र और मन्त्रेश्वर के न्यास से जड़ प्रकृति भी पूज्यत्व पदवी को प्राप्त कर लेती है। इस तरह से यहाँ भवोपकरण के रूप में वर्णित काल आदि चौबीस देवताओं का समूह प्राकृतिक जगत् के निर्माण में सहायक माना गया है। इनका ध्यान तेरहवें परिच्छेद (श्लो. ६०-६१) में दिया गया है। ये सभी देवता आगे वर्णित दस सिद्धों के साथ दशम परिच्छेद में निर्दिष्ट मण्डल में [3]यथास्थान पूजित होते हैं।

सिद्ध-दशक

सात्वता के दशम परिच्छेद में मण्डल में, अग्नि तथा जल के मध्य में विभव-देवताओं का बाह्य पूजन कैसे किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में मण्डल की रचना का प्रकार बताते हुए उसमें देवताओं के पूजन का क्रम बताया गया है। बीजन्यास, मन्त्रन्यास आदि के द्वारा और वैभवीय मुद्रा का प्रदर्शन कर साधक अपने शरीर को

---

१. इंट्रोडक्शन० (पृ. १४९-१५०) देखिये।

२. मन्त्र और मन्त्रेश्वर के न्यास से जब जड़ प्रधान भी पूज्य बन जाता है, तब साधक इनके न्यास से ब्रह्मस्वरूप बन जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

३. सात्वता (९.११८-१३५) में परिवार देवताओं का मानसार्चन तथा मूर्ति, मण्डल, अग्नि और जलाशय में इन सबका अर्चन विहित है। इसी तरह से आगे (२५.२२७-३०१) प्रासाद, पीठ आदि में मूर्तिस्थापन, अर्चन आदि का विधान है।

सर्वदेवमय बनाता है। तब मण्डल में यथास्थान देवताओं का विन्यास किया जाता है। यहीं चौबीस भवोपकरण देवताओं का और दस सिद्धों का विन्यास भी उपदिष्ट है। दस सिद्धों के विन्यास का क्रम वहाँ इस प्रकार बताया गया है—

उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे दुरतिक्रमः ।
महाह्रदः पश्चिमे तु वसुरेतास्तथोत्तरे ।।
न्यस्यस्तेजो धराख्यस्तु पूर्वदक्षिणमध्यगः ।
नैर्ऋते तु महाकर्मा त्वग्राह्यः पश्चिमोत्तरे ।।
पूर्वोत्तरे वर्धमानः साक्षी गगनगोचरे ।
[१]आधारनिलयं नाम्ना सर्वस्याधोगतं स्मरेत् ।।
(१०.२६-२८)

इस तरह से यहाँ पर, व्यूह और विभव नामक त्रिविध ब्रह्म का स्वरूप विस्तार से वर्णित है, अर्थात् [२]एकमूर्ति पर-वासुदेव की और चतुर्व्यूह मूर्तियों की, केशव आदि बारह मूर्त्यन्तरों (व्यूहान्तरों) की, विविध प्रादुर्भावों की, पद्मनाभ आदि विभव-देवताओं की, शक्तीश, शक्ति, वाहन, भवोपकरण, सिद्धदशक आदि की आराधना-विधि को बताया गया है। पर-स्वरूप को स्पष्ट करते समय सर्वमन्त्रमयी परा वाक् (२.६७) की चर्चा भी आई है, जो शान्तस्वरूप सूक्ष्म परव्यूह की शक्ति है और स्वयं भी उसी के समान सूक्ष्मस्वरूपा है।

आधार, नाभि, हृदय और कण्ठ नामक स्थानों में विद्यमान चार चक्रों और नवद्वारों से विशिष्ट इस देवमन्दिर-स्वरूप शरीर में कण्ठ के कूपस्थल से निकले अधोमुख और हृदय स्थान से निकले ऊर्ध्वमुख, इन दो कमलों की स्थिति मानी गई है। इन दो कमलों के सम्पुट में नीचे के हृदय-कमल के ऊपर चन्द्र, सूर्य और अग्नि नामक त्रिविध ज्योति से सम्पन्न शब्दब्रह्म का निवास है। इसी स्थान पर आधार, नाभि और हृदय नामक तीन चक्रों के ऊपर उक्त त्रिविध ज्योति से प्रकाशमान अव्यक्त ध्वनि का विग्रह (शरीर) धारण किये हुए सुषुम्ना नाम की नाड़ी विद्यमान है, जो ब्रह्मरन्ध्र से

---

१. उपेन्द्र से लेकर आधारनिलय पर्यन्त दस सिद्धों के नाम विष्णुसहस्रनाम में भी उपलब्ध हैं और पराशर भट्ट तथा शंकराचार्य ने इनकी व्याख्या भी की है। वहाँ इस प्रकरण का उल्लेख नहीं मिलता।

२. इन शब्दों का प्रयोग और उनकी व्याख्या सात्वता (२५.३२२-३२३) और उसके भाष्य में देखिये।

निकल कर सूर्यपथ से द्वादशान्त पर्यन्त और चन्द्रपथ से अंगुष्ठ पर्यन्त सारे शरीर को व्याप्त कर लेती है। शरीर के मध्य हृदय-स्थान में स्थित होने से इसे मध्यनाड़ी भी कहा जाता है। भगवान् के द्वारा संकल्पित सारा बाह्य विषय-व्यापार सूत्र में मणियों के समान इस सुषुम्ना नामक मध्यनाड़ी में ही सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। इसीके भीतर पूर्वोक्त हृदय-स्थान में निमेष और उन्मेष में, निमीलन और उन्मीलन क्रिया में निरन्तर लगे हुए चन्द्र एवं सूर्य नामक कमल स्थित हैं। इन दोनों कमलों के सम्पुट में नीचे के भाग में स्थित ऊर्ध्वमुख सूर्यकमल में परा (सूक्ष्मा) वाग्भ्रमरी गुंजन करती रहती है। यह परा वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रमयी है। इसीलिये यह भगवान् के शान्त सूक्ष्म (पर) स्वरूप में उनकी शक्ति के रूप में ही विद्यमान रहती है।

यह परा वाक् तैलधारा के समान निरन्तर अकारादि हकारान्त शब्दब्रह्म स्वरूप नाद का नदन करती रहती है। शब्दब्रह्म की नाद, बिन्दु, मध्यमा और वैखरी नाम की चार अवस्थाओं में यह पहली स्थिति है। [1]शास्त्रों में ब्रह्म की शब्दब्रह्म और परब्रह्म नामक दो स्थितियों का वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। यह कैसे होता है? इसकी प्रक्रिया भी सात्वता में बताई गई है। अब यहाँ उसीका स्वरूप बताया जा रहा है।

शब्दब्रह्म

बारहवें परिच्छेद में विभवावतार के अन्तर्गत वेदव्यास के ध्यान के प्रसंग (१२.१५३-१५४) में शब्दब्रह्म का स्वरूप बताया गया है। उसके अनुसार हृदय में स्थित यह [2]ज्योति:स्वरूप शब्दब्रह्म केवल शान्तस्वरूप में स्थित है, अत: पौष्करा (३४.६३) के प्रमाण से इसकी केवल आन्तर भावना ही संभव है। यह वाग्वेदमण्डल, अर्थात् शब्दब्रह्म [3]पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में अपने को त्रिधा विभक्त करता है। भाष्यकार (पृ. २४५) ने बोध, मारुत और हृदय को इन तीनों का उत्पत्ति-स्थान माना है।

---

१. "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णात: परंब्रह्माऽधिगच्छति।।" यह श्लोक मैत्रा. उ. (६.२२), महाभारत (१२.२३२.३०;१२.२७०.१-२) और विष्णुपुराण (६.५.६४) में उपलब्ध है। पुराणों में एवं अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर यह वचन मिलता है।

२. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसी अभिप्राय के वचन मिलते हैं— "ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रह:। परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते।।" (पृ. २०३), "स्वरूपज्योतिरेवान्त: सूक्ष्मा वागनपायिनी" (पृ. २१९)।

३. "वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् । अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाच: परं पदम् ।।" (१.१३४) वाक्यपदीय के इस वचन में भी त्रिविध वाणी का ही यद्यपि उल्लेख है, तो भी ऊपर की टिप्पणी में उद्धृत "स्वरूपज्योति" इस वचन में परा वाक् भी परामृष्ट है।

मूल ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से तीन वाणियों और उनकी उत्पत्ति के तीन स्थानों का वर्णन किया गया है, किन्तु भाष्यकार (पृ. २४५) लक्ष्मीतन्त्र के प्रमाण से चतुर्विध वाक् का निरूपण करते हैं। वे "वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा०" जैसे श्लोकों को भी उद्धृत करते हैं। इसके समाधान के लिये हम कह सकते हैं कि सात्वता (२.६७) में परा वाक् का भी वर्णन मिलता है। उस स्थिति में वाग्वेदमण्डल का अर्थ यह होगा कि यह परावाक्-स्वरूप शब्दब्रह्म पश्यन्ती आदि के रूप में त्रिधा विभक्त हो जाता है। बोध-मारुत-हृत्-पूर्व यहाँ का 'पूर्व' पद कण्ठ आदि स्थानों का भी बोध करायेगा। तब उसका यह अर्थ होगा कि ये चारों वाणियाँ बोध, मारुत, हृदय और कण्ठ स्थानों में अभिव्यक्त होती है। इस तरह से पूर्वापर ग्रन्थ के विरोध का परिहार हो जाता है।

शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति कैसे [1]परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, इसकी प्रक्रिया सात्वता के १९वें परिच्छेद के दीक्षा-प्रकरण (१९.१२७-१५०) में बताई गई है। तदनुसार [2]वेद्यवेदकभाव से निर्मुक्त अच्युत परब्रह्म अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की सहायता से स्वयं ही समस्त जागतिक प्राणियों की मुक्ति के लिये शब्दब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त हो उठते हैं। वीणा की झंकार के जैसे अव्यक्त स्वरूप वाला यह शब्दब्रह्म पुन: अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त **वर्णों** के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस अव्यक्त अक्षरात्मक शब्दब्रह्म के प्रथम स्वरूप का ज्ञान चातुरात्म्य भगवान् के अनुग्रह के बिना वेदज्ञ विद्वानों के लिये भी दुर्लभ है। वह शब्दमूर्ति भगवान् इसके बाद **कला** के रूप में परिणत होता है। जब तक परब्रह्म का निरंजन स्वरूप अपनी षाड्गुण्य कलाओं का रूप धारण नहीं करता, तब तक वह अमूर्त परब्रह्म का साक्षात्कार भला कैसे हो सकता है? उत्पत्ति-विनाशशील पूर्वोक्त वासुदेव से लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी **तत्त्व** इन षाड्गुण्यमय कलाओं से ही अभिव्यक्त होते हैं। इन तत्त्वों से अणिमा आदि गुणों से युक्त ज्ञान-ऐश्वर्य आदि छ: गुणों से सम्पन्न हृदय आदि छ: अंग-मन्त्रों के साथ नाना प्रकार के **मन्त्र** निर्गत होते हैं। इन मन्त्रों की सहायता से संसारी जीवों को अपने स्वरूप की प्राप्ति और मोह की निवृत्ति हो, इसके लिये तुर्य आदि **पदों** की एवं गुणत्रयमय चतुर्दश **भुवन**मय विश्व की प्रवृत्ति होती है। इस तरह से यह [3]षडध्वात्मक जगत् स्वरूप-लाभ करता है। इसके शुभ और अशुभ स्वरूप उपादेय एवं हेय के रूप में मान्य हैं। इस

---

१. स्वोपज्ञटीका में भर्तृहरि ने इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रह:। परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते।।" (पृ. २०३)

२. यह प्रसंग सात्वता के १९वें परिच्छेद के १२७ वें श्लोक से प्रारंभ होता है।

३. सात्वतसंहिता, शिवपुराण, तन्त्रसार तथा शिवागमों में वर्णित षडध्व का स्वरूप हमारे "वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्श:" शीर्षक निबन्ध से जाना जा सकता है। देखिये—तन्त्रयात्रा (पृ. १४-३४)।

[1]षड्विध अध्वा में भुवनाध्वा और पदाध्वा में विद्यमान सुषुप्ति आदि तीन पद हेय कोटि में तथा पदाध्वा के तुर्यपद के साथ मन्त्राध्वा आदि चार अध्वा उपादेय कोटि में आते हैं। इनमें भी अपेक्षा के अनुसार हेयता अथवा उपादेयता स्वीकृत है। मुमुक्षु के लिये जब ये सब परिशुद्ध हो जाते हैं, जब इनकी कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। उस स्थिति में इनकी उपादेयता भी हेयता कोटि में प्रविष्ट हो जाती है।

विवेकपदवी पर आरूढ़ और दीक्षा-संस्कार से सम्पन्न शिष्य जहाँ जाकर विश्राम करता है, वही परवासुदेव नामक ब्रह्म है। जैसे आकाश में अनन्त परमाणु व्याप्त हैं, उसी तरह से यह ब्रह्म अनादि काल से [2]अप्रबुद्ध स्थिति में चले आ रहे जीवों का आश्रय-स्थल है। यह भुवनों और पदों में भी व्याप्त है। ईश्वर की इच्छा के अनुसार इन मायीय अध्वद्वय में स्थित मन्त्र सुख:दुखमय भोगों में जीवों को उलझाये रहते हैं। इसके विपरीत भक्तजनों के सामने मायीय अध्वद्वय से ऊपर उठे मन्त्र उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में रहते हैं। वे मन्त्र भक्तों को मायीय अध्वद्वय के ऊपर स्थित अपने भुवनों में अणिमा आदि भोगों की प्राप्ति कराने के लिये ले जाते हैं। यदि वे भक्त इन भोगों के प्रति विरक्त हैं, तो वे मन्त्र अपनी शक्ति के सहारे उनको अमृतमय तत्त्वाध्वा में प्रविष्ट करा देते हैं। यहाँ आकर वे भक्त अणिमा आदि सिद्धियों को भी तृण के समान त्याग देते हैं। इनमें भी विरक्त भक्तों को अनिरुद्ध आदि देवगण शाश्वत कलाध्वा में प्रविष्ट करा देते हैं। इसके बाद कलाध्वा में विद्यमान षाड्गुण्यमय भगवान् वासुदेव स्वात्मस्वरूप शब्दब्रह्ममय वर्णाध्वा में इनको नियोजित कर देते हैं। यहाँ पहुँच कर वह दीक्षित शिष्य स्वयं ही सुशान्त भगवत्पद को प्राप्त कर लेता है, परब्रह्मपद में प्रविष्ट हो जाता है।

पाँच अध्वकोशों से मुक्त होने से शुद्ध स्वात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेने वाले साधक को जिस पद की अनुभूति होती है, वह जलधारा के समान भिन्न-भिन्न वर्णों के रूप में निरन्तर प्रवाहित होरहा शब्द ही वर्णाध्वा कहलाता है। यह वर्णाध्वा सृष्टिक्रम से अकार से लेकर सकार पर्यन्त और संहारक्रम से हकार से लेकर आकार पर्यन्त संचरित होता है। इसकी चातुरात्म्य के क्रम से भावना की जाती है। इसका क्रम सात्वता (१९.१५४-१५५) में ही प्रदर्शित है। तदनुसार [3]सृष्टिक्रम में हकार की और संहार-

---

१. सात्वता (२४.३५७-३५९) में प्रासाद आदि में भी षडध्व की भावना प्रदर्शित है।

२. पृ. १२१ की पहली टिप्पणी देखिये।

३. "प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकारश्चतुरात्मनाम्।। अकारस्त्वप्यये चैव तुल्यताऽत्तोऽनयोः स्मृता।" (१९.१५४-१५५) यहाँ निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार सृष्टि-क्रम में हकार और संहार-क्रम में अकार बचता है। संकेतपद्धति में सर्वप्रथम प्रकाशात्मक प्रथम वर्ण अकार को परमशिव और अन्तिम विमर्शात्मक हकार को शक्तिस्वरूप बताया है। प्रक्रिया के भेद के रहते हुए भी इन दोनों ही स्थलों पर इन वर्णों की महत्ता स्पष्ट है।

क्रम में अकार की [१]द्वादशान्त के रूप में स्थिति रहती है। द्वादशान्त का अर्थ है [२]बारह धारणाओं के अन्त में बचा हुआ वर्ण। सृष्टि-क्रम में अकार से लेकर हकार पर्यन्त ४९ वर्णों में अकार से लेकर सकार पर्यन्त वर्णों को चार-चार के क्रम से रखने पर बारह व्यूह बनते हैं। तब इनके अन्त में स्थित हकार द्वादशान्त के रूप में बचेगा। इसी तरह संहार-क्रम में हकार से लेकर आकार पर्यन्त स्थित बारह व्यूहों के अन्त में अकार की द्वादशान्त के रूप में स्थिति बचेगी।

इस वर्णमय व्यूहसमूह में [३]ज्ञानसमाधि की सहायता से साधक वासुदेव आदि प्रत्येक मूर्ति की विश्राम, उदय, व्याप्ति और व्यक्ति के रूप में भावना करता है। [४]विश्राम वर्णों की सूक्ष्म[५] (परा) अवस्था, उदय पश्यन्ती, व्याप्ति मध्यमा और व्यक्ति वैखरी अवस्था है। इसी तरह से वासुदेव आदि प्रत्येक मूर्ति की भी ये विश्राम आदि चार अवस्थाएँ होती हैं। इनमें विश्राम तुरीय-व्यूह अवस्था, उदय सुषुप्ति-व्यूह अवस्था, व्याप्ति स्वप्न-व्यूह अवस्था और व्यक्ति जाग्रत्-व्यूहावस्था स्वरूप है। इस तरह से विश्राम आदि शब्दों से बोधित होने वाली तुरीय आदि चार व्यूहावस्थाओं से युक्त वासुदेव आदि चार मूर्तियाँ विश्राम आदि शब्दों से बोधित सूक्ष्म आदि चार अवस्थाओं से युक्त अकार आदि वर्णों में दण्डाकार स्वरूप में संनिविष्ट रहती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अकार आदि सोलह स्वरों के चार-चार विभाग कर जाग्रत् व्यूह में स्थित

---

१. द्वादशान्त पद की व्याख्या हमने विज्ञानभैरव के उपोद्घात (पृ. २४-२५) में की है। सात्वता में हकार और अकार को द्वादशान्त कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि चातुरात्म्य के त्रिविध स्वरूप को चतुर्धा विभक्त करने पर बारह (द्विषट्क) धारणाएँ बनती है। प्रभव और अप्यय के क्रम से इन बारह धारणाओं के अन्त में हकार और अकार बचे रहते हैं। इन्हीं की यहाँ परवासुदेव के रूप में भावना की जाती है।

२. बारह के लिये ऊपर की टिप्पणी में **द्विषट्क** पद प्रयुक्त हुआ है। विज्ञानभैरव (श्लो. २८) आदि में भी इस तरह के प्रयोग मिलते हैं। इसके विपरीत षडर्ध, द्वादशार्ध जैसे शब्द भी आगमों में मिलते हैं। बारह धारणाओं को मूल में ही स्पष्ट कर दिया गया है। लक्ष्मीतन्त्र (२०.१३-२३) में अधिक स्पष्ट रूप में इनको प्रस्तुत किया गया है।

३. ज्ञानभावना और ब्रह्मसमाधि जैसे शब्दों से ज्ञानसमाधि की व्याख्या यहाँ (२.६०) भाष्य (पृ. २५-२६) में की गई है।

४. विश्राम (विश्रान्ति), उदय और व्याप्ति पदों का प्रयोग नि. षो. (४.२) तथा उसकी ऋजु० अर्थ० नाम की व्याख्याओं (पृ. १९१,२०५,२३१,३४७) में भी प्रायः इसी अर्थ में हुआ है।

५. इस परा वाक् को यहाँ (पृ. २७,२४५-२४६,४०३) शान्त और सूक्ष्म स्वरूप माना गया है।

वासुदेव आदि चार मूर्तियों का, ककार आदि सोलह वर्णों के चार-चार विभाग कर स्वप्न-व्यूह में स्थित वासुदेव आदि चार मूर्तियों का, थकार-आदि सोलह वर्णों के चार-चार विभाग कर सुषुप्ति व्यूह में स्थित चार मूर्तियों का न्यास किया जाता है। इसके बाद अन्त में बचे हकार में तुरीय-व्यूह में स्थित, सात्वता (५.८१-८२) में प्रदर्शित शुद्ध संवित्स्वरूप आदिमूर्ति का न्यास किया जाता है। इसी पद्धति से विलोम क्रम से हकार से अकार पर्यन्त न्यास विहित है।

इस तरह से वर्णाध्वा के स्वरूप को बताकर सात्वता (१९.१५८) में कहा गया है कि बारह आध्यात्मिक स्वरूपों की बारह प्रकार की धारणाओं को सोपान के क्रम से लाँघ कर साधक अन्तिम द्वादशान्त पद में प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात् शब्दब्रह्म स्वरूप वर्णाध्वा के स्वरूप को जानकर हृदयकमल में स्थित सूर्यमण्डल में विद्यमान सात्वता (२.६७) में वर्णित परावाक्-स्वरूप शब्दब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। इसी क्रम में अन्ततः वह साधक अपने सुशान्त भगवत्पद को, अर्थात् परब्रह्म के स्वरूप को पाने में समर्थ हो जाता है।

वर्ण (मातृका) चक्र

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि वर्णाध्वा शब्दब्रह्म स्वरूप है। तदनुसार मातृकाचक्र के नाम से प्रसिद्ध वर्णचक्र की शब्दब्रह्ममयता भी स्वतः सिद्ध हो जायगी। इसीलिये सात्वता (९.६५) में चक्र को शब्दब्रह्ममय कहा है। द्विविध [1]वर्णचक्र यहाँ प्रदर्शित हैं। पर और व्यूह मन्त्रों के उद्धार के लिये प्रथम और विभव मन्त्रों के उद्धार के लिये दूसरा। नृसिंहावतार का विभव देवताओं में वर्णन होने से उनके मन्त्र का उद्धार द्वितीय पद्धति से किया जाता है। शब्दब्रह्म जैसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप चतुर्धा विभक्त होता है, उसी तरह से यह शब्दब्रह्ममय चक्र भी अमल, शान्त, शान्तोदित और उदित के भेद से चतुर्धा विभक्त है। इनके लक्षण वहीं (२५.२७५-२८१) देखने चाहिये।

मन्त्र

बीज वृक्ष के रूप में और समुद्र बुद्बुद के रूप में जैसे परिणत होता है, उसी तरह से नाम-रूप विवर्जित अपने शक्तिरूपी दर्पण में यह विश्वेश अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रतिबिम्बित होकर मन्त्रमय शरीर को धारण करता है (२५.१४८-१५१)। जैसे सर्वगत

---

१. सात्वता में द्विविध वर्णचक्र प्रदर्शित हैं। पहला द्वितीय परिच्छेद (श्लो. १४-२३) और दूसरा नवम परिच्छेद में (श्लो. ६२-६५)। सत्रहवें परिच्छेद (पृ. २९१) में नवमोक्त वर्णचक्र ही स्मृत है।

पवन व्यजन से अभिव्यक्त होता है, उसी तरह भगवान् का आह्वान करने पर वे मन्त्र, बिम्ब, कुंभ, मण्डल और अग्नि आदि स्थानों में अभिव्यक्त हो उठते हैं (६.१६-१७)। इनमें मन्त्रमय शरीर ही मुख्य माना गया है। इस मन्त्र से ही भगवान् की आन्तर उपासना की जाती है, क्योंकि यहाँ भगवान् वाच्यवाचक रूप में विद्यमान रहते हैं (६.१३३-१३४)। इसीलिये पंचविध [1]समयों में मन्त्रभक्ति की भी गणना की गई है (२१.६२)। इस विमल-प्रकाश मन्त्र को हृदय से उतार कर (१७.६१) नाभिचक्र, हृत्पद्म, कन्दमूल, गलावट, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र में इसका ध्यान किया जाता है (२१.५१)।

भगवान् का यह मन्त्रमय स्वरूप संज्ञा, पद, पिण्ड और बीज के भेद से चार तरह का है। विभव-देवता के प्रकरण में इनका स्वरूप बताया जा चुका है। बीज और पिण्ड मन्त्रों का परस्पर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञभाव एवं [2]ब्रह्मवर्णता का निरूपण कर यहाँ नवम परिच्छेद में बताया गया है कि इनके स्वरूप को जान लेने पर निर्बीज पद और सर्व पद की प्राप्ति अनायास हो जाती है। भाष्यकार ने इस विषय को विस्तार से समझाया है (पृ.१७७-१७८)

प्रणव

मन्त्र के ये चारों प्रकार प्रणव के ही परिणाम माने गये हैं (९.२१-२२)। लक्ष्मीतन्त्र (२१.९-११) में भी मन्त्र को शब्दब्रह्मलक्षण, चित्स्वरूप और षाड्गुण्यमंडित बताकर इसके ये ही भेद वर्णित हैं और इनकी तुर्य आदि पदों में क्रमशः स्थिति मानी गई है। इस तरह से मन्त्र के द्वारा बोधित भगवान् के पर, सूक्ष्म और स्थूल भेदों का और सूक्ष्म स्वरूप का तुर्य, सुषुप्ति और स्वप्न के भेद से जैसे त्रैविध्य प्रतिपादित है, उसी तरह से यहाँ प्रणव का परत्व, बीज-पिण्ड-संज्ञा मन्त्रों का तुर्य और सुषुप्ति के क्रम से सूक्ष्मत्व तथा पद मन्त्र का स्थूलत्व बताया गया है। प्रणव भगवान् का नित्योदित स्वरूप है। अतः इज्या (पूजा) के समय सभी मन्त्रों की उत्पत्ति इसीसे मानी जाती है और पूजा के समाप्त हो जाने पर गरम पत्थर पर पानी की बूँद के समान वह वहीं विलीन हो जाता है। इस प्रकार प्रणव से मन्त्रों की उत्पत्ति और लय का क्रम सूर्य की किरणों के प्रसार और संकोच के तुल्य माना जाता है। इसीलिये सात्वता (२५.३४५) में प्रणव और चातुरात्म्य का अभेद प्रतिपादित है और कहा गया है कि प्रणव चातुरात्म्य का ही प्रपंच है (२५.३४६)। इसीलिये भाष्यकार

---

१. "भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि" (२१.६२) सात्वता में यहाँ समयपंचक वर्णित हैं।

२. भाष्यकार ने यहाँ (पृ. १७७-१७८) बताया है कि वैखरी अवस्था में बीज और पिण्ड की ब्रह्मता और स्थूलता तथा मध्यमावस्था में वर्णता और सूक्ष्मता रहती है।

का कहना है मूर्तिमन्त्र की स्थिति प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न है, किन्तु अपनी व्यापकता के आधार पर प्रणव का स्वरूप सर्वत्र एक ही है (पृ. १०१)।

विष्णवे नमः, नमो नारायणाय और नमो भगवते वासुदेवाय—ये तीन पद-मन्त्र प्रणव के साथ मिलकर षडक्षर, अष्टाक्षर और [1]द्वादशाक्षर (द्वादशार्ण) मन्त्र बनते हैं। प्रणव से संयुक्त इन तीन मन्त्रों को और प्रणव के साथ [2]जितन्ता-पद को लक्ष्मीतन्त्र (२४.६७-७०,७४) में व्यापक मन्त्र कहा गया है। ये चारों पद-मन्त्र प्रणव के साथ संयुक्त होकर पूर्णता को प्राप्त करते हैं, अतः इनको व्यापक कहा जाय, यह उचित ही है। भाष्यकार (पृ. ५४२) का कहना है कि तृतीय परिच्छेद में वर्णित सुषुप्ति-पद के चातुरात्मीय चार संज्ञा-मन्त्रों का भी यहाँ समावेश कर व्यापक मन्त्रों के पाँच प्रकार माने जाते हैं। इनमें भी प्रणव की व्यापकता मानी गई है। यही नहीं, विशाखयूप मन्त्र के साथ स्वप्नपद के चातुरात्मीय मन्त्र और जाग्रत्पद में भी सृष्टिक्रम और संहारक्रम में स्थित चातुरात्म्यीय मन्त्रों में भी प्रणव को जोड़ा जाता है। इस तरह से इस प्रणव की व्यापकता और शब्दब्रह्मस्वरूपता स्पष्ट हो जाती है।

---

१. द्वादशाक्षर मन्त्र को सात्वता (६.१०६) में द्वादशाक्षर विद्या कहा गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र में स्त्री-देवता वाले मन्त्रों को विद्या कहा जाता है, अतः पुरुष देवता के इस मन्त्र के लिये विद्या पद का प्रयोग नहीं होना चाहिये। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के २२वें सर्ग में बला और अतिबला विद्याओं का उल्लेख है। इन विद्याओं को मन्त्रग्राम बताया गया गया है। ईश्वरसंहिता में इसी मन्त्रग्राम को "दिव्यैर्बलादिकैर्मन्त्रैः" (१.२१) इस तरह स्मरण किया है। उपनिषदों में नचिकेतोविद्या, मधुविद्या आदि पदों से रहस्यमय उपदेशों को विद्या कहा गया है। इसी पद्धति से परम रहस्यमय बला और अतिबला नामक मन्त्रों को रामायण में विद्या कहा गया है और वैष्णवों के परम आराध्य-स्वरूप द्वादशाक्षर मन्त्र को भी द्वादशाक्षर विद्या बताया गया है।

२. "जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज।।" (१२.३३६.४४) इस नारायणीयोपाख्यान के वचन में जितन्तास्तोत्र के चार श्लोकों का समाहार है। इसको लक्ष्मीतन्त्र (२४.६९) ने प्रणव का परिणाम माना है। सात्वता के प्रतिष्ठा परिच्छेद के दो स्थलों पर (२५.२४४,३२५) यह स्मृत है। सप्तम परिच्छेद के चार श्लोकों (२५-२८) में इसके चार श्लोक स्मृत हैं। यहाँ भाष्यकार का कहना है कि प्रथम श्लोक में प्रथम पाद, द्वितीय में द्वितीय पाद, तृतीय में तृतीय तथा चतुर्थ श्लोक में चतुर्थ पाद का संग्रह कर लक्ष्मीतन्त्र, पाद्मतन्त्र आदि में एक श्लोक के रूप में इसको प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में महाभारत में सर्वप्रथम जितन्तामन्त्र का यह स्वरूप मिलता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के ५३वें अध्याय में भी इसी स्वरूप की व्याख्या मिलती है, अतः इसका मूल स्वरूप वही माना जायगा। चातुरात्म्य-समाराधन के लिये एक ही मन्त्र के चार स्वरूप निर्धारित हुए, यही कहना उचित है। षडध्यायात्मक जितन्तास्तोत्र को "वैष्णवागमविमर्शः" के परिशिष्ट (पृ. ६७-८६) में देखा जा सकता है (पूरी गुरुगीता को एक महामन्त्र बताया गया है। उसी पद्धति से पूरा जितन्ता-स्तोत्र भी एक जितन्ता-मन्त्र के नाम से जाना जा सकता है)।

तुर्यपद में स्थित चातुरात्म्यीय मन्त्र के छः अंग-मन्त्रों का भी यहाँ वर्णन है। अन्तर्याग में ब्रह्मस्वरूप यह मन्त्र निराकार और निरंग तथा बहिर्याग होम आदि के अवसर पर साकार और सांग माना गया है (२.३६-३७)। भाष्यकार ने दो स्थलों पर (पृ.२१-२२,४०७) निरंग, सांग, षडंग और पंचांग मन्त्रों का स्वरूप मतभेद को दिखाते हुए बताया है। यहीं (२.७६) प्रीति-मन्त्र का और भाष्यकार (पृ.३२) ने लक्ष्मीतन्त्र के प्रमाण से संकल्प और दान-मन्त्र का स्वरूप दिखाया है। इसी तरह अष्टम परिच्छेद (८.३२-३६) में पद्म, शंख, गदा और चक्र के मन्त्रों का, नवम (९.८६-८७) में [1]किरीट आदि के मन्त्रों का, पन्द्रहवें (१५.९) में सोऽहंस्वरूप जीव-मन्त्र का, सत्रहवें (१७.६-१२) में नृसिंह-बीज-मन्त्र, षडंग- मन्त्र और द्वादशाक्षर-मन्त्रों का, तेईसवें (२३.११३-१३२) में किरीट आदि लांछन एवं चक्र आदि आयुध-मन्त्रों का वर्णन मिलता है। मन्त्रों की विधिपूर्वक आराधना करने से उनमें निर्मलता आ जाती है। जिन साधकों का चित्त प्रसन्न हो उठता है, बल और तेज की अतुल वृद्धि हो जाती है तथा धैर्य, उत्साह, सन्तोष और अकार्पण्य जैसे गुण प्रकट हो उठते हैं, समझना चाहिये कि भगवान् की कृपा उन पर हो गई है (१६.३०-३१)। मन्त्रों में बल-वीर्य का आधान करने के लिये हवन भी आवश्यक माना गया है (२५.१६५)।

जप और मुद्रा

शुभ अक्षसूत्र (जपमाला) से अथवा अपनी अंगुलियों के पोरों से इन सभी मन्त्रों का जप और [2]वैभव मुद्रा का प्रदर्शन किया जाता है। इस मुद्रा के प्रदर्शन से मन्त्र [3]तेजोमय, होकर साधक को सिद्धि प्रदान करने में समर्थ हो जाते हैं। तीर्थस्थान पर, अपने हृदय में, बिम्ब में, निर्धूम अग्नि वाली वेदी में—इन चार स्थानों पर भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति के लिये नित्य-मन्त्रों की आराधना की जाती है। तीर्थस्थान पर पवित्र जल की अंजलि देकर, भावना-निर्मित भोगों से हृदय में, अर्घ्य आदि उपचारों से बिम्ब (मूर्ति) में और सात प्रकार की समिधाओं को घृत और तिल से संयुक्त कर वेदी में विद्यमान अग्नि में मन्त्र-स्वरूप भगवान् की पूजा की जाती है।

---

१. यद्यपि किरीट आदि के यहाँ नाम ही मिलते हैं, तो भी—"अभिधानाक्षरं पूर्वमरान्ताद्येन भूषितम्। योक्तव्यमभिधानेन पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना।।" (९.१३६) यहाँ प्रदर्शित पद्धति से इनके मन्त्र का स्वरूप बन जाता है। लोकाचार्य के मुमुक्षुप्पडि ग्रन्थ के मन्त्रार्थ प्रकरण में अष्टाक्षर, द्वय और चरम नामक तीन मन्त्रों का स्वरूप और अर्थ प्रदर्शित है। परमेष्ठी मन्त्र के साथ पंचोपनिषन्मन्त्रों का स्वरूप नारदीयसंहिता (५.९१-९२) में बताया गया है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में इन मन्त्रों की विशेष महिमा है।

२. वैभव मुद्रा का लक्षण सात्वता (१०.४०-४४) में देखिये। व्यूहों की मूल मुद्राएँ वहीं (६.६९-७३) प्रदर्शित हैं।

३. शब्दब्रह्म प्रकरण में इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

इस तरह से किये गये अनुष्ठान का यथेच्छ त्याग या संचय का संकल्प कर मन्त्र के अनुरूप [1]मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये। मुद्रा का प्रदर्शन करने से कर्मफल का संन्यास करने वालों के कर्म फलोन्मुख नहीं होते और फलार्थी के तथा उनका संचय करने वालों के कर्म जब तक फल-प्रदान नहीं करते, अन्य व्यक्ति उनका हरण नहीं करने पाते। जैसे लाह की मुद्रा से धन की थैली को बन्द कर देने पर उसमें रखा धन चुराया नहीं जा सकता, उसी तरह मुद्रा-प्रदर्शन द्वारा मुद्रित कर्म को भी अन्य व्यक्ति छीन नहीं सकते। पूजा के अन्त में प्रदर्शित मुद्रा से सारे विघ्न दूर हो जाते हैं। मुद्रा का लक्षण यहाँ इस प्रकार बताया गया है—"निर्मल भावना से कर्म करने वाले को यह मुद्रा प्रसन्नता प्रदान करती है और बाहर-भीतर के सभी दोषों को दूर कर देती है। कृत कर्म को सुरक्षित कर देने के कारण भी इसको मुद्रा कहा जाता है" (१०.५१-५२)। इस तरह से पर, व्यूह और विभव स्वरूप मन्त्रों की पूजा करने के बाद उनका निष्कल स्वरूप परमात्मा में उपसंहार कर दिया जाता है, अर्थात् नादात्मक संविद्गगन रूप अपने हृदय में उनको विलीन (विश्रान्ति) कर लिया जाता है (१०.५३-५६)।

इस प्रकार यहाँ पांचरात्रीय दर्शन के प्रसंग में पर-व्यूह-विभव स्वरूप त्रिविध ब्रह्म का तथा उसके विशाखयूप, व्यूहान्तर, शक्तीश, शक्ति, सत्य आदि वाहन, भवोपकरण, सिद्धदशक आदि मण्डलीय देवताओं के विविध स्वरूपों का तथा शब्दब्रह्म, वर्णचक्र, मन्त्र, प्रणव, जप, मुद्रा आदि का लक्षण बताया गया है। अन्तर्याग की उपासना भगवान् के मन्त्रात्मक स्वरूप से ही की जाती है। मन्त्र के प्रसाद से ही साधक भगवान् के निष्कल स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। इस तरह चित्तशुद्धि और परमात्मा के साथ जीवात्मा के संयुक्त होने का प्रधान साधन मन्त्र को ही माना गया है। अतः अब मन्त्रयोग के निरूपण के साथ यहाँ योग के अन्य स्वरूपों का भी यथोपलब्ध परिचय दिया जा रहा है।

पांचरात्रीय योग

सात्वततन्त्र का स्वरूप बताते हुए सात्वता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने प्रारंभ में (पृ. १) ही कहा है कि इसका उपदेश वासुदेव ने संकर्षण को किया है। यह एकायन श्रुति का सार-स्वरूप है। इसमें भगवत्प्राप्ति के साधन के रूप में [2]अभिगमन,

---

१. शैव-शाक्त तन्त्रों में मन्त्र और मुद्रा को ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का स्वरूप माना गया है। इस ग्रन्थ का शाक्त-तन्त्र प्रकरण देखिये। सात्वतीय मुद्राओं का स्वरूप वहाँ की विशिष्ट विषयानुक्रमणी की सहायता से जाना जा सकता है। समयी आदि की चार मुद्राएँ सात्वता (२२.६७) में देखिये।

२. पृ. १०० की २ री टिप्पणी देखिये।

उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग के रूप में कर्मयोग का और पर, एवं विभव के रूप में ब्रह्मज्ञान का विचार किया गया है तथा यह [1]पचीस परिच्छेदों में विभक्त है। इस सात्वत क्रियायोग को भाष्यकार (पृ.३) ने शुद्ध मार्ग बताया है। वे ही कहते हैं कि यह शुद्ध [2]क्रियामार्ग कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति नामक भगवत्प्राप्ति के चार उपायों में से प्रमुख माना गया है और कर्मयोग के नाम से भी शास्त्रों में इसका वर्णन हुआ है (पृ.२०)। अभिगमन आदि पांच अंगों से युक्त शुद्ध क्रियामार्ग का विवरण सात्वता के छठे परिच्छेद में वर्णित है। इसका अन्तिम अंग योग है। इस योग का वर्णन यहाँ (६.१९३-२१४ तथा १७.१५-२७) विशेष रूप से मिलता है। प्रसंगवश अन्यत्र भी कुछ कहा गया है। उसीके आधार पर पांचरात्रीय योग के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

आगम-तन्त्रशास्त्र में सर्वत्र अर्धरात्रि में योग की साधना का विधान है। तदनुसार अर्धरात्रि में जागकर निद्रा और इन्द्रियों को जीतकर साधक कमण्डलु के जल से आचमन कर, गुरु और देवता को नमस्कार कर, [3]अजिनासन पर बैठकर चार मन्त्रों की सहायता से संहार-न्यास[4] करे। उसकी विधि इस प्रकार है—पाद से जानुपर्यन्त अनिरुद्ध मन्त्र से, जानु से नाभि पर्यन्त प्रद्युम्न, नाभि से कर्ण पर्यन्त संकर्षण और कर्ण से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त वासुदेव मन्त्र से इन देवताओं का न्यास करे। तब पद्मासन आदि में से अपने अभीष्ट आसन से बैठकर अपने शरीर में चातुरात्मीय स्वरूप की भावना करनी चाहिये। वक्षस्थल के साथ अपने सारे शरीर को ग्रीवा और शिर के साथ सीधा तान कर, अपनी आधी खुली दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में स्थिर कर, जिह्वा को

---

१. भाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट हो जाता है कि सात्वता में पचीस ही परिच्छेद हैं। डॉ. डेनियल स्मिथ का कहना है कि यह संहिता अधूरी है (बिब्लिओग्राफी, भा. १. पृ. ५३४-५३६)। भाष्यकार का उक्त वचन इसके विपरीत जाता है।

२. शुद्ध क्रियामार्ग की चर्चा पृ. १०४ की २ री टिप्पणी में की जा चुकी है।

३. यहाँ 'अजिनासन' पद "चेलाजिनकुशोत्तरम्" (६.११) भगवद्गीता के इस वचन का स्मरण कराता है।

४. सात्वता में अंगन्यास, करन्यास आदि का विधान मिलता है। सत्रहवें परिच्छेद (पृ. २९५) में भाष्यकार पारमेश्वरसंहिता को उद्धृत करते हैं—"व्यापारो मानसो ह्येष न्यासाख्यो यद्यपि स्मृतः। न बध्नाति स्थितिं सम्यक् तथापि क्रियया विना।। कराधीना च सा" (४.४-५), "नाडीदशकमाश्रित्य ता एवाङ्गुलयो मताः" (४.२२)। यहाँ न्यास का स्वरूप और उसकी पद्धति को बताकर हाथ की दस अंगुलियों को दस नाडियों का आश्रय माना गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र में न्यासों का बहुत विस्तार मिलता है। मन्त्र के अक्षरों, पदों अथवा पूरे मन्त्र का भावनाख्य मानस व्यापार के साथ हाथ की अंगुलियों को निर्दिष्ट स्थान पर रखना ही **न्यास** कहलाता है। इसकी सहायता से साधक अपने शरीर को देवमय बना लेता है।

तालुतल पर लगाकर, दाँतों की पंक्तियों को थोड़ा अन्तर देकर और ओष्ठपुटों को थोड़ा मिलाकर रखे। अपनी दोनों कोहनियों को नाभि के पास और हाथों को जंघाओं पर बांये हाथ को नीचे तथा दाहिने हाथ को ऊपर रखना चाहिये। इस तरह से स्थापित अपने शरीर को [1]योगपट्ट की सहायता से स्थिर कर लेना चाहिये। तब अपान मार्ग को संकुचित कर अकार से रहित अलक्ष्यमूर्ति [2]हकार की सहायता से उसको ऊपर उठाना चाहिये। इसीके साथ विषयों में लगे चित्त को भी वहाँ से खींचकर बुद्धि में लीन कर देना चाहिये। इस स्थिति में पहुँचने के बाद योगी मन्त्रों की सहायता से परमात्मा के साथ अपनी आत्मा को संयुक्त कर ले।

उसका क्रम इस प्रकार है—अपने हृदय-कमल में उन-उन पदों से अधिष्ठित चातुरात्म्य की सामान्य भावना करके पहले जाग्रत्पद में स्थित अनिरुद्ध के साथ मैं एकाकार हो गया हूँ, ऐसा विचार करते हुए अनिरुद्ध के मन्त्र का सौ बार जप करे और भावना करे कि अनिरुद्ध के ज्ञान और माहात्म्य से मैं सम्पन्न हो गया हूँ। इस तरह एक वर्ष तक अभ्यास करने वाला योगी अनिरुद्ध-मूर्ति से तादात्म्य लाभ कर लेता है। तदनन्तर मन्त्र के साथ अनिरुद्ध का प्रद्युम्न में उपसंहार कर मैं प्रद्युम्न हूँ , ऐसी भावना करता हुआ आराधक प्रतिदिन प्रद्युम्न-मन्त्र की दो सौ आवृत्ति करता हुआ एक वर्ष तक जप करे। इससे वह प्रद्युम्न-स्वरूप हो जाता है। इसी पद्धति से संकर्षण और वासुदेव मन्त्र का तथा स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य पद में स्थित अनिरुद्ध से लेकर वासुदेव पर्यन्त व्यूहचतुष्टय के चार-चार मन्त्रों का एक-एक वर्ष पर्यन्त जपसंख्या में वृद्धि करता हुआ और इनके साथ मेरा तादात्म्य दृढ़ होता जा रहा है, ऐसी भावना करता हुआ उन-उन मन्त्रों को आगे-आगे के मन्त्रों में विलीन करता हुआ अन्त में तुर्य-पद स्थित परात्पर वासुदेव में सबका उपसंहार कर उसके साथ तादात्म्य की भावना कर उस मन्त्र के साथ ध्याता और ध्येय विभाग का भी परित्याग कर तन्मयता स्थापित होने तक [3]जपक्रिया को निरन्तर चलाता रहे। इस तरह के अभ्यास में लगा हुआ वह भगवद्भक्त

---

१. शब्दकल्पद्रुम (भा. ४, पृ. ५६) में योगपट्ट शब्द का अर्थ 'योगाभ्यास में सहायक वस्त्र' किया है। वाचस्पत्य (भा. ६, पृ. ४७८०) में भी यही अर्थ प्रदर्शित है। पद्मपुराण, सिद्धान्तशेखर, बीरमित्रोदय आदि के प्रमाण भी यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं।

२. "मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्। होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते।।" (श्लो. ८०) विज्ञानभैरव के इस श्लोक में भी अनच्क हकार मात्र का उच्चारण उपदिष्ट है। इसका स्वरूप वहीं हमारी व्याख्या और उपोद्घात (पृ. २७-३०) में देखिये।

३. जयाख्या के योगाख्यान पटल (३३.११) में तथा मृगेन्द्रागम आदि के योगपाद (श्लो. ३) में जप को भी योग का अंग माना गया है। वाचिक, उपांशु और मानस नामक जप के तीन भेद सर्वत्र वर्णित हैं। सात्वता के भाष्यकार (पृ. ८५,११५) ने लक्ष्मीतन्त्र

योगी वेद्यवेदक की भावना से रहित निर्विकल्प [1]समाधि में जब लीन हो जाता है, तो ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। स्वयं परब्रह्मस्वरूप[2] हो जाता है, अर्थात् परब्रह्म के साथ परम साम्य को प्राप्त कर लेता है। यह विषय सात्वता (६.२१०-२१४) में प्रतिपादित है।

मन्त्रस्वरूप भगवान् की आराधना इस तरह से की जाती है—स्नान कर, अपने बालों को सँवार कर, मौन व्रत का पालन करते हुए, शुद्ध वस्त्र पहन कर, अर्घ्य और पुष्प को हाथ में लिये साधक आसन पर बैठे। प्राणायाम की सहायता से [3]दाहन और आप्यायन की [4]धारणाओं के द्वारा भूतशुद्धि की प्रक्रिया को सम्पन्न करे। जैसे कि—केवल अथवा मन्त्रदेवता की भावना के साथ मन्त्र का जप करते हुआ नाभिदेश में स्थित भगवान् का ध्यान कर, वहाँ से शरीर स्थित सारे पाप का संग्रह कर, वायु-मार्ग से प्रथम प्राणायाम के अन्तिम अंग रेचक की सहायता से बाहर निकाल कर उसको द्वादशान्त पर्यन्त फैंक दे। इस तरह से निष्पाप हुआ साधक द्वितीय प्राणायाम के पूरक अंग के साथ मन्त्रेश की नासिका के अग्र भाग के रास्ते सारे शरीर में व्याप्ति हो गई

(३९.३५) के प्रमाण से इन तीन के अतिरिक्त ध्यानात्मा नामक चतुर्थ जप का और उसकी योगांगता का भी वर्णन किया है। जयाख्या के जपविधान नामक चतुर्दश पटल में भेदोपभेद के साथ विस्तार से यह विषय वर्णित है।

१. संवेद्य-निर्मुक्त इस समाधि का सात्वता के षडध्व-प्रकरण (१९.११२) में भी उल्लेख है। यह योगसूत्र में वर्णित असम्प्रज्ञात समाधि से अभिन्न है।

२. यहाँ स्पष्ट ही जीव का ब्रह्म के साथ अद्वयभाव प्रतिपादित है। सात्वता के "देवोऽहमिति भावयेत्"(१७.३६) इस वचन के समर्थन में—"अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः। वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः। एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने।।" (११.४१-४२) जयाख्या के इस वचन की उपस्थिति में भी भाष्यकार का कहना है कि इससे जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य ही स्थिति नहीं सिद्ध होती। पांचरात्ररक्षा के प्रमाण से वे अपनी स्थापना को पुष्ट करते हैं। यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सात्वता में—"शान्तात्मन्येकतां गतम्" (१९.११२) यह एकत्व का स्थापक स्पष्ट वचन भी विद्यमान है। आगे भोगमोक्ष-प्रकरण में भी इसकी चर्चा की गई है।

३. तन्त्रागम-शास्त्र में भूतशुद्धि के प्रकरण में प्राणायाम की सहायता से शोष, दाह और आप्याय की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। यहाँ दाह और आप्याय का ही वर्णन है। इसके अनुसार शोष का दाह में ही अन्तर्भाव माना जायगा।

४. यहाँ द्विविध धारणाएँ निर्दिष्ट हैं। वर्णाध्वा की विवेचना के अवसर पर बारह धारणाएँ बताई गई हैं। पारमेश्वरागम (३.१४३,२२३) में दो के साथ पंचविध धारणाएँ भी उपदिष्ट हैं। इस विषय का विस्तार पारमेश्वर के तृतीय अध्याय में और जयाख्या के समाधिख्यापन नामक दशम पटल में हैं।

है, ऐसी भावना करे। वायु की गति के अवरोधक तृतीय कुंभक प्राणायाम की सहायता से उस मन्त्रेश को अपने हृदय में स्थापित कर ले। चित्त की चंचलता की शान्ति और वायु पर विजय प्राप्त करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। इसके बाद उस मारुत को धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। अन्तिम रेचक के सिवाय अन्य सभी प्राणायामों में उत्तरोत्तर यथाशक्ति कालावधि को प्रतिदिन कम करता जाय। इसके उपरान्त तपाये गये सोने के समान उज्वल, सहस्रकिरण सूर्य के समान प्रकाशमय मन्त्रेश्वर का द्वादशान्त में वृत्तमण्डल के बीच ध्यान कर पंचतन्मात्राओं से मुक्त अपने शरीर की भावना करे, अर्थात् दाहिने चरण के [१]अंगुष्ठ प्रान्त में युगान्तकालीन वह्नि की जैसी सैकड़ों ज्वालाओं से घिरे हुए शिखाक्षर (वह्निबीज) की भावना कर उससे अपने सूक्ष्म शरीर के भस्म हो जाने की भावना करे। तब वह स्थूल-सूक्ष्म शरीर को जला डालने वाली ज्वाला मन्त्रेश्वर में लीन हो गई है, ऐसी भावना करे। उस दिव्य शान्तस्वरूप मन्त्रनाथ को अपने चित्त में अधिष्ठित कर उस मन्त्र से, अर्थात् उस मन्त्र के प्रतिपाद्य [२]द्वादशान्त पद में स्थित भगवान् के पास से निकल रहे अमृत के प्रवाह से अपने शरीर को आप्यायित कर ले। तब मन्त्र के साथ मन्त्रेश के बिम्ब को बारह अंगुल ऊपर वृत्तमण्डल के बीच में अपने हृदय में स्थापित कर ले।

सात्वता में **योग** का लक्षण नहीं मिलता, किन्तु भाष्यकार ने पांचरात्ररक्षा की पद्धति से शाण्डिल्य, पराशर, दक्ष और याज्ञवल्क्य को उद्धृत कर उसको स्पष्ट किया है। शाण्डिल्य के अनुसार परमात्मा और आत्मा के स्वरूप का अनुसन्धान ही योग है। अथवा इन्द्रियों को वश में करके बुद्धि को ब्रह्म में लगा देना ही योग है। पराशर के अनुसार आत्मगत प्रयत्न के कारण विशेष रूप से उत्पन्न मन की गति का ब्रह्म से संयुक्त होना ही योग है। दक्ष का कहना है कि सभी भावों से विनिर्मुक्त [३]क्षेत्रज्ञ का ब्रह्म

---

१. "कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्। प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत्।।" (श्लो. ५१) विज्ञानभैवव के इस श्लोक में **कालपद** से दक्षिण पादांगुष्ठ का ही ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि दक्षिण पादांगुष्ठ से उत्थित कालाग्नि से अपना पांचभौतिक देह भस्मीभूत हो गया है, ऐसी भावना करे। प्रस्तुत प्रकरण में भी यही निर्दिष्ट है।

२. पृ. १३१-१३२ की द्वादशान्त (द्विषट्क) विषयक टिप्पणियाँ देखिये। वहाँ (पृ. २९४) भाष्यकार ने द्वादशान्त का अर्थ 'अपने मस्तक के बारह अंगुल ऊपर' यह किया है। द्वादशान्त को यहाँ (१८.५४) द्विषट्कान्त भी कहा गया है। "द्विषट्कं धारणानां च" (१९.१५८) यहाँ का द्विषट्क पद बारह संख्या का सूचक है।

३. भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में निर्दिष्ट क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप ही यहाँ गृहीत होगा। सात्वता के नवम अध्याय के पिण्ड-बीज प्रकरण में निर्दिष्ट नहीं।

के प्रति समर्पणभाव ही ध्यान और योग है। याज्ञवल्क्य के अनुसार मन को बाह्य वृत्तियों से हटाकर क्षेत्रज्ञ का ब्रह्म के प्रति समर्पण ही योग है। यहाँ शाण्डिल्य का द्वितीय लक्षण, और पराशर का लक्षण समान है। इसी तरह से दक्ष और याज्ञवल्क्य का लक्षण भी एक सरीखा है। इस तरह योग के त्रिविध लक्षण यहाँ निर्दिष्ट हैं—जीवात्मा और परमात्मा के संबन्ध का अनुसन्धान पहला, शुद्धमन का ब्रह्म के साथ संयोजन दूसरा तथा बाह्य वृत्तियों से शून्य क्षेत्रज्ञ का ब्रह्म के प्रति समर्पणभाव तीसरा। अन्ततः परिष्कृत चित्तवाले जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाना ही योग का सर्वसंग्राहक लक्षण माना जा सकता है।

भगवान् के परस्वरूप की उपासना में अष्टांग योग के अभ्यासी आन्तर पूजा में लगे रहने वाले योगियों का ही यहाँ (२.७-८) अधिकार माना गया है। इस तरह से यह संहिता अष्टांग योग का समर्थन करती है, किन्तु उनके नाम यहां न मिलकर जयाख्या के तेइसवें योगाख्यान पटल में इस तरह से मिलते हैं—प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, जप, योग, ऊह और समाधि। जयाख्या में वर्णित यह योग [१]पातंजल योग से भिन्न प्रकार का है। विष्णुसंहिता में वर्णित षडंग योग का स्वरूप नि. षो. के उपोद्घात (पृ. ११७-११९) और आगममीमांसा (पृ. ७३-७४) में बताया गया है, जिसमें अन्य तन्त्रों एवं ग्रन्थों की सामग्री का भी उपयोग हुआ है।

आधार, नाभि, हृदय और कण्ठ में स्थित चार चक्रों से युक्त नवद्वार मानव देह की (२.५८,६१); नाभि, हृदय, कन्दमूल, गलावट, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थानों की (२१.५१) चर्चा तथा अपान, कण्ठकूप, नाडी, ब्रह्मद्वार, ब्रह्मनाडी, मध्यनाडी, मारुत, शशि, सूर्य जैसे शब्दों का प्रयोग देख कर हम यह भी कह सकते हैं कि कुण्डलिनी योग का स्वरूप भी यहाँ विद्यमान है।

अभिगमन आदि पंचविध कालों में अन्तिम स्थान योग का है। पाद्मसंहिता, नारदसंहिता, श्रीप्रश्नसंहिता, विष्णुतिलकसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र जैसे ग्रन्थों में वर्णित पांचरात्रीय योगप्रक्रिया का निरूपण "पांचरात्रागम" नामक ग्रन्थ में (पृ. ३३३-३४६) विस्तार से वर्णित है। यहाँ मन्त्रयोग, लययोग, परिचययोग, निष्पत्तियोग हठयोग जैसी योग की भिन्न-भिन्न पद्धतियों का स्वरूप बताया गया है। कर्मयोग और ज्ञानयोग

---

१. मृगेन्द्रागम के योगपाद में—"प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानवीक्षणे। जपः समाधिरित्यङ्गान्यङ्गी योगोऽष्टमः स्मृतः॥" (श्लो. ३) इस तरह से जयाख्या में वर्णित योगांग ही निर्दिष्ट हैं। यहाँ वीक्षण, अभिवीक्षण, ऊह—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। बाकी के नाम एक सरीखे हैं। सात अंग हैं और एक अंगी, यह मात्र शैली की भिन्नता है। जयाख्या (३३.१३) में कुछ नवीनता भी है। वहाँ प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य नामक योग के तीन भेद वर्णित हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते। यहाँ भी इनके लक्षण नहीं बताये गये हैं।

की भी चर्चा है। पातंजल योगसूत्र में वर्णित अष्टांग योग का स्वरूप यहाँ उसी की पद्धति से विवेचित है। यमों और नियमों की संख्या वैखानस आगम की पद्धति से दस-दस ही है। नौ प्रकार के आसन, प्राणायाम की प्रक्रिया, दस प्रकार की नाड़ियों में दस प्रकार की वायुओं का निरोध, प्राणायाम के भेद, प्राणायाम का लक्षण, प्रत्याहार के प्रसंग में १९ मर्म-स्थानों से वायु का प्रत्याहरण, पंचभूतमय देह में यम आदि की सहायता से मन को स्थिर करना, ध्यान की प्रक्रिया, समाधि का लक्षण और इसकी सहायता से जीवात्मा का परमात्मा के साथ ऐक्यापादन—ये सब विषय वहाँ देखे जा सकते हैं। योग की यह सारी पद्धति वैखानस आगम एवं पुराण आदि में प्रदर्शित प्रक्रिया से मिलती-जुलती है।

जयाख्यसंहिता और अहिर्बुध्न्यसंहिता में वर्णित योग का स्वरूप डॉ. दासगुप्त के इतिहास-ग्रन्थ (भा.३, पृ. २८-२९, ५४-५६) में देखा जा सकता है। यहाँ भी यमों और नियमों की संख्या दस-दस ही चर्चित है। जयाख्या में चार ही आसन बताये गये हैं। पुराणगत योग का वर्णन "संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास" नामक ग्रन्थ के तन्त्रागमीय खण्ड में समाविष्ट "पुराणगत योग एवं तन्त्र" शीर्षक डॉ. करुणा एस. त्रिवेदी के निबन्ध (पृ. ५०३-५१४) में देखा जा सकता है।

पांचरात्रीय क्रिया एवं चर्या

इस तरह से अन्तर्याग के उपयोगी पर-व्यूह-विभव नामक त्रिविध ब्रह्मविचार का और अभिगमन आदि पंचविध कर्मविचार में से अन्तिम योग का स्वरूप बताने के बाद बहिर्याग से संबद्ध क्रिया और चर्या का स्वरूप बताया जा रहा है।

याग (अर्चन)

अलशिंग भट्ट ने बिम्ब आदि में भगवान् के अर्चन को याग और वह्नि में आहुति-दान को होम कहा है (पृ. १९-२०)। इस तरह से याग का अर्थ यहाँ अर्चन है। तीर्थ के मध्य में, अपने हृदय-कमल में, बिम्ब (मूर्ति) में वह्निगर्भ निर्धूम स्थल अथवा वेदि में—इस तरह इन चार स्थानों में भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति के लिये प्रतिदिन मन्त्र आदि के स्वरूप में स्थित भगवान् की आराधना की जाती है। तीर्थ के मध्य में अंजलि में जल भर कर, हृदय में भाव-रूपी विविध भोगों से, बिम्ब में अर्घ्य आदि विविध उपचारों से तथा घृत-तिल आदि से वेदि में वह्नि को तृप्त किया जाता है। सात्वता (१०.४४-४७) में यह क्रम बताया गया है। चतु:स्थानार्चन के रूप में यह आगमों में प्रसिद्ध है। इनमें हृदय में भावमय विविध भोगों से की गई उपासना अन्तर्याग, हृद्याग, मानसयाग जैसे शब्दों से जानी जाती है। मूर्ति, मण्डल, बाह्य अग्नि और जलाशय में की गई भगवान् की पूजा बहिर्याग, बाह्ययाग, द्रव्ययाग जैसे शब्दों से जानी जाती है (९.११९)

इस द्विविध याग का वर्णन सात्वता के २-१० एवं १७वें नृसिंहकल्प परिच्छेदों में विस्तार से तथा अन्यत्र प्रसंगवश संक्षेप में प्रतिपादित है। अन्तर्याग की विधि से भगवदाराधन की चर्चा दर्शन और योग प्रकरण में हो चुकी है। बहिर्याग की पद्धति से भगवदर्चन की विधि पंचम परिच्छेद के अन्त में (५.१०७-१०९) तथा [1]मूर्ति, [2]मण्डल, [3]अग्नि और [4]जल में अर्चन के प्रकरणों (९.११९;१०.२ तथा पृ. ३६१ [5]भा.) में देखी जा सकती है। तेरहवें परिच्छेद के अन्त (१३.६६) में यह द्विविध याग उपसंहत है।

---

१. जैसे सर्वत्र विद्यमान पवन व्यजन की सहायता से प्रकट हो जाता है, उसी तरह से भगवान् का आवाहन करने से वह भावदर्पण में संक्रान्त होकर मूर्ति (बिम्ब) आदि में विराजमान हो जाता है। प्रतिष्ठा परिच्छेद में इनकी इस प्रकार स्तुति की गई है—"सर्वत्रगोऽसि भगवन् किल यद्यपि त्वामावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम्। गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चार्चाम्।।" (२५.१२१)।

२. मण्डलार्चन, मण्डलनिर्माण आदि की विधि यहाँ १०-११ परिच्छेदों में संक्षेप से वर्णित है। पौष्करा में यह विषय विस्तार से चर्चित है।

३. आरण्य, लौकिक, मणिज और दर्पणोद्भव अग्नि का सात्वता (६.८९) में निरूपण है। आरण्य का अर्थ अरणि से संभूत अग्नि है। इस बाह्याग्नि को हृदयेश कालवैश्वानर के तेज से संयोजित किया जाता है। भगवान् कालवैश्वानर का स्वरूप पौष्करा में इस प्रकार प्रदर्शित है—"कालवैश्वानराख्या या मूर्तिस्तुर्यात्मनो विभोः। स एव द्विज देवो हि विष्वक्सेनः प्रकीर्तितः।। स्थित आहवनीयादिभेदेन मखयाजिनाम्। ऋक्पूतं हुतमादाय तर्पयत्यखिलं जगत्।।" (२०.५४-५५)। आदि पद की व्याख्या सात्वता में इस प्रकार की गई है—"पूर्वमाहवनीयाख्यस्वरूपेणाथ दक्षिणे।। समास्ते सभ्यवपुषा पश्चिमस्यामनन्तरम्। गार्हपत्याख्यभेदेन ततस्तिष्ठति चोत्तरे।। ओदनम्पचनात्मा तु सर्वात्मत्वेन मध्यतः। आधाराधेयभावेन त्वास्ते संवलिताकृतिः।।" (६.१२७-१२९)। अर्थात् चतुर्विध अग्नि यहाँ परिगृहीत है। कुण्डनिर्माण का प्रकार यहाँ एकादश परिच्छेद में वर्णित है। दशविध आज्यसंस्कार, अग्नि के निषेकादि विवाहान्त संस्कार, जिह्वाकल्पन जैसे विषय जयाख्या के १५वें पटल में देखने चाहिये।

४. जल में भगवदर्चन की विधि १५वें स्नपन परिच्छेद में देखिये।

५. भाष्यकार ने यहाँ अनेक विषयों की सूचना दी है। जैसे कि लक्ष्मीतन्त्र के प्रमाण से नित्यार्चन पुष्पांजलिसमर्पण पर्यन्त किया जाता है (पृ. १०१-१०३), स्वार्थार्चन और परार्थार्चन में यथायोग्य सभी का अधिकार है (पृ. १०७-१०८), नित्य-ग्रन्थ में जपान्त आराधन निर्दिष्ट है और इसी का अनुसरण करने वाले क्रियादीप में होमान्त मुख्य कल्प बताया गया है (पृ. १०८), यह आराधन ज्येष्ठ, मध्यम, अधम और क्षुद्र के भेद से चतुर्विध है (पृ. ११०), पारमेश्वर में तीर्थमध्यार्चन और मानसार्चन होमान्त निर्दिष्ट है, सात्वता के अनुयायी जपयज्ञ तक का अनुष्ठान करते हैं, क्योंकि यहाँ (१७.४२-४३) ऐसा ही बताया गया है (पृ. २०६)। यहाँ क्रियादीप के होमान्त की मुख्यपक्षता में भाष्यकार का अस्वारस्य झलकता है, क्योंकि सात्वता में जपयज्ञान्त ही विधान प्रदर्शित है। सात्वता की रीति से नित्य-ग्रन्थ का निर्माण करने वाले रामानुजाचार्य को भी यही पक्ष अभिप्रेत है। अर्चन, आराधन, इज्या, याग, समाराधन—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

पांचरात्र मत के अनुयायी अपनी दिनचर्या को पाँच कालों में बाँटकर अभिगमन, उपादान, इज्या, [1]स्वाध्याय और योग नामक क्रियाकलापों से अपने को बाँध लेते हैं। इसीलिये इनको [2]पंचकालपरायण कहा जाता है। सात्वता के द्रव्ययाग के प्रतिपादक षष्ठ परिच्छेद में इस पर पर्याप्त विचार हुआ है, किन्तु वहाँ इन शब्दों का स्वरूप निर्दिष्ट नहीं है। इसको जयाख्या (२२.६८-७४) में देखा जा सकता है। पाँच कालों का और उनमें सम्पन्न होने वाले अभिगमन[3] आदि व्यापारों का स्वरूप पांचरात्ररक्षा के तृतीय अधिकार में नाना ग्रन्थों के वचनों के प्रमाण से विस्तार से प्रपंचित है।

यहाँ इज्या-काल के प्रसंग में अष्टांग याग का उल्लेख मिलता है। इसका भी परिचय जयाख्या में दिया गया है—

अन्तःकरणयागादि यावदात्मनिवेदनम् ।।
तदाद्यमङ्गं यागस्य नाम्नाऽभिगमनं महत् ।
पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यैर्भोगैर्यदखिलं मुने ।।
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद ।
मध्वाज्याक्तेन दध्ना वै पूजा च [4]पशुनाऽपि वा ।।

---

१. यह स्वाध्याय-काल आजकल भी कथाप्रवचन, पुराणपाठ-श्रवण आदि के रूप में दिन के ढलते समय प्रचलित है। इस तरह से लौकिक जीवन में इन पांचरात्र विधियों का प्रभाव विशेष रूप से शोध का विषय हो सकता है।

२. "तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः" (१२.३३६.४६), "तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिन्दम" (१२.३३७.३०) इन नारायणीय वचनों में पंचकालज्ञ एकान्ती भक्तों की चर्चा है। वहाँ चतुर्विध भक्तों में एकान्ती को श्रेष्ठ बताया गया है (१२.३४१.३४)। प्रतिदिन विभिन्न पाँच कालों में पंचविध यज्ञों से एकान्तभाव से नारायण की पूजा में निरत भक्त पांचरात्रिक कलहाते हैं। इनका अनुशासक शास्त्र पांचरात्र कहलाता है। पहले भी इस विषय की चर्चा हो चुकी है।

३. पांचरात्ररक्षा (पृ. ५१) में बताया गया है कि प्रयोगपद्धतिरत्नावली में भोजराज द्वारा प्रदर्शित संगव आदि पाँच काल अभिगमन आदि से भिन्न हैं। यहीं द्वितीय अधिकार में व्यास, दक्ष, शाण्डिल्य आदि स्मृतियों के संवाद से पंचकालविषयक सामान्य विचार किया गया है।

४. जयाख्या में यहाँ बलिदान नामक तृतीय यागांग में पशुबलि का भी विधान है। सात्वता (१७.२६८) में इसके स्थान पर पशुप्रतिनिधि का विधान किया गया है। वहाँ स्पष्ट घोषणा की गई है—"स्वार्थतो वा परार्थेन श्रेयसेऽभिनिवेशिना। प्राणिहिंसा न कार्या वै विशेषाज्जीवितैषिणाम्।। आयुषः क्षयमायाति नूनं प्राणवधात्रृणाम्। भूताभयप्रदानेन आयुषो वृद्धिमाप्नुयात्।।" (१७.३२८-३२९)। नारायणीय में बताया गया है कि राजा वसु उपरिचर अहिंसक याग का अनुष्ठान करता था—"न तत्र पशुघातोऽभूत्....आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः।।" (१२.३३६.१०-११)। यहीं ३३७वें अध्याय में वर्णित है कि "अजैर्यष्टव्यम्" इस विधिवाक्य में पशु से याग किया जाय या अन्न से, इस विषय में देवताओं और ऋषियों में विवाद के उठ खड़े होने पर राजा वसु के देवताओं का पक्ष ग्रहण करने पर उसकी आकाशगमन की सामर्थ्य नष्ट हो गई।

तत् तृतीयं हि यागाङ्गं तुर्यमन्त्रेन पूजनम्।
निवेदितस्य यद् दानं पूर्वोक्तविधिना मुने।।
सम्प्रदानं[१] तु तन्नाम यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम्।
वह्निसन्तर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तमः।।
प्राणाग्निहवनं नाम्ना त्वनुयागस्तदष्टमम्।
(२२.७५-८०)

अष्टांग याग का संक्षिप्त विवरण सात्वता में भी देखा जा सकता है। जैसे कि द्वितीय से लेकर पंचम परिच्छेद तक अन्तर्याग का, षष्ठ परिच्छेद में ७५ श्लोक पर्यन्त भोगयाग का, इसी परिच्छेद के अन्त में कारिप्रदान के रूप में पंचम सम्प्रदान का, ७६-१६२ श्लोकों में वह्निसन्तर्पण नामक षष्ठ अंग के साथ तृतीय एवं चतुर्थ अंग का, १६३-१८० श्लोकों में पितृयाग का और अष्टम अनुयाग का आत्मयाग के नाम से विवरण १८१-१८६ श्लोकों में मिलता है। स्वाध्याय और याग की भी यहाँ चर्चा है। ये सब विषय यथावसर अन्य परिच्छेदों में भी विवृत है।

जयाख्या (१२.८०-८३) में मानसयाग का विवरण देते समय [२]लय, भोग और अधिकार नामक त्रिविध अन्य यागों का भी परिचय मिलता है। यहाँ भाष्यकार (१७.६४-६५) लययाग का और (१७.६६) में भोगयाग का प्रतिपादन मानते हैं। "इन दोनों यागों की मन्त्रों के निराकार और साकार भेद के आधार पर लय और

---

१. सम्प्रदान नामक यागांग की भाष्य (पृ. ८५-८६, १०९, २७९, ३११-३१२, ५३१) में **कारिप्रदान** शब्द से व्याख्या की गई है। इसीके समर्थन में भाष्यकार ने जयाख्या के इन श्लोकों को उद्धृत किया है (पृ. ८६)। सच्चरित्ररक्षा (पृ. १२४) आदि में भी यही बताया गया है।

२. मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद (२.१४) में भगवान् शिव की लय, भोग और अधिकार दशाओं का विवेचन तृतीय और चतुर्थ पटल में मिलता है। व्याख्याकार रामकण्ठ (पृ. ३१) ने इनका स्वरूप बताया है। यहाँ केवल शब्दसाम्य ही है अथवा विषय में भी समानता है, इसकी परीक्षा अपेक्षित है। मतंगपारमेश्वर में ये भगवान् शिव की तीन अवस्थाएँ है और जयाख्या में बताया गया है कि इन तीन विधियों से भगवान् की पूजा की जाती है। हमारे विचार के अनुसार समस्त कार्यजगत् को अपने में विलीन कर लेने वाली शिव की निष्कलावस्था लयाख्या है और मूल मन्त्र में विद्यमान लयावस्था भी वैसी ही है। शैव दृष्टि में भोगावस्था बिन्दुगत है और वैष्णव मत में लक्ष्मी बिन्दुगत अवस्था का ही स्मरण कराती है। दोनों ही दृष्टियों में यह भगवान् की भोगावस्था है। शैव मत में मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र की गणना अधिकारावस्था में की जाती है और वैष्णव मत में कमल आदि की। मतंगपारमेश्वर में शक्तियों का अन्तर्भाव बिन्दुगत अवस्था में किया गया है। यह उचित ही है।

भोगयाग का निरूपण जयाख्या में मिलता है'' (पृ. ३०१) ऐसा कहकर भाष्यकार इन्हीं श्लोकों को उद्धृत करते हैं। ''ये ही श्लोक ईश्वर एवं पारमेश्वर संहिताओं में अपने-अपने मन्त्रों के न्यास की पद्धति से व्याख्यात हैं'' (पृ. ३०२) ऐसा कह कर वे पारमेश्वर-व्याख्यान की समीक्षा करते हैं।

सात्वता (१४.६-७) में [१]पवित्रारोपण के प्रसंग में त्रिविध भोगों का प्रसंगवश उल्लेख मिलता है। इनके नाम हैं—[२]सांस्पर्शिक, हृदयंगम और औपचारिक। भाष्य (पृ. २७३) में रक्त-चन्दन आदि भोग सांस्पर्शिक, हृदयंगम नाम के आभ्यवहरिक और छत्र-चामर आदि औपचारिक भोग माने गये हैं। भाष्यकार ने छठे परिच्छेद (पृ. ६१) में औपचारिक पद की व्याख्या करते समय इनका स्पष्ट परिचय दिया है। वे कहते हैं—''दृष्टि को आनन्द देने वाले दीपक आदि और श्रोत्र को आनन्द देने वाले स्तुति, वादित्र, गीत आदि औपचारिक भोग कहलाते हैं। लक्ष्मीतन्त्र (३६.८७-९२) में सांदृष्टिक, आभ्यवहारिक, सांस्पर्शिक और आभिमानिक नाम के चतुर्विध भोगों का परिचय दिया गया है। सात्वता में पवित्रोत्सव प्रकरण में औपचारिक, सांस्पर्शिक और

---

१. सात्वता में पवित्रारोपण परिच्छेद से पहले के तेरह परिच्छेदों में अभिगमन आदि नित्य और व्रत आदि नैमित्तिक कर्मों का वर्णन किया गया है। इनका आकस्मिक लोप होने पर व्यक्ति प्रत्यवाय (प्रायश्चित्त) का भागी हो जाता है। इसका परिहार कैसे किया जाय? संकर्षण के द्वारा प्रस्तुत इस प्रश्न का समाधान करने के लिये चतुर्दश पवित्रारोपण परिच्छेद का आरंभ होता है। ''लोभबुद्धि विना'' (१४.४) से लेकर ''सौत्रं परिसरम्'' (१४.९) पर्यन्त भगवान् इस प्रश्न का समाधान करते हैं और उसके बाद परिच्छेद की समाप्ति तक पवित्रारोपण-विधि वर्णित है। इसी के अंग के रूप में पन्द्रहवें परिच्छेद में स्नपन का विधान बताया गया है। इस प्रकार यहाँ कोई प्रकरण-विसंगति दोष नहीं है, जैसा कि डॉ. डेनियल स्मिथ ने यहाँ कहा है (पृ. ५३४-५३५)। मन्त्रलोप, क्रियालोप, द्रव्यलोप आदि की स्थिति में कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान करना पड़ता है। चातुर्मास्य व्रत इनका भी पूरक है और इसके भी प्रत्यवाय की शान्ति पवित्रारोपण से होती है। इससे पवित्रारोपण से सभी प्रकार के प्रत्यवायों का परिहार माना गया है। दीक्षित व्यक्ति को ही यह अधिकार प्राप्त होता है, अत: आगे १६वें परिच्छेद में दीक्षाविधि वर्णित है। इस प्रकार किसी तरह की त्रुटि या असंगति का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है।

२. ''ध्यात्वैवमर्चनं कुर्याद् भोगैः संस्पर्शपूर्वकैः'' (१३.६२) यहाँ भी सांस्पर्शिक भोगों की चर्चा है। इस तरह से भी १३वें और १४वें परिच्छेदों की परस्पर संगति सिद्ध होती है। सांस्पर्शिक भोगों से भगवदर्चन किया जाता है, यह बात १३वें परिच्छेद के अन्त में बताई गई है। इसमें विघ्न उपस्थित हो जाने पर पवित्रारोपण के द्वारा उसका परिहार किया जाता है। इसके लिये १४वें परिच्छेद में इसका विधान है। इस प्रकार प्रकरण की असंगति का कोई प्रश्न नहीं है।

आभ्यवहारिक नाम से तीन ही भोग प्रदर्शित हैं। अत: यहाँ लक्ष्मीतन्त्र के सांदृष्टिक और आभिमानिक भोगों का औपचारिक भोग में ही समावेश कर लिया जाता है। इस प्रसंग को भाष्य-ग्रन्थ (पृ.८०-८१) में देखा जा सकता है। भोगयाग को यहाँ विशेष महत्त्व दिया गया है। भोगयाग की समाप्ति पर साधक भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्, आप तो अपने आनन्दमय अव्यय भोगों से स्वयं सदा ही नित्यतृप्त हैं, तो भी मैं आपकी भक्ति से तृप्त होकर आत्म-तुष्टि के लिये आपको विविध भोग प्रदान करता हूँ (१४.१७)।

दीक्षा एवं अभिषेक

आगम-तन्त्रशास्त्र में प्रतिपादित आराधना में दीक्षित व्यक्ति का ही अधिकार माना गया है। 'दीक्षा' पद की व्युत्पत्ति प्राय: सर्वत्र एक सी दी गई है। 'दा दाने' और 'क्षि क्षये' इति दो धातुओं के संयोग से 'दीक्षा' शब्द बना है। योग्य और समर्थ गुरु के द्वारा शास्त्र में उपदिष्ट विधि से योग्य शिष्य को दी गई दीक्षा से उसका अज्ञान क्षीण हो जाता हे, अर्थात् गुरु के द्वारा दीक्षा के समय प्रदत्त मन्त्र की आराधना करने पर शिष्य का सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है और उसमें ज्ञान अंकुरित हो उठता है। यह ज्ञानांकुर ही धीरे-धीरे मुक्तिपादप के रूप में प्रवृद्ध हो जाता है। दीक्षा के प्रसंग में तन्त्रागमशास्त्र में सर्वत्र सद्गुरु और सच्छिष्य का लक्षण, देश-काल विचार, दीक्षा के भेद, दीक्षा की विधि, अधिवासन, मण्डप-मण्डल[1] निर्माण, अंकुरार्पण, पवित्रारोपण जैसे विषय संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णित हैं। दीक्षा का अधिकारी कौन हो सकता है? इस विषय में यहाँ वैमत्य है। एक पक्ष के अनुसार मानवमात्र को दीक्षा दी जा सकती है और दूसरे पक्ष का कहना है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार यहाँ भी कुछ प्रतिबन्धों को मान्यता देनी होगी।

पांचरात्र आगम में दीक्षित व्यक्ति की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। उनके नाम—[2]समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य हैं। प्रथमत: गुरु दीक्षा देते समय शिष्य को कुछ समयों (नियमों) का उपदेश करता है। उनका पालन करने वाला शिष्य **समयी** कहलाता है। समयों का नियमपूर्वक पालन करने वाले शिष्य को आचार्य पुत्रवत् स्वीकार कर लेता है। ऐसा शिष्य **पुत्रक** कहलाता है। गुरु के द्वारा उपदिष्ट पद्धति से मन्त्रजप आदि की सहायता से अपने इष्टदेव की आराधना में लगा हुआ

---

१. मण्डल-निर्माण से संबद्ध द्वारशोभा आदि पारिभाषिक शब्दों के अर्थ "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. ४७२,४७७-४८३) में देखिये।

२. समयी, पुत्रक आदि चतुर्विध दीक्षाओं का स्वरूप शैव और शाक्त तन्त्रों में भी इसी पद्धति से वर्णित है।

शिष्य **साधक** कहलाता है। अन्त में वही साधक गुरु की कृपा से **आचार्य** पदवी को प्राप्त कर लेता है। आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित गुरु अन्य व्यक्तियों को दीक्षित करने में समर्थ हो जाता है। समयी, पुत्रक अथवा साधक को यह अधिकार नहीं मिलता। शैव, शाक्त आदि आगमें में भी पूर्णाभिषिक्त गुरु को ही दीक्षा देने का अधिकार मान्य है।

बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा के स्थान पर अभिषेक पद प्रयुक्त होता है। विप्रभिक्षु के नाम से प्रसिद्ध धर्मकीर्ति ने प्रबल युक्तियों के द्वारा दीक्षा-संस्कार का खण्डन[१] किया है। तत्पश्चात् सभी बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा पद के स्थान पर अभिषेक पद का प्रयोग होने लगा। अन्य तन्त्रों में इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। आचार्य पदवी पर आरूढ़ शिष्य की योग्यता को देख कर गुरु उसको अभिषिक्त करता है। उस अभिषेक के प्राप्त होने के उपरान्त ही आचार्य को दीक्षा देने का अधिकार मिलता है, यह उनका पक्ष है। जयाख्यसंहिता में केवल आचार्य के ही नहीं, समयी आदि के भी अभिषेक का विधान मिलता है। वहाँ बताया गया है—"समयी का सेनापति की तरह, पुत्रक का महामन्त्री की तरह, साधक का युवराज की तरह और आचार्य का राजा की तरह अभिषेक करना चाहिये" (१८.३४-३५)। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जयाख्या के १६वें पटल में दीक्षा का और १८वें पटल में अभिषेक का विधान वर्णित है। इसी पद्धति से सभी शैव-शाक्त आगमों में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में ही इनका वर्णन मिलता है। इस प्रसंग में सात्वतसंहिता के भाष्यकार ने दो पक्षों की चर्चा की है। तदनुसार सात्वता में केवल आचार्याभिषेक का विधान है और जयाख्या में चारों प्रकार के शिष्यों का अभिषेक एवं उनका प्रयोग-भेद दिखाया गया है। सात्वता में केवल आचार्याभिषेक वर्णित है, साधक आदि के अभिषेक की कोई चर्चा नहीं है, अतः सात्वता के अनुयायी केवल आचार्य का ही अभिषेक करेंगे। अथवा "अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्" इस न्याय के अनुसार वेद की एक शाखा में अनुक्त विषय का ग्रहण जैसे शाखान्तर से कर लिया जाता है, उसी तरह से जयाख्या की पद्धति से साधक आदि का अभिषेक भी किया जा सकता है। इसमें कोई प्रत्यवाय (दोष) नहीं होगा (पृ. ४११)

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सात्वता की विधियों को विस्तार से बताने वाले ईश्वरतन्त्र(संहिता) में अभिषेक का विधान केवल मुख्य अधिकारियों के लिये ही किया गया है। अन्य व्यक्तियों का केवल दीक्षा-संस्कार ही विहित है (२१.५०३-५०४)। इसी तरह से पाद्मतन्त्र में भी आचार्यकुल में उत्पन्न व्यक्तियों के ही अभिषेक

---

१. स्वच्छन्दोद्योत में क्षेमराज ने धर्मकीर्ति के इस मत की समालोचना की है। इस विषय की चर्चा हमने "दीक्षाविषयक सौगत पक्ष पर क्षेमराज का दृष्टिकोण" शीर्षक निबन्ध में की है। देखिये—'धीः' पत्रिका का प्रथम अंक (पृ. १०६-११२)।

का विधान होने से अभिषेक के दो प्रकार हमें मानने होंगे। उनमें से एक दीक्षा का और दूसरा अधिकार की प्राप्ति का अंग माना जायगा। इनमें पहला सामान्याभिषेक और दूसरा पूर्णाभिषेक कहलायेगा। इनमें सामान्याभिषेक दीक्षा का अंग है और पूर्णाभिषेक अधिकार को प्राप्त कराता है, अर्थात् इससे आचार्य को अन्य व्यक्तियों को दीक्षित करने का अधिकार मिल जाता है। शाक्त तन्त्रों में पूर्णाभिषिक्त आचार्य ही परीक्षित योग्य शिष्यों को दीक्षित कर सकता है, अत: पूर्णाभिषेक योग्य आचार्य का ही किया जाता है। इस तरह से दीक्षा देने का अधिकार योग्य आचार्य को ही मिल सकता है, अत: पूर्णाभिषेक से उसी का समादर हो, इसके लिये सात्वता में केवल आचार्य के ही अभिषेक का विधान है। जयाख्या की उक्ति सामान्याभिषेक के अर्थ में लेनी चाहिये।

दीक्षा और अभिषेक की विशद चर्चा हमने सात्वतसंहिता के उपो. (पृ. ५४-६४) में की है। भोगदा और मोक्षदा नामक द्विविध दीक्षा का भी स्वरूप वहाँ निर्दिष्ट है। इसी तरह से डॉ. अशोककुमार कालिया के "पांचरात्र दीक्षा का स्वरूप" शीर्षक[1] निबन्ध में दीक्षा से संबद्ध विविध पक्षों का वर्णन मिलता है। डॉ. कालिया ने लक्ष्मीतन्त्र के प्रमाण से त्रिविध दीक्षा का स्वरूप इस प्रकार बताया है—१. महामण्डल में इष्टदेवता की आराधना के द्वारा, २. केवल हवन के द्वारा अथवा ३. केवल वाणी के द्वारा यह दीक्षा दी जाती है। प्रथम विधि से धनाढ्य को, दूसरी विधि से सामान्य गृहस्थ को और तीसरी विधि से द्रव्यहीन को दीक्षित किया जाता है। इस तरह से दीक्षा की ये तीन विधियां हैं" (४१.९-१०)। यहाँ की प्रथम विधि का परिचय देते समय डॉ. कालिया ने [2]चक्राब्जमण्डल और भद्रकमण्डल का स्वरूप सचित्र प्रदर्शित किया है और पूना के डॉ. प्रभाकर आपटे ने अपने [3]"मण्डलाकृति विमर्श" शीर्षक निबन्ध में मण्डलों के निर्माण की पद्धति को सप्रमाण समझाया है। पांचरात्र आगम के समान ही शैव सिद्धान्तशास्त्र और बौद्ध-जैन तन्त्रों में मण्डलाराधन की विधि का विस्तार से वर्णन मिलता है। इन सभी मतों में मण्डलों की रचना कर उन्हींमें दीक्षा-संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

समय के परिवर्तन के साथ परात्रीशिका जैसे कौल तन्त्रों (श्लो. १८) में कहा गया है कि मण्डलों का दर्शन किये बिना भी व्यक्ति दीक्षित होकर सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान-सिद्धि जैसे बौद्ध तन्त्रों (प. १५, पृ.१४४) में भी इसी पद्धति से बिना ही मण्डल में प्रविष्ट हुए दीक्षा का विधान है। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि मण्डल-

---

१. द्रष्टव्य—भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ. ४२३-४६१

२. देखिये—वहीं (पृ.४४६-४५३)।

३. देखिये—वहीं (पृ. ४७७-४८१)।

प्रवेश का सिद्धान्त आवश्यक नहीं रह गया और परिणाम-स्वरूप अब मण्डलाराधन की विधि विलुप्त सी हो गई है। कुछ गिने-चुने विद्वान् ही अब मण्डल-रचना की विधि को जानते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में सर्वतोभद्र आदि मण्डलों के रूप में इसका प्रवेश अवश्य हो गया है।

अधिवासन, स्वप्नविचार, दन्तकाष्ठभक्षण, दीक्षित के द्वारा पालनीय समय (नियम) जैसे दीक्षा-संस्कार से संबद्ध सभी विषयों का स्वरूप डॉ. अशोककुमार कालिका के उक्त [1]निबन्ध में सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। [2]पांचरात्रागम में दीक्षित व्यक्ति एकान्ती, पांचरात्रिक, सूरि, भागवत, सात्वत, पांचकालिक आदि नामों से जाना जाता है। इसी पद्धति से "पांचरात्रागम" नामक ग्रन्थ में भी विभिन्न संहिताओं में वर्णित सारी दीक्षा-प्रक्रिया [3]षडध्वशुद्धि के एवं [4]ताप आदि पाँच संस्कारों के साथ विस्तार से बताई गई है।

भोग एवं मोक्ष

सात्वता (१९.४) में कैवल्यफलदा, भोगकैवल्यदा और भोगदा के भेद से दीक्षा के तीन प्रकार बताये गये हैं। इनमें वैभवी दीक्षा ऐहिक सिद्धि और मोक्षलक्ष्मी, दोनों को देने वाली है (१९.१६८)। व्यूहदीक्षा और ब्रह्म(पर)दीक्षा नित्य दीक्षा कहलाती हैं। इनका फल केवल मोक्ष-प्राप्ति है। इनमें भी चातुरात्म्य स्वरूपवाली व्यूहदीक्षा साधकों को पहले षाड्गुण्यमय भोगों को देती है और ब्रह्म(पर)दीक्षा साधक को प्रकृति में विलीन कर देती है (१९.१७८-१८०)। परवासुदेव को ही यहाँ प्रकृति कहा गया है। यहाँ (१.२७) व्यूह-संज्ञक सद्ब्रह्म निःश्रेयस फल को और वैभव स्वरूप भुक्ति और मुक्ति को देने वाला माना गया है। अन्यत्र (९.४३-४६) पर मन्त्र को मोक्षप्रदाता तथा व्यूह मन्त्र को मिश्र और अमिश्र का, अर्थात् भोगमोक्षात्मक एवं केवल मोक्षात्मक फल का प्रदाता माना है। इस तरह से पर दीक्षा कैवल्यदा और व्यूह एवं वैभव दीक्षा दोनों भोगकैवल्यदा मानी गई हैं। इनमें व्यूहदीक्षा भोगों के अनन्तर मोक्ष को भी देती है और वैभव दीक्षा साधक की इच्छा के अनुसार उसको भोग या कैवल्य प्रदान करती है। यहाँ

---

१. द्रष्टव्य—वहीं (पृ. ४५३-४६१)।

२. "सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित्।। ऐकान्तिकस्तन्मयश्च पाञ्चरात्रिक इत्यपि। एवमादिभिराख्याभिराख्येयः कमलासन।।" (पा. त. च. २.८७-८८)।

३. पृ. १३० की ३ री टिप्पणी तथा लुप्ता. उपो. का षडध्वशोधन प्रकरण (पृ. १७४-२०२) देखिये।

४. "तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः" पांचरात्रागम (पृ. ३०४-३०८) में इनका विशेष विवरण देखिये।

भोग की प्रधानता पर मोक्ष गौण और मोक्ष की प्रधानता पर भोग गौण हो जायगा, भाष्यकार (पृ. २०) का यह विवेचन है। इस दृष्टि से वैभवी दीक्षा भोगदा, व्यूहीय दीक्षा भोगकैवल्यदा और पर दीक्षा कैवल्य को देने वाली है, ऐसा कहा जा सकता है। वैभवी दीक्षा केवल भोग को ही देती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैभव-स्वरूप को विभिन्न प्रकरणों (९.१०२,१२१-१२२; १९.१६९) में मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति की भी बात मिलती है। यहाँ (१६.४०) स्पष्ट बताया गया है कि [1]विभूति (ऐश्वर्य) और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिये दीक्षात्रय का विधान है।

भुक्ति, सिद्धि, भूति, विभूति, काम—ये सब भोग के पर्यायवाची शब्द हैं। पातालोत्तिष्ठ (१७.४४७) जैसी क्षुद्र सिद्धि से लेकर भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक का सारी सिद्धियाँ (९.१२४,१२९-१३०) इसमें आती हैं। शाश्वती सिद्धि (१४.३४), अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ (१६.३४,३८), आत्मसिद्धि समेत समस्त यागसिद्धियाँ (१६.३४), षाड्गुण्य महिमा की प्राप्ति (१६-३९), वैभवीय सिद्धियाँ (१६.३९), नृसिंह मन्त्र से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति (पृ. ३४१), अणिमा आदि भोगों की प्राप्ति (१९.१४५), षाड्गुण्य-भोगाप्ति (१९.१७९)—इस तरह की विविध सिद्धियाँ यहाँ वर्णित हैं। इस तरह से भूलोक के समस्त भोगों के साथ षाड्गुण्य पर्यन्त समस्त विभूतियाँ **भोग** पद के अर्थ के रूप में गृहीत हैं (९.३९)।

सात्वतोक्त त्रिविध और लक्ष्मीतन्त्रोक्त चतुर्विध भोग-यागों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ऐहिक और पारलौकिक सभी विषय भोग के अन्तर्गत आते हैं। भगवान् की आराधना से इन सबकी प्राप्ति हस्तामलक के समान हो जाती है।

मन्त्र-मूर्ति आदि की आराधना करते समय अथवा व्रत आदि का आचरण करने पर भी कभी-कभी साधक को इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, उसमें अनेक तरह के विघ्न आ जाते हैं। इस अवस्था में भी साधक को हताश नहीं होना चाहिये। सात्वता (७.१२२-१२३) में बताया गया है कि भगवान् संकल्प मात्र से भक्त के सारे कार्यकलाप को अमृत से आप्यायित कर देते हैं। भगवद्गीता (२.४०; ६.४०) में भी यह स्पष्ट रूप से उपदिष्ट है कि भले कार्य कभी निष्फल नहीं जाते। धर्म का थोड़ा सा भी अंश महान् भय से कर्ता को मुक्त करने में समर्थ है। सबका कल्याण करने वाला मानव कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

भोगों से विरक्त हुआ साधक जब अणिमा आदि सिद्धियों का तृणवत् त्याग कर देता है, तब मन्त्र अपनी शक्ति के द्वारा उसको शब्दब्रह्म तक पहुँचाने के लिये षडध्व

---

१. "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१.१.२) इस वैशेषिक सूत्र में अभ्युदय और निःश्रेयस शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं।

मार्ग में प्रवृत्त करा देते हैं (१९.१४७-१४९)। परमेश्वर समस्त प्राणियों को मुक्ति प्रदान करने के लिये अपनी शक्ति से स्वयं ही शब्दब्रह्म का स्वरूप धारण कर लेते हैं (१९.१२८)। इस शब्दब्रह्म की आराधना करने वाला साधक सुशान्त भगवत्पद को प्राप्त कर लेता है (१९.१५०)। यह भगवत्पद यहाँ सालोक्य (७.११९) और सायुज्य (२५.३५०) नामों से निर्दिष्ट है। भाष्यकार (पृ. १३९) का कहना है कि "सालोक्यतापूर्वम्" यहाँ जो पूर्व पद जोड़ा गया है, उससे सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य का भी बोध मानना चाहिये। भाष्यकार ने सच्चरित्ररक्षा का यह श्लोक भी उद्धृत किया है—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् सामीप्यमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।
अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ।।

ये चारों प्रकार मोक्ष के ही हैं, ऐसा श्रुति-स्मृति-पुराण आदि में भी प्रतिपादित है। नारायणपदप्राप्ति (१.१७) के रूप में इन चारों का ग्रहण यहाँ किया जा सकता है। ऊपर के श्लोक के "स तु मोक्ष उक्तः" पदों का प्रत्येक से संबन्ध हो सकने पर भी सायुज्य की भगवान् से अभिन्नता के आधार पर मुख्य परामर्श उसीका होना उचित है। इस तरह से सायुज्य-प्राप्ति को ही मोक्ष मानना चाहिये। सात्वता (६.२१४; १९.१४०, १८०) के इन सभी वचनों में संवेद्यनिर्मुक्त समाधि से ब्रह्मीभाव की, परब्रह्म वासुदेव भाव की प्राप्ति की, [1]परम प्रकृति वासुदेव में साधक के विलीन हो जाने की बात कही गई है। यही विषय "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इस मुण्डकश्रुति (३.१३) में भी प्रतिपादित है। सात्वता के—"बीजात्मा चिन्मयः पुमान्" (११.३५) इस वचन में स्पष्ट ही बताया है कि मन्त्रों की आराधना से साधक भक्त चित्स्वरूप बन जाता है। सात्वता के अनुसार भोग और मोक्ष का यही स्वरूप है।

आधुनिक साहित्य

दीक्षा और अभिषेक की ऊपर चर्चा हो चुकी है। दीक्षित व्यक्ति मूर्ति आदि में अपने इष्टदेव की आराधना करता है। इसके लिये प्रतिमा, प्रासाद (मन्दिर) आदि का निर्माण अपेक्षित है। इनसे संबद्ध प्रतिमा-निर्माण, प्रतिमा के उपादान द्रव्य, प्रतिमा का

---

१. "वासुदेवः परा प्रकृतिः" (२.२.४२) ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य के इस वचन में वासुदेव को परा प्रकृति बताया गया है। "इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।" (७.५) भगवद्गीता के इस वचन में और "अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्" (५.८१) सात्वता के इस दृष्टान्त से भी परवासुदेव ही सबकी प्रकृति है, यह ज्ञात होता है। इस प्रसंग में पूर्व की पृ. १४० की २ री टिप्पणी भी देखिये।

प्रमाण, आलय-कल्पन, आलय-निर्माण, प्रतिमा की प्रतिष्ठा, उत्सव-स्नपन-पवित्रारोपण (पवित्रोत्सव) आदि का आयोजन आदि के साथ वैष्णवों के आचारों का तथा उनके भेदों का विस्तार से वर्णन "पांचरात्रागम"[1] नाम के ग्रन्थ में किया गया है। ये सभी विषय क्रिया और चर्या पाद से संबद्ध हैं। उस ग्रन्थ के दूसरे एवं तीसरे भाग (पृ. १०५-२४७) में ये वर्णित हैं। इसी ग्रन्थ के पहले भाग के तृतीय अध्याय में दर्शन के प्रकरण में मन्त्र-पद की निरुक्ति और मन्त्रोद्धार की प्रक्रिया के साथ [2]मन्त्रविषयक और चतुर्थ अध्याय में मुद्राविषयक विचार किया गया है (पृ. ६३-१०४)। परिशिष्ट भाग (पृ. ३४८-३६५) में २७२ प्रकार की मुद्राओं के नाम दिये गये हैं। इसी तरह से विशिष्ट पदों का विवरण भी यहाँ (पृ. ३९०-३९८) देखा जा सकता है। कुछ मुद्राओं के, [3]भद्रक मण्डल का, कुछ मूर्तियों के एवं स्नपनपीठ के चित्र भी यहाँ दिये गये हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में आगम पद का सामान्य लक्षण देते हुए पांचरात्र आगम का (पृ. ९-१६), पांचरात्र साहित्य का (पृ. २१-२९) और इनके प्रतिपाद्य विषयों का विवरण (पृ. २९-३५) मिलता है। इस तरह से इस ग्रन्थ से पांचरात्र आगम का हम सर्वांगपूर्ण परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

डॉ. अशोककुमार कालिया ने "लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन" नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। इनमें से एक पांचरात्र दीक्षा से संबद्ध है। इसका प्रकाशन "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. ४२३-४६१) में हुआ है। इतिहास-प्रधान दूसरा "पांचरात्र परम्परा और साहित्य" शीर्षक निबन्ध बृहत् इतिहास के तन्त्रागमीय खण्ड (पृ. ५८-१०२) में देखा जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रस्तुत प्रकरण में इन सबकी चर्चा आ चुकी है, तो भी इतिहास-प्रधान निबन्ध में पांचरात्र-शास्त्र की श्रुतिमूलकता, परब्रह्म के पाँच रूप, पंच काल और पंच संस्कारों का विवरण, सिद्धान्तभेद-गुणभेद की पद्धति से संहिताओं का परिचय, व्याख्यान-संहिताओं की एवं दिव्य देशों की सूची—इस तरह के अनेक नूतन विषय यहाँ समाविष्ट हैं, जिनसे पाठकों को विशेष लाभ मिल सकता है। यहाँ के पंचरत्न प्रकरण को (पृ. १००) हमने परिशुद्ध रूप में ही प्रस्तुत किया है।

---

१. डॉ. राघवप्रसाद चौधरी कृत यह ग्रन्थ चार भागों में और प्रत्येक भाग चार-चार अध्यायों में विभक्त है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से सन् १९८७ में यह प्रकाशित हुआ है।

२. पांचरात्र संहिताओं में उद्धृत वैदिक मन्त्रों पर भी यहाँ विचार किया गया है। किसी अनुसन्धाता ने इस तरह के सभी मन्त्रों की सूची स्थान-निर्देश के साथ प्रस्तुत कर दी है।

२. जैसी कि अभी सूचना दी गई है, भद्रकमण्डल के साथ चक्राब्जमण्डल का सचित्र विवरण "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. ४४७-४५३) में भी देखा जा सकता है।

डॉ. एस. एन. दासगुप्त के भारतीय दर्शन के इतिहास के तृतीय खण्ड में पांचरात्र-शास्त्र का विवरण देते समय अनेक वैष्णव उपनिषदों की चर्चा की है। यामुनाचार्य का आगमप्रामाण्य, वेदान्तदेशिक का पांचरात्ररक्षा जैसे पांचरात्र के प्रामाण्य के उपस्थापक ग्रन्थ तो बहुत प्रसिद्ध हैं, किन्तु इस ग्रन्थ में सिद्धान्तरत्नावली का और गोपालसूरि के पांचरात्ररक्षासंग्रह का भी परिचय दिया गया है। विभवावतार के प्रकरण में यहाँ भी डॉ. श्रादर की पद्धति से लोकनाथ और शान्तात्मा को पृथक् माना गया है। इस पर अभी विचार हो चुका है कि शान्तात्मा लोकनाथ का विशेषण है। पांचरात्र के प्रामाण्य की स्थापना करने वाले दो ग्रन्थ और उपलब्ध है। उनके नाम हैं—तन्त्रशुद्धि और तन्त्राधिकारिनिर्णय। इनमें से पहला ग्रन्थ भट्टारक वेदोत्तम की कृति है और इसका प्रकाशन त्रिवेन्द्रम् से हुआ है। दूसरे ग्रन्थ के कर्ता प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित हैं। यह ग्रन्थ कभी काशी से प्रकाशित हुआ था। अब इसका परिष्कृत संस्करण लखनऊ की संस्कृत परिषद् से हो चुका है। इसका सम्पादन डॉ. अशोककुमार कालिया ने किया है।

इस प्रसंग में डॉ. जे. गोण्डा का "मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत" नामक ग्रन्थ भी स्मरणार्ह है। इस ग्रन्थ के पाँच अध्यायों में (पृ. ३९-१३९) विस्तार से पांचरात्रागम की चर्चा है। इनमें से कुछ विषय विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। ग्रन्थ के प्रारंभ में आगम पद का विवरण देते समय विद्वान् लेखक का कहना है कि यह शास्त्र उत्तरभारत में तन्त्र पद से और दक्षिणभारत में आगम पद से विशेष रूप से जाना जाता है (पृ. २, टि.५)। यहीं उन्होंने महाभारत के वचन को उद्धृत किया है कि आगम शास्त्र के द्वारा लोकधर्म की मर्यादाओं की स्थापना हुई थी (१३.१३३.६०)। क्रिया और चर्या पदों का अर्थ भी उन्होंने यहाँ (पृ. ३) स्पष्ट किया है। पंचरात्र और पांचरात्र—इन दोनों शब्दों का प्रयोग कहाँ करना चाहिये, इस पर उन्होंने टिप्पणी की है (पृ. ४, टि.२७)। पांचरात्र संहिताओं में मत-मतान्तर का उल्लेख मिलता है, इस विषय पर उन्होंने अहिर्बुध्न्यसंहिता को प्रस्तुत किया है (पृ. ८५)। श्रीप्रश्नसंहिता में योगतत्त्वोपनिषत् के विषय उपलब्ध हैं (पृ. ९३), एस. जायसवाल रचित ग्रन्थ "दी ओरिजिन एण्ड डवलपमेन्ट आफ वैष्णविज्म" का प्रकाशन दिल्ली से सन् १९६७ में हुआ था, [१]नारदसंहिता में बुद्धावतार की चर्चा है (पृ. १०२), मत्स्यपुराण (२००.९) में कपिंजलसंहिता का नाम मिलता है, छान्दोग्योपनिषत् (२.२३.३) में कहोल और

---

१. "लोकनाथस्तु शान्तात्मा" इस वचन की चर्चा के प्रसंग में सात्वता, पौष्करा, अहिर्बुध्न्यसंहिता और लक्ष्मीतन्त्र में बुद्धावतार ही वर्णित है, यह हम यहीं (पृ. १२३-१२४) बता चुके हैं। अतः यहाँ उसकी पुनः चर्चा अनपेक्षित है।

याज्ञवल्क्य का संवाद पांचरात्र सिद्धान्तों का अनुसरण करता है (पृ. ११३), अहिर्बुध्न्यसंहिता में सात्वता के अतिरिक्त जयाख्या भी स्मृत है—इन तरह के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की सूचना यहाँ सप्रमाण दी गई है। बृहद्ब्रह्मसंहिता (अ. ६-१०) में विद्यमान रुद्रगीता की भी चर्चा यहाँ (पृ. १०४) की गई है। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना होगा कि इस संहिता (२.७.६७-७१) में रामानुजाचार्य की और शाण्डिल्यसंहिता (४.१५.४३) में वल्लभाचार्य की चर्चा मिलती है। डॉ. गोण्डा का "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" नामक ग्रन्थ भी लन्दन से सन् १९७० में प्रकाशित हुआ है।

डॉ. एफ. ओटो श्रादर के ग्रन्थ से, जो पांचरात्र आगम और अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा डॉ. भाण्डारकर के ग्रन्थ वैष्णविज्म··· से इस विषय के सभी विद्वान् परिचित हैं। पांचरात्र आगम के परवर्ती अध्येताओं के लिये ये दोनों ग्रन्थ आधारभूत रहे हैं। हमने यहाँ देखा है कि परवर्ती लेखकों ने इनका अन्धानुसरण किया है। यहाँ हमने डॉ. श्रादर के ग्रन्थ में आवश्यक संशोधन प्रस्तुत किये हैं। डॉ. गोण्डा ने ऊपर चर्चित ग्रन्थ (पृ. ६, टि. २६) में बताया है कि नारायणीयोपाख्यान पर डॉ. भाण्डारकर से पहले सन् १९०८ में डॉ. जी. ए. ग्रियर्सन ने निबन्ध लिखा था।

❋❋❋

भागवत आगम

"हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड (२.२-९) में पचीस पांचरात्र संहिताओं और दस भागवत संहिताओं की नामावली मिलती है। डॉ. ओटो श्रादर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका (पृ. ५-११) में इन सबका समावेश पांचरात्र संहिताओं में कर दिया। अग्निपुराण (३९.२-५) में यहाँ की पचीस पांचरात्र संहिताओं के ही नाम संगृहीत हैं। यदि शेष नाम भी पांचरात्र संहिताओं के ही होते, तो यहाँ उनका भी समावेश अवश्य हुआ होता, किन्तु ऐसा है नहीं। अग्निपुराण में उनका समावेश न होने से और "इमे भागवतानां तु" (२.९) हयशीर्ष के इस वचन से स्पष्ट होता है कि यहाँ पांचरात्र संहिताओं के बाद भागवत संहिताओं के नाम प्रस्तुत किये गये हैं।" इस विषय की सूचना हमने आगममीमांसा (पृ. ९) में दी थी।

भागवतागम नामावली

इस प्रकरण की पुनः परीक्षा अपेक्षित है। इसके लिये हम पहले उक्त दोनों ग्रन्थों के वचनों को आनुपूर्वी से प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा करना चाहते हैं। हर्यशीर्ष पंचरात्र का यह अंश इस प्रकार है—

प्रोक्तानि **पञ्चरात्राणि** कल्पे कल्पे पुरा मया।
व्यस्तानि मुनिभिर्लोके **पञ्चविंशतिसंख्यया**।।

आद्यं समस्ततन्त्राणां हयशीर्षं प्रकीर्तितम्।
त्रैलोक्यमोहनं तन्त्रं वैभवं पौष्करं तथा।।

नारदीयं तथा तन्त्रं प्राह्लादं गार्ग्यगालवम्।
श्रीप्रश्नं शाण्डिलं तन्त्रं तन्त्रमीश्वरसंहिता।।

सत्योक्तमुत्तमं तन्त्रं वासिष्ठं शौनकं तथा।
नारायणीयमन्यच्च तन्त्रं ज्ञानार्णवं तथा।।

स्वायम्भुवं कापिलं च विहगेन्द्रं तथाऽपरम्।
आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारुणम्।।

बौधायनं तथा तन्त्रं तन्त्रं वैश्वावतारितम् ।
अष्टाक्षरविधानं तु महातन्त्रं तदुच्यते ।।
समासैर्विस्तरैरेते भूतलं व्याप्य संस्थिताः ।
(२.१-७)

यहाँ तक पचीस पंचरात्र आगमों की नामावली पूरी हो जाती है। आगे—

तन्त्रं भागवतं चैव शिवोक्तं विष्णुभाषितम् ।
पद्मोद्भवं पुराणं च वाराहं च तथापरम् ।।
इमे भागवतानां तु तथा सामान्यसंहिता ।
व्यासोक्ता संहिता चान्या तथा परमसंहिता ।।
(२.८.९)

इस तरह से अन्य संहिताएँ परिगणित हैं। यहाँ तन्त्र और संहिता पद प्रयुक्त हुए हैं, आगम शब्द का प्रयोग नहीं है, यह विचारने की बात है। इससे हम इस तन्त्र का प्रादुर्भाव [1]उत्तरभारत में हुआ, ऐसा मान सकते हैं। अस्तु, अब अग्निपुराण की नामावली दी जा रही है—

प्रोक्तानि **पञ्चरात्राणि···पञ्चविंशतिसंख्यया** ।
हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम् ।।
वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्राह्लादं गार्ग्यगालवम् ।
नारदीयं च सम्प्रश्नं शाण्डिल्यं वैश्वकं तथा ।।
सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वासिष्ठं ज्ञानसागरम् ।
स्वायम्भुवं कापिलं च तार्क्ष्यं नारायणीयकम् ।।
आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारुणम् ।
बौधायनं तथार्षं च विश्वोक्तं तस्य सारतः ।।
(३९.१-५)

यहाँ केवल पचीस पंचरात्र आगमों की नामावली दी गई है।

---

१. डॉ. जे. गोण्डा ने निष्कर्ष निकाला है कि दक्षिणभारत में आगम के नाम से प्रसिद्ध शास्त्र उत्तरभारत में तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। द्रष्टव्य—मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर, पृ. २, टि.५

अब हम इन दोनों नामावलियों की समीक्षा करना चाहेंगे। अग्निपुराण के ३९-७० अध्यायों में हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड में वर्णित सभी विषय, श्लोकों की भी आनुपूर्वी के साथ मिलते हैं। ऐसी स्थिति में पंचरात्र आगमों की नामावली भी वहीं से ली गई है, यह मानना स्वाभाविक है। संप्रश्न के स्थान पर श्रीप्रश्न पाठ ही उचित है। 'गार्ग्यगालवम्' यह एक ही तन्त्र है। डॉ. श्रादर ने भी इसे एक ही तन्त्र माना है। यह ठीक भी है, क्योंकि तभी पचीस तन्त्रों की संख्या पूरी बैठती है। "समासैर्विस्तरैरेते भूतलं व्याप्य संस्थिता:" यहाँ तक का ग्रन्थ पंचरात्र से संबद्ध है। यहाँ इनकी पचीस संख्या पूरी हो जाती है। पचीस पंचरात्र तन्त्रों का दोनों ही स्थलों पर स्पष्ट उल्लेख है। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निपुराण में केवल पांचरात्र तन्त्रों के नाम हैं। डॉ. श्रादर ने अग्निपुराण के आर्ष तन्त्र को ही अष्टाक्षरविधान नाम दिया है। अग्निपुराण में यह नाम उपलब्ध नहीं है।

इसके आगे हयशीर्ष में भागवत-तन्त्रों की नामावली दी गई है, क्योंकि "इमे भागवतानां तु" (२.९) ऐसा वहाँ स्पष्ट उल्लेख है। [1]डॉ. कालिया का कहना है कि यहाँ सात भागवत तन्त्र परिगणित हैं। इनके नाम ये हैं—अष्टाक्षरविधान, तन्त्रभागवत, शिवोक्त, विष्णुभाषित, पद्मोद्भव, पुराण और वाराह। यहाँ अष्टाक्षरविधान का समावेश पांचरात्र-तन्त्रों में होगा, क्योंकि यहीं आकर उनकी पचीस संख्या पूरी होती है। डॉ. श्रादर ने पुराण नाम का समावेश भी अपनी सूची में किया है। यह स्वतन्त्र नाम है, या इसको पद्मोद्भव और वाराह के विशेषण के रूप में जोड़ना चाहिये, या इन तीनों नामों के साथ संहिता पद को जोड़ना चाहिये—ये तीन विकल्प हमारे सामने हैं। [2]पुराणसंहिता नाम का एक नवीन ग्रन्थ आजकल उपलब्ध है। पद्मोद्भव और वाराह संहिताओं के नाम भी मिलते हैं। इस तरह से तीसरे विकल्प को हम मान्यता दे सकते हैं। पुराणसंहिता नाम की कोई प्राचीन संहिता अवश्य रही होगी। तन्त्रभागवत का उल्लेख मध्वाचार्य ने अपने ग्रन्थ [3]भागवततात्पर्यप्रकाश में और जीव गोस्वामी ने षट्सन्दर्भ (पृ. १७, २२ इत्यादि) में किया है। लगता है शर्वोक्त तन्त्र ही शिवोक्त नाम से कहा गया है। यह नाम अन्यत्र भी उपलब्ध है। विष्णुभाषिततन्त्र के विषय में हमें जानकारी प्राप्त करनी होगी।

---

१. "लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन" नामक ग्रन्थ (पृ. १४) देखिये।

२. यह पुराणसंहिता आलवन्दारसंहिता, बृहत्सदाशिवसंहिता और सनत्कुमारसंहिता के साथ चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी से २००८ विक्रम संवत् में प्रकाशित हुई थी।

३. द्रष्टव्य—सर्वमूल (पृ. १), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई-संस्करण।

हयशीर्ष में आगे (२.९) सामान्यसंहिता, व्यासोक्तसंहिता और परमसंहिता के नाम उपलब्ध हैं। डॉ. कालिया ने इनकी कोई चर्चा नहीं की है। इनमें से परमसंहिता का नाम पांचरात्रागम की [1]पंचरत्न सूची में उपलब्ध है। पांचरात्राधिकरण (२.२.४२) में रामानुजाचार्य ने इसको उद्धृत किया है। पंचरत्न-सूची में ऊपर चर्चित पद्मोद्भव का भी नाम मिलता है। अब दो नाम बचते हैं—सामान्यसंहिता और व्यासोक्ता संहिता। सामान्यसंहिता किसी संहिता का नाम है या भागवत-संहिताओं के बाद दो सामान्य संहिताओं के नाम यहाँ दिये गये हैं? व्यासोक्तसंहिता कौन सी है? इन प्रश्नों का समाधान अभी होना बाकी है। सामान्यसंहिता के साथ यहाँ परमसंहिता का भी नाम है, जो स्पष्ट रूप से पांचरात्र संहिता है, अतः सामान्यसंहिता भी कोई नाम ही होना चाहिये। पुराणों में वेदव्यास एवं उनके चार शिष्यों की संहिताओं का उल्लेख मिलता है। क्या व्यासोक्तसंहिता से इस संहिता का ग्रहण किया जा सकता है? ऊपर बताई गई सात भागवतसंहिताओं में से अष्टाक्षरविधान का अन्तर्भाव पांचरात्र आगम में हो जाने से छः भागवत संहिताएं बच जाती हैं। उनके साथ इन तीन नामों को जोड़ने पर यह संख्या नौ होगी। आगममीमांसा (पृ. ९) में इनकी संख्या दस दी गई है, जो सही नहीं लगती। ये सभी भागवतों की संहिताएँ हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तो भी पांचरात्र संहिताओं से भिन्न भागवत संहिताओं की उपस्थिति तो इससे स्पष्ट हो ही जाती है।

वैखानस प्रकरण में उद्धृत वचनों से भागवत आगमों का अन्तर्भाव वैष्णवागमों के मिश्र विभाग में होता है। वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र नामक भगवान् विष्णु के आराधन की त्रिविध पद्धति का उल्लेख श्रीमद्भागवत, देवीभागवत आदि में भी मिलता है। इनमें से मिश्र विभाग में वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही तरह की पूजाविधियों का समन्वित स्वरूप स्वीकृत है। इसको हम स्मार्त तन्त्र भी कह सकते हैं। पुराणों में प्रायः स्मार्त

---

१. इसकी चर्चा पांचरात्र प्रकरण में आ चुकी है। कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित है। "तन्त्राणां चैव रत्नानि पञ्चाहुः परमर्षयः। पाद्मं सनत्कुमारं च तथा परमसंहिता।। पद्मोद्भवं च माहेन्द्रं काण्वतन्त्रामृतानि च।" पाद्मसंहिता चर्यापाद (३३.२०४-२०५) में यह वचन उपलब्ध है। यहाँ "रत्नानि पञ्चाहुः" यह स्पष्ट उक्ति है। इस स्थिति में छः तन्त्रों की नामावली देना ठीक नहीं है। इसका समाधान बृहदितिहास के तन्त्रागमीय खण्ड (पृ. ९९-१००) में दिया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व (एकायन) शाखा का अनुसरण करने वाले पांचरात्र तन्त्रों में ये पाँच तन्त्र श्रेष्ठ हैं, ऐसा अर्थ है— "काण्वतन्त्रामृतानि' पद का। पांचरात्र तन्त्रों का काण्व शाखा से और वैखानस तन्त्रों का कृष्णयजुर्वेद की औखेय शाखा से संबन्ध बताया जा चुका है। डॉ. कालिया को इसीके अनुसार अपने शोधप्रबन्ध (पृ. ४३-४४) में भी संशोधन कर लेना चाहिये।

सिद्धान्त ही प्रतिपादित हैं। तन्त्रभागवत आदि ऊपर सूचित भागवत आगमों में से किसी के भी उपलब्ध न होने से वैष्णव पुराणों के आधार पर ही हम भागवतों के सिद्धान्तों को जानने का प्रयत्न कर सकते हैं।

विष्णुपुराण, [१]श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थ भागवत सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं, ऐसा विद्वानों का मानना है। नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र, भगवद्भक्तिरसायन, भक्तिचन्द्रिका, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, विष्णुभक्तिकल्पलता जैसे भक्तिशास्त्र के ग्रन्थ भी भागवत मत को ही पुष्ट करते हैं। रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी जैसे वंगीय विद्वान् और उनके उज्ज्वलनीलमणि, षट्सन्दर्भ जैसे ग्रन्थ विष्णुभक्ति की महिमा को तो गाते ही हैं, इनमें भक्ति की रसरूपता और पंचम पुरुषार्थता भी स्थापित है। अभिप्राय यह है कि इन विद्वानों ने नौ रसों के स्थान पर भक्ति को दसवाँ रस और चार पुरुषार्थों के स्थान पर भक्ति को पांचवाँ पुरुषार्थ माना है।

भक्तिरस को पंचम पुरुषार्थ की मान्यता दिलाने वाले इन वंगीय विद्वानों का और उनके ग्रन्थों का परिचय डॉ. जे. गोण्डा के ऊपर चर्चित ग्रन्थ से प्राप्त किया जा सकता है (पृ.१८-३२)। इसी तरह से प्रो. भागवतकुमार गोस्वामी के ग्रन्थ [२]"भक्ति कल्ट इन एंश्येन्ट इण्डिया" में भक्ति-सम्प्रदाय का सांगोपांग विवरण मिलता है। इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक ने अपने ग्रन्थ के ४०० मूल्यवान् पृष्ठों में वेद, सांख्य, योग, जैन, बौद्ध, वेदान्त, पाशुपत, पांचरात्र, इतिहास, पुराण, तन्त्रशास्त्र और भक्तिशास्त्र के आधार पर भक्तिशास्त्र पर किये गये निरर्थक आक्षेपों का परिहार करते हुए विशुद्ध भारतीय भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की है।

भक्ति सम्प्रदाय

भारतवर्ष में भक्ति-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव और प्रसार ईसामसीह के उपदेशों के बाद हुआ, ऐसा आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का मानना है। प्रो. भागवतकुमार गोस्वामी इसको स्वीकार नहीं करते। वे वेदों में भी इसकी उपस्थिति मानते हैं। उनका कहना है कि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (१.१६४.४६) इस तरह के ऋग्वेद और अथर्ववेद (९.१०.२८) में उपलब्ध वचनों में सामान्य रूप से और वरुण देवता की स्तुति वाले सूक्तों में विशेष रूप से भक्तिभाव से भरे हुए वचन मिलते हैं। निरुक्तकार भगवान् यास्क का कहना है—"देवता के अपने ऐश्वर्य के कारण एक ही आत्मा की

---

१. आगम और तन्त्रशास्त्र (पृ. १३९-१४०) में प्रकाशित "भागवत की तत्त्वसमन्वय प्रक्रिया" शीर्षक हमारा निबन्ध देखिये।

२. यह ग्रन्थ कलकत्ता से सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है।

अनेक रूपों में स्तुति की जाती है। उस आत्मा के अन्य देवता अंग-प्रत्यंग कहलाते हैं" (७.४.८-९)। कठ (१.२.२३) और मुण्डक श्रुति (३.२.३) का कहना है—"यह आत्मा प्रवचन, मेधा अथवा बहुत से शास्त्रों को पढ़ने से प्राप्त नहीं होती। जिस व्यक्ति का यह चुनाव करती है, वही उसे प्राप्त कर सकता है, उसी के सामने यह अपने स्वरूप को प्रकट करती है"। कठ (१.२.२०), श्वेताश्वतर (३.२०) और महानारायण (८.१) श्रुति का कहना है—"कर्मकाण्ड से ऊपर उठा, शोक-मोह से रहित व्यक्ति ही ईश्वर की कृपा से इस आत्मा की महिमा को जान पाता है"। श्रुतियों के ये सभी वचन भगवान् के अनुग्रह (कृपा) की महिमा को बताते हैं। "जिस व्यक्ति की ईश्वर के प्रति, उसी तरह से गुरु के प्रति भी परम भक्ति है, उसी महात्मा के सामने शास्त्र का रहस्य प्रकट होता है" इस श्वेताश्वतर (६.२३) श्रुति के वचन में सर्वप्रथम **भक्ति** शब्द का प्रयोग मिलता है। वैष्णव आचार्यों ने प्रायः भक्ति और प्रपत्ति शब्दों को पर्याय मान कर इनके स्वरूप को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार श्वेताश्वतर (६.१८) श्रुति के—"जो सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्मा की सृष्टि कर उनको वेदों का सारा ज्ञान प्रदान करते हैं और जो मनुष्य की बुद्धि को उज्ज्वल बनाते हैं, मैं मुमुक्षु के रूप में उस देव की शरण में जाता हूँ" इस वचन में प्रपत्ति (शरणागति) का सिद्धान्त प्रतिपादित है। श्रीमद्भगवद्गीता तो प्रधान रूप से भक्ति-प्रपत्ति सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है ही, क्योंकि इसको [1]एकायन शास्त्र का ग्रन्थ माना जाता है।

ऐतिहासिकों का कहना है कि भारतवर्ष में भक्ति-सम्प्रदाय की प्रवृत्ति ईसामसीह के प्रादुर्भाव से १५ शताब्दी पूर्व हो चुकी थी। षड्विध ऐश्वर्य से सम्पन्न भगवान् विष्णु के उपासक भागवतों और त्रिशूलधारी शिव भागवतों की चर्चा शास्त्रों में मिलती है। शिव-भागवत शब्द का प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य (५.२.७६) में मिलता है। इससे पूर्ववर्ती ऐतरेय आरण्यक आदि में सात्वत विधि के अनुयायियों की चर्चा मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में पांचरात्र सत्र की चर्चा है। पांचरात्र मत की प्राचीनता के प्रदर्शक प्रमाणों का उल्लेख पहले हो चुका है। पाद्मतन्त्र (४.२.८७-८८) में सूरी, सुहृद्, भागवत, सात्वत, पंचकालवित्, ऐकान्तिक, पंचरात्रिक आदि शब्दों को पर्यायवाची माना है। लक्ष्मीतन्त्र (१७.६०-६१) में शरणागति के छः भेदों की चर्चा करते हुए बताया गया है—१. भक्त को यह विश्वास रहता है कि वे सब कुछ मेरी भलाई के लिये ही करेंगे, २. प्रतिकूल परिस्थिति का निवारण कर देंगे, ३. उसको विश्वास रहता है कि सभी प्रतिकूल-अनुकूल परिस्थितियों में मेरी रक्षा करेंगे, ४. मेरे रक्षक के रूप में मैं

---

१. इस प्रसंग में "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ११७-१२३) में प्रकाशित हमारा "दक्षिणभारत का भक्ति आन्दोलन" शीर्षक निबन्ध भी देखिये।

उनका वरण करता हूँ, ५. मैं उनके सामने आत्म-समर्पण करता हूँ और ६. वे करुणा के सागर हैं। इस षड्विध शरणागति के सिद्धान्त को वहीं (१७.६६-८३) विस्तार से समझाया गया है।

डॉ. जे. गोण्डा ने प्रथमतः **भगवान्** शब्द का निर्वचन बता कर बृहद्ब्रह्मसंहिता (१.७.२६-५०) में वर्णित वैष्णव, एकान्ती और परमैकान्ती नाम के त्रिविध भागवतों का लक्षण बताया है। आगे नवविध भक्ति की चर्चा कर नारायणीयोपाख्यान, भगवद्गीता और भागवत का उल्लेख किया है। नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों का परिचय देकर वे कहते हैं कि ये दोनों ग्रन्थ श्रीमद्भागवत का पूरी तरह से अनुसरण करते हैं। भक्ति-सम्प्रदाय की प्राचीनता के समर्थन में ये अथर्ववेद, सामविधान-ब्राह्मण और अथर्ववेद के परिशिष्टों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। छान्दोग्योपनिषत् सप्तम अध्याय के प्रमाण से वे सनत्कुमार और नारद को तथा उसीके (३.१४) प्रमाण से शाण्डिल्य को भक्तिशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वेदान्तसूत्र (२.२.४५) के शांकर-भाष्य में बताया गया है कि "चारों वेदों में श्रेय की प्राप्ति के उपायों को न देखकर शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया"। इससे भी शाण्डिल्य भक्तिशास्त्र के प्रवर्तक थे, ऐसा स्पष्ट होता है।

भक्ति साहित्य

अपने ग्रन्थ में डॉ. गोण्डा ने [1]नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, विष्णुपुरी-कृत भक्तिरत्नावली (भगवद्भक्तिरत्नावली), मित्रमिश्र-कृत भक्तिप्रकाश, अनन्तदेव-कृत भक्तिनिर्णय (भगवद्भक्तिनिर्णय), हरिभक्तिरसामृत, हरिभक्तिविलास, उज्ज्वलनीलमणि, बृहद्भागवतामृत जैसे ग्रन्थों का और रूपगोस्वामी, सनातनगोस्वामी, जीवगोस्वामी, रघुनाथदास, गोपालभट्ट और रघुनाथभट्ट के नाम से प्रसिद्ध [2]छः गोस्वामियों का तथा कृष्णदास, लीलाशुक जैसे अन्य वंगीय विद्वानों का प्रामाणिक परिचय देकर इनके सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है (पृ. १५-३२)।

भक्ति और प्रपत्ति सिद्धान्त के पोषक उपनिषद्-वचनों को अभी उद्धृत किया गया है। छान्दोग्योपनिषत् में यह वचन उपलब्ध है—"सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे

---

१. इन सभी ग्रन्थों के संस्करणों का तथा उनसे संबद्ध निबन्धों का परिचय वहाँ दी गई टिप्पणियों में देखिये।

२. इन छः गोस्वामियों का परिचय आचार्य बलदेव उपाध्याय के हिन्दी भाषा के ग्रन्थ "भागवत सम्प्रदाय" (पृ. ५०५-५१५) में दिया गया है। यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से २०१० वि. सं. में प्रकाशित हुआ है। इसमें भक्ति-सम्प्रदाय का और प्राचीन एवं अर्वाचीन वैष्णव सम्प्रदायों का भी विशद विवरण दिया गया है।

सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'' (७.२६.२)। यहाँ आया 'ध्रुवा स्मृति' शब्द रामानुज वेदान्त में भक्ति-प्रपत्ति सिद्धान्त का मूल आधार माना जाता है। ''सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'' (१.१.२) इस शाण्डिल्यसूत्र में भक्ति का लक्षण बताया गया है। ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही भक्त के हृदय में दृढ़ संकल्प को जगाती है। इस तरह से भक्ति-योग के मौलिक सिद्धान्त प्राचीनतम उपनिषदों में ही प्रतिष्ठित हो चुके थे। इस विषय पर विवाद वे ही उठा सकते हैं, जिनकी दृष्टि ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त है, जो ईसामसीह के आविर्भाव के पहले इस विश्व में भले विचारों की उपस्थिति को मानने को तैयार ही नहीं हैं।

उपनिषदों के बाद भक्ति-सिद्धान्तों के प्रारंभिक उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में स्थित नारायणीयोपाख्यान तथा भगवद्गीता में मिलते हैं। नारायणीय प्रकरण (३४९.६२) में और विष्णुधर्मोत्तर (१.७४.३४) में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक नाम के पाँच शास्त्रों (कृतान्तपंचक) को स्वयंप्रमाण माना गया है। भगवद्गीता में पाशुपत मत चर्चित नहीं है, किन्तु नारायणीय में उसका उल्लेख है। महाभारत के अनुशासन पर्व में पाशुपत मत का विशेष विवरण मिलता है।

इन पांचरात्र और पाशुपत मतों में भक्ति का प्राधान्य है। प्रथम में भगवान् विष्णु की और दूसरे मत में भगवान् शिव की भक्ति का विवरण मिलता है यह अभी बताया जा चुका है कि पतंजलि के महाभाष्य (५.२.७६) में शिव के आयुध त्रिशूल को धारण कर घूमने वाले शिव-भागवतों का उल्लेख मिलता है। शैवागमों में बताया गया है कि भक्ति जब अपनी पराकाष्ठा पंर पहुँच जाती है, तो उसे ही मोक्ष कहते हैं (तन्त्रा. वि. १३.२१६)। श्रीमद्भागवत के निम्न वचनों में भी भक्ति की महिमा गाई गई है, जैसे कि—

मनुष्य का यही परम धर्म है कि वह भगवान् विष्णु की बिना किसी प्रयोजन के निरन्तर भक्ति करता रहे। इससे भक्त की आत्मा निर्मलं हो जाती है (१.२.६)। अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले, सभी प्रकार की ग्रन्थियों से मुक्त मुनिगण उस विशाल डग भरने वाले विष्णु के प्रति बिना किसी लालसा के भक्तिभाव से भरे रहते हैं। यही उनकी विशेषता है (१.७.१०)। भक्तगण मेरे प्रति अनन्यभाव से दृढ़ भक्ति रखते हैं। वे मेरे लिये अपने कर्मों का ही नहीं, अपने स्वजनों और बन्धु-वान्धवों का भी परित्याग कर देते हैं (३.२५.२२)। बिना किसी प्रयोजन के की गई भगवद्भक्ति विभिन्न सिद्धियों से श्रेष्ठ है। अग्नि जैसे सब कुछ भस्म कर देती है, उसी तरह से यह भगवद्भक्ति भी जन्म-मरण की परम्परा को समाप्त कर देती है (३.२५.३३)। निर्गुण भक्तियोग का लक्षण यही है कि बिना किसी अभिलाषा के उसका निरन्तर आचरण किया जाय।

भगवान् पुरुषोत्तम के ऐसे भक्त [१]सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व को भी स्वीकार नहीं करते। वे तो केवल मेरी सेवा में ही सदा लगे रहना चाहते हैं (३.२९.१२-१३)। इस तरह से भागवत में बार-बार अहैतुकी, अनिमित्त और निरन्तर अनुष्ठित भक्ति की महान् महिमा वर्णित है। भक्तियोग का आचरण करने वाले ऐसे भक्तगण सालोक्य आदि चतुर्विध मुक्ति को ही नहीं, भगवान् के साथ ऐकात्म्य-लाभ को भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उस स्थिति में उनको भगवान् की सेवा करने का अवसर नहीं मिलता और वे भगवान् की सेवा में लगे रहने को मुक्ति से भी श्रेष्ठ मानते हैं।

अष्टविध भक्ति

यह भक्ति श्रीमद्भागवत के अनुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के भेद से नौ प्रकार की है (७.५.२३)। ऊपर भागवत संहिताओं में परिगणित परमसंहिता (४.७२-७५) में अष्टविध भक्ति इस तरह से प्रदर्शित है—"वैष्णव भक्त के लिये विशेष रूप से अष्टांग भक्ति बताई गई है। ये अंग हैं—१. नित्य इष्टदेवता का आराधन और २. समय (नियमों) की रक्षा करना, ३. वैष्णव-जनों पर विश्वास, ४. पूरे आदर के साथ उनकी पूजा करना, ५. स्वयं प्रयत्न-पूर्वक भगवान् की आराधना करना, ६. भगवान् की कथा का आदर-पूर्वक श्रवण करना, ७. दूसरे को कभी हानि न पहुंचाना और ८. उनकी पूजा में ही अपने जीवन को अर्पित कर देना"। यही अष्टविध भक्ति कहलाती है। साथ ही भक्ति का लक्षण भी यहाँ (४.७१) बताया गया है कि अपने इष्टदेव का प्रेम के साथ चिन्तन करना ही **भक्ति** है। वहाँ (३.३५) कहा गया है कि मनुष्य के अपने भक्तिभाव को बढ़ाने में ही सभी प्रकार से लग जाना चाहिये, क्योंकि चरम स्थिति में यह भक्ति वैष्णव परम पद को प्राप्त करा देती है। "भक्ति की पराकाष्ठा को पहुँच कर मोक्ष कहलाती है।" इस शैवागमीय वचन की ही प्रतिध्वनि यहाँ हमें सुनने को मिलती है। इस भक्ति को बढ़ाने की पद्धति भी वहीं (३०.३६-८१) विस्तार से वर्णित है। भागवत का यह पद्य भी इसी विषय की पुष्टि करता है—"भगवान् अनन्य निष्काम भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। इसके सिवाय दान, तप, पूजा, शौच और व्रत—ये सब विडम्बना मात्र है (७.७.५२)।

---

१. सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये शब्द चतुर्विध मुक्ति के स्वरूप को बताते हैं। पुराण इत्यादि में भी प्रायः ये प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ सार्ष्टि शब्द प्रयुक्त है। भागवत के टीकाकार श्रीधर आदि आचार्यों ने सालोक्य का भगवान् के साथ एक लोक में निवास, सार्ष्टि का समस्त ऐश्वर्य, सामीप्य का निकट रहना, सारूप्य का एक सरीखा रूप तथा एकत्व का अर्थ सायुज्य किया है। इस पंचार मुक्ति के यहाँ पाँच प्रकार प्रदर्शित हैं।

भगवान्

यह भगवान् कौन है? इस प्रश्न का समाधान विष्णुपुराण में मिलता है। वहाँ इस शब्द का वाच्य कौन है, इस प्रसंग में उनके स्वरूप का ज्ञान कराने वाले कुछ श्लोकों को पढ़कर यह कहा गया है—भगवत् शब्द के वाच्य परमात्मा का यही स्वरूप है। उस अक्षय आदिपुरुष का यह शब्द वाचक है (६.५.६९)। हे मैत्रेय! विशुद्ध, महाविभूति-सम्पन्न, सभी कारणों के कारण, उस परमब्रह्म-स्वरूप परमात्मा के लिये **भगवान्** शब्द प्रयुक्त होता है (६.५.७३)। इसी तरह वहाँ (६.५.७४) [1]समग्र ऐश्वर्य, [2]धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य नामक छः गुणों को **भग** की संज्ञा देकर कहा गया है कि हे मैत्रेय! इस तरह से यह महान् भगवान्[3] शब्द इन सभी छः गुणों से सम्पन्न परब्रह्म स्वरूप-वासुदेव का वाचक है, अन्य किसी का यह बोधक नहीं है (६.५.७६)।

यह भगवान् भक्त के पराधीन है, इसका वर्णन भागवत में ही मिलता है—"हे द्विज! मैं भक्त के पराधीन हूँ, इसीलिये स्वतन्त्र नहीं हूँ। साधुजनों ने मेरे हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया है। भक्तजनों की इसी विशेषता के कारण वे मुझे परम प्रिय हैं। इन साधु भक्तजनों के बिना मैं स्वयं अपने को सूना-सूना सा मानता हूँ। हे ब्रह्मन्! मेरे इस सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य की भी उनके सामने कोई कीमत नहीं है, जिनकी बुद्धि में मैं ही

---

१. शैवागमों में—"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।" (१२.३३) इस तरह वायुपुराण की पद्धति से माहेश्वर षाड्गुण्य का प्रतिपादन मिलता है। भक्तिस्तोत्र के कर्ता अवधूत सिद्ध भी कहते हैं— "ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु। आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव।।" (श्लो. ३६)। इन माहेश्वर षड्गुणों का वर्णन प्रायः शैवागमों और शैवपुराणों में मिलता है। स्पन्दप्रदीपिका के कर्ता उत्पल वैष्णव का कहना है कि वैष्णव और शैव षाड्गुण्य में कोई भेद नहीं है। अपनी बात की पुष्टि में वे कक्ष्यास्तोत्र, षाड्गुण्यविवेक जैसे ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं (पृ. १०३-१०४)।

२. पांचरात्रागमों में 'धर्म' के स्थान पर 'वीर्य' पाठ मिलता है।

३. विष्णुपुराण में— "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।" (६.५.७८) यह व्युत्पत्ति भगवान् पद की दी गई है। "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि" (६.५.७९) इस तरह से इन छः गुणों को भगवान् का स्वरूप भी वहीं बताया गया है। इन छः गुणों की समष्टि व्यूह-वासुदेव में विद्यमान है और संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध में दो-दो गुण प्रकट रूप में तथा शेष चार गुण प्रसुप्त रूप में रहते हैं। इस प्रकार यह चतुर्व्यूह का विलास षाड्गुण्यमय है। पांचरात्रागमों में इनका विशद विवेचन मिलता है। सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ. १९-२९) में अनेक ग्रन्थों के प्रमाण से इसको प्रस्तुत किया गया है।

सर्वश्रेष्ठ हूँ। वे मेरे भक्त पुत्र, कलत्र, घर, आप्तजन, धन ही नहीं, अपने प्राणों को भी छोड़कर मेरी शरण में आते हैं, भला मैं उनको भूल जाने का साहस कैसे कर सकता हूँ'' (९.४.६३-६५)। परमसंहिता में भगवान् भक्त को बताते हैं कि जिन पदार्थों की सृष्टि-संहार में मेरी रुचि है, अर्थात् क्रीडा (लीला) करने के लिये मैं जो कुछ करता हूँ, उन लीलाओं का तुम लगातार स्मरण करते रहो (२.३)। इससे क्या होगा? इसका उत्तर भगवद्गीता में इस तरह मिलता है—''मेरी समस्त प्राणियों पर समान दृष्टि है। न तो मैं किसी से द्वेष करता हूँ और न कोई मेरा प्रिय ही है। जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं, वे मुझ में निवास करते हैं और मैं उनमें निवास करता हूँ। यदि कोई अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी एकान्त निष्ठा से मुझे याद करता है, तो उसे भला ही समझना चाहिये, क्योंकि अब उसने भला बनने का निश्चय कर लिया है''।

भक्तिशास्त्र का परिचय देते समय म. म. भारतरत्न डॉ. पी. वी. काणे ने अपने ग्रन्थ में केवल [1]विष्णुभक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों का ही परिचय दिया है। लेकिन हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि दक्षिणभारत में विष्णु के भक्त आलवारों की तरह शैव भक्तों की भी लम्बी परम्परा रही है। पुष्पदन्त का महिम्नस्तोत्र, अवधूत सिद्ध का भक्तिस्तोत्र, भट्ट नारायण की स्तवचिन्तामणि, उत्पल भट्ट की शिवस्तोत्रावली, जगद्धर की स्तुतिकुसुमाञ्जलि—इस तरह के शिवभक्ति को समर्पित सैकड़ों ग्रन्थ पूरे भारत में उपलब्ध होते हैं। डॉ. जे. गोण्डा इस विषय पर पूरे सावधान हैं। उन्होंने ऊपर प्रदर्शित विष्णुभक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों के साथ कश्मीर के शिवभक्त कवियों की रचनाओं का भी परिचय दिया है। उनके ग्रन्थ (पृ.३२-३८) में कश्मीर की भक्त-कवयित्री लल्ला के 'लल्लावाक्यानि' नामक ग्रन्थ का, साथ ही दक्षिणभारत के वेदान्तदेशिक, अप्पय दीक्षित जैसे विद्वानों के भक्तिभाव से ओतप्रोत भक्तवैभवप्रकाशिका, आर्यशतक जैसे ग्रन्थों का तथा काशी के महान् पण्डित महीधर भट्ट की व्याख्या के साथ पुरुषोत्तम की विष्णुभक्तिकल्पलता का भी सम्यक् परिचय दिया है।

प्रीति=पुष्टि=प्रपत्ति

शाण्डिल्यभक्तिसूत्र (१.१.२) में प्रदर्शित भक्ति की परिभाषा की ऊपर चर्चा आ चुकी है। विष्णुपुराण (१.२.१९) में भक्तप्रवर प्रह्लाद भी ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही भक्ति है, भक्तिसूत्र की इस परिभाषा को पुष्ट करते हुए कहते हैं—''अविवेकी पुरुषों की विषयों के प्रति कभी दूर न होने वाली जो आसक्ति रहती है, हे भगवन्! आपका स्मरण करते समय मेरे मन में भी आपके प्रति जागी वह प्रीति मेरे मन से कभी दूर न हो, यही मेरी प्रार्थना है''। यहाँ **भक्ति** के स्थान पर **प्रीति** शब्द का प्रयोग मिलता है।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी संस्करण, चतुर्थ भाग (पृ. ४५९-४६०) देखिये। हिन्दी समिति, लखनऊ, सन् १९७३.

इसी अर्थ में भगवद्गीता (१०.१०) में भी यह शब्द मिलता है—"प्रीतिपूर्वक मेरा सदा स्मरण करने वाले भक्तों की बुद्धि को मैं इस तरह से परिष्कृत कर देता हूँ कि वे मोक्षपथ की ओर बढ़ चलते हैं"। विष्णुपुराण (४.४.१०३) में इसी अर्थ में **अनुराग** पद प्रयुक्त हुआ है।

कर्म और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता आगम-तन्त्रशास्त्र के सभी ग्रन्थों में और पुराणों में भी स्थान-स्थान पर स्थापित की गई है। विष्णुपुराण का यह वचन यहाँ ध्यान देने योग्य है—"इस समस्त जगत् के मूलकारण भगवान् में जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है, उसे धर्म, अर्थ और काम नामक तीन पुरुषार्थों को प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या है? जब कि उसकी हथेली पर साक्षात् मोक्ष रखा हुआ है" (१.२०.२७)।

वैष्णव और शैव आगमों में [१]**शक्तिपात** को ईश्वर की भक्ति में और उनका अनुग्रह प्राप्त करने में कारण माना गया है। भागवत में इसी अर्थ में पोषण शब्द प्रयुक्त हुआ है—"भगवान् के अनुग्रह को **पोषण** कहा जाता है" (२.१०.४)। शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य का सिद्धान्त इसीके आधार पर **पुष्टिमार्ग** के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगवान् के प्रसाद, अनुग्रह, दयाभाव को ही यहाँ **पुष्टि** शब्द से अभिव्यक्ति मिली है। इस तरह से यहाँ शक्तिपात के सिद्धान्त को ही एक अभिनव पद्धति से प्रस्तुत किया गया है, ऐसा कहा जा सकता है।

सभी कुछ करने में समर्थ, सर्वातिशायी भगवान् की शरण में पहुँचा भक्त **प्रपन्न** कहलाता है। आत्मनिक्षेप, आत्मसमर्पण अथवा शरणागति शब्दों से प्रपत्ति का ही बोध होता है। भक्त का अन्तिम लक्ष्य प्रपत्ति, अर्थात् शरणागति ही है। भक्त अपनी भक्ति की सहायता से इष्टदेव की शरण में जाकर पूरी तरह से अपने को समर्पित कर देता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—"अपनी बुद्धि की दुर्बलता के कारण मैं क्या करूँ, क्या न करूँ, यह सोचने में असमर्थ हो गया हूँ। इस स्थिति में मैं शिष्य के रूप में आपके सामने उपस्थित हूँ। मुझ शरणागत को आप वह उपदेश दीजिये, जो मेरे लिये कल्याणकारी हो" (२.७)। यहाँ अर्जुन भगवान् से जो प्रार्थना करता है, उसके उत्तर में वे कहते हैं—"सभी धर्मों को छोड़कर तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ" (१८.६६)। "उस देव की शरण में मैं मुमुक्षु जाना चाहता हूँ, जो मेरी बुद्धि को आलोक से भर दे" (६.१८) यह श्वेताश्वतर श्रुति भी अर्जुन के प्रश्न का ही समाधान कर रही है।

---

१. लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ. १५५-१५८) में कर्मसाम्य आदि के स्वरूप को बताते हुए शक्तिपात का विशद विवेचन किया गया है।

शरणागति

रामानुज मत के अनुयायी श्रीवैष्णव भक्तितत्त्व से प्रपत्ति के सिद्धान्त को भिन्न मानते हैं। यतीन्द्रमतदीपिका के लेखक श्रीनिवासदास जैसे श्रीवैष्णव ध्यान शब्द से बोधित होने वाली भक्ति के भेदों को बताकर प्रपत्ति के स्वरूप को इस प्रकार समझाते हैं— "**न्यासविद्या** ही प्रपत्ति है। यह प्रपत्ति पाँच अंगों वाली है— १. भगवान् सब कुछ हमारे अनुकूल ही करेगा, २. हमारे प्रतिकूल वह कुछ भी नहीं होने देगा, ३. यह विश्वास कि वह सदा हमारी रक्षा करेगा, ४. वही हमारा रक्षक है, इस तरह का संकल्प और ५. अपनी असमर्थता को जानकर सब तरह से उनकी शरण में जाना—ये ही उसके [1]पाँच अंग हैं। इस न्यासविद्या की सहायता से ईश्वर के प्रति अपने को समर्पित कर देने वाला व्यक्ति इस देह के छूटने के बाद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस तरह केवल एक बार किया गया आत्म-समर्पण ही न्यास, शरणागति आदि शब्दों के द्वारा जाना जाने वाला विशेष प्रकार का एक ज्ञान ही है'' (पृ. ६४)। उपासना शब्द को यहाँ भक्ति का पर्याय माना गया है। यह उपासना प्रपत्ति, अर्थात् न्यासविद्या की निष्पत्ति में सहायक होती है। इस तरह से भक्तिभावपूर्वक की गई उपासना से निष्पन्न प्रपत्ति ही मोक्ष की प्रमुख साधिका है, ऐसा उनका कहना है (पृ. ६५)।

यतीन्द्रमतदीपिका में यहाँ कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के लक्षणों का और उनके भेदों का वर्णन करने के बाद बताया गया है कि केवल भक्ति और प्रपत्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। डॉ. पी. वी. काणे मानते हैं कि ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनों की मोक्षसाधनता यहाँ वर्णित है। अपनी-अपनी दृष्टि है। हमें देखना यह है कि ज्ञानमार्ग की अव्यक्तोपासना में निर्गुण ब्रह्म के मात्र शास्त्रीय ज्ञान से तो मोक्ष की प्राप्ति हो नहीं सकती, इसके लिये तो साधक को ब्राह्मी [2]स्थिति तक पहुँचना आवश्यक रहता है। ज्ञानमार्ग में ज्ञानी भगवद्गीता (४.१८-२४) में प्रदर्शित ब्रह्मार्पण की पद्धति से आगे बढ़ता है। इसके विपरीत भक्त सब कुछ छोड़कर ईश्वर के प्रसाद (अनुग्रह) के लिये स्वयं अपने को समर्पित कर देता है। "मेरे हृदय में स्थित ईश्वर जहाँ मुझे नियुक्त कर देते हैं, वही मैं करता हूँ'' [3]इस वचन के अनुसार कर्तव्य, अकर्तव्य के प्रति निरपेक्ष भाव से, यह सब

---

१. यहाँ शरणागति के पाँच अंग बताये गये हैं। यहाँ की तृतीय पंक्ति का पाठ लक्ष्मीतन्त्र में इस प्रकार है— "आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः'' (१७.६१)। यहाँ शरणागति के छः प्रकार निर्दिष्ट हैं। यही उचित प्रतीत होता है।

२. इस ब्राह्मी स्थिति का स्वरूप भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ प्रकरण (२.५४-७२) में भलीभाँति समझाया गया है।

३. वीरशैवागमों में साधक की सुरक्षा के साधन के रूप में अष्टावरणों का विधान है। उसमें **प्रसाद** नामक आवरण का ठीक यही स्वरूप है। देखिये— अष्टावरण विज्ञान (पृ. ७५-७८) और सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा (पृ. ३२२-३२३)।

कुछ ईश्वर का ही प्रसाद है, ऐसा मान कर वह प्रवृत्त होता है। भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में भी भक्तिमार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने में अधिक क्लेश उठाना पड़ता है, यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। पुराण आदि में भी ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग के अनुसरण में सुगमता का प्रतिपादन मिलता है। इस प्रसंग में गीता के दो श्लोक देखने लायक हैं—

"जो मनुष्य बिना किसी अन्य देवता का ध्यान किये केवल मेरी उपासना करते हैं, नित्य मेरे ऊपर ही निर्भर रहने वाले ऐसे भक्तों के योगक्षेम की जिम्मेदारी मैं स्वयं उठाता हूँ। जो व्यक्ति अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने इष्टदेव के रूप में अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, हे कौन्तेय (अर्जुन)! वे भी मेरी ही आराधना करते हैं, किन्तु उनके यजन की यह पद्धति भिन्न है" (९.२२-२३)। यहाँ निम्न श्रुतिवचन की प्रतिध्वनि सी सुनाई पड़ती है—"भगवान् तो एक ही हैं, तो भी विद्वद्गण नाना रूपों में उनका बखान करते हैं। कुछ लोग उनको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। दिव्य सुपर्ण वाला गरुड़ भी वही है और उसी की अन्य जन अग्नि, यम और पवन देवता के रूप में उपासना करते हैं" (ऋ.१.१६४.४६)।

भक्तिः पंचम पुरुषार्थ, दशम रस

इस तरह से भागवत सिद्धान्त में स्वीकृत भक्ति एवं प्रपत्ति सिद्धान्त की यहाँ संक्षिप्त चर्चा की गई है। नौ प्रकार की भक्ति के पुन: उत्तम , मध्यम और कनिष्ठ के भेद से तीन-तीन प्रकार [1]शास्त्रों में बताये गये हैं। साधन, भाव और प्रेम भक्ति के रूप में भी उसकी [2]त्रिविधता वर्णित है। भक्ति की [3]पंचम पुरुषार्थता, नवविध रसों से विलक्षणता, [4]भक्तिरस की दसवें रस के रूप में मान्यता जैसे विषय भागवत आदि पुराणों में और भक्ति-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में विस्तार से चर्चित हैं।

---

१. भक्तिचन्द्रिका, मुक्ताफल, भक्तिमीमांसा आदि में प्रतिपादित भक्ति के भेदों को तालिकाओं के माध्यम से भक्तिचन्द्रिका में समझाया गया है। शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र की नारायण तीर्थ विरचित यह व्याख्या सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। सन् १९६७ के इसके द्वितीय संस्करण में स्वप्नेश्वरभाष्य के साथ शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, मूलमात्र शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, भक्तितत्त्वविवरण, त्रिविध भक्तिविवरण पद्मपुराणीय, त्रिविध भक्तिविवरण स्कन्दपुराणीय, नारदभक्तिसूत्र (मूलमात्र), भक्तिमीमांसापर भक्तिसूत्र— ये सब ग्रन्थ भी समाविष्ट हैं।

२. "सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता" (१.२.१) इस तरह से यह त्रिविध भक्ति अपने भेद और उपभेद के साथ श्रीरूपगोस्वामी के ग्रन्थ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में वर्णित है। अच्युत ग्रन्थमाला, काशी से १९८८ वि. सं. में गोस्वामी दामोदर शास्त्री जी के द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

३. भक्ति की स्वतन्त्र पंचम पुरुषार्थता भक्तिचन्द्रिका (पृ. २११-२१२) में संक्षेप में स्थापित है।

४. भक्ति की दशम रस के रूप में स्वतन्त्र रसरूपता रूपगोस्वामी के ग्रन्थ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु के गोस्वामी दामोदर शास्त्री जी के सम्पादकीय वक्तव्य में स्थापित है।

अद्वय भक्ति

कश्मीर के वैष्णव आचार्य वामनदत्त ने प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की पद्धति से संवित्प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना की थी। अनेक ग्रन्थों में इसके वचन उद्धरण के रूप में मिलते हैं। अब यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने अपने एक वचन में द्वैत दृष्टि की इन्धन के रूप में, मृत्यु की महापशु के रूप में कल्पना कर इस अलौकिक यज्ञ का नित्य अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति के रूप में अपने को प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि वे वैष्णवागमों की भी अद्वैत-परक व्याख्या करते हैं। शैवी भक्ति की अद्वैतपरकता का उल्लेख शिवानन्द मुनि द्वारा अपनी नि. षो. की व्याख्या में उद्धृत भट्टोत्पल की शिवस्तोत्रावलि के इस वचन में मिलता है—

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः करणवृत्तय उल्लसिता मम ।
क्षणमपीश मनागपि मैव भूत् त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम् ।।
(८.५)

वे कहते हैं कि मेरी आनन्द के उल्लास से भरी हुई इन्द्रियों की वृत्तियाँ भले ही अपने-अपने विषयों की ओर भागें, किन्तु हे भगवन् ! उस स्थिति में भी मैं आपसे अलग होना नहीं चाहता। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि रहस्यगुरु शिवस्तोत्रावलीकार भट्ट उत्पल को भगवान् शिव के साथ अद्वयभाव, समरस-रूप में रहने से जो आनन्द का उच्छलन होता है, उससे एक क्षण के लिये भी अपने को थोड़ा सा भी अलग करने का साहस दिखाना नहीं चाहते, किन्तु भक्त को तो अपने भगवान् की उपासना बाहर-भीतर सभी जगह करनी पड़ती है और ऐसा करने पर द्वैतभाव तो आवेगा ही। इस द्वैत दृष्टि में भी अभेद-भावना बनी रहे, यही प्रार्थना भगवान् से यहाँ की गई है। संवित्प्रकाश के निम्न दो श्लोक भी इसी भाव को व्यक्त करते हैं— "भगवान् का स्वरूप तो सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ता है। इस स्थिति में भी जो भगवान् के दर्शन के लिये उपायों की खोज करते हैं, वे वास्तव में भगवान् को नहीं जानते। भेद दृष्टि का कारण तो इतना ही है कि व्यक्ति की अहन्ता उससे अलग नहीं होने पाती। यदि आपकी कृपा से यह विलीन हो जाय, तो भेद अपने आप नष्ट हो जायगा। मात्र अद्वयभाव ही तब बचा रहेगा। इतना सब होते हुए भी भक्तिसिद्धान्त का उज्ज्वल पक्ष तो आचार्य शंकर के इस वचन में ही स्पष्ट हो पाता है— "हे नाथ! भेद के मिट जाने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं। समुद्र से ही तरंगें उठती हैं और फिर उसीमें लीन भी हो जाती हैं, किन्तु समुद्र कभी तरंग नहीं कहलाता"। भक्ति-सिद्धान्त का रहस्य इसीमें छिपा हुआ है।

उपसंहार

इस प्रकार यहाँ त्रिविध वैष्णवागमों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उपासना के क्षेत्र में कर्म, योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता यहाँ स्थापित की गई है। भक्ति और प्रपत्ति के रूप में इस विषय की विवेचना यहाँ की गई है। निवृत्तिलक्षण और प्रवृत्तिलक्षण द्विविध धर्म की व्याख्या शास्त्रों में मिलती है। इनमें सात्वत धर्म प्रवृत्तिलक्षण माना गया है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (३४७.८३) में क्रियामार्ग से की गई नारायण की उपासना प्रवृत्तिप्रधान मानी गई है। यह क्रियामार्ग ज्ञान और भक्ति की सहायता से प्रपत्ति में परिणत हो जाता है और भोग और मोक्ष दोनों के देने में समर्थ है, एकान्ती भागवतों की यही मान्यता है। भगवद्गीता, भागवत आदि पुराणों तथा सात्वता आदि संहिताओं में इसकी सविशेष महिमा वर्णित है।

सात्वतसंहिता कहती है— "तान् सात्वते क्रियामार्गे मद्वाक्याद् याहि योजय" (१.७)। इसका अभिप्राय यह है कि आज भी निवृत्ति धर्म का अनुष्ठान करने वाले मुनियों के पास जाकर उनको सात्वत-शास्त्र में उपदिष्ट विशुद्ध क्रियामार्ग के द्वारा प्रवृत्तिलक्षण धर्म की ओर उन्मुख करो। इस क्रियामार्ग को पातंजल योगसूत्र (२.१) में क्रियायोग कहा गया है और तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान इसके अंग माने गये हैं। वहाँ (२.२) बताया गया है कि इसके अनुष्ठान से चित्त समाधि में सरलता से लग सकता है और इससे राग-द्वेष आदि क्लेश भी क्रमश: क्षीण होते जाते हैं। सात्वता में प्रदर्शित अन्तर्याग का अनुष्ठान समाधि के माध्यम से ही संपन्न होता है, इस बात का ध्यान यहाँ रखना है।

श्रीमद्भागवत के— "तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यत:" (१.३.८) इस वचन में नारदावतार के प्रसंग में सात्वततन्त्र का स्मरण किया गया है। प्राय: सभी टीकाकार पांचरात्रशास्त्र को ही सात्वततन्त्र कहते हैं। यह सात्वततन्त्र सात्वतसंहिता से अभिन्न है। नारद ने ही ऋषियों को इसका उपदेश किया है, अत: इसीका यहाँ ग्रहण करना उचित है। भावार्थदीपिकाकार वंशीधर के द्वारा उद्धृत—"क्रियायोगा: सर्वे संसृतिहेतव:" इस वचन के अनुसार सभी प्रकार का क्रियायोग संसार का ही कारण माना गया है, किन्तु भागवत के उक्त वचन में कर्म की भी मोक्षप्रदता बताई गई है। यहाँ श्रीधर स्वामी कहते हैं—"कर्मों की भी मोक्षप्रदता यहाँ वर्णित है"। पदरत्नावलीकार विजयध्वज और प्रबोधिनीकार गिरिधर भी श्रीधर स्वामी की पद्धति से ही भगवत्सेवा-लक्षण कर्म की मोक्षसाधना बताते हैं। भगवद्गीता (५.३) भी कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को विशिष्ट मानती है। इस तरह से सभी वैष्णव आगमों और पुराणों में तथा भगवद्गीता में भी कर्म को भी मोक्ष का साधन माना गया है।

अमूर्त एवं समूर्त, निर्गुण एवं सगुण, निष्कल एवं सकल ब्रह्म की आराधना सभी आगमों को मान्य है। पांचरात्र-आगम में द्विविध दशा के रूप में इनकी व्याख्या की गई है। इनमें सततोदित (नित्योदित) दशा से युक्त परवासुदेव तथा शान्तोदित दशा से युक्त व्यूह-वासुदेव कहलाते हैं। परवासुदेव में छः गुण स्तिमित (निमीलित) दशा में और व्यूह-वासुदेव में प्रबुद्ध (उन्मीलित) स्थिति में रहते हैं। शान्तोदित व्यूह-वासुदेव अपने गुणों की महिमा से अगले तीन व्यूहों में चार-चार गुणों को दबाकर बचे दो-दो गुणों की सहायता से संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध स्वरूपों को धारण करते हैं। इस तरह से परब्रह्म के चार स्वरूप अभिव्यक्त हो उठते हैं। ब्रह्म की इस द्विविध दशा (स्थिति) का वर्णन सात्वता के भाष्यकार ने मतभेद को दिखाते हुए किया है (पृ. १८-१९)। वास्तव में पर-वासुदेव को नित्योदित (सततोदित) और व्यूह-वासुदेव को शान्तोदित माना जाय, यही उचित है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के पाँचवें अध्याय और लक्ष्मीतन्त्र के द्वितीय एवं दशम अध्याय में ऐसा ही कहा गया है। इस स्थिति में विष्वक्सेनसंहिता के आधार पर ये दोनों स्थितियाँ पर-वासुदेव की ही हैं, भाष्यकार की यह व्याख्या विषय का सरलीकरण मात्र है। अपने तत्त्वप्रकाश में भोजदेव ने "नित्यः सततोदितः प्रभुः शान्तः" (श्लो. १) कहकर परमशिव को सततोदित कहा है। इस तरह से अमूर्त-समूर्त आदि यहाँ निर्दिष्ट सभी शब्द ब्रह्म की इस द्विविध दशा का ही बोध कराते हैं, ऐसा मानना पड़ेगा।

भगवान् पर-वासुदेव ही अपनी इच्छा से अपने चैतन्य को नाम-रूप आदि से संयुक्त कर विविध स्वरूप धारण कर लेते हैं (१७.३८) और [1]संभूति (सृष्टि), स्थिति, संहार, भोग और कैवल्य नामक इस पंचारचक्र (संसार) को अपने विशाखयूप स्वरूप के माध्यम से चलाते हैं (९.७); उनकी दो [2]शक्तियाँ हैं (१३.४९) तथा सात्वती भक्ति ही इस संसार-चक्र के बीज का क्षय करने में समर्थ है (१.५-६); ये सारे विषय सात्वता में संक्षेप में सृष्टि-संहार, भोग-मोक्ष एवं उसकी प्राप्ति के उपायों के साथ वर्णित हैं। [3]विवर्त पद का प्रयोग यहाँ वेदान्तशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ में न कर "विवर्ततेऽर्थभावेन" (१.१) वाक्यपदीय में प्रयुक्त अर्थ में किया गया है। वैयाकरण भर्तृहरि ने परिणमन के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

---

१. पृ. १३२ की २ री टिप्पणी देखिये।

२. पृ. १३५ की ३ री टिप्पणी देखिये।

३. विवर्त और परिणाम का विशिष्ट विवरण लुप्ता. उपो. (पृ. १२४-१२५, टि. ५) में देखिये। यहाँ भी यथास्थान इसे दिया जायगा।

भगवान् विशाखयूप इस विश्व की सृष्टि करने की इच्छा से चातुरात्म्य के चतुर्थ व्यूह के [१]शुद्ध संवित् स्वरूप की सहायता से व्यूह एवं विभवावतारों के सारे साधनों का संग्रह कर चार शाखाओं के रूप में वासुदेव आदि चार मूर्तियों का और विभवावतारों के समूह के स्वामी बन जाते हैं। जैसे सूर्य की किरणें सारे जगत् को आलोक से भर देती हैं, इसी तरह से विशाखयूप स्वरूप से ही पद्मनाभ आदि ३८ विभवावतारों का भी आविर्भाव होता है (९.४९-५७)। इस तरह से सात्वता में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विशाखयूप स्वरूप से ही यह सृष्टि-चक्र प्रवृत्त होता है। जैसे शैवागमों के अनुसार भगवान् शिव बिन्दु की सहायता से शुद्ध सृष्टि को और अनन्तदेव माया की सहायता से अशुद्ध सृष्टि को प्रवृत्त करते हैं, उसी तरह से वासुदेव क्रियाशक्ति की सहायता से शुद्ध सृष्टि को तथा भगवान् विशाखयूप भूतिशक्ति की सहायता से अशुद्ध सृष्टि का निर्माण करते हैं। यही न्याय वैखानस एवं भागवत मत की सृष्टि-प्रक्रिया पर भी लागू होता है।

वैष्णवागमों में दीक्षा का अधिकारी किसको माना गया है? यह एक प्रश्न है। वैखानस आगम में अष्टादश संस्कार के अन्तर्गत उपनयन संस्कार भी स्वीकृत है और उपनयन संस्कार का त्रैवर्णिक ही अधिकारी माना गया है, अत: वैखानस आगम में भी त्रैवर्णिक को ही अधिकारी माना जायगा। पांचरात्र आगम में सात्वतसंहिता के अनुसार चारों वर्णों का अधिकार मान्य है। वहाँ (२४.२-३) संकर्षण भगवान् से प्रश्न करते हैं— "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र यदि भगवान् की नित्य आराधना करने के लिये अपने शरीर को मन्त्रमय बनाना चाहता है, तो वह इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये क्या करे?" इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि चित्र, मृत्तिका , काष्ठ, शिला और लोह के भेद से पंचविध बिम्बों में से प्रत्येक के ब्राह्मण आदि के भेद से चार प्रकार माने गये हैं। चित्रमय बिम्ब भित्ति, काष्ठ और वस्त्र के भेद से त्रिविध है। वस्त्र पर आश्रित बिम्ब भी वर्ण के क्रम से कार्पास, कौशेय, क्षौम और शाण के भेद से चतुर्विध है। इस प्रक्रिया के अनुसार शूद्र को भी प्रतिमा, पीठ, प्रासाद आदि के निर्माण में अधिकृत किया गया है। वहीं पचीसवें परिच्छेद (२५.३१२-३१६) में प्रतिष्ठाविधि के

---

३. "शान्त: संवित्स्वरूपस्तु" (२.६९), "संविदुत्पद्यते परा" (३.४७), "स्वसंविद्गगने" (१०.५६) जैसे स्थलों पर संवित् शब्द सात्वता में चिच्छक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। "संविदेव भगवती विषयोपगमे न: शरणम्" इस प्राभाकर दर्शन का अनुवर्तन करते हुए महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द (पृ. ७७) संवित् को ज्ञान का पर्याय मानते हैं। "संविदेव भगवती स्वान्त:स्थितं जगद् बहि: प्रकाशयतीति दर्शनरहस्यम्" (ऋजु., पृ. २७) इस तरह शाक्त तान्त्रिक संवित् को परब्रह्मस्थानीय मानते हैं। वैष्णव ग्रन्थ संवित्प्रकाश में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

प्रकरण में केवल द्विजाति को अर्चा (पूजा) का अधिकार दिया गया है। वहाँ स्त्री और शूद्र की कोई चर्चा नहीं है। वहीं (१९.५३-५६) यह भी बताया गया है कि जिस परिवार में मदिरा नहीं पी जाती, ऐसे तथा लौकिक आचारों का पालन करने वाले, प्रामाणिक व्यक्तियों के समान ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले, अपने लिये विहित कर्मों का आचरण करने वाले शूद्र को भी गोदान का अधिकार दिया गया है। उसके द्वारा लाई गई पुष्पमाला का भी पूजा में उपयोग स्वीकृत है। किन्तु वह वषट्कार आदि के उच्चारण के लिये अनर्ह है, अतः उनके स्थान पर नमस्कार की योजना करनी चाहिये। सात्वता के भाष्यकार ने परमसंहिता के वचनों को उद्धृत करते हुए कहा है कि शूद्र आदि के लिये प्रणव और नमस्कार निषिद्ध है। अन्य मत के अनुसार केवल प्रणव का उच्चारण निषिद्ध है। वहाँ (पृ. ३८८) उद्धृत एक वचन के अनुसार स्वर, प्रणव (ॐकार), अंगमन्त्र का उच्चारण तथा ऐसी ही अन्य विधियाँ स्त्री और शूद्र के लिये निषिद्ध हैं। गुरु-प्रदत्त मन्त्र का वे मात्र उच्चारण कर सकते हैं। वहाँ स्त्री और शूद्र के लिये पंचाक्षर मन्त्र का ही विधान है। इस तरह से इन वैष्णव और शैव आगमों में वर्णाश्रम-धर्म के आचारों के पालन में कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। भगवद्गीता (९.३२) के वचन का अनुसरण करते हुए ये स्त्री और शूद्र को भी दीक्षा का अधिकारी मानते हैं, श्रौत वाङ्मय की अपेक्षा इनकी इतनी ही विशेषता है। इतना स्वीकार कर लेने पर भी सभी श्रौत-स्मार्त आगमिक कर्मों में मानव मात्र का समान अधिकार है, ऐसा ये नहीं मानते। यह बात पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती है।

***

शैवाधिकार

१. पाशुपत मत
२. लकुलीश-पाशुपत मत
३. कालामुख एवं कापालिक मत
४. कौल मत
५. सिद्धान्त शैव
६. प्रत्यभिज्ञा शास्त्र
७. वीरशैव मत

शैवाधिकार

पाशुपत मत

कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के [1]शतरुद्रियाध्याय में रुद्र की महान् महिमा वर्णित है। यहाँ रुद्र को स्तेनों, तस्करों, शूद्रों और अतिशूद्रों का भी आराध्य देव बताया गया है। मैत्रायणी संहिता (२.९.१, १०) और तैत्तिरीय आरण्यक (२०.४३-४७) में रुद्र के अघोर, वामदेव आदि पाँच मन्त्रों का और भस्मोद्धूलन विधि का वर्णन मिलता है। पाशुपतसूत्रकार लकुलीश ने इन्हीं का अनुसरण किया है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद (१४१ गाथा) में भी इस विधि के अनुयायियों का उल्लेख है। महाभारत में [2]उमापति भूतपति श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आद्य प्रवर्तक माना गया है। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में विद्वानों में परस्पर [3]वैमत्य है, किन्तु [4]हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर शैवमत की सत्ता उस समय विद्यमान थी, यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है। वहाँ उपलब्ध पशुओं से घिरी हुई ध्यानमग्न योगी की आकृति को पशुपति के रूप में पहचाना गया है। अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त में पशुपति के भव, शर्व आदि नाम उपलब्ध होते हैं, जो अष्टमूर्ति शिव से समरस हैं।

चतुर्विध शैव

शिवपुराण की वायवीयसंहिता के उत्तरभाग (३१.१७३) में सिद्धान्तशैव, पाशुपत, महाव्रतधर और कापालिक नाम के [5]चतुर्विध शैवों का उल्लेख मिलता है।

---

१. तैत्तिरीयसंहिता के चतुर्थ काण्ड का पंचम प्रपाठक तथा माध्यन्दिन संहिता का सोलहवाँ अध्याय इस नाम से प्रसिद्ध है।

२. "उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः। उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।।" (१२.३४९.६७)। "श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तं शिवायै च शिवागमः" (७.२.७३) शिवपुराण के इस वचन में भी श्रीकण्ठ को शिवागमों का उपदेष्टा बताया गया है।

३. लुप्ता. उपो. (पृ. ११७) की २ री टिप्पणी देखिये। दोनों मतों को उद्धृत करने के बाद वहाँ पारम्परिक दृष्टिकोण को भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

४. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के शैवदर्शनबिन्दु का परिवर्धित संस्करण देखिये (पृ. २)।

५. तन्त्रयात्रा में मुद्रित "शिवपुराणीयं दर्शनम्" शीर्षक निबन्ध में हमने इस विषय पर विचार किया है। देखिये—पृ. ५०-५८.

जैन आचार्य हरिभद्र कृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न रचित तर्करहस्यदीपिका टीका (पृ. ५१) में इस प्रकार मिलते हैं—शैव, पाशुपत, महाव्रतधर और कालामुख। इन दोनों नामावलियों में अन्तर यह है कि पूर्व नामावली में महाव्रतधर कालामुख को कहा गया है और उत्तर नामावली में कापालिक को। गुणरत्न आगे कहते हैं कि भरट, भक्त, लैंगिक आदि इनके अवान्तर भेद हैं। भरट आदि के व्रतग्रहण में ब्राह्मण आदि वर्णों का कोई नियम नहीं है। जिसकी भी शिव में भक्ति है, उसकी गणना भरट आदि के रूप में हो जायगी।

षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार जैन विद्वान् गुणरत्न[1] (काशी संस्करण, सन् १९७०, पृ. ७८) नैयायिकों को शैव और वैशेषिकों का पाशुपत मानते हैं। न्यायवार्तिककार उद्योतकर स्वयं अपने को महापाशुपत कहते हैं और नैयायिक भासर्वज्ञ गणकारिका के व्याख्याकार माने जाते हैं। शैवाचार्य व्योमशिव प्रशस्त-पादभाष्य की व्योमवती टीका के रचयिता हैं। इससे तो नैयायिक पाशुपत और वैशेषिक शैव सिद्ध होते हैं। वस्तुतः सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लिखा गया उनका यह विवरण सही नहीं लगता ("इदं मया यथाश्रुतं यथादृष्टं चात्राभिदधे"— वहीं, पृ. ७८)। पाशुपत योगाचार्यों की नामावली में न्यायदर्शन के प्रवर्तक गोतम का एवं वैशेषिक दर्शन के प्रवक्ता कणाद का भी नाम है। ईश्वर की निमित्तकारणता और दुःखान्त की मोक्षता का निरूपण करने वाले न्याय-वैशेषिक दोनों ही दर्शनों पर पाशुपत मत का समान प्रभाव परिलक्षित होता है। गुणरत्न जिस शैव मत की चर्चा करते हैं, संभवतः उसकी स्थिति गोतम और कणाद के समय में नहीं थी। सही निर्णय पर पहुँचने के लिये पाशुपत, न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद के भाष्य में शंकराचार्य ने चारों प्रकार के शैवों को माहेश्वर कहा है और भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इनके नाम ये बताये हैं—शैव, पाशुपत, कारुणिकसिद्धान्ती और कापालिक। भास्कराचार्य ने इन माहेश्वरों के नाम—पाशुपत, शैव, कापालिक और काठकसिद्धान्ती कहे हैं। हमारे मत से यहाँ [2]कारुकसिद्धान्ती नाम होना चाहिये और इनका संबन्ध लकुलीश मत से माना जायगा। संभव है ये

---

१. गुणरत्न आचार्य हरिभद्र रचित षड्दर्शनसमुच्चय के व्याख्याकार हैं। प्रस्तुत अंश गणकारिका के परिशिष्ट में संगृहीत उनके ग्रन्थ (पृ. ३०) में देखा जा सकता है।

२. काठकसिद्धान्ती, कारुणिकसिद्धान्ती और कारुकसिद्धान्ती—ये तीन तरह के पाठ यहाँ मिलते हैं। प्रथम दो पाठों की संगति ऊपर बताई जा चुकी है। स्वच्छन्दतन्त्र (११.७१-७२) में पाशुपतों के लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चार भेद वर्णित है। इनमें से कारुक मत के अनुयायी कारुकसिद्धान्ती माने जा सकते हैं। इस कारुक मत का कालामुख सम्प्रदाय से संबन्ध गवेषणीय है।

कृष्णयजुर्वेद की काठक शाखा से संबद्ध हों। अथवा यह भी सम्भव है कि 'कारुक' पद ही यहाँ 'काठक' बन गया हो। इन दोनों शब्दों से हम कालामुख शैवों का ग्रहण करेंगे। वामनपुराण (६.८७) में शैव, पाशुपत, कालवदन और कापालिक नामक शैवों के चार भेद वर्णित हैं। यहाँ [1]कालवदन कालामुख का ही पर्याय है। इनके लिये 'कालास्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। यामुनाचार्य ने आगमप्रामाण्य में इनका परिचय दिया है। रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में भी कापालिकों और कालामुखों की चर्चा इसी पद्धति से की गई है।

वामनपुराण (६.८६-९१) में इनके विषय में विशेष चर्चा मिलती है। इन चारों शैवमतों को वहाँ क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के साथ जोड़ा गया है कि चारों वर्ण इन चार मतों के अनुसार शिव की उपासना करेंगे। इन चारों मतों के प्रवर्तक आचार्यों और उनके शिष्यों के भी नाम वहाँ दिये गये हैं। तदनुसार शैव मत के आद्य प्रवक्ता वसिष्ठ के पुत्र शक्ति हैं और इनके शिष्य का नाम [2]गोपायन है। भारद्वाज पाशुपत मत के आद्य प्रवक्ता और इनके शिष्य राजा ऋषभ सोमकेश्वर हैं। तपस्वी आपस्तम्ब कालास्य मत के प्रवर्तक हैं और उनके शिष्य वैश्य मुनि क्राथेश्वर थे। महाव्रती कुबेर कापालिक मत के प्रवर्तक और ऊर्णोदर नाम के उनके शिष्य शूद्र जाति के थे। वामनपुराण में ही अन्यत्र (६७.१०-१३) शैव, पाशुपत, कालमुख, महाव्रती, निराश्रय और महापाशुपत नामक षड्विध शैव वर्णित हैं। यहाँ वदन शब्द के स्थान पर उसका पर्याय मुख शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऊपर आपस्तम्व को कालास्य कहा गया है। यह आस्य शब्द भी वदन का ही पर्याय है। [3]आगमप्रामाण्य में कालमुख ही कालामुख कहे गये हैं। इस तरह से कालवदन, कालास्य, कालमुख और कालामुख ये सब एक ही मत के बोधक शब्द हैं। यह कालामुख सम्प्रदाय कभी कर्णाटक में बहुत प्रसिद्ध रहा है। वामनपुराण के प्राचीन संस्करण में आया कालदमन नाम लेखक की असावधानी का फल है। काशीराज न्यास, रामनगर से प्रकाशित वामनपुराण की आधारभूत १७ मातृकाओं में से १५ मातृकाओं में कालवदन पाठ ही उपलब्ध है। काठकसिद्धान्ती शब्द की भी कालामुख-परक व्याख्या हम इस आधार पर कर सकते हैं कि वैदिक काठक शाखा का संबन्ध आपस्तम्बीय शाखा के समान कृष्णयजुर्वेद से ही है।

---

१. तन्त्रयात्रा में मुद्रित "कालवदनः कालदमनो वा" शीर्षक निबन्ध में हमने इस विषय पर विचार किया है। देखिये—पृ. ६२-६३.

२. यहाँ निर्दिष्ट गोपायन, ऊर्णोदर, क्राथेश्वर जैसे नामों की अन्यत्र भी कहीं चर्चा है? इसकी खोज होनी चाहिये।

३. गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदा से सन् १९७६ में प्रकाशित नवीन परिष्कृत संस्करण देखिये—पृ. ९४.

वामनपुराण के ही ऊपर के उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाव्रतधर शब्द का प्रयोग कापालिक के अर्थ में ही होना चाहिये, कालामुख के लिये नहीं। धनद (कुबेर) कापालिक मत के प्रवर्तक माने गये हैं, यह उनके महाव्रती विशेषण से स्पष्ट हो जाता है। भवभूति के मालतीमाधव नाटक, राजशेखर के कर्पूरमंजरी सट्टक, बाण भट्ट के हर्षचरित आदि में प्रसंगवश कापालिकों का जो वर्णन आया है, उसको देखते हुए महाव्रती शब्द से इसी मत का बोध होना चाहिये। महाशंखमाला, महापात्र, महाप्रसाद जैसे पदार्थों का उपयोग करने वाले कापालिक सही रूप में महाव्रती कहे जा सकते हैं।

चतुर्विध शैवों के विषय में [१]डॉ. वी. एस. पाठक एवं [२]डॉ. डेविड एन. लोरेंजन ने अन्य भी अनेक ग्रन्थों एवं शिलालेखों के आधार पर पर्याप्त विचार किया है। उनमें से सोम और लाकुल मतों का समावेश भी हम कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय में कर सकते हैं।

यहाँ प्रथम शैव पद से द्वैतवादी सिद्धान्तशैवों का ग्रहण किया जाता है। शैवागमों के तीन भेद मिलते हैं—द्वैतवादी शिवागम, द्वैताद्वैतवादी रुद्रागम और अद्वैतवादी भैरवागम। तन्त्रालोक (१.१८) के टीकाकार जयरथ (पृ. ३७-४०) के अनुसार द्वैतवादी शिवागमों की संख्या दस, द्वैताद्वैतवादी रुद्रागमों की संख्या अठारह और अद्वैतवादी भैरवागमों की संख्या चौसठ है। [३]अघोरशिवाचार्य का कहना है कि इनमें से दस और अठारह आगम सिद्धान्तागम के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी द्वैतवादी हैं, ऐसा उनका मानना है। वीर शैवमत में भी ये अठाईस आगम श्रुति के समकक्ष मान्य हैं। उनके मत में ये सभी आगम द्वैताद्वैतवादी हैं।

दशविध शैव

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इस त्रिविध दार्शनिक विभाग के अन्तर्गत शैवागम-संमत दर्शनों की संख्या दस मानी है। इनमें से प्राचीन पाशुपत मत और शैवदर्शन द्वैतवादी हैं। **शैव** शब्द से इन्होंने भी सिद्धान्तशैव का ही ग्रहण किया है और इसको दक्षिण भारत का दर्शन माना है। इसके विषय में हम आगे (पृ. २३८) विचार करेंगे। लकुलीश पाशुपत मत को ये द्वैताद्वैतवादी मानते हैं और कहते हैं कि द्वैतवादी पाशुपत मत वह है, जिसका खण्डन ब्रह्मसूत्र के पत्यधिकरण में किया गया है। वस्तुतः देखा

---

१. हिस्ट्री आफ शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. ३-४.

२. दी कापालिक्स एण्ड कालामुख्स, पृ. १-१२.

३. "सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादिशब्दवद् योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशतन्त्रेषु प्रसिद्धः" (अष्टप्रकरण, पृ. १४९)।

जाय तो ब्रह्मसूत्र के पत्यधिकरण में लकुलीश पाशुपत मत का ही खण्डन किया गया है। सभाष्य पाशुपतसूत्रों के सम्पादक श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री ने इस ग्रन्थ की भूमिका (पृ. ५) में बताया है कि ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याता शंकराचार्य और उनके टीकाकारों के सामने सूत्र और भाष्य दोनों विद्यमान थे। इतना होने पर भी यह सही है कि पाशुपत मत की श्रीकण्ठ-प्रवर्तित प्रथम धारा को तथा बाद की लकुलीश प्रवर्तित धारा को अलग-अलग मान्यता अवश्य मिली हुई है।

डॉ. पाण्डेय जी ने इस लकुलीश पाशुपत मत के अतिरिक्त श्रीकण्ठ के विशिष्टाद्वैत का, शुद्धद्वैताद्वैत, सेश्वराद्वैत, शिवाद्वैत अथवा विशेषाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध वीरशैव मत का और रसेश्वर दर्शन का भी समावेश द्वैताद्वैतवादी दर्शन में किया है। अद्वैतवादी दर्शन इनके मत में चार हैं—नन्दिकेश्वर प्रतिपादित दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा, क्रम और कुल के नाम से प्रसिद्ध तीन कश्मीरी दर्शन। इस प्रकार द्वैतवादी दो, द्वैताद्वैतवादी चार और अद्वैतवादी चार दर्शनों को मिलाने से शैवागम-संमत दर्शनों की संख्या दस हो जाती है। अपने **शैवदर्शनबिन्दु** नामक ग्रन्थ में इन्होंने इन सभी दर्शनों का परिचय दिया है। सिद्धान्तशैव, लकुलीश पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर दर्शन का परिचय हमें सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह से भी मिलता है।

द्विविध शिवागम

शिवपुराण[१] में शैवागमों के दो भेद मिलते हैं — श्रौत एवं स्वतन्त्र। यहाँ पाशुपतागम को श्रौत तथा कामिकादि वातुलान्त २८ [२]सिद्धान्तागमों को स्वतन्त्र बताया गया है। उमापति शिवाचार्य ने शतरत्नसंग्रह की स्वोपज्ञ व्याख्या (पृ. ८-९) में कामिक आदि तन्त्रों के प्रमाण से पूरे भारतीय वाङ्मय को पाँच भागों में बाँटा है—लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मान्त्रिक। इन [३]पाँचों विभागों के भी पुनः पाँच-पाँच भेद किये गये हैं। उमापति शिवाचार्य ने यहाँ लिखा है कि सर्वात्मशंभु की [४]सिद्धान्तदीपिका में इन सबका स्वरूप विस्तार से बताया गया है। ग्रन्थकार ने यहाँ केवल मान्त्रिक विभाग के सिद्धान्त, गारुड, वाम, भूत और भैरव

---

१. द्रष्टव्य—शिवपुराण, वायवीयसंहिता (१.३२. ११-१३)।

२. दस और अठारह भेदों में विभक्त शिवागमों और रुद्रागमों की तथा उनके २०७ उपागमों की नामावली पांडिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के प्रथम भाग में देखी जा सकती है।

३. स्वच्छन्दतन्त्र (१९.४३-४५) में इन पाँच विभागों की भी उत्पत्ति शिव के सद्योजात आदि पाँच मुखों से मानी गई है।

४. सर्वात्मशम्भु का यह ग्रन्थ अब सिद्धान्तप्रकाशिका के नाम से भाषानुवाद तथा मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद के साथ शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। इस विषय का विशेष विवरण वहाँ की प्रस्तावना में देखिये।

नामक पाँच भेदों का वर्णन किया है। कुछ आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् इनमें से अतिमार्ग विभाग के अन्तर्गत पाशुपत मत की गणना करना चाहते हैं। सर्वात्मशंभु का उक्त ग्रन्थ अब सिद्धान्तप्रकाशिका के नाम से प्रकाशित हो चुका है। यहाँ (पृ. १९) रुद्र-प्रणीत पाशुपत, कापाल और महाव्रत शास्त्र की अतिमार्ग विभाग में गणना की गई है और आगे (पृ. ३२-३४) इनका विवरण दिया गया है। स्वच्छन्दतन्त्र में दी गई [1]**अतिमार्ग** पद की व्युत्पत्ति ध्यान देने योग्य है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार कौल, यामल और शाक्त आगम भी इसी विभाग में समाविष्ट होंगे। किन्तु हमें श्रीकण्ठ-प्रवर्तित श्रौत पाशुपत मत को इनसे बाहर ही रखना होगा।

इस विषय पर हम एक दूसरी दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। लकुलीश ने — "सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रा. १५.६०४) सिद्धान्त की स्थापना की है। नेत्रतन्त्र (१३.१०) में वर्णित विश्वरूप के ध्यान को, काठमांडू में गुह्येश्वरी और पशुपतिनाथ के बीच की पहाड़ी (मृगस्थली) पर स्थित विश्वरूप की मूर्ति को और राजस्थान आदि में उपलब्ध लगुड़धारी लकुलीश की मूर्तियों को देखने से ऐसा विचार उठ सकता है कि इस प्रकार के काय-पूजा के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले सम्प्रदाय अतिमार्ग के अन्तर्गत आ सकते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (११.७१-७२) में पाशुपतों के लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चार भेदों का उल्लेख मिलता है। इनमें विशेष कर कारुक नामक तृतीय विभाग में हमें कालामुख सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के बीज खोजने होंगे। कालामुख सम्प्रदाय का यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य में जिस प्रकार का वर्णन मिलता है, उससे उसकी अतिमार्गी प्रवृत्ति का पता चलता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वामनपुराण के पूर्वोक्त प्रसंग में कालास्य आपस्तम्ब कालामुख सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक माने गये हैं और क्राथेश्वर नामक वैश्य उनके प्रथम शिष्य थे। शिलालेखों के प्रमाण से यह स्पष्ट है कि एक हजार वर्ष पूर्व तक कर्णाटक राज्य के बेलगाँव जनपद के आसपास इस सम्प्रदाय की विशिष्ट स्थिति थी।

इस पृष्ठभूमि में लकुलीश पाशुपत, कालामुख, कापालिक और कौलिक सम्प्रदाय की गणना हम अतिमार्ग के भेदों के अन्तर्गत कर सकते हैं। वाम मत की गणना इसमें नहीं की जा सकती, क्योंकि उमापति शिवाचार्य ने उक्त स्थल पर इसकी गणना मान्त्रिक विभाग में की है। अतिमार्गी शास्त्रों में बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय की गणना की जा सकती है। कायपूजक सिद्धों और नाथों की परम्परा पर उक्त मतों की विचारधारा का कितना प्रभाव पड़ा, इसकी समीक्षा करना अभी बाकी है। तब भी इतना स्पष्ट है

---

१. अतिमार्ग शब्द का परिचय वहाँ इस प्रकार दिया गया है—"अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तितम्। लोकातीतं तु तज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम्।। लोकाश्च पशवः प्रोक्ताः सृष्टिसंहारवर्त्मनि। तेषामतीतास्ते ज्ञेया येऽतिमार्गे व्यवस्थिताः।।" (११.१८२-१८३)

कि शिवपुराण में वर्णित श्रौत पाशुपत मत की परम्परा इससे एकदम भिन्न है। अभिनवगुप्त (तन्त्रा. ३७.१४-१५) ने शिवागम के श्रीकण्ठ और लकुलीश प्रवर्तित दो [1]प्रवाहों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्रीकण्ठ

शैवागमों से ज्ञात होता है कि सदाशिव, अनन्त, श्रीकण्ठ आदि की परम्परा से इस लोक में शिवज्ञान की प्रवृत्ति होती है। डॉ. वी. एस. पाठक ने अपने ग्रन्थ "शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया" (पृ. ४-८) में महाभारत के शान्तिपर्व के [2]वचन के प्रमाण से बताया है कि ब्रह्मा के पुत्र, उमापति श्रीकण्ठ ने पाशुपत ज्ञान को सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। अनेक ग्रन्थों के प्रमाण से वे श्रीकण्ठ को ऐतिहासिक पुरुष बताते हैं। डॉ. डेविड एन. लोरेंजन ने इस मत का अपने ग्रन्थ "कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" (पृ.१७४-१७५) में खण्डन किया है। उनके मत के अनुसार लकुलीश ही पाशुपत मत के प्रवर्तक हैं और वे उतने प्राचीन नहीं हैं, जितना उनको बताया जाता है। इनके अनुसार चतुर्थ शताब्दी से पहले इनकी स्थिति नहीं मानी जा सकती (पृ. १७५-१८१)।

इस विषय पर थोड़ा विचार अपेक्षित है। भारतीय दृष्टि के अनुसार दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा से कोई भी ज्ञान प्रवृत्त और प्रचारित होता है। "तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्" (३६.११) तन्त्रालोक के इस वचन के अनुसार श्रीकण्ठ दिव्यौघ परम्परा के अन्तिम गुरु सिद्ध होते हैं। "श्रीकण्ठादृषयो लब्धा:" इस पौष्कर वचन से और लुप्ता. में संगृहीत अन्य शास्त्रवचनों से भी इस विषय की पुष्टि होती है। "हरात् श्रीकण्ठनाथात्" (पृ.५), "जगत्पतिः श्रीकण्ठनाथ:" (पृ. ५२) जैसे मृगेन्द्रागम विद्यापाद की नारायणकण्ठ की वृत्ति में उद्धृत वचनों से और ऊपर उद्धृत महाभारत के वचन से भी श्रीकण्ठ शिव के अवतार हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इस स्थिति में श्रीकण्ठ को शिव का अवतार मानने में और ये शिवशासन के प्रवर्तक हैं, इसको मानने में कोई सन्देह की स्थिति नहीं रह जाती।

अभिनवगुप्त — "द्वावाप्तौ तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ" (तन्त्रा. ३७.१४) यहाँ बताते हैं कि श्रीकण्ठ और लकुलीश की द्विविध परम्परा से यह शास्त्र प्रवाहित हुआ। वे ही (३७.१६) यह भी कहते हैं कि श्रीकण्ठ से पंचस्रोत शासन प्रवृत्त हुआ। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शिवदृष्टि और तन्त्रालोक में निर्दिष्ट श्रीकण्ठ पाशुपत मत

---

१. इनका विशेष विवरण बृहदिति. तन्त्रा. के पृ. १०७ की पहली टिप्पणी में देखिये।

२. उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।। (महा. शान्ति. ३४९.६७)

के प्रवर्तक न होकर शैवागमों और भैरवागमों के प्रवर्तक हैं, जब कि महाभारत के श्रीकण्ठ पाशुपत मत के। पुराणों में तथा अन्यत्र भी २८ पाशुपत योगाचार्यों की नामावली मिलती है। इनमें अन्तिम नाम लकुलीश का है। लकुलीश के पूर्ववर्ती सभी पाशुपताचार्य श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत का ही अनुसरण करते थे। लकुलीश पाशुपत यह नाम ही इससे भिन्न पूर्ववर्ती पाशुपत मत की स्थिति को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन पाशुपत मत के प्रवर्तक श्रीकण्ठ और अपने नाम से संयोजित पाशुपत मत के प्रवर्तक लकुलीश हैं। इस द्विविध परम्परा का परिचय यहाँ विस्तार से दिया जा रहा है। तन्त्रालोक के अनुसार पंचस्रोत शिवशासन श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत का और कुल, कौल आदि अतिमार्गी आगम लकुलीश मत का अनुसरण करते हैं। इस विषय पर अभी पर्याप्त गवेषणा अपेक्षित है। अभिनवगुप्त वामाचार विधि का निरूपण करने के बाद लकुलीश का स्मरण करते हैं — "सर्वदेवमयः कायः सर्वप्राणिष्विति स्फुटम्। श्रीमद्भिर्नकुलीशाद्यैरप्येतत् सुनिरूपितम्।।" (१५.६०४)। कुल-कौल मत और नाथमत के प्रसंग में इस वचन की परीक्षा अपेक्षित है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शैवमत का अनुसरण करने वाले भाष्य के लेखक का नाम भी श्रीकण्ठ है। अप्पय दीक्षित की शिवार्कमणिदीपिका के साथ यह भाष्य प्रकाशित हो चुका है। श्रीकण्ठ ने अपने मंगलाचरण पद्य में सकल आगमशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में श्वेत मुनि का स्मरण किया है। श्वेत मुनि २८ पाशुपत योगाचार्यों में प्रथम हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि इनकी भी परम्परा श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत से जुड़ी हुई है।

लकुलीश

अत्रि ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। अत्रि के आत्रेय, आत्रेय के अग्निशर्मा, अग्निशर्मा के सोमशर्मा और उनके पुत्र का नाम विश्वरूप था। [१]विश्वरूप के ही पुत्र लकुलीश थे, ऐसा कारवणमाहात्म्य (पृ.५१) से ज्ञात होता है। ये लकुलीश अपने नाम से प्रसिद्ध पाशुपत मत के प्रवर्तक हैं। लकुलीश से विद्यागुरु पर्यन्त अठारह पाशुपताचार्यों की नामावली गुणरत्न कृत षड्दर्शनसमुच्चयटीका में और राजशेखर सूरि कृत [२]षड्दर्शनसमुच्चय में उपलब्ध होती है। यह नामावली इस प्रकार है — लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्र्य, कौरुष, ईशान, पारगार्ग्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, (अपर) कुशिख, अत्रि, पिंगल (पिंगलाक्ष), पुष्पक, बृहदार्य (बृहदाचार्य), अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु।

---

१. नेत्रतन्त्र (१३.१०-१२) में मायावामनसंहिता के प्रमाण से विश्वरूप के ध्यान के प्रसंग में उनको दिग्वस्त्र और ऊर्ध्वमेढ़ (लिंग) बताया गया है। उनकी चारों दिशाओं में कर्पूरी, चन्दना, कस्तूरी और कुंकुमा नाम की चार देवियाँ स्थित हैं। ये भी दिगम्बरा हैं। नेपाल (काठमाण्डू) में उपलब्ध विश्वरूप की मूर्ति से इसकी तुलना कीजिये।

२. गणकारिका परिशिष्ट, पृ. ३५ देखिये।

इनमें से पहले लकुलीश पंचाध्यायी पाशुपत सूत्रों के और सत्रहवें आचार्य राशीकर पंचाध्यायीभाष्य के रचयिता हैं। अन्य आचार्यों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हुआ है। विद्याधिपति के अनुभवस्तोत्र और प्रमाणस्तुति के कुछ वचन उपलब्ध होते हैं। ये विद्याधिपति विद्यागुरु से अभिन्न हो सकते हैं।

बड़ौदा के पास कायावरोहण (कारवण) नामक एक प्राचीन तीर्थस्थान है। विश्वरूप की भार्या से ईसा की दूसरी शताब्दी में लकुलीश का जन्म हुआ, ऐसा शिलालेख आदि के प्रमाण से डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय आदि विद्वानों ने लिखा है। डॉ. लोरेंजन इससे सहमत नहीं हैं। वे चौथी-पाँचवीं शताब्दी में इनकी स्थिति मानते हैं। शिलालेखों में इनके कौशिक (कुशिक), गर्ग, मित्र और कौरुष नामक चार शिष्यों के नाम भी मिलते हैं। क्षेमराज द्वारा चर्चित लाकुल, मौसुल, कारुक, और वैमल नामक चार पाशुपत-सम्प्रदायों की भी चर्चा मिलती है।

श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ योगाचार्यों की तथा उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की नामावली विभिन्न पुराणों में मिलती है। उनमें से अन्तिम लकुलीश ही लकुलीश पाशुपत मत के प्रवर्तक माने जाते हैं।

यद्यपि वीरशैव मत की प्रवृत्ति कालामुख सम्प्रदाय की प्रसारस्थली में हुई, तथापि इस मत पर श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत का ही प्रभाव है। इस मत का कोई ग्रन्थ आज हमारे बीच में नहीं है किन्तु महाभारत, पुराण आदि में पाशुपत योग और भस्मोद्धूलन आदि विधियों का तथा रुद्राध्याय आदि के साथ कुछ उपनिषदों का उल्लेख मिलता है। वीरशैव सम्प्रदाय पुराणवर्णित इन विधियों को और उक्त साहित्य को निर्विवाद रूप से प्रमाण मानता है। वेद और पुराणवर्णित विधियों के साथ वीरशैव मत २८ सिद्धान्तागमों को भी प्रमाण मानता है।

शिवावतार श्रीकण्ठ

द्विप्रवाह शिवागम की अभी चर्चा हुई है। महाभारत के उस वचन की भी चर्चा आ चुकी है, जिसमें श्रीकण्ठ को पाशुपत शास्त्र का प्रवर्तक माना गया है। अभिनवगुप्त के परमेष्ठी गुरु सोमानन्द शिवदृष्टि के अन्त में कहते हैं कि उनको यह शास्त्र श्रीकण्ठ, दुर्वासा आदि के क्रम से प्राप्त हुआ (७.१०९-११०)। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वत्र शिवशासन के साथ सर्वप्रथम नाम श्रीकण्ठ का जुड़ा हुआ है।

ऊपर बताया गया है कि डॉ. वी. एस. पाठक अपने ग्रन्थ "शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया" (पृ.४-८) में महाभारत के उक्त वचन के प्रमाण से उमा के पति, ब्रह्मा के पुत्र श्रीकण्ठ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। इसके विपरीत डॉ. डेविड एन. लोरेंजन अपने ग्रन्थ "कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" (पृ.१७४-१७५) में इस मत को स्वीकार नहीं करते। किन्तु भारतीय परम्परा बताती है कि दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ के क्रम से

सारी ज्ञान-परम्परा हम तक पहुँचती है। अभिनवगुप्त का कहना है कि श्रीकण्ठनाथ[१] की आज्ञा से त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नाम के सिद्ध क्रमशः अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत मतपरक शिवशासन के प्रचार के लिये अवतरित हुए थे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकण्ठ दिव्यौघ परम्परा के अन्तिम गुरु थे। "श्रीकण्ठादृषयो लब्धाः" पौष्करागम के इस वचन से और "हरात् श्रीकण्ठनाथः" (पृ.५२) इस तरह के मृगेन्द्रागम के विद्यापाद पर नारायणकण्ठ कृत व्याख्यान से ज्ञात होता है कि श्रीकण्ठ शिव के अवतार हैं। ये ही समस्त शैवशास्त्रों के आद्य प्रवर्तक हैं और पाशुपत मत के प्रथम प्रवर्तक भी ये ही हैं।

योगाचार्य लकुलीश

शिवशासन के द्वितीय प्रवाह के प्रवर्तक लकुलीश हैं। इनकी ऐतिहासिकता में डॉ. डेविड एन. लोरेंजन को भी कोई सन्देह नहीं है, किन्तु वे लकुलीश को उतना प्राचीन नहीं मानते, जितना अन्य ऐतिहासिकों ने उनको सिद्ध किया है। इनके मत से ये प्रथम-द्वितीय शताब्धी में नहीं, चतुर्थ शताब्दी में हुए हैं (पृ. १७५-१८१)। विना इस विवाद में पड़े हमें यहाँ इतना ही कहना है कि महाभारत के प्रमाण से ज्ञात होता है कि श्रीकण्ठ पाशुपत मत के प्रथम उपदेष्टा है और आगे चलकर योगाचार्य लकुलीश ने इसी परम्परा में एक नवीन दृष्टि का उन्मेष किया। पूर्व परम्परा से इसकी भिन्नता को दिखाने के लिये ही इसके साथ लकुलीश शब्द जुड़ गया। तन्त्रालोक में वर्णित श्रीकण्ठ और लकुलीश के प्रकरण को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि आगे चलकर दक्षिण प्रकृति के शैवशास्त्रों की प्रवृत्ति श्रीकण्ठ की परम्परा में तथा वाम प्रकृति के शास्त्रों का प्रचलन लकुलीश की परम्परा में हुआ। इस प्रकार प्राचीन पाशुपत मत और सिद्धान्तशैव मत की प्रवृत्ति श्रीकण्ठ से और परवर्ती पाशुपत मत के साथ कालामुख, कापालिक, कौल, क्रम आदि शास्त्रों की प्रवृत्ति लकुलीश[२] से मानी जा सकती है।

---

१. "तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्।। त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये। द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने।।" (तन्त्रा. ३६.११-१२)।

२. तन्त्रालोक की जयरथ की टीका (३६.१-७) में किसी आगम का उद्धरण मिलता है। वहाँ सिद्धयोगीश्वरी मत की परम्परा का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह ज्ञान भैरव से भैरवी को, भैरवी से स्वच्छन्ददेव को, स्वच्छन्द से लकुलीश को, लकुलीश से अनन्त को और अनन्त से गहनाधिप को प्राप्त हुआ। चौसठ भैरवागमों को पीठचतुष्टयात्मक माना जाता है। दक्षिण और वाम भेदों की भी चर्चा मिलती है। इनको मन्त्रपीठ और विद्यापीठ नाम दिया गया है और इनसे क्रमशः मुद्रापीठ और मण्डलपीठ की उद्भावना मानी गई है। दक्षिण और वाम स्रोतों की चर्चा नेत्रतन्त्र (९.११) में भी हुई है और योगवासिष्ठ (नि. पू. १९.२६) में भी इन दोनों स्रोतों के प्रवक्ता भैरव और तुम्बुरु माने गये हैं। यहीं आगे (३७.२६) अभिनवगुप्त कहते हैं कि वाम और दक्षिण पीठों के उपादानों को एक साथ मिला देने से कौलशास्त्र का उद्भव हुआ है। हमें ऐसा लगता है कि बिना नाम लिये यहाँ लकुलीश की परम्परा बताई गई है। तन्त्रालोकविवेक (१.१८) में उद्धृत श्रीकण्ठीसंहिता में भैरवागम के २४ एवं ६४ भेदों की चर्चा मिलती है। प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.११६-१२०) में ३२ भैरवागमों के नाम मिलते है। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि भैरवागमों की संख्या पहले २४, बाद में ३२ और अन्त में ६४ हो गईं।

प्रस्तुत प्रकरण में हम द्विविध पाशुपत मत के साथ कालामुख, कापालिक और कौल मत का संक्षिप्त परिचय देने जा रहे हैं। सिद्धान्तशैव मत का परिचय अगले प्रकरण में दिया जायगा।

पाशुपत योगाचार्य

सन्ध्यावन्दन आदि सभी धार्मिक कृत्यों को करते समय संकल्प-वाक्य में आजकल "अष्टाविंशतितमे कलियुगे" का उच्चारण किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि श्वेतवाराह कल्प के वैवस्वत मन्वन्तर का आजकल २८वाँ कलियुग चल रहा है। पुराणों के अनुसार प्रत्येक द्वापर युग के अन्त में कलियुग का आरंभ होने पर व्यास और योगाचार्य अवतार लेते हैं। तदनुसार अब तक २८ व्यास और २८ योगाचार्य अवतरित हो चुके हैं। प्रथम योगाचार्य श्वेत और अन्तिम लकुलीश हैं। ये सभी योगाचार्य शिव के अवतार माने गये हैं। पाशुपत मत के प्रवर्तक एवं प्रचारक होने से इनको पाशुपत योगाचार्य कहा जाता है। पुराणों में प्रत्येक योगाचार्य के चार-चार शिष्यों का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार गुरुओं और शिष्यों को मिलाकर इन योगाचार्यों की संख्या १४० है। यह नामावली शिवपुराण में दो तरह की मिलती है। प्रथम वायुपुराण का और दूसरी लिंगपुराण का अनुसरण करती है। २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की नामावली कूर्मपुराण और स्कन्दपुराण में भी उपलब्ध है। [१]आधुनिक ऐतिहासिकों की दृष्टि में इस पौराणिक वर्णन का कोई मूल्य नहीं है, किन्तु हमने अपने [२]"पुराणवर्णिताः पाशुपता योगाचार्याः" शीर्षक निबन्ध में इन सभी नामावलियों की तुलनात्मक समीक्षा कर इन योगाचार्यों में से अनेक की ऐतिहासिक संभावना की ओर महाभारत आदि के प्रमाण से ध्यान आकृष्ट किया है। इस नामावली में कपिल, आसुरि, पंचशिख, पराशर, बृहस्पति, कुणि, श्वेतकेतु, शालिहोत्र, अग्निवेश, अक्षपाद, कणाद जैसे आचार्य हमारे लिये विशेष रूप से अवधेय हैं। ये आचार्य सांख्य, पांचरात्र, आयुर्वेद, चार्वाक और न्याय-वैशेषिक दर्शन से जुड़े हुए हैं।

हरदत्त विरचित गणकारिका भासर्वज्ञ की रत्नटीका के साथ बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। लकुलीश पाशुपत मत का यह ग्रन्थ है। इसके परिशिष्ट में विशुद्धमुनि विरचित यमप्रकरण और आत्मसमर्पण; अज्ञातकर्तृक कारणपदार्थ और रुद्रनामों का तथा

१. इस प्रसंग में परस्परविरोधी दो तरह की टिप्पणियाँ देखी जा सकती हैं। पहली टिप्पणी सभाष्य पाशुपतसूत्र के सम्पादक श्री आर. अनन्तकृष्ण शास्त्री (भूमिका, पृ.३) की है और दूसरी "भारतीय दर्शन का इतिहास" के रचयिता डॉ. एस. एन. दासगुप्त (भा. ५., पृ. ६ टि.) की। शास्त्री जी ने अपनी भूमिका (पृ. ३-४) में भारतीय साहित्य की कुछ शाखाओं और आचार्यों पर यूनान-रोम के प्रभाव की भी चर्चा की है।

२. द्रष्टव्य — पुराणम्, काशिराजन्यास, रामनगर, वाराणसी, व. २४, अं. २, जुलाई, सन् १९८२.

आचार्य हरिभद्र कृत [1]षड्दर्शनसमुच्चय के, राजशेखर सूरि कृत षड्दर्शनसमुच्चय के पाशुपत मत से संबद्ध अंश का प्रकाशन हुआ है। साथ ही सर्वदर्शनसंग्रह में संगृहीत लकुलीश दर्शन और पुराणों में वर्णित कारवणमाहात्म्य यहाँ समाविष्ट हैं। इनमें से विशुद्धमुनि कृत आत्मसमर्पण में भी श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ योगाचार्यों की नामावली इस प्रकार दी गई है—

श्वेतः सुतारो दमनः सुगोत्रः कङ्क एव च।
लोकाक्षिजैगीषव्यौ च तथैव दधिवाहनः।।
ऋषभो मुनिरुग्रश्च चित्रार्थालिश्च गौतमः।
वेदशिरा गोकर्णश्च गुहावासिशिखण्डिनौ।।
जयमाली चाट्टहासो दारुको लाङ्गली तथा।
श्वेतः शूल्यथ दण्डी च सहिष्णुः सोमशर्मकः।।
लकुलीशश्चावतारा अष्टाविंशतिसंख्यकाः।

पाशुपत योगाचार्यों में से प्रथम [2]श्वेत मुनि को बादरायण के ब्रह्मसूत्रों के अपने भाष्य के मंगलाचरण में श्रीकण्ठ अनेक शैवागमों के उपदेष्टा के रूप में स्मरण करते हैं। इन २८ पाशुपत योगाचार्यों के अतिरिक्त लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ आचार्यों की चर्चा ऊपर (पृ. ९) आ चुकी है।

लकुलीश के पाशुपत-सूत्रों में पाँच अध्याय हैं। इनमें शिव के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव नामक पाँच मन्त्रों और कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त नामक पाँच तत्त्वों की व्याख्या की गई है। इसीलिये उस पर लिखे गये कौण्डिन्य के भाष्य का अपर नाम पंचार्थ-भाष्य भी प्रसिद्ध है। पंचवक्त्र (मुख) भगवान् शिव के उक्त नाम के पाँच मुख हैं। इन्हीं पाँच मुखों से पंचस्रोतस् मान्त्रिक वाङ्मय का; सिद्धान्तशैव, गारुड़, भैरव (दक्ष), भूत और वाम तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। पंचमन्त्रतनु भगवान् शिव का तनु (शरीर) इन पाँच मन्त्रों से ही बना हुआ है। शैवागमों में इनका विशेष विवरण मिलता है। साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना है कि ईशान आदि मन्त्रों की स्थिति कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता (२.९.१,१०) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२०.४२-४७) में उसी रूप में मिलती है, जिनकी व्याख्या लकुलीश के पाशुपत-सूत्रों में की गई है। शतरुद्रिय, नीलरुद्र, त्र्यम्बक होम आदि प्रकरण भी कृष्ण

---

१. गुणरत्न-कृत टीका का अंश यहाँ उद्धृत है, हरिभद्र का ग्रन्थ नहीं है।

२. "नमः श्वेताभिधानाय नानागमविधायिने" (श्लो. ४, पृ. ८)। जंगमवाड़ी, वाराणसी संस्करण, सन् १९८६

और शुक्ल यजुर्वेद में उपलब्ध हैं। पाशुपत मत का उद्गम हमें वहीं से मानना पड़ेगा। शिवपुराण में श्रौत एवं स्वतन्त्र भेद से द्विविध शिवागमों का निरूपण कर कामिक आदि २८ शिवागमों को स्वतन्त्र तथा पाशुपत मत को श्रौत बताया है। उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है।

शैवमत के लेखक डॉ. यदुवंशी ने अपने इस ग्रन्थ के प्रथम, द्वितीय और तृतीय परिशिष्टों में क्रमशः संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, एवं सूत्र-ग्रन्थों में उल्लिखित विविध प्रमाणों से रुद्र की सत्ता को स्वीकार किया है और बताया है कि वैदिक युग का यह रुद्र ही पौराणिक युग में शिव के रूप में मान्य हो गया। अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त (१५.५.२-१६) में शिव के भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव और ईशान नामों का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (१.७.३.८) में ये ही नाम कुमार अग्नि के बताये गये हैं। स्पष्ट है कि यहाँ रुद्र और अग्नि का तादात्म्य बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण (१.३.३.१७) में ही बताया गया है कि भूपति, भुवनपति और भूतानांपति ये तीनों अग्नि के ज्येष्ठ भ्राता हैं। बोधायन गृह्यसूत्र (३.३.१०) में इन नामों को विनायक के साथ जोड़ा गया है और वहीं विनायक को उग्र के साथ भीम भी कहा गया है। इस विवरण से विनायक, अग्नि और रुद्र की अभिन्नता स्थापित होती है। ऊपर के रुद्र के सात नामों के साथ भीम को भी जोड़ कर रुद्र-शिव के इन आठ नामों के आधार पर पौराणिक वाङ्मय में अष्टमूर्ति शिव को मान्यता मिली, ऐसा हम कह सकते हैं।

पुराणों की प्रत्येक योगाचार्य के चार-चार शिष्यों की नामावली में लकुलीश के चार शिष्यों के नाम कुशिक (कौशिक), गर्ग (गार्ग्य), मित्र (मैत्र्य=मैत्रेय) और कौरुष (कौरूष्य) पाठभेद के साथ मिलते हैं। [1]डॉ. वी. एस. पाठक ने मैत्रेय को छोड़कर अन्य तीन आचार्यों की गोत्र-परम्पराओं का परिचय शिलाशासनों के प्रमाण से प्रस्तुत किया है और लकुलीश से ही संबद्ध अनन्त, उत्तर, उत्तरपूर्व, कौल आदि परम्पराओं का भी परिचय दिया है। वे कौरूष्य की परम्परा को कारुक अथवा कालानन (कालामुख) सम्प्रदाय से जोड़ते हैं, जिसकी चर्चा रामानुज और केशव कश्मीरी ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (२.२.३५) में की है। अनन्त गोत्र का संबन्ध वे [2]कुल सम्प्रदाय से भी जोड़ते हैं। उद्धृत शिलाशासन में पंचार्थ लाकुलाम्नाय के गुरु विश्वरूप का उल्लेख मिलता है। यहाँ उनको औत्तरेश्वर कहा गया है। इससे हम स्पष्ट रूप से तो कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, किन्तु यहाँ का औत्तरेश्वर शब्द हमें वाम-तन्त्रों की, विशेष कर उसकी क्रम-शाखा की याद दिलाता है।

---

१. "हिस्ट्री···शैव कल्ट्स", पृ. ८-१३
२. संभवतः यहाँ लाकुल पाठ होना चाहिये जैसा पृ. १८६ की २ री टिप्पणी में निर्दिष्ट है। कुल और कौल सम्प्रदाय इनसे भिन्न ही हैं।

औत्तरेश्वर विश्वरूप की ऊपर चर्चा आई है, किन्तु ये लकुलीश के पिता विश्वरूप से भिन्न ही होंगे, क्योंकि यहाँ उनका उल्लेख पंचार्थ लाकुलाम्नाय की परम्परा के एक गुरु के रूप में हुआ है। अत: इनकी स्थिति लकुलीश के बाद ही माननी होगी। डॉ. पाठक ने लक्ष्मीधर कृत सौन्दर्यलहरी की टीका में उद्धृत पूर्वकौल और उत्तरकौलों का भी सम्बन्ध लकुलीश के शिष्यों की परम्परा से ही जोड़ा है और कार्तिकराशि, तपोराशि, वाल्मीकिराशि, केदारराशि आदि आचार्यों का संबन्ध भी वे लकुलीश की विभिन्न गोत्र-परम्पराओं से मानते हैं (पृ.१०)। आगे चलकर (पृ.१९) वे [१]राशि, भाव और गण्ड शब्दान्त नामों का संबन्ध क्रमश: कौरूष्य (कालानन), प्रमाण और अनन्त गोत्र के आचार्यों से जोड़ते हैं। गार्ग्य गोत्र के आचार्यों के नाम भी गण्डान्त ही हैं।

शिलाशासनों से इकट्ठी की गई इस पूरी सामग्री का हमें उपलब्ध शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सावधानी से अध्ययन करना होगा, क्योंकि ७०० ई. से १२०० ई. तक के शिलाशासनों का ही यहाँ उपयोग किया गया है और इनमें प्रदर्शित मत-मतान्तरों के प्राचीन रूप को देखने के लिये हमें इनसे पहले के शिलालेखों का अनुशीलन इसी पद्धति से करना होगा। यह भी अवधेय है कि पुराण आदि में वर्णित लकुलीश के शिष्यों की सूची में कुशिक आदि चारों को लकुलीश का साक्षात् शिष्य बताया गया है, जब कि गुणरत्न आदि की सूची में ये एक दूसरे के बाद आते हैं। ऐसी स्थिति में इस सूची की भी परीक्षा अभी नये सिरे से करनी होगी। लक्ष्मीधर और भास्करराय ने पूर्व और उत्तर तन्त्रों की ६४ तन्त्रों में स्वतन्त्र गणना की है और इनका उल्लेख [२] कूर्मपुराण में भी मिलता है। अत: पूर्व और उत्तर पद से पूर्वकौल और उत्तरकौल का ग्रहण करना अथवा पूर्वाम्नाय और उत्तराम्नाय का, इस विषय में अभी हमें पूरा विचार करना होगा।

स्वच्छन्दतन्त्र (११.७१-७४) में वर्णित पाशुपतों के लाकुल, मौसुल, कारुक, और वैमल नाम से वर्णित चार भेदों की चर्चा ऊपर (पृ. ९) हुई है। उनमें से मौसुल और वैमल सम्प्रदाय का परिचय वहाँ नहीं दिया गया है। स्वच्छन्दतन्त्र के टीकाकार क्षेमराज (११.७१) मुसुलेन्द्र को लकुलीश का शिष्य बताते हुए कहते हैं कि इनका भी अवतार लकुलीश की जन्मभूमि कारोहण (कारवण) तीर्थ में ही हुआ। वहाँ बताया गया है कि लकुलीश पाशुपत मत में ईश्वर पद की प्राप्ति ही परम पद (मोक्ष) माना गया है। मौसुल और कारुक मत में मायातत्त्व को ही परम पद माना जाता है, अर्थात्

---

१. तन्त्रागमशास्त्र की परम्परा में दीक्षा के समय शिष्य को अपने सम्प्रदाय का द्योतक नाम दिया जाता है, जिसके अन्त में ये जुड़ते हैं। यह **नामदान** दीक्षा का अंग है।

२. देखिये — कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन (पृ.३०७)।

मायातत्त्व का अधिपति ब्रह्मस्वामी क्षेमेश ही उनकी साधना का परम लक्ष्य है। वैमल मत में तेजेश मायातत्त्व के अधिपति हैं और प्रमाण नामक पाशुपतों के मत में ध्रुव पद परम लक्ष्य है। इस प्रकरण की व्याख्या करते हुए क्षेमराज कहते हैं कि लाकुल और मौसुल — ये पाशुपतों के दो भेद हैं। लकुलीश के शिष्य कारोहण तीर्थ में अवतरित मुसुलेन्द्र ने और कारुक ने मायातत्त्व के अधिपति ब्रह्मस्वामी क्षेमेश की प्राप्ति के लिये अपने-अपने शास्त्रों में कर्मकाण्ड-प्रधान अनेक व्रतों का अनुष्ठान बताया है। अन्य वैमल नाम के पाशुपत तथा पंचार्थ और प्रमाणाष्टक में प्रदर्शित उपासना में लगे हुए प्रमाण नाम के पाशुपत ईश्वर-तत्त्वगत तेजेश एवं ध्रुवेश की प्राप्ति को ही परम पद मानते हैं। तन्त्रालोक (१.३३) की टीका में जयरथ ने भी इस विषय की संक्षिप्त चर्चा की है।

प्रमाण शब्द से अभिहित होने वाले आठ रुद्र प्रणव नाम के पाँच रुद्रों के आवरण के ऊपर स्थित हैं। इन आठ रुद्रों को स्वच्छन्दतन्त्र (१०.११३४-३५) में ही इस प्रकार गिनाया है — पंचार्थ, गुह्य, रुद्रांकुश, हृदय, लक्षण, व्यूह, आकर्षण और आदर्श। ये आठ रुद्र प्रमाण नाम के पाशुपत शास्त्र के अवतारक हैं। इनमें जो हृदय नाम का प्रमाण परिगणित है, इसके अन्तर्गत पुर, कल्प, कनक, शाला, निरुत्तर और विश्वप्रपंच नामक छः प्रमाण क्रिया-प्रधान ही हैं। ऊपर बताये गये प्रमाणाष्टक ज्ञान-प्रधान हैं। [1]हृदय नामक प्रमाण में लकुलीश के शिष्य मुसुलेन्द्र ने मुमुक्षुजनों के लिये इनका प्रतिपादन किया था। प्रणव नामक पाँच रुद्रों और प्रमाण नामक आठ रुद्रों का प्रतिपादन तन्त्रालोक (८.३२८-३२९) में भी मिलता है।

स्वच्छन्दतन्त्र, तन्त्रालोक आदि में यह सामग्री पंचस्रोतस् शिवशासन की दृष्टि से दी गई है। पाशुपत मत का प्राचीन साहित्य बहुत कम उपलब्ध होता है। हमें उपलब्ध आगमों से और पुराणों-उपपुराणों एवं उपनिषदों से इसकी सामग्री को संकलित कर उसका समीक्षात्मक निरीक्षण करना होगा, तभी हमें पाशुपत मत की इन विभिन्न शाखाओं का सही स्वरूप ज्ञात हो सकेगा।

डॉ. आर. जी. भाण्डारकर ने अपने ग्रन्थ के शैव सम्प्रदाय के प्रकरण में संक्षेप में वैदिक प्रमाणों को उद्धृत कर श्वेताश्वतर और अथर्वशिरस् उपनिषदों का परिचय दिया है। शैवमत के लेखक डॉ. यदुवंशी ने इस विषय को अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया है। डॉ. एस. एन. दासगुप्त ने शिवपुराण और उसकी वायवीयसंहिता का परिचय दिया है। हमने भी अपने "शिवपुराणीयं दर्शनम्" (तन्त्रयात्रा, पृ. ५०-६१)

---

१. रामकण्ठ परमोक्षनिरासकारिका की व्याख्या (श्लो. ३) में हृदयप्रमाण आदि ग्रन्थों की चर्चा करते हैं। इससे लगता है कि लकुलीश के शिष्य मुसुलेन्द्र ने हृदयप्रमाण नामक ग्रन्थ की रचना की थी। स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत (१०.११३४) भी देखिये।

नामक निबन्ध में इसका संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया था। इन सबके साथ सूतसंहिता का तथा वायुपुराण और शिवपुराण के अंश के रूप में स्वीकृत कारवणमाहात्म्य एवं एकलिंगमाहात्म्य का परिचय देकर हारीत मुनि की तथा "महातीर्थ कायावरोहण" नामक ग्रन्थ की चर्चा हमने की है। इन सबका विवरण "संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास" के एकादश (तन्त्रागम) खण्ड (पृ. ११२-१२१) में "श्रीकण्ठ पाशुपत साहित्य" शीर्षक से दिया है। इसे वहीं देखना चाहिये।

लकुलीश-पाशुपत मत

श्रीकण्ठ-प्रवर्तित श्रौत पाशुपत मत स्वतन्त्र सिद्धान्तशैव मत से किस रूप में भिन्न था, इसको जानना हमारे लिये अत्यन्त दुष्कर कार्य है, क्योंकि लकुलीश से पहले विद्यमान महाभारत-वर्णित श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत के स्वरूप को बताने वाला कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ हमें अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं, ब्राह्मणों और आरण्यकों में ; रामायण और महाभारत में एवं पुराणों और स्मृति-ग्रन्थों में योगशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाशुपत मत और योग की चर्चा मिलती है। कहीं-कहीं पूर्व पक्ष के रूप में पाशुपत दर्शन का उल्लेख मिलता है। उन्हीं के आधार पर श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत का हम स्वरूप जानने का प्रयत्न कर सकते हैं। हमारी जानकारी में यह कार्य अभी तक नहीं हो सका है।

लकुलीश पाशुपत मत की स्थिति इससे भिन्न है। कारवणमाहात्म्य में बताया गया है कि ब्रह्मा के मानसपुत्र अत्रि थे। अत्रि से आत्रेय, आत्रेय से अग्निशर्मा, अग्निशर्मा से सोमशर्मा, सोमशर्मा से विश्वरूप और विश्वरूप से लकुलीश की उत्पत्ति हुई। लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपताचार्यों का नामावली पहले (पृ. १८४) दी गई है। [1]गणकारिकाव्याख्या में भी लकुलीश आदि राशीकर पर्यन्त तीर्थकरों का उल्लेख है।

बड़ौदा के पास कायावरोहण (कारवण) नामक एक प्राचीन तीर्थस्थान है। विश्वरूप की भार्या से ईसा की दूसरी शताब्दी में लकुलीश का जन्म यहाँ हुआ, ऐसा शिलालेख आदि के प्रमाण से डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय आदि विद्वानों ने लिखा है। शिलालेखों में इनके कौशिक (कुशिक), गर्ग, मित्र और कौरुष नामक चार शिष्यों के नाम भी मिले हैं। क्षेमराज द्वारा चर्चित लाकुल आदि चार पाशुपत मतों की चर्चा ऊपर हो चुकी है (पृ. १६)।

लकुलीश के जन्मकाल (ई. द्वितीय शताब्दी) से लेकर १४वीं शती के अचलगढ़ शिलालेख के काल तक पाशुपत मत का प्रचार उत्तरभारत के गुजरात,

१. "भगवँल्लकुलीशादीन् राशीकरान्तांश्च तीर्थकरान्" (पृ. १९)।

राजस्थान और उत्तरप्रदेश में मथुरा तक तथा दक्षिणभारत के भी कुछ प्रदेशों में था, इसके स्पष्ट प्रमाण हमें मिलते हैं। आज कल भी उदयपुर के पास एकलिंग जी में पंचवक्त्र पशुपतिनाथ के साथ लगुड़हस्त लकुलीश की उपासना होती है। गोआ के नीचे कर्णाटक राज्य के समुद्रतटवर्ती गोकर्ण तीर्थ के, जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश (८.३३) में किया है, निवासी पाशुपतों के वंशज ही आजकल भी नेपाल स्थित पशुपतिनाथ के पुजारी हैं। इन सब प्रमाणों से लकुलीश पाशुपत मत की सत्ता और विशिष्टता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

लकुलीश पाशुपत मत के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के समय आदि के विषय में डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने "शैवदर्शनबिन्दु" (पृ.२७-३३) नामक ग्रन्थ में विचार किया है। इनके मत की संक्षिप्त समीक्षा हमने "आगममीमांसा" (पृ.३०) में की है और बताया है कि पंचार्थप्रमाण नामक ग्रन्थ का उल्लेख क्षेमराज के स्वच्छन्दोद्योत (१.४३) में मिलता है। लुप्ता. के उपोद्घात (भा.२, पृ. ११६) में हमने इसी मत के "हृदयप्रमाण" नामक ग्रन्थ की चर्चा की है। इस पूरी सामग्री का उपयोग करते हुए हमने लकुलीश पाशुपत मत के अब तक उपलब्ध समस्त मुद्रित साहित्य का परिचय उक्त इतिहास-ग्रन्थ के तन्त्रागम खण्ड (पृ. १२२-१३२) में दिया है। साथ ही वहाँ (पृ. १३२-१३६) उस आधुनिक साहित्य का भी विवरण दिया है, जिसमें प्रस्तुत विषय की चर्चा की गई है।

लकुलीश पाशुपत दर्शन

हरदत्ताचार्य विरचित आठ श्लोकों वाली गणकारिका की ऊपर चर्चा आई है, इन आठ श्लोकों में लकुलीश-पाशुपत मत की समस्त मान्यताएं अतिसंक्षेप में संगृहीत कर दी गयी हैं। इस गणकारिका और पाशुपत मत के अन्य ग्रन्थों के आधार पर सायण-माधव बन्धुओं ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में लकुलीश-पाशुपत मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

गुरु

पाँच-पाँच भेद वाले आठ और तीन भेद वाले एक, कुल नौ गणों का वेत्ता, शिष्य को संस्कार से सम्पन्न करने वाला ही यहाँ गुरु कहा गया है। १. लाभ, २. मल, ३. उपाय, ४. देश, ५. अवस्था, ६. विशुद्धि, ७. दीक्षाकारी और ८. बल नामक आठ गणों के पाँच-पाँच भेद होते हैं और नवम गण में तीन प्रकार की वृत्तियों का समावेश किया गया है।

१. लाभ

विधीयमान उपाय के फल को लाभ कहा जाता है। इसके ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि नामक पाँच भेद माने गये हैं, अर्थात् आगे बताये गये पाँच प्रकार के उपायों से साधक को ज्ञान, तप आदि की प्राप्ति होती है, अथवा इन उपायों के अनुष्ठान से साधक के चित्त में पूर्व में अनभिव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है।

२. मल

आत्मा में छिपे हुए दुष्ट भाव (विचार) ही यहाँ मल के नाम से जाने जाते हैं। मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु, च्युति और पशुभाव का कारण होने से इस मल के भी पाँच प्रकार हो जाते हैं। शास्त्रों में इसको हेयकोटि में रखा गया है।

३. उपाय

साधक के मिथ्याज्ञान आदि पांच प्रकार के मल को दूर कर उसके चित्त की शुद्धि के साधन को ही उपाय कहा गया है। वास, चर्या, जपध्यान, सदा रुद्रस्मृति और प्रसाद ये ही वे उपाय हैं, जिनसे ज्ञान, तप आदि का लाभ (प्राप्ति) होता है। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ६१) में प्रसाद के स्थान पर प्रपत्ति शब्द प्रयुक्त है, किन्तु कौण्डिन्य (पृ. १३०) ने उपायों में प्रसाद की ही गणना की है।

४. देश

जिनका आश्रय लेकर, अर्थात् जहाँ निवास कर अर्थ का अनुसन्धान करते-करते साधक अपने ज्ञान और तप की वृद्धि कर सकता है, उन्हें यहाँ देश कहा गया है। गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान और रुद्र, ये पाँच इसके भेद माने जाते हैं।

५. अवस्था

ऊपर प्रदर्शित पाँच प्रकार के लाभ की प्राप्ति तक एक निश्चित मर्यादा में साधक को रहना पड़ता है। यही स्थिति यहाँ अवस्था के नाम से जानी जाती है। इसके व्यक्त, अव्यक्त, इन्द्रियजय, छेद और निष्ठा नामक पाँच भेद हैं। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ६१) में छेद के स्थान पर दान शब्द प्रयुक्त है। यह इसलिये है कि छेदावस्था में मुमुक्षु योगी अपने सर्वस्व का परित्याग कर देता है। छेद और निष्ठा शब्दों पर आगे विचार किया जायगा।

६. विशुद्धि

ऊपर वर्णित मिथ्याज्ञान आदि पाँच प्रकार के मल का आत्यन्तिक अपोहन, पूरी तरह से निवृत्ति ही विशुद्धि मानी जाती है। मिथ्याज्ञान आदि प्रतियोगियों (विपरीत भावों) के कारण यह पाँच प्रकार की होती है। जैसे कि मिथ्याज्ञान की हानि, अधर्म

की हानि, आसक्ति बढ़ाने वाले कारणों की हानि, अपने निर्मल स्वभाव से च्युति का ज्ञान और पशुभाव की हानि, अर्थात् अपने निर्मल स्वरूप में अवस्थान।

७. दीक्षाकारी

दीक्षाकारी नामक सप्तम गण में द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु की गणना की जाती है, अर्थात् ये पाँच दीक्षा के कारक तत्त्व है, इनकी सहायता से साधक की आत्मा के निर्मल होने पर उसे दीक्षा की पात्रता प्राप्त होती है।

८. बल

बल नाम के अष्टम गण में गुरुभक्ति, मति का प्रसाद, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को जीतने वाली बुद्धि, धर्म और अप्रमाद का समावेश किया गया है।

९. वृत्ति

पाँच प्रकार के मल धीरे-धीरे कृश होते चले जाँय, इसके लिये अन्न, वस्त्र आदि के अर्जन के शास्त्रनिर्दिष्ट उपाय ही यहाँ वृत्ति के नाम से जाने जाते हैं। इसके भैक्ष्य, उत्सृष्ट और यथालब्ध नामक तीन भेद हैं। गणकारिकाव्याख्या (पृ. ४-५) में इनका लक्षण और ऊपर वर्णित व्यक्त, अव्यक्त आदि अवस्थाओं के भेद से इनकी व्यवस्था दिखाई गई है।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इस वचन के अनुसार मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ किसी न किसी लाभ के लिये होती हैं। इसलिये गणकारिका में लाभ को सबसे पहले निर्दिष्ट किया गया है। किन्तु बिना उपाय के कोई वस्तु मिल नहीं सकती और उपाय का अनुष्ठान कोई कमजोर व्यक्ति नहीं कर सकता, इसलिये इन आठ गणों का निरूपण करते समय यहाँ पहले **बल** का निरूपण किया गया है (पृ.५-७)। मोक्षशास्त्र में तो वीतराग व्यक्ति की ही प्रवृत्ति होती है, यहाँ बल की क्या आवश्यकता है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। उसीके समाधान के लिये **विशुद्धि** का विवरण उपस्थापित है कि अज्ञान, अधर्म आदि की हानि (नाश) के लिये ही यहाँ **बल** (दृढ़ संकल्पशक्ति) की अपेक्षा है (पृ.७)। बल और विशुद्धि के भेद से जीव की अवस्था में भेद हो जाता है, अत: आगे **अवस्था** का विवरण है (पृ.८)। अवस्था के भेद से अधिकार का भेद निश्चित है। तदनुसार ही यहाँ **दीक्षा** के उपादान का निरूपण है (पृ.८-९)। दीक्षा-प्राप्ति के बाद ही ज्ञान आदि का **लाभ** होता है (पृ.९-१६), यह लाभ विशिष्ट **देश** आदि में नियमों के अनुसार ही मिल सकता है (पृ.१६-१७) और इसके लिये वास, चर्या आदि **उपायों** का सहारा लेना पड़ता है (पृ.१७-२२)। इसी क्रम में गणकारिका और उसकी व्याख्या में इनका निरूपण है। प्रस्तुत निबन्ध में द्वितीय श्लोक के उद्देश क्रम के अनुसार इनका निर्देश किया गया है। उपायों के अनुष्ठान से केवल मल की निवृत्ति

ही नहीं होती, अपितु पाँच प्रकार के लाभों की प्राप्ति भी होती है। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिये ही साधकों के लिये त्रिविध **वृत्ति** का विधान है। इनमें से लाभ, मल, उपाय और देश का निरूपण कौण्डिन्य-भाष्य (पृ. १३०) में भी मिलता है।

पंचार्थ

गणकारिका प्रतिपादित इन नौ गणों के अतिरिक्त लकुलीश पाशुपत मत में १. कार्य, २. कारण, ३. योग, ४. विधि और ५. दुःखान्त नामक पाँच पदार्थों का सविशेष वर्णन मिलता है। लकुलीश विरचित पाशुपतसूत्रों के पाँच अध्यायों में शिव के ऊपर वर्णित पाँच मन्त्रों के साथ इन पाँच पदार्थों का भी निरूपण हुआ है और कौण्डिन्य के भाष्य में इनकी व्याख्या की गई है। इन पाँच पदार्थों की व्याख्या करने के कारण ही यह पंचार्थभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनका स्वरूप हम यहा संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं —

१. कार्य

इस जगत् में जो कुछ भी अस्वतन्त्र, अर्थात् पराधीन है, उसका कार्य-कोटि में समावेश होता है। इसके **विद्या, कला**, और **पशु** नामक तीन भेद हैं। इन तीनों के यथार्थ स्वरूप को जान लेने पर व्यक्ति के संशय आदि की निवृत्ति हो जाती है। इनमें से विद्या पशु का गुण है। यह दो प्रकार की है — **बोध**स्वभाव और अबोधस्वभाव। बोधस्वभावा विद्या के विवेक-प्रवृत्ति और अविवेक-प्रवृत्ति नामक दो भेद होते हैं। इसी का नाम **चित्त** भी है। सभी प्राणी इस चित्त की सहायता से ही बोधात्मक प्रकाश से अनुगृहीत होकर सामान्य रूप से विवेचित अथवा अविवेचित अर्थ को जानने में समर्थ होते हैं। इनमें से विवेक-प्रवृत्ति प्रमाणों की सहायता से सक्रिय हो पाती है। अबोधस्वभावा विद्या में पशुभाव के प्रयोजक धर्म और अधर्म का समावेश माना गया है। **कला** स्वयं अचेतन है और यह चेतन तत्त्व के अधीन रह कर कार्य करती है। इसके दो भेद हैं—कार्याख्या और कारणाख्या। कार्याख्या कला के दस भेद हैं—पृथिवी आदि पाँच तत्त्व और रूप आदि पाँच गुण। कारणाख्या कला के तेरह भेद हैं—ज्ञानेन्द्रियपंचक, कर्मेन्द्रियपंचक एवं अध्यवसाय, अभिमान और संकल्पनामक वृत्तियों के भेद से त्रिधा विभक्त बुद्धि, अहंकार और मन नामक त्रिविध अन्तःकरण। पशुभाव से युक्त जीव को पशु कहा जाता है। यह भी दो प्रकार का है — सांजन और निरंजन। शरीर और इन्द्रियों से संयुक्त पशु सांजन तथा इनसे रहित निरंजन[१] कहलाता है।

---

१. सिद्धान्तशैव मत में अनादिमुक्त और मुक्त शब्द इनके लिये प्रयुक्त है। मुक्त जीव में भी शिव के समान सर्वज्ञता आदि छः प्रकार के ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति हो जाती है, किन्तु उनको ये गुण शिव के प्रसाद से ही मिलते हैं। देखिये तत्त्वप्रकाश का यह श्लोक—"मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः। सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः।।" (श्लो. ७)। श्वे० उ० (६.२३) का भी यही अभिप्राय है।

२. कारण

समस्त जागतिक पदार्थों की सृष्टि और संहार करने वाला, उन पर अनुग्रह करने वाला तत्त्व ही कारण पदार्थ है। यह एक ही है, किन्तु गुण और कर्म के भेद से इसके पति और साद्य नामक दो भेद होते हैं। इनमें से पति निरतिशय दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न है और इसीलिये निरतिशय ऐश्वर्य से भी सदा सम्पन्न रहता है। जो भविष्य में इन सब शक्तियों से सम्पन्न होता है, उसे साद्य पति[1] कहा जाता है।

३. योग

चित्त के माध्यम से आत्मा और ईश्वर के परस्पर के सम्बन्ध को स्थापित करने वाले साधन को ही योग कहते है। इसके क्रिया-लक्षण और क्रियोपरम-लक्षण दो भेद हैं। [2]जप, ध्यान आदि का क्रिया-लक्षण योग में समावेश माना जाता है, क्योंकि इसमें शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता रहती है। क्रियोपरम-लक्षण योग निष्ठा, संवित्, गति आदि नामों से जाना जाता है। इस योग में किसी शारीरिक क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती, केवल मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

४. विधि

धर्म और अर्थ के साधक व्यापार को विधि कहते हैं। यह व्यापार दो प्रकार का है — एक प्रधानभूत और दूसरा गुणभूत। इनमें से प्रथम प्रधानभूत व्यापार साक्षात् धर्म का निष्पादक है। इसे चर्या कहते हैं। यह चर्या दो प्रकार की है — व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा को व्रत कहा जाता है। उपहार के छः अंग हैं — हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार और जप। द्वार **चर्या** में क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, अवितत्करण और अवितद्भाषण का समावेश होता है। इन सारी द्वार-चर्याओं का उपयोग यहाँ समाज से अपने को अलग करने के लिये

---

१. सायण-माधव का कहना है कि पति और साद्य का स्वरूप आदर्शकार आदि तीर्थकरों ने विस्तार से बताया है।

२. यहाँ जप को भी क्रियालक्षण योग का एक अंग माना गया है। सूत्रकार (५.२१-२३) का भी कहना है कि मन्त्र के पाठ से और ॐकार में ध्यान एवं धारणा को स्थिर करने पर साधक योगी निष्ठा योग की सहायता से रुद्र के सायुज्य को प्राप्त करता है। जप की यह योगांगता वैष्णव और शैव आगमों में भी वर्णित है। जयाख्यसंहिता (३३.११) के योगाख्यान पटल में और मृगेन्द्रागम के योगपाद (श्लो. ३) में इसको देखा जा सकता है। वाचिक, उपांशु और मानस नामक त्रिविध जप का तो निरूपण सर्वत्र मिलता है, किन्तु लक्ष्मीतन्त्र (३९.३५) में जप का ध्यानात्मक चौथा प्रकार भी दिखाया गया है। सात्वसंहिता के भाष्य (पृ, ८५, ११५) में भी यह विषय देखा जा सकता है। जयाख्यसंहिता के चौदहवें जपविधान पटल में इसका विस्तार देखा जा सकता है। ऐसा लगता है कि जप की योगांगता का सर्वप्रथम निरूपण पाशुपत मत में हुआ। सगर्भ और अगर्भ जप का भी शास्त्रों में विधान है।

किया जाता है, जिससे साधना में किसी प्रकार का सामाजिक विघ्न उपस्थित न हो। गुणभूत विधि ऊपर वर्णित चर्या की सहायिका मानी जाती है। इसमें अनुस्नान, निर्माल्यग्रहण, लिंगधारण आदि का समावेश होता है। भिक्षाग्रहण, उच्छिष्टभक्षण आदि से उत्पन्न होने वाली **घृणा** की निवृत्ति के लिये इनकी उपयोगिता मानी गई है।

५. दुःखान्त

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक के भेद से त्रिविध दुःख की निवृत्ति को ही यहाँ दुःखान्त कहा गया है। केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही इसकी प्राप्ति होती है। ज्ञान अथवा वैराग्य से भी इसकी उपलब्धि असंभव है। यह दुःखान्त अनात्मक और सात्मक भेद से दो प्रकार का है। सभी प्रकार के दुःखों का अत्यन्त उच्छेद अनात्मक दुःखान्त है। न्याय-वैशेषिक मत में मोक्ष का यही स्वरूप है। दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति लक्षण ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति सात्मक दुःखान्त है। इनमें से दृक्शक्ति यद्यपि एक ही है, किन्तु दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञता के भेद से इसके पाँच प्रकार हो जाते हैं। इनमें से समस्त सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट चाक्षुष एवं स्पर्शनेन्द्रिय-जन्य ज्ञान को दर्शन, समस्त शब्दविषयक ज्ञान को श्रवण, समस्त चिन्तनविषयक ज्ञान को मनन, समस्त शास्त्रों के ज्ञान को विज्ञान और उक्त-अनुक्त समस्त विषयों के संक्षेप और विस्तार से स्वाभाविक रूप से स्वतः प्रादुर्भूत होने वाले, [१]सदोदित ज्ञान को सर्वज्ञत्व के नाम से जाना जाता है। यह सब धीशक्ति (दृक्शक्ति) का प्रपंच है। क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही है, किन्तु इसके स्वरूप को समझाने के लिये इसके तीन भेद किये जाते हैं—१. मनोजवित्व, २. कामरूपित्व और ३. विकरणधर्मित्व। अत्यन्त तीव्र गति से सम्पन्न होनेवाली क्रिया पहली, कर्म आदि की अपेक्षा किये बिना स्वेच्छा से विविध रूपों वाले नाना भावों को निष्पन्न करने वाली क्रिया दूसरी और सभी प्रकार के साधनों के उपसंहृत हो जाने पर भी सदा निरतिशय ऐश्वर्य की सम्पन्नता तीसरी क्रियाशक्ति है।

लकुलीश पाशुपत मत की विशेषता

अन्यत्र दुःखनिवृत्ति मात्र को दुःखान्त माना गया है, यहाँ दुःख की निवृत्ति के साथ इस अवस्था में परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है। अन्यत्र अनित्य पदार्थों का ही कार्यकोटि में समावेश किया गया है, यहाँ नित्य पशु की भी इसी में गणना की गई है। अन्यत्र कारण की सापेक्षता मानी गई है, यहाँ सर्वनिरपेक्ष भगवान् का ही

---

१. परब्रह्म की सततोदित (नित्योदित) और शान्तोदित नामक दो दशाओं का वर्णन शैव और वैष्णव आगमों में मिलता है। देखिये अष्टप्रकरण (पृ. २२) और सात्वतसंहिता (पृ. २१-२३) का उपोद्घात।

कारणकोटि में समावेश माना गया है। अथवा अन्यत्र अस्वतन्त्र प्रधान, परमाणु आदि का कारणकोटि में समावेश है, किन्तु यहा स्वतन्त्र भगवान् की कारणता स्वीकृत है। अन्यत्र योग का फल कैवल्य-लाभ मात्र है, यहाँ दुःखान्त के साथ पारमैश्वर्य की प्राप्ति भी मानी गई है। अन्यत्र पुनरावृत्तिफलक स्वर्ग आदि ही विधि का प्रयोजन है, किन्तु पाशुपत मत की विधि के अनुष्ठान से साधक पुनरावृत्ति से मुक्त होकर पति के साथ सामीप्य आदि का लाभ करता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा पाशुपत मत की यह भी विशेषता है कि सांख्यदर्शन के समान यहाँ सत्कार्यवाद स्वीकृत है, असत्कार्यवाद नहीं।

निष्कर्ष

इस पूरी सामग्री को एवं गणकारिकाव्याख्या और पाशुपत-सूत्रों के कौण्डिन्य भाष्य को देखकर हम तुलनात्मक समीक्षा के लिये निर्दिष्ट दीक्षा आदि विषयों के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं।

गुरु-शिष्य

गुरु की संक्षेप में चर्चा ऊपर आ चुकी है। गणकारिकाव्याख्या (पृ.३) में बताया गया है कि सुपरीक्षित ब्राह्मण का दीक्षाविशेष से और पंचार्थज्ञान से संस्कार करने वाला व्यक्ति ही गुरु कहलाता है। आचार्य, आचार्याभास, गुरु और शिष्य के लक्षण गणकारिकाव्याख्या (पृ. ४.६-९) और कौण्डिन्यभाष्य (पृ. ३-४) में मिलते हैं। दशविध यमों में यहां गुरुशुश्रूषा भी परिगणित है। इस प्रसंग में भाष्य (पृ. २८) में अनेक श्लोक मिलते हैं, जिनमें तन्त्रों की अन्य शाखाओं के समान ही गुरु और आचार्य की महिमा वर्णित है। गणकारिका ने गुरु को देश (आश्रयस्थल) और दीक्षाकारी बताया है और गुरुभक्ति को बल-प्राप्ति का अंग माना है। साधक और आचार्य के भेद को बताते हुए व्याख्याकार (पृ. ३) कहते हैं कि जो साधना के सहारे केवल अपने लिये अपवर्ग की कामना करता है, वह साधक है और आचार्य वह है, जिसको दूसरों को भी दीक्षा द्वारा मुक्त कराने का अधिकार प्राप्त है। उसके लिये ऊपर निर्दिष्ट नौ गणों का ज्ञाता होना अपेक्षित है। आगे चलकर तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य नामक चार भेद माने जाने लगे। इनमें से दूसरों को दीक्षा देने का अधिकार केवल आचार्य पद पर अभिषिक्त व्यक्ति को ही दिया गया है। शिष्य के विषय में भाष्य (पृ. ४) में विशेष बात यह मिलती है कि वह ब्रह्मावर्त में उत्पन्न हुआ हो, कुलीन हो, जिज्ञासासम्पन्न हो और उसकी इन्द्रिया पटु (तीक्ष्ण) हों। व्याख्याकार (पृ.९) ने आचार्य के पर और अपर नामक दो भेद बताये हैं। गुरु के रूप में अपर आचार्य की चर्चा ऊपर हो चुकी है। यहा भी अपर आचार्य

सम्बन्धी दो श्लोकों[१] को उद्धृत करने के उपरान्त भगवान् महेश्वर को परगुरु कहा गया है। योगसूत्र (१.२६) में भी ईश्वर को "पूर्वेषामपि गुरु:" कहा गया है। "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।।" (श्वे. उ. ६.२३) इस उपनिषद् वचन की योजना भी हम इसी प्रसंग में कर सकते हैं।

दीक्षा

गणकारिका (श्लो. २, ५) में दीक्षाकारी गण के अन्तर्गत द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु की गणना की गई है, अर्थात् ये पाँच दीक्षा के कारकतत्त्व हैं। इनकी सहायता से ऊपर सूचित शिष्य की आत्मा के निर्मल होने पर उसे दीक्षा की पात्रता प्राप्त होती है। इनमें से द्रव्य में विद्या, कला और पशु नामक पूर्व वर्णित त्रिविध कार्यों का समावेश है, किन्तु इनकी व्याख्या यहाँ भिन्न प्रकार से की गई है। शिष्य में विद्यमान विद्या उसे दीक्षा का अधिकार प्रदान कराती है और आचार्यगत विद्या दीक्षा का सम्पादन करती है। कला में दर्भ, भस्म, चन्दन, सूत्र, पुष्प, धूप और मन्त्र का समावेश हे। ये दीक्षा के अंग हैं। पशु का अर्थ संस्कारयोग्य ब्राह्मण है। दीक्षा का काल पूर्वाह्न माना गया है। कारणमूर्ति (शिवप्रतिमा) और शिष्य का संस्कार क्रिया कहलाती है। व्याख्याकार का कहना है कि इसका क्रम संस्कारकारिका में दिखाया गया है। शिवमन्दिर में शिवलिंग के समीप दक्षिण दिशा में विद्यमान भूप्रदेश को **मूर्ति** कहते हैं। गुरु की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय यह है कि विद्यासम्पन्न गुरु विद्या-सम्पन्न शिष्य की परीक्षा कर दर्भ आदि कलाओं की सहायता से शिष्य के पशुभाव की निवृत्ति के लिये उसको देवमन्दिर में बैठाकर उसका संस्कार करता है। यह संस्कार ही दीक्षा है। यह बताया गया है कि इस तरह की विशिष्ट दीक्षा का विधान केवल पाशुपत दर्शन में ही है। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि यहाँ निर्दिष्ट सारे विषय शैवागमों के क्रियापाद में ही मिलते हैं। गुरु और शिष्य की विद्या का संबन्ध हम विद्यापाद से जोड़ सकते हैं।

मन्त्र

ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव नामक पाँच मन्त्रों की और इन्ही नामों से प्रसिद्ध शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत पंचस्रोतस् आगमिक वाङ्मय की चर्चा यहाँ अनेक स्थलों पर हो चुकी है और होगी। विमलप्रभाकार (४.७०) ने भी

---

१. शास्त्रानुगे प्रचारे योऽभिनिविष्ट: प्रकृष्टधी: कुशल:।
स भवति मत: किल सतामाचार्यो ज्ञानहेतुश्च।।
आचारे स्थापयन् शिष्यान् यस्मादाचरति स्वयम्।
आचिनोति च शास्त्रार्थमाचार्यस्तेन कीर्त्यते।।

इनका उल्लेख किया है। शैवागमों में शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है और इन पाँच मन्त्रों को पाँच भूतों का प्रतिनिधि माना गया है। अन्य तत्त्वों का विकास और संकोच इन्हींमें होता है और ये भी अन्ततः निष्कल तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। इस शब्द का प्रचलन तन्त्रशास्त्र की अन्य शाखाओं में भी देखने को मिलता है। वहाँ इसकी व्याख्या अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार की गई है।

मातृका, न्यास, पीठ आदि का उल्लेख हमें उपलब्ध पाशुपत वाङ्मय में नहीं मिलता। मन्त्रों का भी यहाँ बहुत विस्तार नहीं है। इस प्रकार इस मत को वैदिक और तान्त्रिक मतों को जोड़ने वाली कड़ी माना जा सकता है। हम देश शब्द को ही लें। गुरु, जन, गुहा, श्मशान और रुद्र ये पाँच भेद इसके माने गये हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद में पर्वताग्र, नदीतीर और नदीसंगम पवित्र स्थल के रूप में वर्णित हैं। शून्यागार, चतुष्पथ आदि का भी उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ महामायूरी में उन स्थानों की चर्चा है, जहाँ यक्षों का निवास माना गया था। शैव आगमों में २२४ भुवनों की चर्चा है। इसी तरह पीठों की विभिन्न नामावलियाँ हमें उपलब्ध होती हैं। इनमें अनेक नाम एक सरीखे हैं। यह सब देश का ही तो विस्तार है। यह सामान्य मानवीय अवधारणा है कि कुछ विशेष स्थलों पर सिद्धिलाभ सरलता से होता है। पीठों की भी कल्पना इसी आधार पर हुई है। कापालिकों की मुद्राओं और उपमुद्राओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है। ये तन्त्रशास्त्र की अन्य शाखाओं में वर्णित मुद्राओं से भिन्न हैं, किन्तु बौद्ध तन्त्रशास्त्र में इनको मान्यता प्राप्त है।

चर्या और योग

ऊपर चर्या की उपाय में गणना की गई है। पाशुपत चर्या तान्त्रिक चर्या के अधिक समीप है। श्मशानवास, शृंगारण आदि द्वार-चर्याएँ, हसित-गीत-नृत्त आदि षडंग उपहार, चित्त की अति निर्मलता के लिये निरन्तर योगाभ्यास का विधान — इन सबका यहाँ विधि और योग में समावेश किया गया है। पाशुपत योग और विधि की चर्या ऊपर हो चुकी है। यमों की संख्या यहाँ दस बताई गई है। ये दस प्रकार के यम योग और विधि के समान रूप से अनुग्राहक हैं। चर्या को यहाँ प्रधान विधि में स्थान दिया गया है और चर्या की अनुग्राहक भस्म स्नान आदि विधियों को गौण स्थान मिला है। ऊपर विधि के प्रसंग में चर्या की चर्चा आ चुकी है। व्याख्याकार (पृ. १७-१९) ने इसका विस्तार से विवरण दिया है। आगे (पृ. २१) इन्होंने इसे धर्म का अंग माना है, साथ ही (रुद्र)स्मृति को स्थिति (मुक्ति) का। द्विविध चर्या के अनुष्ठान से निर्मल-चित्त साधक की योग में रुचि जगती है और योग के अभ्यास से साधक योगी को दूरदर्शन, दूरश्रवण, मनन और विज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे योगी को यहां **सिद्ध**

कहा गया है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, असंव्यवहार, अस्तेय, अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहार-लाघव और अप्रमाद इन दस यमों का कौण्डिन्य के भाष्य (पृ. १५-३४) में अतिविस्तार से वर्णन है। अनेक पुराणों में भी दस यमों की चर्चा मिलती है। अन्तिम यम [१]अप्रमाद को यहां विशेष स्थान दिया गया है। इन दस यमों के विषय में बताया गया है कि जब ये चर्या के अनुग्राहक रहते हैं, तो विधि में इनका अन्तर्भाव माना जाता है और जब ये योग की प्रक्रिया के सहायक बनते हैं, तब योग में। इस प्रकार यमों की चर्या (विधि) और योग दोनों में स्थिति मानी गई है। क्रिया और विद्या की ऊपर चर्चा हुई है। इनके साथ योग और चर्या (विधि) को मिलाने से शैवागमों में विद्या, क्रिया, योग और चर्या नामक चारों पादों के विषय संगृहीत हो जाते हैं। पाशुपत मत में योग के बाद विधि की गणना है, उसी तरह शैवागमों में भी योगपाद के बाद ही चर्यापाद आता है। बौद्ध तन्त्रों का क्रम इससे भिन्न है। वहाँ का क्रम है — क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग।

असंव्यवहार का अर्थ वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वालो के साथ लौकिक व्यवहार का निषेध बताया गया है। इसीलिये कूर्मपुराण आदि में पाशुपतों के लिये अत्याश्रमी शब्द प्रयुक्त है। शैवागमों में शास्त्रों के लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच विभाग किये गये हैं। कुछ विद्वान् पाशुपतों को भी अतिमार्गी बताते हैं।

निष्ठा

यहाँ अनेक स्थलों पर निष्ठा शब्द प्रयुक्त है। कौण्डिन्य ने इसको योग का ही एक प्रकार बताया है। दूसरा प्रकार क्रियायोग है। पातंजल योगसूत्र और पुराणों में क्रियायोग की चर्चा मिलती है, किन्तु निष्ठायोग का वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिला। व्यक्त, अव्यक्त आदि अवस्थाओं में इसका पाँचवाँ स्थान है। अन्य आचार्य इसीको सिद्धावस्था कहते हैं। पूर्व की चार अवस्थाएँ साधकावस्था कहलाती हैं। निष्ठावस्था निरंजन पशु की अन्तिम अवस्था है। सांजन और निरंजन के भेद से पशु के दो प्रकारों को बताने के बाद व्याख्याकार (पृ. ११) ने निरंजन पशु के तीन भेद किये हैं —

---

१. "यथाविहितविधियोगानुष्ठाने सततमेवोद्यमोऽप्रमादः। अयं च प्रधानभूतो यमः।
यथा चोक्तम् —
यतिधर्मस्य सद्भावः श्रूयतां गुणदोषतः।
अप्रमादात् परा सिद्धिः प्रमादान्नरकं ध्रुवम्।। इति।
गणकारिकाव्याख्या (पृ. १४) में उद्धृत इस वचन के साथ — "अप्रमादी गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादात्" (५.४०) यह सूत्र भी अप्रमाद के महत्त्व का प्रदर्शक है। अप्रमाद की ऊपर बल में भी गणना की गई है।

संहृत, कैवल्यगत और निष्ठायोगयुक्त। आगे वहीं (पृ.१५) अतिगति, सायुज्य और स्थिति शब्दों को निष्ठा का पर्याय बताया गया है। अवधूत सिद्ध के मत से वही सिद्धावस्था है। उनका कहना है कि सिद्धावस्था के प्राप्त हो जाने पर सिद्धों के प्रति शिव का कोई अधिकार नहीं बचा रहता है (शिवः सिद्धान् प्रति उपरताधिकारः)। दूसरी तरफ सूत्रकार लकुलीश (५.२०) कहते हैं कि ऐसा सिद्धयोगी पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता। भाष्यकार को उद्धृत कर भासर्वज्ञ (पृ.१३) ने भी कहा है कि जप, तप, ध्यान आदि से सिद्ध योगी के पुण्य और पाप दोनों का क्षय हो जाता है। शैवागमों में कर्मसाम्य को शक्तिपात का कारण माना गया है और इस कर्मसाम्य की चर्चा महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय प्रकरण में भी है। "सुहृदः साधुकृत्यां दुर्हृदः पापकृत्याम्" उपनिषद् का यह वचन भी सिद्ध योगी की सेवा करने वालों में उसके पुण्य की और उसको पीड़ा पहुँचाने वालों में पाप की संक्रान्ति बताकर इसी विषय की ओर इंगित करता है।

इस तरह से **सिद्ध** शब्द मुक्तावस्था और जीवन्मुक्तावस्था दोनों के लिये प्रयुक्त मिलता है। इन दोनों अवस्थाओं के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने के लिये ही यहाँ मुक्तावस्था के लिये निष्ठा शब्द प्रयुक्त है। व्याख्याकार (पृ. ८) ने सिद्धावस्था से निष्ठावस्था को पूरी तरह से भिन्न माना है। इनके मत से पाँचवीं अवस्था निष्ठा है, सिद्धावस्था नहीं। वृत्तियो का निरूपण करते समय इन्होंने बताया है कि निष्ठावस्था में शरीर के अभाव में वहाँ किसी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रहती। स्पष्ट है कि यहाँ पशु की मुक्तावस्था को ही **निष्ठा** कहा गया है, जीवन्मुक्तावस्था को नहीं, क्योंकि जीवन्मुक्तावस्था में तो शरीर की स्थिति मानी गई है। यह भी ध्यान देने की बात है कि अवधूत सिद्ध द्वारा प्रयुक्त **सिद्ध** शब्द भी मुक्त जीव के लिये ही प्रयुक्त है। इस विषय का विश्लेषण हम इस रूप में कर सकते हैं कि सिद्ध शब्द के इस दोहरे अर्थ को देखते हुए ही यहाँ मुक्तावस्था के लिये **निष्ठा** शब्द का प्रयोग किया गया है। इस स्थिति में छेदावस्था के योगी की वृत्ति **यथालब्ध** मानी गई है। इस अवस्था के योगी अपना सब कुछ दूसरों को दे देते हैं। पाप और पुण्य भी उनका अपना नहीं रह जाता, सारे संसार-जाल से उनका संबन्ध विच्छिन्न हो जाता है। मात्र करुणावश जीवों के उद्धार के लिये वे जीवित रहते हैं। हम उन सिद्धों के प्रति नतमस्तक हैं।

निरंजन जीव की ऊपर चर्चा आई है। यह निरंजन निष्ठावस्थापन्न योगी ही है। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (३.१.३) मुण्डकोपनिषद् के इस वचन में इसी की चर्चा की गई है। निरंजन शब्द सिद्धों और नाथों के साहित्य से भी जुड़ा है। लगता है वहाँ इसका अर्थ कुछ भिन्न हो गया है। ऊपर **निष्ठा** के पर्याय के रूप में अतिगति, सायुज्य और स्थिति शब्दों का उल्लेख हुआ है। पाशुपत-सूत्र (५,३३) में भी रुद्रसायुज्य

चर्चित है। यहाँ सायुज्य शब्द साम्य का पर्यायवाची माना जा सकता है। यहाँ मात्र बन्ध से मुक्ति को ही मुक्ति नहीं कहा गया है, किन्तु इस स्थिति में पशु पति के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् स्वयं शिव के समान हो जाता है। शिव की समानता कैसे प्राप्त होती है, इस विषय में शैवशास्त्रों में चार मत निर्दिष्ट हैं — उत्पत्ति, संक्रान्ति, समावेश और अभिव्यक्ति। कालामुख सम्प्रदाय के अनुसार शिव की समानता का अर्थ है जीव में सर्वज्ञत्व आदि की उत्पत्ति। इनके मत से मुक्त जीव में मोक्षावस्था में पतिसदृश गुणों की उत्पत्ति होती है। पाशुपत मत में संक्रान्ति पक्ष अभिप्रेत है। इनका कहना है कि मोक्षावस्था में मुक्त आत्मा में पति के गुण उसी प्रकार संक्रान्त हो जाते हैं, जैसे कस्तूरी की सुगन्धि वस्त्र में आ जाती है। कापालिक समावेश पक्ष को मानते हैं। इनके मत से जीव के शरीर में जैसे भूत, प्रेत, आदि आविष्ट हो जाते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में शिव के गुणों का समावेश हो जाता है। अभिव्यक्ति पक्ष को स्वीकार करने वाले शैवों का कहना है कि जीव में शिव के गुण तो विद्यमान है ही, किन्तु संसार दशा में मल से अवरुद्ध होने के कारण वे प्रकाशित नहीं होने पाते। मोक्षदशा में मल के हट जाने से निजी स्वरूप प्रकट हो जाता है। संभवत: यह मत सिद्धान्तशैव मत के अनुयायियों का है। "प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तवो मला:" यह बौद्ध वचन भी इसी ओर इंगित करता है।

***

कालामुख एवं कापालिक मत

शिव के पाँच मन्त्रों की ऊपर चर्चा आई है। शैवागमों में ये शिव के पाँच मुखों के रूप में अथवा पंचमन्त्रतनु शिव के शरीर के रूप में वर्णित हैं। शिव के इन पाँच मुखों से सिद्धान्तशैव, गारुड़, भूत, दक्ष और वाम तन्त्रों की उत्पत्ति मानी जाती है। वैरोचन के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय[१] (२.११२-१२८) में इन सबका सभेदोपभेद वर्णन मिलता है। इनमें से कामिक आदि दस शिवतन्त्र और विजय आदि अठारह रुद्रतन्त्र मिलकर २८ आगम सिद्धान्तशैव नाम से प्रसिद्ध हैं।

शिवपुराण, वामनपुराण, जैनाचार्य गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयटीका, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की भामती टीका, ब्रह्मसूत्र के अन्य भास्कर, रामानुज आदि के भाष्य, यामुनाचार्य कृत आगमप्रामाण्य आदि में चतुर्विध शैवमतों का उल्लेख मिलता है। यहाँ इनके नामों के अनेक पाठान्तर भी मिलते हैं। उन सबका शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक विभागों में समावेश किया जा सकता है। सभी आधुनिक ग्रन्थों में इन चारों सम्प्रदायों की थोड़ी बहुत चर्चा मिलती है।

---

१. नेपाल की राजधानी काठमाण्डू से यह ग्रन्थ दो भागों में संवत् २०२३ एवं २०२५ में छपा है।

डॉ. एस. एन. दासगुप्त ने भी अपने विशाल ग्रन्थ के पाँचवें खण्ड के पहले अध्याय में इस विषय पर पर्याप्त लिखा है। शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य (२.२.३७) का उल्लेख कर वे कहते हैं कि यहाँ शंकर ने **सिद्धान्त** नामक ग्रन्थों के संबन्ध में लिखा है, किन्तु ऐसा कोई शब्द शांकरभाष्य में नहीं मिलता। वहाँ **माहेश्वराः** शब्द प्रयुक्त है और टीकाकारों ने इस शब्द की व्याख्या में चार शैवमतों की चर्चा की है। अन्य भाष्यकार भी ऐसी ही व्याख्या करते हैं। डॉ. दासगुप्त आगे वाचस्पति मिश्र, सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह और रामानुज के ब्रह्मसूत्रभाष्य को उद्धृत कर कहते हैं कि कालामुख और कापालिक संबन्धी वर्णन हमें कहीं नहीं मिलते। बाद में वे भवभूति के मालतीमाधव और आनन्दगिरि के ग्रन्थ को उद्धृत कर दो प्रकार के कापालिकों का परिचय देते हैं। इसी प्रसंग में वे अथर्ववेद के व्रात्यों का भी उल्लेख करते हैं। वे डॉ. आर. जी. भाण्डारकर के मत का खण्डन भी करते हैं। कापालिकों और कालामुखों के संबन्ध में अपनी बात को पुनः दुहराने के बाद डॉ. दासगुप्त पाशुपत मत का और योगाचार्यों का परिचय देते हैं।

इस बीच इन्होंने मेयकंडदेव के शिवज्ञानबोध और शैवसिद्धान्त का भी उल्लेख किया है। पाशुपतों के प्रसंग में वे वीरशैवों की भी चर्चा करते हैं। यह सब विवरण पुराना तो पड़ ही गया है, पूरी तरह से भ्रामक और अस्तव्यस्त भी है। विभिन्न मतों को एक दूसरे से मिला दिया गया है। शैवागमों का रचनाकाल ये दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक मानते हैं। इनका विचार है कि कौण्डिन्य-भाष्य में इन्हीं आगमों के वचन उद्धृत हैं। दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि आगमों में पाशुपत-सूत्रों और कौण्डिन्य-भाष्य का उल्लेख (पृ.१६) है। इनका यह भी सोचना है कि आगम पहले द्रविड़ भाषा में लिखे गये थे। बाद में उनका संस्कृत स्वरूप तैयार हुआ। सूतसंहिता को ये छठी शताब्दी की रचना बताते हैं। शिवज्ञानबोध की किसी टीका के अनुसार शैवमत के छः और सोलह भेदों की भी इन्होंने चर्चा की है। सिद्धान्तशैव दर्शन का परिचय इन्होंने भोजदेव और उसके टीकाकार कुमारदेव के आधार पर (पृ. १५०-१६२) दिया है। इसकी समालोचना हम सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. २७६-२७८) में करेंगे। शिवधर्मोत्तर के एक वचन के प्रमाण से ये सिद्ध करते हैं कि शिवागम संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषा में लिखे गये थे, किन्तु यहाँ उक्त वचन का इन्होंने गलत अर्थ किया है। वहाँ (पृ. १५) टिप्पणी में यह श्लोक दिया गया है —

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यश्च शिष्यानुरूपतः।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः।।

यह वचन आगमों से संबद्ध न होकर गुरु से संबद्ध है कि वह शिष्य की योग्यता के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत अथवा स्थानीय भाषा के माध्यम से उसे आगमों को समझावे।

हमने आगममीमांसा (पृ. ५५) में मैत्र्युपनिषत्, याज्ञवल्क्यस्मृति, ललितविस्तर और गाथासप्तशती के वचनों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि काषाय वस्त्र, त्रिदण्ड, खट्वांग आदि का धारण और भस्मोद्धूलन आदि विधियाँ लकुलीश के प्रादुर्भाव से पहले भी श्रीकण्ड-प्रवर्तित पाशुपत मत में प्रचलित थी। धम्मपद (१४१ गाथा) में भी भस्मोद्धूलन विधि का उल्लेख है। गाथासप्तशती के वचन से यह भी ज्ञात होता है कि कापालिक दीक्षा में स्त्रियों का भी अधिकार मान्य था। वराहमिहिर की बृहत्संहिता और बृहज्जातक की टीकाओं में, हर्षचरित, कादम्बरी, दशकुमारचरित मालतीमाधव, कथासरित्सागर, यशस्तिलकचम्पू, मत्तविलासप्रहसन, कर्पूरमंजरीसट्टक, नलचम्पू, प्रबोधचन्द्रोय नाटक आदि में वर्णित कापालिक मत का स्वरूप कुल, कौल, क्रम, मत और त्रिक सम्प्रदायों में प्रतिपादित रहस्य-विधियों से ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों में वर्णित इस तरह की विधियों से भी बहुत कुछ मिलता जुलता है। डॉ. आर. जी. भाण्डारकर[१] ने जिन तीन शक्ति तत्त्वों का उल्लेख किया है, वे सब उक्त शैव और बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध हैं। लकुलीश पाशुपत और कापालिक मतों की आजकल [२]दक्षिण और वाम नाम से प्रसिद्ध तन्त्रों के उद्भव और विकास में क्या भूमिका रही, इस विषय पर गम्भीरता से विचार होना चाहिये।

दसवीं शताब्दी के आसपास कर्णाटक राज्य में कालामुख सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के प्रमाण शिलालेखों से मिलते हैं। इसके स्थान पर आजकल वहां वीरशैव सम्प्रदाय प्रतिष्ठित है। यामुनाचार्य द्वारा वर्णित कालामुख सम्प्रदाय के स्वरूप से यह भिन्न है। हम समझते हैं कि सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार उसमें परिवर्तन हुआ। वीरशैव मत की यहाँ अलग से चर्चा की गई है। अत: यहां उसको छोड़कर यामुनाचार्य द्वारा "आगमप्रामाण्य" (पृ. ९३-९४) में वर्णित कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का स्वरूप प्रदर्शित कर रहे हैं, क्योंकि इन दोनों सम्प्रदायों का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ हमें अभी तक नहीं मिला है।

---

१. डॉ. भाण्डारकर ने शक्ति के सौम्य, प्रचण्ड और कामप्रधान रूपों की चर्चा अपने उक्त ग्रन्थ में शाक्त सम्प्रदाय का परिचय देते समय की है। द्रष्टव्य - पृ. १६५ (हिन्दी संस्करण)।

२. दक्ष और वाम शब्द की प्रवृत्ति प्रधानतः शिव के दक्षिण मुख से निकले भैरव तन्त्रों तथा वाम मुख से निकले शक्तिप्रधान तन्त्रों के लिये की गई है। सव्य और अपसव्य क्रम से की जाने वाली पूजाविधि के अतिरिक्त पूजा के उपादानों में इन दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं है। वर्तमान समय में दक्षिण क्रम में सौम्य उपादानों का और वाम क्रम में उग्र और कामप्रधान रूपों का उपयोग मान्य है। शब्दों के इस परिवर्तित अर्थ की ओर ही ऊपर इंगित किया गया है।

कापालिक मत के अनुसार छः प्रकार की मुद्राओं के विज्ञान से और उनको धारण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, ब्रह्म की अवगति (ज्ञान) से नहीं। छः प्रकार की मुद्राओं के तत्त्व को जानने वाला, परमुद्रा में विशारद व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। कण्ठिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत — ये ही छः मुद्राएँ कही जाती हैं। उपमुद्रा में कपाल और खट्वांग परिगृहीत हैं। इन मुद्राओं को धारण करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हैं कि समस्त शास्त्रनिषिद्ध कपालपात्र में भोजन, शवभस्म से स्नान तथा उसका प्राशन, लगुडधारण, सुराकुंभस्थापन, उस कुंभ में देवताओं का अर्चन आदि विधियों से ही समस्त दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

रामानुजाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र के अपने श्रीभाष्य में कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का इसी रूप में वर्णन किया है। सम्भवतः इसी प्रकार की आलोचना से आन्दोलित होकर कर्णाटक राज्य में सिद्धान्त शैवागमों के आधार पर कालामुख सम्प्रदाय के संशोधित स्वरूप वीरशैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई हो, यद्यपि इस सम्प्रदाय की लिंगधारण आदि विधियां हमें मोहेंजोदड़ों के काल तक ले जाती हैं। इस प्रसंग में हम उस समय वहाँ प्रचलित जैन सम्प्रदाय की सत्ता को भी नहीं भुला सकते।

कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का परिचय डॉ. डेविड एन. लारेंजन ने "दि कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" नामक अपने ग्रन्थ में बड़े परिश्रम से प्रस्तुत किया है। उसको हम पूरी परीक्षा के बाद ही ग्रहण कर सकते हैं। लकुलीश से प्राचीन पाशुपत मत की सत्ता को मानने के लिये वे तैयार नहीं हैं। लकुलीश को भी वे उतना प्राचीन नहीं मानते, जितना डॉ. आर. जी. भाण्डारकर आदि ने उनको बताया है। उनकी ये सारी उक्तियां पाश्चात्य विद्वानों के विशेष कर इंग्लिश मूल के विद्वानों के, एक पूर्व निर्धारित निश्चित लक्ष्य को, उनकी मानसिक रुग्णता को उजागर करती हैं। वस्तुतः लकुलीश पाशुपत यह नाम ही इससे प्राचीन पाशुपत मत की सत्ता को स्वीकार करता है। **यह शोचनीय स्थिति है कि इस तरह के विद्वानों के अनुकरण पर कुछ भारतीय विद्वान् भी अपनी पूरी परम्परा पर बिना ध्यान दिये भारतीय विद्या के प्रत्येक श्रेत्र में विदेशी प्रभाव को खोजने में अधिक परिश्रम करते हैं। यह भारतीय मनीषा का आत्मसमर्पण ही तो है।**

वामनपुराण (६.८६-९१) में शैवों के चार भेदों को चार वर्णों से जोड़ा गया है और वहाँ उनमें से प्रत्येक मत के प्रवर्तक दो दो आचार्यों के नाम दिये गये हैं, इस विषय की चर्चा मूलतः हमारे संस्कृत निबन्ध के आधार पर पहले (पृ. १७९) आ

चुकी है। डॉ. लोरेंजन की उक्त पुस्तक[1] में इसकी समीक्षा न की गई हो, यह तो स्वाभाविक है, किन्तु अन्य किसी भारतीय विद्वान् की भी इस विषय में कोई टिप्पणी देखने को नहीं मिली। हो सकता है, प्रथमत: संस्कृत में निबन्ध होने के कारण ऐसा हुआ है।

सन् १९६८ में प्रकाशित हमारे नित्याषोडशिकार्णव के प्रथम संस्करण के परिशिष्ट में योगी अमृतानन्द का सौभाग्यसुधोदय छप चुका था और उसके उपोद्घात में हमने लिखा था कि कश्मीर से छपा षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह अमृतानन्द के इस ग्रन्थ का एक अंशमात्र है। हमने देखा है कि इस सूचना के छपने के बीस वर्ष बाद भी क्षेमराज के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में ही इसका उल्लेख किया जाता है, जैसा कि सन् १९१४ ई. में छपे श्री जगदीश चन्द्र चटर्जी के "कश्मीर शैविज्म" नामक ग्रन्थ में उसका परिचय दिया गया था। इसके विपरीत इसी ग्रन्थ के विस्तृत संस्कृत उपोद्घात के आधार पर लेखक का यूरोप के विद्वानों से सम्पर्क हो सका और वह सम्पर्क यूरोप-यात्रा के रूप में प्रतिफलित हुआ। अस्तु, लिखने का तात्पर्य इतना ही है कि हमें उक्त चारों शैव मतों की प्रवृत्ति के बीजों को खोजते समय ऊपर प्रदर्शित प्रथम चार नामों की न सही, किन्तु दूसरे नम्बर के नामों — गोपायन, ऋषभ सोमकेश्वर, क्राथेश्वर और ऊर्णोदर की परीक्षा अवश्य करनी होगी, पुराण और आगम वाङ्मय में और कथा साहित्य में इन नामों की धैर्यपूर्वक खोज करनी होगी। उसके बाद ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। कालामुख सम्प्रदाय से सम्बद्ध कालास्य आपस्तम्ब कृष्ण यजुर्वेद का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो द्रविड़ देश में प्रचलित वेद की एक लोकप्रिय शाखा है। इनका कालास्य या कालवदन होना स्वाभाविक है। पुराण साहित्य में विशेष कर दक्षिण भारत में प्रचलित कथा-साहित्य में इस नाम की भी खोज करनी होगी। इसी तरह से शिलालेखों में कुबेर की सुराप्रिय देवता के रूप में स्तुति मिलती है। इन सब सूचनाओं की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

अपनी उक्त पुस्तक में डॉ. लारेंजन ने कापालिक सम्प्रदाय का (पृ. १३-९५) विस्तृत परिचय दिया है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य में इस मत की कहाँ कहाँ किस रूप में चर्चा आई है, इसको विस्तार से बताते हुए इन्होंने उन शिलाशासनों की भी चर्चा की है, जहाँ इस मत का उल्लेख है। आगे शंकराचार्य और कापालिक, शंकर और उग्रभैरव, शंकर और क्रकच अथवा बोधोल्बण नित्यानन्द, शंकर और उन्मत्तभैरव जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत शंकराचार्य का कापालिक मत और कापालिकों से हुए

---

१. डॉ. लारेंजन की उक्त पुस्तक (पृ. ११-१२) में यह विषय उल्लिखित है, लेकिन वहाँ उक्त निबन्ध पर उन्होंने अपना कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया।

विवादों का वर्णन है। विद्वान् लेखक ने संस्कृत नाटकों में निर्दिष्ट कापालिक मत पर भी अपनी पैनी दृष्टि डाली है और अन्त में अन्य सामान्य सामग्री प्रस्तुत की है। अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में इन्होंने कापालिक पूजापद्धति और सिद्धान्तों का परिचय दिया है। इस प्रकार कापालिक मत का विस्तृत परिचय देने के बाद यहाँ कालामुख सम्प्रदाय का परिचय दिया गया है। (पृ. ९७-१७२)

कालामुख सम्प्रदाय की शाक्त परिषद् और सिंह परिषद् का तथा कर्णाटक राज्य के विभिन्न जनपदों से प्राप्त शिलालेखों के आधार पर इस मत के आचार्यों का परिचय देते समय इन्होंने जगह जगह लाकुल (लकुलीश) सम्प्रदाय की चर्चा की है। इसकी भी सूचना वहाँ मिलती है कि कालामुख सम्प्रदाय का उद्भव कश्मीर में हुआ होगा, किन्तु काश्मीरी ग्रन्थों में हमें इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता। कालामुख सम्प्रदाय के विषय में अभी हम निश्चयपूर्वक इतना ही कह सकते हैं कि कर्णाटक राज्य में कन्नड़ लिपि में लिखे ११वीं-१२वीं शताब्दी के शिलालेखों में इस मत के आचार्यों, सिद्धान्तों और पूजापद्धति का थोड़ा बहुत परिचय मिलता है, जो लकुलीश द्वारा प्रवर्तित पाशुपत मत से बहुत कुछ जुड़ा हुआ लगता है।

विद्वानों का मानना है कि यह कालामुख सम्प्रदाय अन्ततः उस वीरशैव मत में अन्तर्लीन हो गया, जो आजकल उसी प्रदेश में प्रचलित है, जहां पहले यह सम्प्रदाय फैला हुआ था। कालामुख सम्प्रदाय के अनेक मठ अब वीरशैव मठों में अन्तर्लीन हो चुके हैं। इस वीरशैव मत की प्रकृति यामुनाचार्य द्वारा वर्णित कालामुख सम्प्रदाय से भिन्न है। हम समझते हैं कि सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार उसमें परिवर्तन हुआ। इसकी पृष्ठभूमि में हमें नकुलीश पाशुपत मत और कर्णाटक में उस समय और आज भी विद्यमान जैन मत के सिद्धान्तों और इनके अनुपालक आचार्यों की गतिविधियों का सूक्ष्म ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करना होगा। विशेष रूप से यह भी ध्यान देने की बात है कि कालामुख, वीरशैव और जैन मत प्रधानतः व्यापारी वर्ग से जुड़ा हुआ है।

ऊपर जिन छः कापालिक मुद्राओं की चर्चा की गई है, वे बौद्ध तन्त्रों में भी वर्णित हैं। यज्ञोपवीत को हटाकर पंचमुद्रा पक्ष भी वहाँ वर्णित है। नाथ समप्रदाय में आज भी इनको देखा जा सकता है। इन सभी में कायपूजा का विधान मिलता है। घृणा, शंका, लज्जा, जातिग्रह आदि को यहां पाश माना जाता है। विधिनिषेध, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य आदि को ये दुराग्रह मानते हैं। आजकल के अघोरी सम्प्रदाय से हम इन सबकी तुलना कर सकते हैं। वे इस शरीर की ही पूजा करने का उपदेश करते हैं और इस पूजा में वे रत्नपंचक (तन्त्रा. वि. २९\२००) अथवा द्रव्य-द्वादशक (तन्त्रा. वि. २९\१७) का उपादान करते हैं। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित गोकुदहन नामक समयपंचक और नवद्वार-निर्गत द्रव्यों से ये भिन्न नहीं हैं, जो वहाँ कायपूजा के

बाह्य और आन्तर उपादान माने गये हैं। इनके अनुसार पीठ, उपपीठ आदि की स्थिति साधक के शरीर में ही है, अत: बाह्य तीर्थाटन आदि अनावश्यक हैं। ये जड़ पाषाण, पट आदि की बनी मूर्तियों और चित्रों आदि की अपेक्षा इस शरीर में स्थित स्वात्मचैतन्य या अद्वय महासुख की उपासना को वरीयता देते हैं। शब्दों का भेद होने पर भी युगनद्ध क्रम अथवा यामलसाधना का क्रम एक ही जैसा है। अन्त्यजा-साधन अथवा दूतीयाग की पद्धति में कोई अन्तर नहीं है। सामरस्य, समरसता, आनन्द आदि शब्दों का प्रयोग सर्वत्र है। स्वयम्भू-कुसुम, बोल-कक्कोल, कुण्डगोलक, बोधिचित्त आदि शब्द एक ही अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। "पतिते बोधिचित्ते" (गु.सि., ८.३८) और "मरणं बिन्दुपातेन" (ह. प्र., ३.८८) दोनों का एक ही अभिप्राय है।

मन्त्रयान या तन्त्रवाद में रहस्यवाद के प्रवेश के विषय में विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हमें ऊर्ध्वलिंगी मुद्राएँ मिलती हैं। पूना की "एनल्स आफ भाण्डारकर इंस्टीट्यूट"[१] नामक पत्रिका में इनका सचित्र विवरण प्रकाशित हुआ है। नेत्रतन्त्र (मृत्यंजय भट्टारक) के ९-१२ अधिकारों में वाम, दक्षिण, कौल आदि तन्त्रों की पूजाविधि के प्रतिपादन के बाद १३वें अधिकार में वैष्णव, सौर और बौद्ध तन्त्रों की पूजाविधि के साथ शैव मत के अनुसार विश्वरूप की पूजाविधि बताई गई है। पाशुपत मत की नई शाखा के प्रवर्तक लकुटधारी न(ल)कुलीश की मूर्तियों में उनको ऊर्ध्वलिंगी अंकित किया गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार लकुलीश के मत में मनुष्य के शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। लकुलीश का आविर्भाव-काल डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ई. दूसरी शताब्दी बताते हैं। कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का समय इनके अनुसार पाँचवीं-छठी शताब्दी है। हम मान सकते हैं कि कायपूजा का सिद्धान्त लकुलीश सम्प्रदाय द्वारा इदम्प्रथमतया प्रवर्तित हुआ हो।

वैदिक वाङ्मय में भी हमें हिंसाप्रधान यज्ञों के साथ ही सौत्रामणी याग में सुरापान का विधान भी मिलता है। ऋग्वेद (७.२१.५, १०.९९.३) में शिश्नदेवों का उल्लेख है। "न काञ्चन परिहरेत् तद् व्रतम्" (२.१३.२) यह छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य है। "यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम् , तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्, तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत" (२.३.७) यह ऐतरेयारण्यक का वाक्य है। "न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यत: प्रजा। लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा।।" (१४.२३३) यह महाभारत के अनुशासन पर्व का वचन है।

डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्री ने ऊपर की छान्दोग्य श्रुति को उद्धृत किया है और लिखा है कि शंकराचार्य यहां "कामयमानाम्" विशेषण जोड़ते हैं (बो.च.भू., पृ.१५)।

१. भा. ३९, अं. ३-४, पृ. २८९-३६४, सन् १९५८

यहाँ (पृ. १४-२६) शास्त्री जी ने बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश और विकास पर विचार किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी "पुरातत्त्व निबन्धावली" में स्थित "वज्रयान और चौरासी सिद्ध" (पृ. १०९-१३०) शीर्षक निबन्ध में वज्रयान की उत्पत्ति के प्रसंग में नीलपट दर्शन की चर्चा की है (पृ. ११८)। यशस्तिलकचम्पू के कर्ता सोमदेव नीलपट के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं (भा. २, पृ. २५२)। डॉ. कृष्णकान्त हांडीकी "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर" (पृ.४४) में सदुक्तिकर्णामृत में संगृहीत नीलपट के दूसरे श्लोक का उदाहरण देते हैं। वहीं वे भर्तृहरि के एक श्लोक को भी उद्धृत करते हैं। इन सबका अभिप्राय एक सरीखा है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के दिये गये कथानक का घटनाकाल वहाँ ५१५-५२४ ई. बताया गया है। कूर्मपुराण (२.२२.३५; २.३३.६०) में नील और रक्त पटधारी ब्राह्मण की निन्दा की गई है।

इतना सब कहने का अभिप्राय यह है कि ऊपर उद्धृत काव्य-साहित्य के ग्रन्थों में कापालिक मत का जो खाका खींचा गया है, उसके पर्याप्त बीज प्राचीन साहित्य में मिल जाते हैं। श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत से सिद्धान्तशैव शाखा की और कापालिक मत से लकुलीश पाशुपत, कौल, क्रम, मत और कालामुख सम्प्रदायों की ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों और सिद्ध-नाथ सम्प्रदायों की भी प्रवृत्ति कैसे हुई? इस पर अभी हमें पूरी तत्परता से कार्य करना होगा। सिद्धान्तशैव शाखा से विकसित त्रिक और वीरशैव मतों की समीक्षा भी हमें करनी होगी। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि एकलिंग-माहात्म्य की भूमिका (पृ. ५३-५७) में निर्दिष्ट ओझा जी का मत ही सत्य के अधिक निकट है।

भवभूति के मालतीमाधव नाटक से कापालिक मत का अच्छा परिचय मिलता है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (१३.१४९) में बताया है कि सोमानन्द, कल्याण, भवभूति आदि आचार्यों ने त्रीशिकाशास्त्र की व्याख्या की थी। परात्रीशिका कौल शास्त्र है। भवभूति का "ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्" (१.८) यह प्रसिद्ध श्लोक मालतीमाधव का ही है। ऐसा उनको क्यों लिखना पड़ा? स्पष्ट है कि वे एक क्रान्तिकारी विचारक थे। कुछ ऐसी नई स्थापनाएँ उन्होंने की थीं, जो तत्कालीन प्रबुद्ध समाज को मान्य नहीं थी। वे स्थापनाएँ क्या थीं? इसके लिये हमें उनके उपलब्ध तीनों नाटकों की इसी पृष्ठभूमि में पुनः समीक्षा करनी होगी। कापालिक और कौल मत का, विशेष कर इनके सामाजिक दृष्टिकोण का तभी सही विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिये उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक के प्रारम्भ का —"वराकी कपिला कल्याणी मडमडायिता" यह वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इसी प्रसंग में वे चन्द्रद्वीप तपोवन की भी चर्चा करते हैं, जो मत्स्येन्द्रनाथ की भी तपोभूमि है।

शैव शास्त्रों में शिवसमता की प्राप्ति को ही मोक्ष माना गया है। सद्योज्योति शिवाचार्य की मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका में तथा इन पर अघोरशिव एवं भट्ट रामकण्ठकृत टीकाओं में एवं शिवाग्रयोगी की शैवपरिभाषा में शिवसमता की प्राप्ति के चार प्रकार बताये गये हैं। वे हैं—उत्पत्ति, संक्रान्ति, आवेश और अभिव्यक्ति। इनमें अभिव्यक्ति पक्ष सिद्धान्तशैवों का, संक्रान्ति पक्ष पाशुपतों का, उत्पत्ति पक्ष कालामुखों का और आवेश पक्ष कापालिकों का माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम पक्ष में मोक्ष दशा में शिवसमता अभिव्यक्त होती है। दूसरे पक्ष में उस समय शिवसमता संक्रान्त होती है। तीसरे पक्ष के अनुसार तब शिवसमता उत्पन्न होती है और चौथे पक्ष में शिवसमता आविष्ट होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चारों सम्प्रदायों में मुक्ति के स्वरूप के विषय में भी मतभेद हैं।

शैवपरिभाषाकार ने कालामुखों के लिये महाव्रती शब्द का प्रयोग किया है। कालामुखों से सम्बद्ध शिलालेखों में भी उनके लिये यह शब्द प्रयुक्त है। इनके मत के अनुसार मोक्षदशा में शिवसमता उत्पन्न होती है। कापालिकों का वहाँ अलग से उल्लेख किया गया है, जब कि वामनपुराण के अनुसार महाव्रती ही कापालिक हैं।

८४ सिद्धों में कृष्णपाद अपर नाम काह्नपाद कापालिक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। बौद्ध सिद्धों में इनकी गिनती होती है। यह हम पहले बता चुके हैं कि कापालिकों के यहाँ छः मुद्राएं स्वीकृत हैं। ये ही छः मुद्रायें बौद्ध तन्त्रों में भी मान्य हैं। साधनमाला[१] जैसे ग्रन्थों को इस प्रसंग में प्रस्तुत किया जा सकता है। कापालिकों के आवेश पक्ष को प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समावेश के रूप में मान्यता मिली है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बौद्ध तन्त्र और कश्मीरी त्रिक तन्त्रों पर समान रूप से कापालिकों का प्रभाव है। कायपूजा के बाह्य और आन्तर उपादानों के प्रसंग में इस प्रभाव को और भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अन्तर इतना ही है कि बौद्ध-तन्त्र पूजा के उपादानों को लेकर कापालिक मत के, अघोरी सम्प्रदाय से अधिक नजदीक है, जब कि त्रिक-तन्त्र उससे कुछ हट चुके हैं और त्रिपुरा-तन्त्रों में आते-आते यह प्रभाव और भी क्षीण हो गया है।

कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। सिद्धों और नाथों की नामावली में इनका पहला नाम है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव-काल ई. ५-६ शताब्दी माना है। हमने ऊपर देखा है कि नीलपट आदि के रूप में कौल उपादानों से हम परिचित होने लगते हैं। बौद्ध ग्रन्थ [२]सुभाषितसंग्रह

---

१. देखिये—साधनमाला, पृ. ४८९; हेवज्रतन्त्र (१.३.१४) में पाँच मुद्राएँ वर्णित हैं।
२. सुभाषितसंग्रह, पृ. २७० देखिये। यह ग्रन्थ सन् १९०५ में पेरिस से छपा था। सम्पादक —सी. वेन्डेल।

के सम्पादक प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि[१] के लेखक अनंगवज्र को नूतनानंगवज्रपाद के नाम से संबोधित करते हैं और कहते हैं कि ये ही गोरक्ष हैं। इस पृष्ठभूमि में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ को गुरु-शिष्य के रूप में प्रस्तुत करने वाले पूरे आधुनिक भारतीय वाङ्मय का हमें पुनः परीक्षण करना होगा। सिद्धों और नाथों की मूलतः एक ही परम्परा है या इनकी मान्यताएं प्रारम्भ से ही भिन्न हैं, इस पर भी हमें गंभीरता से विचार करना हैं।

हम कापालिक मत में कौल सम्प्रदाय के बीजों को और लकुलीश पाशुपत मत के साथ कालामुख सम्प्रदाय और बौद्ध तन्त्रों की सेकयोग से भिन्न हठयोग की प्रक्रिया में नाथ सम्प्रदाय के सूक्ष्म बीजों को खोजने का प्रयत्न करें, तो इसके अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। शोधकर्ताओं की इस ओर प्रवृत्ति हो, इसीलिये हमने यहाँ पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदायों को एक साथ पिरोने का प्रयत्न किया है। इसी सातत्य में अब हम कौलमत को प्रस्तुत कर रहे हैं।

***

कौल मत

प्रस्तुत प्रकरण (पृ. ११) में हमने कहा है कि प्राचीन पाशुपत मत और सिद्धान्तशैव मत की प्रवृत्ति **श्रीकण्ठनाथ** से और परवर्ती पाशुपत मत के साथ कालामुख, कापालिक, कौल, क्रम आदि शास्त्रों की प्रवृत्ति **लकुलीश** से मानी जा सकती है। अपने इस कथन की पुष्टि में आगे (पृ. २०९-२११) कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। अभिनवगुप्त की यह उक्ति—"वामदक्षिणमाश्रितम् एकत्र मिलितं कौलम्" (तन्त्रा, ३७.२६) भी इसमें सहायक ही सिद्ध होगी। नेत्रतन्त्र के १२वें अधिकार में कुलाम्नाय पद्धति का निरूपण करने से पहले १०वें और ११वें अधिकार में दक्षिण एवं वाम तन्त्रों की पद्धति वर्णित है। तन्त्रालोक में भी अन्य मतों का निरूपण करने के बाद अन्त में (२८-२९ आ.) कौल मत वर्णित है। नेत्रतन्त्रोद्योत (१२.१) में क्षेमराज ने कुलाम्नाय शब्द का अर्थ बताया है। इस पूरे अधिकार में कुलपद्धति का निरूपण किया गया है। तदनुसार इस मत में ईशान से वायव्य कोण पर्यन्त गणेश, बटुक, गुरु आदि की, पूर्व-दक्षिण-पश्चिम दिशा में खगेन्द्रनाथ, कूर्मनाथ और मेषनाथ की तथा उत्तर दिशा में मच्छन्द-कुंकुणाम्बा एवं दूतियों के साथ छः साधिकार राजपुत्रों की अर्चना की जाती है।

---

१. प्रथमतः गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह में हुआ। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, सन् १९८७

तन्त्रालोक में वर्णित कौल मत के स्वरूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि लकुलीश पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत से यह बहुत कुछ मिलता-जुलता है और यह भी कि कौल मत प्रधानत: शिवपारम्यवादी है। अत: कौल मत का परिचय हम इसी प्रकरण में दे रहे हैं। यह भी सही है कि परवर्ती प्रत्यभिज्ञा दर्शन के साथ शाक्त मत पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस कौल मत की प्रवृत्ति के साथ ही आराधना के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। पूजा के बाह्य और आन्तर उपादानों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार भी प्रचलित हुआ। [१]अभिनवगुप्त कहते हैं कि आचार्य लकुलीश आदि के अनुसार इस मनुष्य-शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। इस मत के अनुयायियों का कहना है कि मन्त्र के बल से जब हम पाषाण, मृत्तिका, पट आदि निर्जीव पदार्थों में इष्टदेव की प्रतिष्ठा कर सकते हैं, तो इस सजीव मनुष्य देह में उसकी स्थापना कर उसकी उपासना क्यों नहीं कर सकते? कापालिक पद्धति के अनुसार यह पूजा प्रथमत: स्वदेह से निर्गत द्रव्यों से की जाती थी। इनके साथ **ओष्ठ्यान्तत्रितय** (तीन मकार) अथवा पाँच मकारों का समावेश कब हुआ, यह अब भी शोध का विषय है।

कुछ विद्वान् इनकी आध्यात्मिक व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इस संबन्ध में हम शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के उपोद्घात (पृ. ८७-८९) में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। बौद्ध तन्त्रों में सेकयोग और हठयोग की प्रक्रिया वर्णित है। हम सेकयोग को कौल (सिद्ध) परम्परा से और हठयोग को नाथ परम्परा से जोड़ सकते हैं। "जाग मछिन्दर गोरख आया" इस उक्ति में हम उक्त दोनों योगों की प्रतिध्वनि सुन सकते हैं। इसके आधार पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष को गुरु-शिष्य के रूप में स्थापित करने और इनको समसामयिक मानने की परम्परा चल पड़ी है। [२]कई स्थलों पर हम इसका प्रतिवाद कर चुके हैं।

इसी पृष्ठभूमि में हम यहाँ कौल मत की चर्चा करेंगे। तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के आयाति-क्रम के साथ कौल मत की परम्परा का भी निदर्शन सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. ३०५) में किया जा रहा है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने "अभिनवगुप्त." (पृ. ५४२-७३२) में विस्तार से तथा शैवदर्शनबिन्दु (पृ.१२०-१८५) में संक्षेप में

---

१. "सर्वदेवमय: काय: सर्वप्राणिष्विति स्फुटम्। श्रीमद्भिर्लकुलीशाद्यैरप्येतत् सुनिरूपितम्।।" (तन्त्रा. १५.६०४)।

२. नि. षो. उपोद्घात, पृ. ११६-११७ की टिप्पणी, तथा "आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ६१-६५ द्रष्टव्य।

कुल मत का परिचय दिया है। ''बृहदितिहास.'' (ख. ११, पृ. ३०६-३३३) में भी इस मत का परिचय दिया गया है, अतः यहाँ संक्षेप में कुछ विशेष बातों की ही चर्चा की जा रही है। हठयोग अथवा नाथयोग की यहाँ कोई चर्चा नहीं की गई है। केवल कुछ भ्रमों के निवारण के लिये मत्स्येन्द्रनाथ के साथ गोरक्षनाथ का भी परिचय अवश्य दिया जा रहा है।

सिद्ध और नाथ

तन्त्रालोक (३६. ११-१४) में अभिनवगुप्त श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से सिद्धों के अवतार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत शैवागमों के प्रवर्तक क्रमशः त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नाम के आचार्य हुए और इन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के मठों की स्थापना की। अद्वैतवादी सिद्ध त्र्यम्बक की दुहिता के वंश में भी एक मठ स्थापित हुआ। शिवदृष्टिकार सोमानन्द त्र्यम्बक को अपना पूर्वज मानते हैं। इसके पुत्र का नाम संगमादित्य, संगमादित्य से वर्षादित्य, वर्षादित्य से अरुणादित्य और अरुणादित्य के पुत्र का नाम आनन्द था। ये आनन्द सोमानन्द के पिता थे। इस प्रकार अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की यह परम्परा बनती है। त्र्यम्बक की दुहिता का संबन्ध कामरूप पीठ में प्रादुर्भूत कौल सम्प्रदाय से था।

सिद्धों की नामावली में नाना रूपों में प्रायः सर्वत्र घूम-फिर कर पहला नाम मत्स्येन्द्र का ही आता है। ये ही कौल सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक थे। इस कौल मार्ग की साधना-पद्धति दो प्रकार की थी—एक कृतक और दूसरी सहज। कुण्डलिनी की साधना कृतक तथा समरस स्थिति को सहज साधना कहा गया है। इन दोनों प्रकार की साधनाओं में लीन योगी ही [1]**सिद्ध** कहलाते थे। यह साधना शैव-शाक्त, बौद्ध और जैन सभी धर्मों में मान्य थी। इनमें सभी धर्मों और वर्णों के उत्कृष्ट साधकों के नाम मिलते हैं। यह कहा जा सकता है कि ये सिद्ध वर्ण, जाति और धर्म से अतीत रहते हुए भी कभी-कभी सभी धर्मों की और कभी-कभी किसी एक धर्म की विधियों का अनुवर्तन करते थे। बौद्ध धर्म में रूपान्तर उपस्थित करने वाला यही तत्त्व था।

यह ध्यान देने की बात है कि तन्त्रालोक (२९.३६) में वर्णित छः ओवल्लियों में नाथ शब्द नहीं आया है। संभवतः क्रम-मत में इस शब्द को मान्यता मिली हो, जिसमें इस मत के प्रथम आचार्य को अवतारकनाथ या शिवा-

१. नेत्रतन्त्र (२०.२३) के उद्योत में क्षेमराज ने **सिद्ध** पद से खगेन्द्र आदि का तथा **खेचरी** पद से संविद्गगनचारिणी देवियों का ग्रहण किया है।

नन्दनाथ नाम दिया गया है। त्रिपुरा मत के आचार्यों के दीक्षा नाम के साथ आनन्दनाथ शब्द जोड़ा जाता है और परशुरामकल्पसूत्र में इसका स्पष्ट विधान है। त्रिपुरा मत के ग्रन्थ नि. षो. की टीका अर्थरत्नावली (पृ.४१) में पीठों के साथ नाथों की तथा तन्त्रराजतन्त्र (१.७) में नौ नाथों की भी सूचना मिलती है। वहाँ (२. १-९) इनके नाम भी दिये गये हैं, किन्तु नाथ सम्प्रदाय में प्रचलित नामावली से ये भिन्न हैं। इस नामावली में भी गोरक्षनाथ का नाथ नहीं है। त्रिपुरा मत में गुरुपंक्ति दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा में विभक्त है तथा इन सभी आचार्यों के नाम के अन्त में आनन्दनाथ शब्द जुड़ा हुआ है। इन नामावलियों का भी सिद्धों और नाथों से कोई संबन्ध नहीं है, तो भी सभी मतों की सिद्धौघ परम्परा के आचार्य सिद्धों के रूप में ही मान्य हैं। इसी तरह से अभी ऊपर श्रीकण्ठनाथ और श्रीनाथ की चर्चा आई है। [१]महाभारत के अनुसार उमापति श्रीकण्ठ शिव पाशुपत मत के प्रवर्तक हैं। श्रीनाथ द्वैताद्वैतवादी शैवदर्शन के आचार्य हैं। इस प्रकार नाथ शब्द पाशुपत सम्प्रदाय से भी जुड़ा प्रतीत होता है। डॉ. जे. गोण्डा[२] ने नाथयोगियों को पाशुपत मत से ही संबद्ध माना है। हम इनको श्रीकण्ठ पाशुपत मत से संबद्ध मान सकते हैं, क्रम मत के आचार्यों से नहीं।

इस पृष्ठभूमि में इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि यद्यपि शैव नाथ योगियों को भी सिद्ध कहा जाता था, किन्तु कतिपय कारणों से हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिये **नाथ** तथा बौद्ध तान्त्रिकों के लिये **सिद्ध** शब्द प्रचलित हो गया। पूर्वोक्त भ्रान्ति-पूर्ण अध्ययन की यह परिणति है।

कालिदास के मेघदूत में सिद्धों का वर्णन देखकर यह कल्पना की जाती है कि उस समय मालव प्रदेश के दक्षिण में संभवतः महाराष्ट्र के आस-पास सिद्धों की परम्परा थी, जो सपत्नीक रहते थे। वस्तुतः अमरकोशकार ने देवयोनि-विशेष में इन सिद्धों की गणना की है। कुमारसंभव में हिमालय का वर्णन करते समय भी कालिदास ने देवयोनि-विशेष सिद्धों का ही वर्णन किया है।

शक्तिसंगमतन्त्र में अनेक स्थलों पर ८४ सिद्धों और ९ नाथों का उल्लेख मिलता है। वहाँ शाबर (भाषा) मन्त्रों के दो भेद बताये गये हैं—सिद्धोक्त और नाथोक्त। सिद्धों की संख्या ८४ और नाथों की संख्या ९ क्यों निश्चित हो गई? इसका कोई संतोषजनक उत्तर हमारे पास नहीं है, किन्तु हम निश्चयपूर्वक इतना

---

१. "उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः। उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।।" (शान्ति. ३४९.६७)।

२. मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर, पृ. २२१-२२४ देखिये।

अवश्य कहना चाहेंगे कि कौल मत, वज्रयान और सहजयान के आचार्य सिद्धों के रूप में तथा पाशुपत मत अथवा हठयोग के आचार्य नाथों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अर्थात् परवर्ती काल में ये शब्द इनमें रूढ़ हो गये।

हठयोग के बीज यद्यपि पाशुपत योग और कौल मत की कृतक शाखा में भी मिलते हैं, इसमें वज्रयान का समावेश भी किया जा सकता है, तथापि इसको व्यवस्थित रूप देने वाले संभवत: गोरक्षनाथ थे। इस बात को पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया जा सकता कि नाथ सम्प्रदाय मैथुनवर्जी था, क्योंकि वज्रौली जैसी क्रियाओं का वर्णन वहाँ मिलता है। यह माना जा सकता है कि कौल मत की कुछ मान्यताओं का उन्होंने विरोध किया और पर्याप्त परिष्कार के बाद ही उस परम्परा से इन्होंने अपना नाता जोड़ा। जैसा कि मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में हमने बताया, "जाग मछिन्दर गोरख आया" जैसी लोकोक्तियों का संबन्ध केवल इसी रूप में जोड़ा जा सकता है। हठयोग को व्यवस्थित रूप बारहवीं अथवा तेरहवीं शताब्दी में दिया गया होगा, जब कि कौल मत की प्रतिष्ठा मत्स्येन्द्र के द्वारा छठी शताब्दी में की जा चुकी थी।

यह माना जाता है कि अपभ्रंश भाषा के दोहों और वर्ण-पदों आदि की साधना-पद्धति पर बौद्धेतर प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका मुख्य कारण कौल दृष्टि का प्रवेश ही है। ऐसा क्यों हुआ? कुलशास्त्र की प्रवृत्ति किन परिस्थितियों में हुई? यह अभी भी शोध का विषय है।

शैव धर्म को सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदायों में बाँटकर इनका संबन्ध चारों वर्णों से जोड़ा गया है। वेदान्तसूत्र के तर्कपाद के भाष्यकारों और टीकाकारों ने इनका उल्लेख किया है और पुराणों में भी इनकी चर्चा है, यह [१]बताया जा चुका है। अभिनवगुप्त और भास्करराय आदि तान्त्रिक आचार्यों ने कौल साधनाओं के बीज आरण्यकों और उपनिषदों में खोज निकाले हैं। वज्रयानी साधना में और सिद्धों की दिनचर्या में कौल और कापालिक दोनों ही सम्प्रदायों के तत्त्व समान रूप से मिलते हैं। हमारी कल्पना के अनुसार हठयोग का संबन्ध पाशुपत सम्प्रदाय से भी किसी न किसी प्रकार का रहा है। [२]सिद्धों और नाथों का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि सिद्धों और नाथों की नामावली अभी तक सही रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकी है,

---

१. पाशुपत प्रकरण के (पृ. १७७-१८०) देखिये (चतुर्विध शैव)।

२. कौल मत में साधक को **सिद्ध** अथवा **वीर** तथा साधिका को **योगिनी** कहा जाता है। सिद्धों और योगिनियों के संघट्ट को **मेलापक** कहते हैं। विज्ञानभैरव, भाषाभाष्य (पृ. १५६) देखिये।

किन्तु इनमें पहला नाम निर्विवाद रूप से मीननाथ (मत्स्येन्द्र) ही मान्य है, अत: हम यहाँ सिद्धों और नाथों की कोई चर्चा न कर केवल कौल मत एवं सहजयोग तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

सहज योग

हम योगवासिष्ठ को सहजयोग का विशाल ग्रन्थ मान सकते हैं। डॉ. एस. एन. दासगुप्त इस पर विज्ञानवाद का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इस पर शैवदर्शन की **स्पन्द** शाखा का तथा विज्ञानभैरव सरीखे ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव है। इन सब ग्रन्थों का आविर्भाव उस कालावधि से पहले हो चुका था, जिसमें भारतीय संस्कृति पर ताओवाद के प्रभाव की और बौद्ध सिद्धों के आविर्भाव की बात कही जाती है।

कौलज्ञाननिर्णय में सहज तत्त्व को कामकलात्मक माना है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.३.७७) में हंस मन्त्र को **कामकला** कहा है। कौलज्ञाननिर्णय में ही हृदय-स्थित प्राणापान व्यापार (श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया) को, जिसका आनापानस्मृति के रूप में पालि-ग्रन्थों में विवरण मिलता है, **सहज** देव कहा गया है। हृदय का स्पन्दन व्यापार सहज (स्वाभाविक) रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर प्रवृत्त रहता है। सिद्ध भी इसी सहज गति से लोक-व्यवहार में लगा रहता है। सिद्धों की इस स्थिति का काश्मीर शैव ग्रन्थों में अनुपाय-प्रक्रिया के नाम से वर्णन मिलता है। इसका एक प्रयोजन रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार भी माना जा सकता है।

धार्मिक चिन्तन अभी भी भट्ट कुमारिल की उक्ति के इर्द-गिर्द ही घूम रहा है। सत्य एक और अविभाज्य है। इसको देश, काल, और धर्म की परिधि में बाँटा नहीं जा सकता। धार्मिक श्रेष्ठता का व्यामोह सही विचारों को पनपने नहीं देता। सिद्ध इस व्यामोह मे मुक्त थे। सिद्धों का और सहजयान का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहये। सहज योग भारतीय मनीषा की एक उत्कृष्ट अवधारणा है। इसकी सहायता से हम [१]विश्वाहन्ता का विकास कर एक विश्वसंस्कृति का निर्माण कर सकते हैं।

सहजयान की प्रवृत्ति के प्रसंग में विष्णुपुराण का यह श्लोक प्राय: उद्धृत किया जाता है—

ततः सा सहजा सिद्धिस्तासां नातीव जायते।
रसोल्लासादयश्चान्याः सिद्धयोऽष्टौ भवन्ति याः।।

(१.६.१६)

---

१. "आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित "तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि विश्वाहन्ता" शीर्षक निबन्ध देखिये, पृ. ५५-५९

टीकाकार विष्णुचित्त ने सहज सिद्धि का अर्थ औत्पत्तिक ज्ञान और श्रीधर ने स्वाभाविक सिद्धि किया है। इन दोनों टीकाकारों ने यहाँ स्कन्दपुराण को उद्धृत कर रसोल्लास आदि आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। तदनुसार सत्ययुग में रस का स्वयं ही उल्लास होता था। यही **रसोल्लास** नाम की पहली सिद्धि है, उसके प्रभाव से मनुष्य को भूख नहीं लगती थी। उस समय की प्रजा स्त्री आदि भोगों की अपेक्षा के बिना ही सदा तृप्त रहती थी। इसीको **तृप्ति** नामक दूसरी सिद्धि कहा गया है। उनका जो उत्तम धर्म था, वही तीसरी सिद्धि **धर्मोत्तमा** कही जाती थी। उस समय सम्पूर्ण प्रजा के रूप और आयु एक से थे, यही **तुल्यता** नामक चौथी सिद्धि थी। बल की ऐकान्तिक अधिकता **विशोका** नाम की पाँचवीं सिद्धि है। परमात्म-परायण रहते हुए तप-ध्यान आदि में **तत्परता** छठी सिद्धि है। अपनी इच्छा के अनुसार **विचरण** सातवीं तथा जहाँ-तहाँ मन की मौज के अनुसार **विश्राम** आठवीं सिद्धि हैं।

अणिमा आदि आठ सिद्धियों का वर्णन पातंजल योगसूत्र (३.४५) आदि में मिलता है। खड्ग, पाताल आदि सिद्धियों की भी चर्चा शास्त्रों में मिलती है। इन दोनों प्रकार की अष्टसिद्धियों से ये भिन्न हैं। सिद्धों में स्वाभाविक रूप से इनका विकास होता है। ये सिद्धियाँ प्रयत्नसापेक्ष नहीं है। विज्ञानभैरव के ७१वें श्लोक में जग्धि और पान से प्राप्त होने वाली उल्लास, रस और आनन्द दशाओं का वर्णन मिलता है। इनका सहज सिद्धि में समावेश नहीं किया जा सकता।

इन सिद्धियों के समान ही षडंग योग भी तन्त्रों की सभी शाखाओं में वर्णित है। सिद्धियों के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ पतंजलि के अष्टांग योग से, खड्ग, पाताल आदि आठ सिद्धियाँ तान्त्रिक षडंग योग से तथा यहाँ वर्णित अष्टविध सहज सिद्धियाँ सहजयोग से संबद्ध हैं। सिद्धों के सहजयान की मूल मंशा प्रायः सभी तान्त्रिक शाखाओं में समान रूप से मान्य हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की अनुपाय प्रक्रिया से इसको हम समरस मान सकते हैं।

कौल मत की पृष्ठभूमि में सिद्धों[१], नाथों और सहज योग संबन्धी सामान्य सूचनाओं को देने के उपरान्त तथा कौल दर्शन एवं कौलिक योग का परिचय देने से पहले यहाँ मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के इतिहास से संबद्ध कुछ सामग्री प्रस्तुत की जा रही है, जिससे सेकयोग और हठयोग की भिन्नता पर प्रकाश पड़ सके।

---

१. सिद्धों और नाथों के संबन्ध में प्रो. एन. भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ दी तान्त्रिक रिलीजन" (पृ. २८०-३१२) में विविध पक्षों पर विचार करते समय सहजयान का जैन, वैष्णव एवं सूफी सम्प्रदाय से भी संबन्ध बताया है।

मत्स्येन्द्रनाथ

द्वैतवादी शैवसिद्धान्त मत के आचार्य अघोरशिव का काल ई. १२वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका में हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र को क्रमशः वेद, सांख्य और कौल शास्त्र का आद्य प्रवर्तक बताया है। ई. १०-११ वीं शताब्दी के आचार्य अभिनवगुप्त अपने तन्त्रालोक के प्रारंभ में सकल कुलशास्त्र के अवतारक के रूप में मच्छन्द विभु की स्तुति करते हैं। सकल कुलशास्त्र के अवतारक मत्स्येन्द्रनाथ के अवतार-काल के विषय में नाना मत प्रचलित हैं। डॉ. [1]प्रबोधचन्द्र बागची और उनके अनुयायी अनेक विद्वान् इनका काल नवीं-दसवीं शताब्दी मानते हैं और डॉ. [2]कान्तिचन्द्र पाण्डेय का मानना है कि पाचवीं-छठीं शताब्दी में इसका आविर्भाव हो चुका था। इनकी लीलाभूमि कामरूप क्षेत्र रही है। इसमें कोई विवाद नहीं है।

उपलब्ध बौद्ध तन्त्रों में आर्यमंजुश्रीमूलकल्प प्राचीनतम माना जाता है। यहाँ शैव और वैष्णव तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। शाक्त तन्त्रों की, कुल-कौल आदि शब्दों की तथा कौलिकी प्रक्रिया की यहाँ कोई चर्चा नहीं मिलती। बौद्ध गुह्यसमाज तन्त्र का [3]पाँचवीं, छठी या सातवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत हुआ, इस विषय में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं, किन्तु अब जापानी विद्वानों के प्रयत्न से यह प्रायः स्थापित हो चुका है कि छठी शताब्दी से पहले इसका काल नहीं माना जा सकता। इस ग्रन्थ में कुल शब्द की तथा कौलिक प्रक्रिया की चर्चा विशेष रूप से मिलती है। ऊपर के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौल मत के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। ऐसी स्थिति में गुह्यसमाज तन्त्र के प्रादुर्भाव से पहले ही इनकी स्थिति माननी होगी और इस प्रकार डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय द्वारा निर्धारित इनका समय तथ्य के बहुत नजदीक माना जायगा।

मत्स्येन्द्रनाथ के काल के विषय में डॉ. बागची के मत की ऊपर चर्चा की गई है। इन्हीं का अनुवर्तन करते हुए प्रायः अधिकांश विद्वान् इनका समय ९वीं शती का अन्तिम चरण या १०वीं सदी का प्रथम चरण मानते हैं। डॉ. शाहिदुल्ला द्वारा निर्णीत इनका ७वीं शती का समय सर्वथा भ्रमात्मक माना जाता है, किन्तु

---

१. कौलज्ञाननिर्णय, उपोद्घात (पृ. २५-२८)।

२. अभिनवगुप्त., पृ. ५४६ द्रष्टव्य।

३. इस तन्त्र के काल के संबन्ध में डॉ. बी. भट्टाचार्य का मत अब अमान्य हो चुका है। डॉ. एन. एन. भट्टाचार्य (पृ. ६१) का कहना है कि इस तन्त्र का आविर्भाव ७वीं शताब्दी से पहले हो चुका था।

इस तरह के कथन गलत आधारों के कारण स्वयं अपने आपमें कमजोर हैं। डॉ. पाण्डेय जी के मत की ऊपर चर्चा आ चुकी है। उन्होंने यह स्थापना मत्स्येन्द्रनाथ की लम्बी शिष्य-परम्परा को आधार मान कर की है। इसमें अभिनव-गुप्त का १९वाँ स्थान है। इस लम्बी परम्परा में गोरक्षनाथ की कहीं कोई चर्चा नहीं है। बारहवीं शताब्दी तक के किसी संस्कृत ग्रन्थ में [1]गोरक्षनाथ का कोई उल्लेख नहीं मिलता और न कहीं गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में मत्स्येन्द्र को स्मरण किया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक और गोरक्षनाथ को उनका शिष्य मानने का आग्रह ही मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव काल को आगे खींच ले जाने के लिये जिम्मेदार है।

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची को कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपि न मिली होती और मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख अभिनवगुप्त द्वारा न किया गया होता, तो शायद इनके समय में और भी खींचतान की गई होती, क्योंकि महार्थमंजरी को गोरक्षनाथ की कृति माना जाता है। यह सही है कि महार्थमंजरीकार ने अपना व्यवहार का नाम गोरक्ष और दीक्षा नाम महेश्वरानन्द बताया है, किन्तु ये अपने गुरु का नाम महाप्रकाश और परमगुरु का नाम शिवानन्द बताते हैं। शिवानन्द की ऋजुविमर्शिनी तथा अन्य ग्रन्थों का भी इन्होंने उल्लेख किया है। ऋजुविमर्शिनी नित्याषोडशिकार्णव की टीका है और यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। शिवानन्द के प्रमाण पर ही उनका समय १३वीं शताब्दी से पहले किसी भी मूल्य पर नहीं लाया जा सकता। महार्थमंजरीकार को गोरक्षनाथ मान कर चलने पर उनका संबन्ध मत्स्येन्द्रनाथ के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है? एक तो वे स्वयं अपने गुरु का नाम महाप्रकाश बताते हैं, मत्स्येन्द्रनाथ नहीं; दूसरे मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानने वाले भी अब इसके लिये बाध्य हैं कि वे उनका समय ९वीं-१०वीं शताब्दी से अधिक आगे नहीं खींच सकते। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य बाद है कि अभी हाल में वाराणसी से प्रकाशित गोरक्षसंहिता का भी वस्तुतः गोरक्षनाथ से कोई संबन्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम मतोत्तर है। इसके साथ गोरक्षनाथ का नाम कैसे जुड़ गया, यह एक गवेषणा का विषय है। यह भी समझ लेना चाहिये कि मत्स्येन्द्र [2]सेकयोग के और गोरक्ष हठयोग के आचार्य हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में "जाग मछिन्दर गोरख आया" की संगति बैठ सकती है।

---

१. आगे, पृ. २२३ पर गोरक्षनाथ का परिचय देखिये।
२. बौद्ध तन्त्रों में सेकयोग और हठयोग का विवरण मिलता है। सेकोद्देशटीका (पृ. २४-२५ एवं ४४-४५) एवं चतुर्मुद्राप्रकरण (पृ. ३२) आदि देखिये।

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची के मत से कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थ मत्स्येन्द्रनाथ की कृतियाँ हैं, किन्तु स्वयं कौलज्ञाननिर्णय में ही पंचपंचाशिका, कुलपंचाशिका, कुलसागर, भैरवोद्यान, चन्द्रकौल, सिद्धामृत, ऊर्मिकौल, कौलसद्भाव जैसे ग्रन्थों के नाम मिलते हैं और इनमें से अनेक ग्रन्थ तन्त्रालोक और उसकी टीका में उद्धृत हैं। सकल कुलशास्त्रों के अवतारक के रूप में भले ही मत्स्येन्द्रनाथ को इन सबका उपदेष्टा मान लिया जाय, किन्तु इन ग्रन्थों की मातृका की तिथि के आधार पर इनका समय नहीं निर्धारित किया जा सकता। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त से पहले कुल और क्रम मत के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है और यह पूरी परम्परा मत्स्येन्द्र के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है। सिद्धान्तशैव मत के ग्रन्थ मृगेन्द्रागम (चर्या. १. ४०-४१) में भी योगिनीकौल और सिद्धकौल परम्परा का उल्लेख है।

छठी शताब्दी के आस-पास बौद्ध धर्म में सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश की बात मानी जाती है और यह भी स्वीकार किया जाता है कि इससे शीघ्रता से बौद्ध धर्म का स्वरूप इतना परिवर्तित हो गया है कि उसके मूल रूप का कहीं पता ही नहीं चलता। यह भी अतिशयोक्ति मात्र है। इस तरह के लेखक तान्त्रिक शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में करते हैं, जिसमें पंचामृत, पंचमकार जैसी विधियाँ वर्णित हैं। इनका स्वरूप गुह्यसमाजतन्त्र और कौलज्ञाननिर्णय में एक-सा है। इसका क्या कारण है?

हठयोग के प्रतिष्ठापक गोरक्षनाथ की और कुल-कौल मत प्रतिष्ठापक मत्स्येन्द्रनाथ की दो भिन्न परम्पराएँ हैं, इस विषय पर हमने नि. षो. के उपोद्घात में एक लम्बी टिप्पणी (पृ.११६-११७) लिखी थी। इस पर विद्वानों की क्या प्रतिक्रिया हुई, हमें अब तक जानकारी नहीं मिल सकी है।

मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में तन्त्रालोक के एक श्लोक को उद्धृत कर देना हम प्रासंगिक समझते हैं। वह श्लोक है—

अन्त्यजातीयधीवादि जननीजन्मलाभतः।
उत्कृष्टचित्ता ऋषयः किं ब्राह्मण्येन भाजनम्।।
(तन्त्रा. १५. ५१६)

यहाँ जयरथ की व्याख्या इस प्रकार है—"धीवेति धीवरी, ऋषय इति व्यासादयः" (पृ. २५६)। महर्षि व्यास के समान मत्स्येन्द्र का भी संबन्ध चन्द्रद्वीप, मत्स्य, वागुरा, धीवर आदि से जुड़ा हुआ है और कौल मत में भी जाति आदि के आग्रह को ग्रह या पाश माना गया है।

गोरक्षनाथ

महार्थमंजरी के कर्ता महेश्वरानन्द को हिन्दी भाषा के इतिहास-ग्रन्थों में गोरक्षनाथ से अभिन्न माना जाता है और इनके गुरु को ही मत्स्येन्द्रनाथ कहा जाता है। इस विषय में हम मत्स्येन्द्रनाथ का परिचय देते समय पर्याप्त लिख चुके हैं। उससे गोरक्षनाथ के समय की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। बौद्ध ग्रन्थ सुभाषितसंग्रह में प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के कर्ता का नाम नूतनानंगवज्रपाद बताया गया है। ग्रन्थ के सम्पादक फ्रांसीसी विद्वान् डॉ. बैंडेल अनंगवज्र को गोरक्षनाथ बताते हैं। गोरक्षनाथ को हठयोग का प्रवर्तक माना जाता है और अद्वयवज्रसंग्रह में प्रकाशित [१]चतुर्मुद्राप्रकरण (पृ. ३२) में हठयोग और सेकहठयोग की चर्चा मिलती है। अतः गोरक्षनाथ के काल और इनके ग्रन्थों के विषय में हमें पूरी सावधानी से पुनः परीक्षा करनी चाहिये। हमने "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ६१-६५) में इस विषय की चर्चा की है, किन्तु उससे भी हम किसी निर्णय तक नहीं पहुँच सके हैं।

सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला में गोरक्षसंहिता के नाम से सन् १९७६ में प्रकाशित ११० संख्या का ग्रन्थ मतोत्तर से अभिन्न है। मतोत्तर की मातृका के विवरण से इस ग्रन्थ के पुष्पिका-वाक्यों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है। अब वह मातृका उपलब्ध हो गई है और उसकी सहायता से इस ग्रन्थ के प्रारंभिक अंश को भी पूरा कर लिया गया है। मतोत्तर की गोरक्षसंहिता के रूप में प्रसिद्धि कैसे हो गई, इसकी अभी परीक्षा अपेक्षित है।

मत्स्योदरीमत

"मत्स्योदरीमतादिप्रसिद्धा विमर्शाभिधा क्रिया" (पृ. २८) इस तरह से परात्रीशिकाव्याख्या में अभिनवगुप्त ने मत्स्योदरीमत का स्मरण किया है। यहाँ ये उसको विमर्श शक्ति से अभिन्न मानते हैं। मत्स्योदरी नाम के ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। मछोदरचोपई, मत्स्योदरकथा, मत्स्योदरचतुष्पदी, मत्स्योदररास जैसे ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इनके परस्पर संबन्ध की परीक्षा अपेक्षित है। कौल सम्प्रदाय और मत्स्येन्द्रनाथ से इनका संबन्ध होना चाहिये। स्पन्दनिर्णय में क्षेमराज शक्ति के पर्यायों में इस शब्द का भी परिगणन करते हैं। उनका कहना है कि अपनी शक्ति से आश्लिष्ट, सदा पंचविध कृत्यों को करने वाले, स्वतन्त्र परमेश्वर ही स्पन्द, ललितेश्वर आदि नामों से जाने जाते हैं। इनकी पूर्णाहन्ता स्वरूपा सनातनी स्वातन्त्र्यशक्ति ही परा, मत्स्योदरी, महासत्ता, स्फुरत्ता, ऊर्मि, सार, हृदय, भैरवी,

---

१. चतुर्मुद्राप्रकरण अनंगवज्र की नहीं, नागार्जुन की कृति है।

देवी, शिखा—इत्यादि असंख्य नामों से उन उन शास्त्रों में उपदिष्ट हैं (पृ. ६६)। परात्रीशिकाव्याख्या (पृ. २०७) में अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त मत्स्योदरी शब्द शक्ति का पर्याय है, किसी ग्रन्थ का नाम नहीं। नि. षो. अथवा श्रीकण्ठीसंहिता की ६४ तन्त्रों की नामावली में उपलब्ध मत तन्त्रों में इसका नाम नहीं मिलता।

सिद्धनाथपाद

सिद्धनाथपाद कुलरत्नशास्त्र के प्रवक्ता हैं, इसकी सूचना अर्थरत्नावली (पृ. २०५) से मिलती है। अर्थरत्नावली (पृ. ४१, १३४,१७१, २६८-२६९) में इनके अन्य वचन भी उपलब्ध हैं। यहाँ (पृ. २६८-२६९) के दो श्लोक ऋजुविमर्शिनी (पृ. २६८-२६९) और ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. १११) में भी उद्धृत हैं। यह कुलरत्नशास्त्र कुलरत्नमाला अथवा रत्नमाला से अभिन्न हो सकता है। इन दोनों ही नामों से यह तन्त्रालोक और उसकी विवेक टीका में उद्धृत है। ई. प्र. वि. वि. (भा. २, पृ. ७१) में अभिनवगुप्त सिद्धपाद के श्लोकार्ध को उद्धृत करते हैं। क्रमस्तोत्र के कर्ता सिद्धनाथ अथवा सिद्धिनाथ का परिचय डॉ. रस्तोगी के ग्रन्थ में मिलता है। तन्त्रालोकविवेक (४.१७३) में ये ही सिद्धपाद के नाम से स्मृत हैं। अभेदकारिका के कर्ता सिद्धनाथ की चर्चा स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ४) में है। शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ.९२) में श्रीनाथपाद स्मृत हैं। ये सभी आचार्य परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न, इस विषय में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। "उदेत्येकः समालोकः" यह श्लोक पूरा तन्त्रा. वि. (भा. २, पृ. ७९) में मिलता है। सिद्धनाथ की शंभुनाथ से भिन्नता-अभिन्नता के विषय में वहीं विचार किया गया है।

नि. षो. की अर्थरत्नावली टीका (पृ. १३३, १७१, २०५,२६८) में उद्धृत सिद्धनाथपाद के वचनों से कौल मत संबन्धी कुछ विशिष्ट सूचनाएँ मिलती हैं। पृ. १३४ पर कौलतर्पण के लिये निर्दिष्ट प्रथम द्रव्य के उपादानों का संक्षिप्त निर्देश है। पृ. १७१ पर त्रिकोण (मध्यत्र्यश्र) में अकथ की तीन पंक्तियों और मध्य में ह क्ष अथवा ह क्ष ळ से बनने वाला कौल आसन निर्दिष्ट है। सुभगोदय (श्लो. ३०), ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. १७०) में भी इसको देखा जा सकता है।

कुलार्णवतन्त्र

योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ९, ९० एवं २९८) में उद्धृत तीन श्लोक मुद्रित कुलार्णव (१३.१३२,१३.९० एवं ५.८०) में उपलब्ध हैं। किन्तु अमृतानन्द ने प्रथम को बिना किसी नाम के, द्वितीय को अभियुक्त-वचन तथा तृतीय को प्रामाणिक-वचन कहकर उद्धृत किया है। यहाँ का प्रथम वचन (मधुलुब्धः) तन्त्रालोक (२२.४५) में भी उपलब्ध है। क्षेमराज द्वारा नेत्रतन्त्रोद्योत (पृ. ११४-

११५, १५८; दिल्ली संस्करण) में उद्धृत कुलार्णव के वचन लुप्ता. द्वितीय भाग (पृ. ४१-४२) में संगृहीत हैं। ये प्रकाशित कुलार्णव में नहीं मिलते। इससे कुलार्णवतन्त्र की भी स्थिति तन्त्रराजतन्त्र की-सी बन जाती है। अमृतानन्द ने उक्त तीन वचन कहाँ से लिये हैं, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु दो स्थलों (पृ. ९० एवं २९८) पर इनको अभियुक्त-वचन, और प्रामाणिक-वचन के रूप में उद्धृत करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इनको आगम-वचन नहीं मानते। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ अद्वयवज्रसंग्रह (पृ.२९) में यहाँ उद्धृत तृतीय वचन (आनन्दं॰) के पूर्वार्ध को वेदान्तवादी का वचन कहकर उद्धृत किया गया है और तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमार (पृ.९) इसको श्रुतिवचन बताते हैं। इस सामग्री के आधार पर कुलार्णव के विषय में हम दो तरह की कल्पना कर सकते हैं — एक तो यह कि इसके भी दो संस्करण होने चाहिये और दूसरी यह कि अमृतानन्द के समय तक संभवतः मुद्रित कुलार्णव तन्त्र की कोई स्थिति नहीं थी। इस ग्रन्थ की प्राचीन मातृकाओं की परीक्षा अपेक्षित है। डॉ. एन. एन. भट्टाचार्य ने इस तन्त्र के समय आदि के विषय में लिखा है (पृ. ७२-७३)। उसकी भी परीक्षा होनी चाहिये।

शक्तिसंगमनिर्दिष्ट सम्प्रदाय

पाशुपत

शक्तिसंगमतन्त्र में दशविध (१.६.१४०; २.१.३२) और सप्तविध (१.८.४१; ३.१.१५१, १८३) पाशुपतों की चर्चा मिलती है। इनमें से दशविध पाशुपतों के नाम कहीं नहीं मिलते, किन्तु सप्तविध पाशुपतों में शिखी, मुण्डी, जटी, द्विदण्डी, त्रिदण्डी, एकदण्डी और वीरशैव ये नाम प्रथम खण्ड (८.४०-४१) में भी मिलते हैं। इनमें से प्रथम छः पाशुपतों के लक्षण वहाँ (१.८.८५-९२) एक साथ निर्दिष्ट हैं तथा वीरशैव का लक्षण वहीं अन्यत्र (१.८.२७-२८) मिलता है। इनमें से मुण्डी के ३० भेद वहाँ (१.६.१४०; ८.८८) सूचित हैं तथा कहा गया है कि [1]तारासूक्त में इनका विवरण दिया गया है। चतुर्थ खण्ड (८.११५) में जटी, मुण्डी और शिखी नामक त्रिविध पाशुपतों की चर्चा है। अन्यत्र पाशुपत, वीरशैव आदि का दस महाविद्याओं (३.१.१०७-१०८) और शैव सम्प्रदाय (३.१.१४९) में अन्तर्भाव माना है। पाशुपत क्रम में वरदान का

---

१. तारासूक्त शक्तिसंगमतन्त्र चतुर्थ खण्ड का नाम है, किन्तु उस खण्ड में ३०प्रकार के मुण्डी की कहीं चर्चा नहीं मिलती। इस नाम का अन्य भी कोई ग्रन्थ हो सकता है, जहाँ इन ३० प्रकार के मुण्डियों की चर्चा हो।

अधिकार कालिका में माना गया है (२.५८.५६), क्योंकि पाशुपत आदि सम्प्रदायों की देवी कालिका मानी गई है (२.५८.७४)। इतने पर भी आमगसन्दोह प्रकरण (२.१.२४) में अलग से गणना होने से इनकी स्वतन्त्र सत्ता पर किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। पाशुपत आदि सम्प्रदायों के अनुसार नामदान की विधि प्रथम (५.९२-९४) एवं तृतीय खण्ड (९.९३-९५) में देखी जा सकती है। आमगसन्दोह प्रकरण (२.१.१५) में वीरशैव सम्प्रदाय को स्वतन्त्र सम्प्रदाय माना है।

कालामुख

शक्तिसंगमतन्त्र में कालामुख सम्प्रदाय का परिगणन शैव अथवा सम्प्रदाय में नहीं किया गया है। केवल नामदान विधि के अवसर पर शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, शैव, स्वायंभुव, चान्द्र, पाशुपत, चीन, जैन और वैदिक सम्प्रदाय के साथ इसका भी नाम मिलता है (१.५.९२-९३)। अन्यत्र (२.१.११७-११९) शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, सुगतदर्शन, बौद्ध, पाशुपत, सांख्य, दक्षिण और वैदिक सम्प्रदाय में भी वाम मार्ग के अनुसार सिद्धि प्राप्त होती है, यह बताते हुए ग्रन्थ में कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का परिचय विभिन्न स्रोतों से दिया गया है।

कापालिक

"कपालपात्र में भोजन करने वाला, मद्य और मांस का भक्षण करने वाला, स्त्री-योनि का नित्य दर्शन करने वाला, सदा मुण्ड की माला धारण करने वाला, श्मशान की अग्नि से भोजन पकाने वाला कापालिक कहलाता है। इसके बारह भेद होते हैं। इनमें महाकापालिक श्रेष्ठ हैं" (१.८.८-१०) इस तरह से शक्तिसंगमतन्त्र में कापालिक का लक्षण बताया गया है। बारह भेदों के नाम यहाँ नहीं मिलते। तृतीय खण्ड में कापालिक के इन्द्रजाली, देवजाली, रुद्रजाली, विद्याजाली और सिद्धिजाली नामक पाँच भेद बताये गये हैं (३.१.१९२-१९३)। १.६.१३७ पर भी कापालिक के पाँच भेद निर्दिष्ट हैं। अन्यत्र (३.१.१५०) कापालिक के ११भेद कहे गये हैं, किन्तु उनके नाम नहीं दिये। दूसरे खण्ड में मायाकापालिक की चर्चा है (२.१.३०)। नवरात्र के निर्णय के अवसर पर कापालिक अवधूत के व्रतविशेष की विधि वर्णित है (२.१६.२६)। कापालिकों और चीनाचार वालों के कपाल पात्र की भी चर्चा यहाँ (२.१८.५६) मिलती है। प्रथम खण्ड (४.४२) में तुम्बी और कपाल कापालिकों के पात्र बताये गये हैं। अन्यत्र (३.१.१८८) इनका शाक्त मत में अन्तर्भाव किया गया है।

शक्तिसंगमतन्त्र (१. ३, ३२-४३) में कुल, कुलाकुल और अकुल शब्दों का विस्तार से अर्थ बताया है, किन्तु उनका कौल सम्प्रदाय से कोई संबन्ध नहीं

है। अन्यत्र (१. ५. ३७) बताया है कि कौल उसे कहते हैं, जो दाहिने हाथ से पान, बायें हाथ से तर्पण और दाहिने हाथ से पूजन करता हो। कौल के आठ भेदों की वहाँ (१. ६ १३८; २.१. ३२; ३.१.१५०) चर्चा है, किन्तु उनके नाम नहीं दिये गये हैं। कौल के साथ महाकौल और वीरकौल का लक्षण वहाँ (२. ३३. १७-१९) अवश्य बताया गया है। तर्पण के प्रकरण में ब्रह्मकौल स्मृत है (१.७.४७)। अन्यत्र (२. २४. ७-८) कामरूपागम के साथ गर्भकौलागम और गुप्तकौलागम चर्चित हैं। इस तरह से सब मिलाकर कौलों के पाँच भेद वहाँ वर्णित हैं। यद्यपि वीर आदि कौलभेदों का वहाँ (१. ८. २) उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके नामों की चर्चा पहले कहीं नहीं मिलती। तन्त्रशास्त्र[१] में कभी-कभी आगे वर्णित होने वाले विषयों का भी भूतकाल में उल्लेख कर दिया जाता है। तदनुसार द्वितीय खण्ड में वीर आदि त्रिविध कौलों की चर्चा अवश्य मिलती है। शक्तिसंगमतन्त्र के [२]चारों खण्डों का क्रम भी कुछ विपर्यस्त लगता है। कौलज्ञाननिर्णय, मृगेन्द्रागम आदि के प्रमाण से कौलभेदों की चर्चा हो चुकी है। वीरकौल आदि सम्प्रदायों का वहाँ (३.१.१०१-१११) दस महाविद्याओं में अन्तर्भाव किया गया है। पात्रनिर्णय प्रकरण (१.४.१७२) में गौडमत और कौलमत की समानता प्रदर्शित है।

कौल दर्शन

कौलदर्शन की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। यहाँ अनुत्तर को ही परम तत्त्व माना गया है। परा वाक् के नाम से प्रसिद्ध अनुत्तरा परा प्रतिभा उसकी शक्ति है। प्रकाश और विमर्श के समान इनकी भी समरसता और अद्वयता स्वीकृत है। इसीलिये यह अनुत्तर नामक परम तत्त्व छत्तीस तत्त्वों से ऊपर ३७वें तत्त्व के रूप में स्वीकृत है। यहाँ अनुत्तर शिव अकुल और कुल शब्दों से और उसके साथ समरसभाव में स्थित शक्ति कौलिकी कहलाती है। तन्त्रालोक (३. ६७) और उसकी विवेक व्याख्या में उद्धृत निम्न वचनों में यही विषय प्रतिपादित है —

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।।
नौम्यनुत्तरनाथस्य रश्मिचक्रमहं सदा।
शिवशक्तीति विख्यातं परापरफलप्रदम्।।

---

१. "अत एव तन्त्रराज उत्तरपटलेषु वक्ष्यमाणोऽप्यर्थः पूर्वपटलेषु प्रोक्त इति भूतार्थकपदेनैव तत्र तत्र निर्दिश्यते'' (नि. षो. से. १. १३)।

२. चतुर्थ खण्ड का उपोद्घात (पृ. ५) देखिये।

यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम्।।

इस अनुत्तर परमेश्वर की तीन शक्तियाँ प्रमुख हैं—अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष। इन्हींका परामर्श अकार, इकार और उकार के रूप में होता है। इन तीन शक्तियों से ही सारे प्रपंच की निष्पत्ति होती है। अनुत्तर की विश्रान्ति आनन्द में, इच्छा की विश्रान्ति ईशन में और उन्मेष की विश्रान्ति ऊर्मि में होती है। इन्हीं का परामर्श आकार, ईकार और ऊकार के रूप में होता है। यहाँ प्रथम तीन परामर्श प्रकाशात्मक, अर्थात् सूर्यात्मक हैं। द्वितीय तीन परामर्श विश्रान्ति स्वभाव, अत एव आनन्द प्रधान होने से सोमात्मक हैं। यहाँ तक की सृष्टि ज्ञानस्वभाव है, अतः इसमें क्रियाशक्ति का प्रवेश नहीं होने पाता। जब इच्छा में और ईशन में कर्म प्रविष्ट होता है, तो उसे इष्यमाण और ईश्यमान कहा जाता है। तब उसके दो भेद हो जाते हैं, तब प्रकाश से रश्रुति और विश्रान्ति से लश्रुति प्रकट होती है, क्योंकि ये प्रकाश एवं विश्रान्ति-स्वभाव हैं। इष्यमाण पदार्थ का बाह्य पदार्थ के समान आकार स्पष्ट नहीं है। यदि उसका आकार स्पष्ट होता, तो आगे का निर्माण यहीं अवरुद्ध हो जाता। इच्छा या ईशन से भी यह संबद्ध नहीं हो पाता। इसीलिये इसका आकार अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है, अतः रकार-लकार केवल श्रवण-गम्य हैं। व्यंजनों के जैसी इनकी स्पष्ट स्थिति नहीं है। इसलिये ऋ ॠ ऌ ॡ — ये चार वर्ण स्वर और व्यंजन दोनों की छाया से आक्रान्त होने के कारण नपुंसक कहलाते हैं। अनुत्तर और आनन्द की जब इच्छा और उन्मेष में विश्रान्ति होती है, तो एकार और ओकार नामक दो वर्णों की तथा उन्हीं के साथ ईशन एवं ऊर्मि का संग्रह होने पर ऐकार और औकार की निष्पत्ति होती है। यह क्रियाशक्ति का व्यापार है। क्रियाशक्ति के विश्राम लेने पर सारी सृष्टि अनुत्तर में प्रविष्ट हो जायगी। उस समय सारा संवेदन प्रकाश-स्वरूप बनकर बिन्दु का रूप धारण कर लेता है। **अं** के रूप में उसकी प्रतीति होती है। इसके बाद अनुत्तर का व्यापार पूरा हो जाता है। इसी को विसर्ग कहते हैं। **अः** के रूप में इसकी प्रतीति होती है। ये सोलह परामर्श **बीज** के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन सोलह परामर्शों से व्यंजनों की उत्पत्ति होती है। इनको **योनि** कहा जाता है। यहाँ अनुत्तर से कवर्ग की, श्रद्धास्वरूप इच्छा से चवर्ग की, सकर्मिक इच्छा से टवर्ग और तवर्ग की और उन्मेष से पवर्ग की प्रवृत्ति होती है। त्रिविध इच्छा से य-र-ल की तथा उन्मेष से वकार की और त्रिविध इच्छा से श-ष-स की तथा विसर्ग से हकार की निष्पत्ति मानी गई है। योनि (क-ष) के संयोग से क्षकार बनता है। इस तरह से यह भगवान् अनुत्तर ही कुलेश्वर हैं। इनकी एक ही कौलिकी शक्ति

विसर्ग-स्वरूपा है। इस शक्ति से ही आनन्द से लेकर बहिः सृष्टि पर्यन्त समस्त षडध्वात्मक जगत् प्रादुर्भूत होता है। यह विसर्ग त्रिविध है—आणव, शाक्त और शाम्भव। आणव चित्त-विश्रान्ति रूप, शाक्त चित्त-संबोध रूप और शाम्भव चित्त-प्रलय रूप है। इस तरह से भगवान् की यह विसर्ग-शक्ति ही विश्व की सृष्टि करती है। ये शक्तिरूप शुद्ध परामर्श शुद्धविद्या में प्रविष्ट हो माया के संकोच के कारण विद्या और विद्येश्वर का रूप धारण कर लेते हैं। माया में प्रविष्ट होने पर प्रविभक्त रूप में ये वर्णों का आकार ग्रहण कर लेते हैं। ये ही पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में व्यवहार-पदवी में प्रविष्ट हो तत्त्व आदि का बाह्य स्वरूप भी धारण कर लेते हैं। जब वर्ण, पद, मन्त्र आदि के शुद्ध परामर्श के आधार पर इनको जगाया जाता है, तो इनमें वीर्य जाग्रत् हो उठता है और तब वे भोग और मोक्ष, सब कुछ प्रदान करने में समर्थ हो जाते हैं। तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में शाम्भवोपाय के रूप में कौल दर्शन का विशद विवेचन देखा जा सकता है। सिद्धान्तशैव प्रकरण में भी षडध्वविवेचन के अवसर पर इस विषय की चर्चा की जायगी।

शिवोपाध्याय ने विज्ञानभैरव (श्लो. ९) की व्याख्या (पृ. ८०-८१) में कुलदर्शन का संक्षिप्त परिचय दिया है। तदनुसार अनुत्तर अकार अकुल तत्त्व और विसर्ग कौलिकी शक्ति है। इसीको शिवबिन्दु कहते हैं। इस शिवबिन्दु रूप विसर्ग से ही सारे जगत् की सृष्टि होती है। विज्ञानभैरव में ६५ और ६६ संख्या की धारणाएँ कुलदर्शन पर, विशेष कर अनुत्तर अकार पर आधृत हैं। अकार को चतुष्कल भट्टारक कहा जाता है। रौद्री, वामा, ज्येष्ठा और अम्बिका—ये चार अकार की कलाएँ हैं। महानयप्रकाश (पृ. २९-३०) में संकेतपद्धति के आधार पर इनका वर्णन मिलता है। संकेतपद्धति के ये श्लोक अर्थरत्नावली (पृ. ३५), योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १७०) आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हैं। अर्थरत्नावली में कुल और क्रम मत की प्रक्रिया प्रतिपादित है। त्रिपुरा प्रकरण में अर्थरत्नावली का परिचय देते समय इनकी चर्चा की जायगी।

कौलिक योगविधि

नेत्रतन्त्र के सातवें अधिकार में यह इस प्रकार निरूपित है—

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।।
ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम्।
धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम्।।

ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम्।
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च।।
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम्।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु।।
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः।।
(७. १-५)

क्षेमराज ने अपनी उद्योत टीका में इन श्लोकों की स्पष्ट व्याख्या की है। तदनुसार ऋतु शब्द से छः संख्या गृहीत है, अर्थात् इस मत में जन्म, नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद नामक छः स्थानों में विद्यमान नाडी, माया, योगी, भेदन, दीप्ति और शान्त नामक छः चक्रों की इस मानव देह में स्थिति मानी गई है। इनके माध्यम से मानव देह में नाडी, माया आदि का प्रसार होता है। अर्थात् जन्म-स्थान से नाडियों का प्रसार होने से मूलाधार को यहाँ नाडी कहा गया है। पातंजल योगसूत्र (३. २५) के अनुसार नाभिचक्र में संयम करने से कायव्यूह का ज्ञान होता है। तदनुसार समस्त मायाप्रपंच के ज्ञान का कारण होने से नाभिचक्र को माया कहा गया है। हृदय-स्थान में योगी को एकाग्रता प्राप्त होती है, अतः इस स्थान को भी योगी कह दिया गया है। प्रयत्नपूर्वक तालुस्थान का भेदन करना पड़ता है, अतः इस स्थान को भेदन कहा गया है। बिन्दुस्थान में प्रकाश का दर्शन होता है, अतः इसे दीप्ति कहा गया है। इसी तरह से ललाट स्थान में नाद का दर्शन कर साधक योगी शान्तिलाभ करता है, अतः उसका नाम शान्त है। इस प्रकार इन चक्रों की यहाँ अर्थ के अनुरूप संज्ञा दी गई है।

स्वर शब्द से सोलह संख्या गृहीत है, अर्थात् इस मानव देह में सोलह आधार विद्यमान हैं। इनके नाम ये हैं—अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ्र, पायु, कन्द, नाडी, जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त। जीव के प्राण की इन स्थानों में विशेष रूप से स्थिति रहने से ये आधार कहलाते हैं। अथवा त्रिक दर्शन में क्रम, मत, कुल आदि के सिद्धान्त समाविष्ट हैं। तदनुसार कुलप्रक्रिया में वर्णित षोडश आधारों का यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। क्षेमराज द्वारा उद्धृत वचन में उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है —

मेढ़ के अधोभाग में **कुल**, मध्य में **विष** और मूल में **शाक्त** नामक आधार स्थित है। शाक्त स्थान से [१]बोध और नाद की प्रवृत्ति होती है। इस स्थान से चार अंगुल ऊपर और नाभि से नीचे **अग्नि** नाम का आधार स्थित है। नाभि में **घट** नाम का तथा नाभि और हृदय के बीच के स्थान में **सर्वकाम** नाम का आधार है। हृदय-कमल के मध्य में **संजीवनी** नाम का, वक्षस्थल में **कूर्म** नाम का और कण्ठ में **लोल** नाम का आधार विद्यमान है। लाम्बिका के ऊपर के भाग में अमृतरस का आस्वादन करने वाला **सुधा** नामक आधार है। इसीके मूल भाग में सोमकला से आवृत **सौम्य** नामक आधार है। भ्रूमध्य में स्थित आकाश के विस्तार में **विद्याकमल** स्थित है। रुद्रशक्ति से युक्त **रौद्र** नामक आधार तालुतल में विद्यमान है। [२]चतुष्पथ में **चिन्तामणि** नामक आधार स्थित है। ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में **तुर्य** नामक आधार और मस्तक (द्वादशान्त) में परम सूक्ष्म सर्वत्र अपनी सत्ता का सूचक **नाडी** नामक आधार विद्यमान है। कुलप्रक्रिया के अनुसार ये ही सोलह आधार हैं।

अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और उभयलक्ष्य के भेद से तीन लक्ष्यों की यहाँ स्थिति रहती है। सभी प्रकार के आवरणों से रहित [३]जन्म, नाभि, हृदय, बिन्दु और नाद नामक स्थानों में पाँच प्रकार के व्योम (शून्य) विद्यमान हैं। वहीं (७. २७) इनका स्वरूप बताया गया है। इसी तरह से वहाँ [४]माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति नाम की बारह ग्रन्थियाँ (पाश) वर्णित हैं। जीव की चैतन्य शक्ति को अवरुद्ध कर देने के कारण इनको ग्रन्थि या पाश कहा जाता है। इच्छा आदि तीन शक्तियों से सम्पन्न होकर यह अपने-अपने एषणीय आदि व्यापारों में प्रवृत्त होता है। यह सोम, सूर्य और वह्नि रूप तीन धाम (तेज) से तथा सव्य, अपसव्य और मध्य भाग में स्थित पवनों से अधिष्ठित है। इन विविध पवनों की आश्रयभूत इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियों से यह युक्त है। गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुषा, कुहू, शंखिनी के साथ ऊपर की तीन प्रधान नाड़ियों को मिलाने से इनकी संख्या दस हो जाती है। ये नाड़ियाँ प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक दशविध प्राणों की संचरण-स्थलियाँ हैं। इन नाडियों

---

१. शिवोपाध्याय द्वारा विज्ञानभैरवविवृति (पृ. ५८) में उद्धृत श्लोक में "बिन्दुनादप्रवर्तक:" पाठ मिलता है। यही पाठ सही लगता है।

२. द्विपथ, त्रिपथ, चतुष्पथ शब्दों का विवरण तन्त्रालोक (१५. ९३-९४) एवं विवेकव्याख्या में देखिये।

३. "खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम्। तृतीयं च हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यत:।। नादाख्यं तु समुद्दिष्टम्" (ने.त. ७. २७-२८)।

४. नेत्रतन्त्र (७.२२-२५) तथा उद्योत टीका (पृ. ५७) देखिये।

एवं प्राणों से यह शरीर भलीभाँति ओत-प्रोत है। दसों दिशाओं में विद्यमान इन दस नाडियों से ही मध्यव्याप्ति के आधार पर ७२ हजार नाड़ियाँ और महाव्याप्ति के अनुसार साढे तीन करोड़ नाडियाँ इस शरीर में विद्यमान हैं। आणव, मायीय और कार्म मल के कारण मलिन हुए इस शरीर को ऊपर बताई पद्धति से भली-भाँति जान कर योगी व्याधियों से मुक्त होकर दिव्यदेह से सम्पन्न हो जाता है।

योगी चक्र, आधार, ग्रन्थि आदि का मन्त्र की आराधना से उत्पन्न मन्त्रवीर्य (पराक्रम) स्वरूप चित्स्फुरत्तात्मक ज्ञानशूल से भेदन कर कालवंचन की प्रक्रिया से मृत्युजित् और कालजित् होकर निरंजन पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसकी प्रक्रिया क्षेमराज ने इस प्रकार बताई है—साधक योगी चित्त एवं प्राण की एकाग्रता के सहारे पहले कन्दभूमि में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ संकोच और विकास की पद्धति के सहारे शक्ति के जाग्रत् होने पर **मत्तगन्ध** स्थान को दबावे। ऐसा करने से शक्ति की गति ऊर्ध्वमुख हो जाती है। [१]कन्दभूमि से जाग्रत् हुई इस शक्ति की सहायता से योगी खेचरी मुद्रा को प्राप्त कर लेता है। इसके प्राप्त हो जाने पर आणव मल से आवृत आत्मा इसकी सहायता से मन्त्रवीर्य के प्रबुद्ध होने से प्राप्त विज्ञान के सहारे ऊर्ध्व गति से सम्पन्न हो द्वादशान्त पर्यन्त इस शक्ति का विस्तार कर लेता है। तब शिव को भी क्षुब्ध करने की शक्ति इसमें आ जाती है। उस स्थिति में वह समना पद में उतर कर उसे सृष्टि-प्रक्रिया में लगा दे। तब वहाँ उसे परमानन्दमय अमृत की प्राप्ति होती है। महाप्रकाश स्वरूप, समना पदवी में आरूढ़ ज्योति को तब वह योगी अनायास विक्षुब्ध करने में समर्थ हो जाता है। वहाँ उसे चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जिससे अपान का उल्लास हो सके। चन्द्रोदय के हो जाने पर उसे शुद्ध अमृत की प्राप्ति होती है। तब अन्तर्मुख हुई अपनी शक्ति को मध्य मार्ग से नीचे तक ले जाते हुए उससे सारे चक्र, आधार आदि को आप्यायित कर ले। प्रथमत: यह अमृत ब्रह्मस्थान हृदय तक पहुँचता है। तब उससे भी नीचे नाभि तल तक तथा अन्ततः कालाग्नि के स्थान अंगुष्ठ पर्यन्त पहुँच कर समस्त देह को चारों दिशाओं में अमृतरस से सिंचित कर देता है। इस स्थिति में योगी अपने प्रत्येक रोमकूप के अन्दर-बाहर सभी दिशाओं में फैले हुए अमृत के समुद्र में डुबकी लगाने से सामरस्य को प्राप्त, परमामृत स्वरूप, इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्ति से सम्पन्न, निर्विकार, निरंजन परमशिव के रूप में अपनी आत्मा का चिन्तन करे।

---

१. "जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम्। जन्मस्थानं च कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम्।। मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते।" (ने. त. ७. ३१-३२)।

नि. षो. (४. १२-१४) में रूपक की सहायता से इस विषय को स्पष्ट किया गया है। मूलाधार में स्थित चतुर्दल कमल के मध्य में त्रिकोणात्मक कुलस्थान ही यहाँ शृंगाट के नाम से वर्णित है। लक्ष्मीधर ने [1]सौन्दर्यलहरी की टीका में श्रीचक्र की आन्तर उपासना में इसी पद्धति को स्वीकार किया है। विद्यानन्द ने नि. षो. की टीका में मूलाधार से लेकर भ्रूमध्य पर्यन्त स्थित बारह ग्रन्थियों को गला देने वाले, व्योमपंचक का नाश कर देने वाले साधन के रूप में श्रीचक्र का वर्णन किया है। शाक्तानुभव से संपन्न योगी मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जगा कर षट्चक्र, पंचगगन, द्वादशग्रन्थि का भेदन कर अकुल स्थान में शिव के साथ समरस हो जाता है। यह विषय योगिनीहृदय और उसकी दीपिका टीका (पृ. २८७-२९०) में भी वर्णित है। इस तरह से नेत्रतन्त्र प्रतिपादित योग की प्रक्रिया से त्रिपुरातन्त्रों में वर्णित योग से समानता रहते हुए भी कुछ अपनी विशेषता उसमें विद्यमान है। योगिनीहृदय (३. १४६) में आधार के अर्थ में **रन्ध्र** पद प्रयुक्त है। दीपिका टीका (पृ. २९५) में आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, [2]तदूर्ध्व वज्रपद्म (मध्यम), कण्ठ (वज्रकण्ठ), लम्बिका, विशुद्धि और आज्ञा नामक नौ आधारों का निरूपण कर स्वच्छन्दसंग्रह के आधार पर कहा है कि इनमें से तीन आधारों को हटा देने पर छः चक्र वाला पक्ष बन जाता है।

अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द मूलाधार आदि छः चक्रों के साथ लम्बिका, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र को मिला कर नौ आधार मानते हैं (पृ. ४०)। कामकलाविलास के टीकाकार नटनानन्द नौ आधारों में अकुल, सहस्रार, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, लम्बिका और आज्ञाबिन्दु की गणना करते हैं। (पृ. ६६)। योगिनीहृदय (१.२५) में अकुल, विषु, शाक्त, वह्नि, नाभि, अनाहत, विशुद्धि, लम्बिकाग्र और भ्रूमध्य के रूप में नवाधार ही वर्णित हैं और दीपिकाकार अमृतानन्द ने स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से इनका स्वरूप बताया है। इन सब वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवचक्रात्मक श्रीचक्र की उपासना की आन्तर पद्धति का वर्णन करने वाले त्रिपुरा-तन्त्रों में नौ आधार प्रदर्शित हैं। योगिनीहृदयदीपिका में अमृतानन्द ने और वरिवस्यारहस्यप्रकाश में भास्करराय ने स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण में सुषुम्ना नाडी के मूल और अग्र भाग में क्रमशः ऊर्ध्वमुख रक्त सहस्रदल कमल की और अधोमुख श्वेत सहस्रदल कमल की स्थिति मानकर इनके बीच में अन्य तीस अष्टदल आदि पद्मों की सत्ता मानी है। उनमें से उक्त नौ आधारों का ही

---

१. लक्ष्मीधरा टीका (पृ. ६४) द्रष्टव्य। त्रिपुरा प्रकरण में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

२. इस तरह के शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो, यह प्रयत्न-सापेक्ष है।

विवरण वहाँ मिलता है। स्वच्छन्दसंग्रह के उपलब्ध न होने से अन्य पद्यों के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र विवरण में, सौन्दर्यलहरी और उसकी लक्ष्मीधरा टीका में तथा इसी तरह के अन्य ग्रन्थों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नाम के छः चक्र ही वर्णित हैं। नेत्रतन्त्र में वर्णित छः चक्रों की ऊपर चर्चा हुई है। नामों के भेदों के रहते हुए भी इनके स्थान प्रायः समान हैं। शास्त्रभेद के अनुसार हम नामभेद की व्याख्या कर सकते हैं।

ऊपर उद्धृत ग्रन्थों में और योगशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में चक्रों और आधारों के स्वरूप, संख्या आदि के विषय में अनेक प्रकार के मत मिलते हैं। सिद्धसिद्धान्तपद्धति जैसे [१]हठयोग के ग्रन्थों में भी नौ चक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य एवं व्योमपंचक का विवरण मिलता है। पातंजल योग में वर्णित (२. ३२) अष्टांग योग का भी वर्णन मिलता है। हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में कौलिक योग और पातंजल योग एक साथ प्रतिपादित हैं। इनकी अपनी भी कुछ विशेषताएं हैं। नेति, धौति आदि षट्कर्मों के, विविध मुद्रा-बन्धों के तथा प्राणायाम के विविध भेदों के निरूपण के प्रसंग में इनको देखा जा सकता है। त्रिपुरा-प्रकरण में भी इस विषय की चर्चा की गई है।

***

१. "नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्" (२. ३१)।

सिद्धान्तशैव मत

शिवज्ञान

स्वायम्भुवागम के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि यहाँ ज्ञान और दीक्षा का उपदेश दिया गया है। सिद्धामत का कहना है कि शिवशास्त्र में अर्थषट्क[1] और दीक्षा उपदिष्ट है। यहाँ 'अध्वषट्क' पाठान्तर मिलता है। ये दोनों शब्द ज्ञान के ही बोधक हैं। इनमें आचार्य की दृष्टि से ज्ञान की और मुमुक्षु शिष्य की दृष्टि से दीक्षा की प्रधानता मानी गई है। यह ज्ञान क्या है? कहाँ से इसकी प्रवृत्ति होती है? इसका प्रयोजन क्या है? इन सब प्रश्नों का उत्तर रौरव, स्वायम्भुव आदि आगमों में पठित इस वचन से मिलता है—

अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये ।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवाज्ज्ञानं प्रवर्तते ।।

अर्थात् अणु आत्माओं में विद्यमान आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मल (बन्ध) से मुक्ति दिलाने के लिये तथा शिवत्व की अभिव्यक्ति, शिवभाव को प्रकाशित करने के लिये परमशिव से ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। उपनिषदों[2] में परा और अपरा विद्या वर्णित है। उसी तरह से शिवज्ञान भी पर और अपर के भेद से दो तरह का है। इनमें पर ज्ञान [3]अवबोध रूप तथा अपर ज्ञान कामिक आदि २८ आगमों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इनमें अवबोध रूप ज्ञान शिव की अपनी शक्ति ही है। यह शक्ति समवायवर्तिनी और परिग्रहवर्तिनी के भेद से द्विविध है। इनमें बोधरूपा शक्ति सभी पदार्थों का ज्ञान कराती है। क्रियारूपा शक्ति के पुनः दो भेद होते हैं—अनुग्रहरूपा और तिरोधानरूपा। अवबोधरूप परज्ञान की प्रवृत्ति अपरज्ञानरूप शब्दों (आगमों) के माध्यम से ही हम तक होती है।

परमेश्वर सृष्टि के प्रारंभ में पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अवबोधरूप विमल ज्ञान को ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और वाम नामक पाँच मुखों (स्रोतों) से

---

१. अर्थषट्क (पृ. ३१०) और अध्वषट्क (पृ. ३८७) का परिचय आगे दिया जा रहा है।

२. "द्वे विद्ये वेदितव्ये··· परा चैवापरा च" (मुण्डक. १.१.४)।

३. अवबोधरूप ज्ञान का विवरण आगे (पृ. ३५१) विस्तार से दिया जा रहा है।

प्रवाहित करते हैं। यह अवबोधरूप ज्ञान ही निष्कल शिव से प्रथमतः नाद के रूप में प्रसृत होता है। पश्चात् नादरूप यह ज्ञान उसके सकल सदाशिव रूप के द्वारा [1]छः पदार्थों के अथवा तीन पदार्थों के प्रतिपादक तन्त्रों के रूप में उपदिष्ट हो सिद्धान्तशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है। पौष्करागम में कहा गया है—"[2]अदृष्टविभवाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्। [3]नादरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रम्"। अन्यत्र भी वर्णित है—"सदाशिवोऽपि भगवान् नादरूपतयाऽऽगतम्। षट्पदार्थमयं ज्ञानम्"। इन वचनों का भी अभिप्राय यही है कि प्रथमत अनन्त वैभवसम्पन्न, सबके परमकारण, शान्तस्वरूप भगवान् शिव से नादरूप ज्ञान की और तत्पश्चात् सदाशिव स्वरूप से षट्पदार्थ अथवा त्रिपदार्थ प्रतिपादक शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान और शास्त्र शब्द यहाँ अवबोधरूप और शब्दरूप पर और अपर ज्ञान के सूचक हैं।

यही विषय कुलमूलावतार आदि ग्रन्थों में भी वर्णित है। **कुलमूलावतार** में कहा गया है—अनादिनिधन, शान्त, परमकारण शिव से प्रथमतः इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ तथा बाद में पंचमहाभूतों और चतुर्दश भुवनों के साथ मातृका-वर्णों और समस्त वाङ्मय की सृष्टि होती है। **श्रीकण्ठीसंहिता** का कहना है—अदृष्ट-स्वरूप, शान्त, परमकारण शिव से निरावरण महान् ज्ञान निकलता है। **स्वच्छन्दभैरव** का कथन है—सभी कारणों के कारण परिपूर्ण, परानन्दमय शिवस्वरूप से ध्वनिरूप परमसूक्ष्म परिशुद्ध, सभी तेजों के प्रकाशक वाक्स्वरूप तत्त्व का प्रसार होता है, जो उन्मना शक्ति में अव्यक्त और निष्कल रूप में स्थित रहते हुए भी क्रमशः स्वच्छन्द आदि आगमों का स्वरूप धारण कर लेता है। **स्वच्छन्दतन्त्र** में बताया गया है—अदृष्ट-स्वरूप परमकारण शिव से ध्वनिरूप सुसूक्ष्म परिशुद्ध तेजोभासुर ज्ञान का स्फुरण होता है। वही अपरज्ञान के रूप में भी शिव के द्वारा उपदिष्ट होता है। लौकिक से लेकर शिवशास्त्र पर्यन्त समस्त परापर वाङ्मय इसीकी विभूति है। स्वयं सदाशिव ही गुरु और शिष्य का स्वरूप धारण कर

---

१. छः पदार्थों के एवं तीन पदार्थों के प्रतिपादक तन्त्रों का परिचय आगे (पृ. ३०९-३१०) दिया गया है।

२. "अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्। ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्।।" यह श्लोक कुछ पाठभेदों के साथ विज्ञानभैरवोद्योत (पृ. ३), स्वच्छन्दतन्त्र (८.२७-२८), स्वच्छन्दो. (८.२७-२८) और पौष्करागम (श. र. सं., पृ. ७) में उपलब्ध है। इन स्थलों पर शास्त्रों की नादरूपता प्रतिपादित है।

३. जिस नादरूप शास्त्र का प्राकट्य हुआ, उसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—"शुद्धात्मनां हितं शास्त्रं त्रायते यद्भवार्णवात्। तच्छासनपरित्राणाच्छास्त्रमित्यभिधीयते।।"

[1]प्रश्न और उत्तर के रूप में वाक्यों की योजना कर आधार के भेद से विभिन्न आगमों का विस्तार करते हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में भी निर्दिष्ट है कि यह अनाश्रित भगवान् सदाशिव पाँच मुख, तीन नेत्र, दस हाथ, चार हाथ, दो हाथ अथवा एक हाथ वाले अपने स्वरूप से पर और अपर विभाग वाले नाना प्रकार के लौकिक और आगमिक शास्त्रों का उपदेश करते हैं।

सिद्धान्तशास्त्र

अभिनवगुप्त के शिष्य प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् क्षेमराज स्वच्छन्दोद्योत में कहते हैं—"प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः सिद्धान्तक्रममास्थितः" (२.२५)। ऐसा कह कर वे सिद्धान्तशास्त्र की लोकप्रियता को स्पष्ट करते हैं। **शैव** शब्द का अर्थ करते हुए वे कहते हैं—"शैवशब्देनानुत्तीर्णपदप्रापककैरणादिसिद्धान्तशास्त्रमुच्यते" (स्व. त. ११.७४)। यहाँ किरणागम आदि का सिद्धान्तशास्त्र में समावेश किया गया है। शिवपुराण की वायवीयसंहिता में भी—

स्वतन्त्रो दशधा पूर्वं दशाष्टादशधा पुनः ।
कामिकादिसमाख्याभिः सिद्धः सिद्धान्तसंज्ञितः ।।

(१.३२.१२)

इस तरह से कामिक आदि २८ आगमों की 'सिद्धान्त' संज्ञा बताई गई है। इसी विषय को अघोरशिव ने रत्नत्रय की व्याख्या में इस तरह से स्पष्ट किया है—"सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादिशब्दवद् योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशसु तन्त्रेषु प्रसिद्धः" (पृ. १४९)। ऊपर के सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि **सिद्धान्त** शब्द पंकज आदि शब्दों की तरह शैव सिद्धान्तशास्त्र के लिये रूढ हो गया था। ऐसी स्थिति में इस शब्द की प्रवृत्ति पर सन्देह व्यक्त करने का अथवा विवाद उठाने का कोई अर्थ नहीं है।

अभिनवगुप्त का कहना है कि मध्यदेश (अन्तर्वेदि) सभी शास्त्रों का घर है, यहीं से उनके पूर्वज कश्मीर में आये (तन्त्रा. ३७. ३)। अभिनवगुप्त आदि के साक्ष्य से तथा शैवाचार्य-संबन्धी शिलालेखों को देखने से यही सिद्ध होता है कि सभी प्रकार के आगमों का प्रचार-प्रसार प्रथमतः मध्यदेश में हुआ। आमर्दक, त्र्यम्बक, मत्तमयूर, कदम्बगुहा, शंखमठिका आदि मठों के प्रतिष्ठापक शैवाचार्यों की

---

१. "पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः" के स्थान पर महास्वच्छन्द का पाठ इस प्रकार है—"प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्" (यो. हृ. दी., पृ. ४)

शिष्य-परम्परा ने ही पूरे भारत में द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी और अद्वैतवादी आगमों का प्रचार और विस्तार किया।

दक्षिणभारतीय दर्शन

कुछ आधुनिक विद्वान् इस सिद्धान्तशास्त्र को दक्षिणभारत में विकसित दर्शन मानते हैं। यह स्थापना ठीक नहीं है। यद्यपि द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतवादी आगमों की अवतार-भूमि मध्यदेश है, ऐसा स्वयं अभिनवगुप्त मानते हैं, तो भी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के उद्भावक भट्ट उत्पल हैं, अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन को कश्मीर का माना जा सकता है, किन्तु द्वैतवादी दर्शन के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उसको दक्षिण का दर्शन माना जाय। इसके विपरीत सद्योज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ पर्यन्त कश्मीर के सिद्धान्ताचार्यों के द्वारा स्थापित परम्परा का ही अनुसरण दक्षिण के अघोरशिवाचार्य जैसे सिद्धान्ताचार्य करते हैं। शैवभूषण में परिगणित पद्धतिकारों में पहले कश्मीर के आचार्यों का, बाद में मध्यदेश के सोमशंभु आदि का और सबके अन्त में दक्षिण के अघोरशिव का नाम है। त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि का हिन्दी-भाष्य के साथ अभी वाराणसी से प्रकाशन हुआ है। उसकी संस्कृत-टीका में यह वचन उद्धृत है—

राजेन्द्रचोल इत्याख्यश्चोलभूपो महीं वसन् ।
गङ्गास्नानार्थमागत्य दृष्ट्वा शैवान् वरांस्तदा ।।
स्नात्वा प्रतिनिवृत्तः सन् तान् समादाय शैवकान् ।
स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्यवरांस्तदा ।।
काञ्चीमध्ये चोलभूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तराः ।

(पृ. २५८)

क्या इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिलोचन शिवाचार्य के दक्षिण में जाने के बाद ही सिद्धान्तशैव दर्शन की परम्परा वहाँ प्रचलित हुई?

तमिल भाषा में शैव धर्म का विशाल वाङ्मय उपलब्ध है। शैव आगमों के विषय में उधर दो मत प्रचलित हैं—एक के अनुसार तमिल साहित्य का आगमों के रूप में संस्कृतीकरण हुआ और दूसरे के अनुसार आगमों के सहारे दक्षिण में शैवधर्म की प्रतिष्ठा हुई। यही न्याय वैष्णव पांचरात्रसंहिताओं और तमिल वैष्णव साहित्य पर भी लागू होता है। शैव आगम और पांचरात्र संहिताओं में भारतीय प्रदेशों का त्रिविध विभाजन मिलता है। उसके अनुसार तो इन सभी आगमों और

संहिताओं का प्रादुर्भाव मध्यदेश में मानना पड़ेगा, जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है। इस विषय पर अभी गंभीरता से विचार अपेक्षित है। अभी तो हम इतना ही कह सकते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्तशैवागमों के साहित्य और दर्शन की रक्षा दाक्षिणात्य विद्वानों ने की है। इसके लिये हम उनके प्रति पूरा आदरभाव प्रकट करते हैं। यहाँ २८ सिद्धान्तशैवागमों के साथ कश्मीर के द्वैतवादी एवं मध्यदेश के शैवाचार्यों एवं उनके साहित्य का परिचय दिया जा रहा है। दक्षिण के सिद्धान्त शैव दर्शन के उद्भव एवं विकास को जानने के लिये बृहदितिहास के तन्त्रागम खण्ड में प्रकाशित डॉ. रमा घोष के—"दक्षिण भारत का शैवसिद्धान्त" (पृ. १७२-२०८) शीर्षक निबन्ध को देखना चाहिये। इसमें प्राक्-मेयकण्ड शास्त्र के अन्तर्गत प्राचीन तमिलभाषा के बारह ग्रन्थों का और मेयकण्ड शास्त्र के अन्तर्गत परवर्ती चौदह ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। मेयकण्डदेव का समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचना का नाम शिवज्ञानबोध है। इस पर तमिल एवं संस्कृत भाषा में विपुल साहित्य लिखा गया है।

यहाँ उद्धृत कुछ आगम-ग्रन्थों के नाम अशुद्ध लगते हैं। ऐसा कहा जाता है कि दक्षिणभारत का सिद्धान्तशैव दर्शन शनैः शनैः अद्वैतोन्मुख होता गया, किन्तु उत्तरभारत से गये त्रिलोचन शिवाचार्य ने सिद्धान्तसारावलि में और उनकी परम्परा के अघोरशिवाचार्य ने अपने सभी व्याख्या-ग्रन्थों में तथा परवर्तीकाल के पौष्करागम के भाष्यकार उमापति शिवाचार्य ने शतरत्नसंग्रह में कश्मीरी द्वैतवादी दार्शनिकों की परम्परा का ही अनुसरण किया है। रौरवागम के कुछ श्लोकों को आधार बनाकर मेयकण्डदेव ने शिवज्ञानबोध के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ के माध्यम से अद्वैतोन्मुख दृष्टि को प्रवृत्त किया, ऐसा माना जाता है, किन्तु इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान् पं. एन. आर. भट्ट[१] का कहना है कि ये श्लोक रौरवागम में अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। भाषा का आग्रह छोड़कर हमें संस्कृत एवं तमिल भाषा में लिखे इस समग्र साहित्य की कालिक क्रम से तुलनात्मक समीक्षा करनी होगी। तभी हम किसी सही निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे।

इस निबन्ध के अन्त में विदुषी लेखिका ने ज्ञान के तत्त्वरूप, तत्त्वदर्शन और तत्त्वशुद्धि; आत्मरूप, आत्मदर्शन और आत्मशुद्धि तथा शिवरूप, शिवदर्शन, शिवयोग और शिवभोग नामक दस स्तरों का निरूपण किया है। यह प्रकरण विशेष रूप से अवधेय है, क्योंकि इस तरह का विवरण द्वैतवादी सिद्धान्तशैव

---

१. फ्रेंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के द्वितीय भाग का संस्कृत उपोद्घात (पृ. २०-२१) देखिये।

ग्रन्थों में नहीं मिलता। बौद्ध तन्त्रों में भिन्न प्रकार के दस तत्त्वों का निरूपण हुआ है। उनका संबन्ध आध्यात्मिक प्रक्रिया से न होकर तान्त्रिक कर्मकाण्ड से है। पं. क्षितिगर्भ की कृति दशतत्त्वसंग्रह में उनका विवरण मिलता है। उनके नाम हैं—रक्षा, चक्र (मण्डल), चक्रदेवता, जाप, सेक, हठ, बलि, प्रत्यंगिरा, पुट और घात। इनमें परस्पर कोई संबन्ध न रहते हुए भी हम यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि इस तरह से दृष्टिपरिवर्तन के पीछे कौन-कौन सी गतिविधियाँ चल रही थी। इसके लिये तमिल भाषा में निबद्ध प्राचीन शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन साहित्य का भी विहगावलोकन करना होगा।

२८ सिद्धान्तागम

अभी हाल में त्रिलोचन शिवाचार्य के सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। अन्य अनेक ग्रन्थों की तरह यहाँ भी **सिद्धान्तशास्त्र** के नाम से प्रसिद्ध २८ शैवागमों का परिचय दिया गया है। योगपाद के बाद चर्यापाद का उपक्रम करते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम कामिक आदि आगमों का शिवभेद और रुद्रभेद के रूप में विभाजन अन्य ग्रन्थों में प्रदर्शित पद्धति से ही करते हैं। यहाँ भी बताया गया है कि शिवज्ञान अवबोधरूप और शब्दरूप के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से अवबोधरूप ज्ञान परशिव में ही रहता है और समस्त आगमों का समावेश शब्दरूपी शिवज्ञान में माना जाता है। यह नादरूपी शिवज्ञान महौघ-क्रम और गुरु-क्रम नामक द्विविध गुरुपरम्परा के क्रम से मानवों तक पहुँचता है। शिव के प्रणव आदि दस मानसपुत्रों का, दशधा विभक्त नादरूप शिवज्ञान का, कामिक आदि शिवागमों के वक्ताओं एवं श्रोताओं का तथा विजय आदि अठारह [१]रुद्रागमों के अनादि आदि वक्ताओं एवं श्रोताओं का भी परिचय देकर शब्दरूपी शिवज्ञान को यहाँ महिमामण्डित किया गया है। वक्ता एवं श्रोता के भेद से शैवागमों के [२]षड्विध अथवा पंचविध संबन्ध शास्त्रों में वर्णित हैं। अभी आगे (पृ. ३०५) इसकी

---

१. एक सौ अठारह रुद्रों में परिगणित अठारह रुद्रों एवं रुद्रागमों के प्रवक्ता अनादि आदि नाम वाले रुद्रों की नामावली पूरी तरह से भिन्न है। अत: इनकी स्थिति परस्पर भिन्न ही मानी जाती है। २८ सिद्धान्त शैवागमों के प्रवर्तक प्रणव आदि दस शिवों तथा अनादि आदि अठारह रुद्रों की नामावली किरणागम (वि. १०.४-२७) में मिलती है। स्वच्छन्दतन्त्र (१०.११९६-११९९) भी देखिये।

२. षड्विध एवं पंचविध संबन्धों के भेद का मुख्य आधार कामिक आदि की परम्परा में तीन-तीन और विजय आदि की परम्परा में दो-दो वक्ता-श्रोताओं की स्थिति के कारण है। पंचविध पक्ष में 'अन्तराल' संबन्ध की स्थिति नहीं है।

विस्तार से चर्चा की जा रही है। महौघक्रम एवं गुरु-क्रम की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए यहाँ [1]आगमों के प्रामाण्य पर भी सुस्पष्ट विचार प्रस्तुत किया गया है। अन्त में दस शिवागमों और अठारह रुद्रागमों की नामावली देकर शिव के पाँच मुखों से इनके निर्गमन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए भगवान् शिव की परमाप्तता सिद्ध की गई है।

२८ शैवागमों के प्रामाण्य के विषय में यहाँ (पृ. २८४-२८५) विशेष विचार किया गया है। पृ. ७९ पर उद्धृत वचन में श्रुति, स्मृति, पुराण आदि को सामान्य ज्ञान तथा आगमों को विशेष शास्त्र बताया गया है। इन आगमों में शैवागमों का विशेष महत्त्व है। शैवागमों के अविरोधी वैदिक कर्मों के अनुष्ठान की ही यहाँ अनुमति दी गई है। आगे (पृ. ३०७) निश्वासागम की उक्ति के अनुसार कहा गया है कि शिवज्ञान-सम्पन्न एक ही आचार्यप्रवर को भोजन कराना वेद आदि के ज्ञाता करोड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराने के समान है। कौल आगम इससे भी आगे बढ़कर स्वकीय आगम को कुलवधू का स्थान देते हैं।

पृ. २८४ पर उद्धृत वचन में [2]सद्योजात आदि पाँच मुखों से इन अठाईस आगमों की उत्पत्ति बताई गई है। यहाँ प्रत्येक मुख से पुनः पाँच-पाँच मुखों की कल्पना कर लौकिक आदि पंचविध शास्त्रों के पुनः पाँच-पाँच भेदों को, अर्थात् शास्त्रों के पचीस[3] भेदों को बताया गया है। आगे (पृ. २८५) मृगेन्द्रागम (वि. २. १०-११) के प्रमाण से वेदान्त, सांख्य आदि की अपेक्षा शिवज्ञान के वैशिष्ट्य को दिखाया गया है।

तन्त्रशास्त्र का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने संहिता, आगम और तन्त्र शब्दों का प्रयोग क्रमशः वैष्णव, शैव और शाक्त शास्त्रों के लिये किया है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में २८ शैवागमों के लिये संहिता और तन्त्र शब्द भी प्रयुक्त हैं,

---

१. वेदों की अपौरुषेयता के विपरीत आगमशास्त्र की प्रत्येक शाखा में आगमों की ईश्वरकर्तृता स्वीकृत है। अपने-अपने इष्टदेव की और उनके द्वारा उपदिष्ट दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ परम्परा की परम आप्तता प्रत्येक आगम-तन्त्र शाखा में विवृत है। यह परम्परा शैवागमों में षड्विध एवं पंचविध संबन्धों के रूप में मान्य है।

२. तन्त्रालोक (१.१८) की विवेकव्याख्या में इस विषय का अधिक विस्तार है और उसको श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी ने अपने ग्रन्थ "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" (पृ. ४६-४८) में प्रस्तुत किया है।

३. सिद्धान्तप्रकाशिका में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। मकुटागम के उत्तर भाग (२.१.२) में शिव को पंचपंचमुख बताया गया है। भगवान् की पंचपंचमुखता आगमों के इन पचीस भेदों के विभिन्न २५ मुखों से उपदेश देने के कारण मान्य हो सकती है।

अर्थात् ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस विषय में हम अपने ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. १-६) में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। यहाँ (पृ. २८३-२८४) कारणागम से उद्धृत वचनों में ये शब्द मिलते हैं। पृ. ५१ पर उद्धृत वचन में मतंगपारमेश्वर भी अपने को **तन्त्र** कहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों की पर्यायता प्राचीन काल से चली आ रही है।

उपलब्ध आगम

२८ सिद्धान्तशैवागमों की नामावली अनेक ग्रन्थों में मिलती है। २०७ उपागमों की भी नामावली कामिक, कारण, सुप्रभेद, अजित आदि आगमों में मिलती है। पाण्डिचेरी से मुद्रित रौरवागम के प्रथम भाग में पाठभेद के साथ यह नामावली तालिका के रूप में देखी जा सकती है। लुप्ता. के उपोद्घात (पृ. ८६-९०) में भी इसको उसी रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। इनमें से मतंगपारमेश्वर, मृगेन्द्र, रौरव, अजित, सार्धत्रिशतिकालोत्तर, देवीकालोत्तर, वातुलशुद्ध जैसे आगम देवनागरी लिपि में तथा कामिक, कारण, किरण, पौष्कर, सुप्रभेद और कुमारतन्त्र ग्रन्थाक्षरों में अथवा रोमन लिपि में मुद्रित हो चुके हैं। सर्वज्ञानोत्तर भी मुद्रित रूप में उपलब्ध है। अंशुमत्काश्यप, अंशुमद्भेद, अचिन्त्य, विश्व, उमासंहिता, कालोत्तर, काश्यपोत्तर, चन्द्रज्ञान, दीप्त, निश्वासकारिका, निश्वाससंहिता, भीमसंहिता, मकुट, योगज, वातुल, विजय, विनायकतन्त्र, विमल, वीर, शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर, सन्तानसंहिता, सहस्र, सिद्ध, सूक्ष्म और स्वायम्भुवागम की मातृकाएँ (हस्तलेख) उपलब्ध हैं। मतंगपारमेश्वर के चारों पादों की रामकण्ठ-कृत वृत्ति का, मृगेन्द्रागम के चारों पादों की नारायणकण्ठ-कृत वृत्ति का तथा केवल विद्यापाद की अघोरशिव-कृत वृत्तिदीपिका का एवं सार्धत्रिशतिकालोत्तर पर रामकण्ठ कृत वृत्ति का देवनागरी में प्रकाशन हो चुका है। पौष्करागम के ज्ञानपाद का उमापति शिवाचार्य के भाष्य के साथ ग्रन्थलिपि में प्रकाशन हुआ था। अभी हाल में स्वायम्भुवागम के ज्ञानपाद का भी सद्योजात शिवाचार्य के भाष्य के साथ दिल्ली से प्रकाशन हुआ है। दुर्भाग्य से मूल ग्रन्थ पूरा प्रकाशित नहीं किया जा सका। किरणागम की रामकण्ठ- कृत वृत्ति की भी मातृका उपलब्ध है। इस वृत्ति के साथ इस आगम के विद्यापाद के प्रथम छः पटलों का प्रकाशन अभी पांडिचेरी से हुआ है।

प्रकरण ग्रन्थ

अष्टप्रकरण के अब तक दो संस्करण हो चुके हैं। पहला संस्करण श्रीरंगम् के वाणीविलास प्रेस से सन् १९२३ और १९२५ में दो भागों में हुआ और दूसरा वाराणसी से सन् १९८८ में एक ही भाग में। यहाँ सद्योज्योति शिवाचार्य

कृत तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रयनिर्णय, भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका का, भोजदेव-कृत तत्त्वप्रकाश का, श्रीकण्ठ-रचित रत्नत्रय का एवं रामकण्ठ-कृत नादकारिका का अघोरशिवाचार्य एवं रामकण्ठ की व्याख्या के साथ प्रकाशन हुआ है। तत्त्वप्रकाश का कुमारकृत टीका के साथ प्रकाशन पहले त्रिवेन्द्रम् से तथा बाद में काशी के चौखम्बा प्रकाशन से अघोरशिवाचार्य की वृत्ति को भी लेकर हुआ था। द्वितीय संस्करण में कुमारदेव की टीका का भी समावेश कर लिया गया है। इन सभी ग्रन्थों, ग्रन्थकारों और टीकाकारों का परिचय द्वितीय संस्करण के उपोद्घात (पृ. २-१७) में विस्तार से देखा जा सकता है।

सद्योज्योति शिवाचार्य कृत नरेश्वरपरीक्षा रामकण्ठ की वृत्ति के साथ कश्मीर ग्रन्थावली में श्रीनगर से प्रकाशित हो चुकी है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (चार भाग) कर्मकाण्डक्रमावली (सोमशम्भुपद्धति), वैरोचनकृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय, उमापतिशिवाचार्यकृत शतरत्नसंग्रह, अप्पयदीक्षित कृत शिवार्चनचन्द्रिका, शिवाग्र-योगीन्द्र-कृत शैवपरिभाषा, सूर्यभट्ट-कृत शैवसिद्धान्त-परिभाषा और शिवरहस्य नामक ग्रन्थ देवनागरी लिपि में प्रकाशित हो चुके हैं। अघोरशिव-कृत क्रियाक्रमद्योतिका, क्रियादीपिका, नित्यपूजालक्षणसंग्रह, परार्थनित्यपूजाक्रम, पवित्रोत्सवविधि, प्रतिष्ठाष्टादश क्रियापाद, अघोरशिवकृत प्रायश्चित्तविधि, वर्णाश्रमचन्द्रिका, शिवज्ञानबोधभाष्य, शिवयोगसार, शिवागमशेखर, शिवधर्मविवेक, शैवसंन्यासपद्धति, सकलागमसारसंग्रह, त्रिलोचन शिवाचार्य-कृत सिद्धान्तसारावलि जैसे ग्रन्थ ग्रन्थलिपि में मुद्रित हो चुके हैं। क्रियाक्रमदीपिका, क्रियाक्रमप्रकाशिका, क्रियानिर्णय, क्रियासारसंग्रह, ज्ञानरत्नावली, देवज्ञानशिवाचार्य-कृत दीक्षादर्श, त्रिलोचनशिवाचार्य-कृत प्रायश्चित्तसमुच्चय, वरुणपद्धति, देवज्ञानशिवाचार्य-कृत शैवपरिभाषामंजरी, शैवसिद्धान्तसंग्रह, साररत्नावली, सिद्धान्तशेखर, सोमशम्भुपद्धतिव्याख्या नामक ग्रन्थों की एवं कुछ प्रायश्चित्त, पवित्रोत्सव आदि से संबद्ध पद्धति-ग्रन्थों की मातृकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। सद्योज्योति और बृहस्पति जैसे महनीय आचार्यों के द्वारा रचित भाष्य, वार्त्तिक आदि ग्रन्थों की सूचना विविध ग्रन्थों में उद्धृत वचनों से मिलती है। इनमें से कुछ का परिचय लुप्ता. के उपोद्घात (पृ. १४-८४) से प्राप्त किया जा सकता है।

ऊपर चर्चित अष्टप्रकरण के अतिरिक्त इधर वाराणसी से इस विषय के दो ग्रन्थ और प्रकाशित हुए हैं। इनमें से पहला है उमापति शिवाचार्य के द्वारा शतरत्नसंग्रह (पृ. ८-९) में सिद्धान्तदीपिका के नाम से उद्धृत सर्वात्मशंभु का सिद्धान्तप्रकाशिका नाम का ग्रन्थ। इसका प्रथम संस्करण श्री आर. दामोदरन् द्वारा संपादित होकर महाराजा सरफोजी सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजोर की शोधपत्रिका

के ३३वें भाग में हुआ था। और अब दूसरा संस्करण हिन्दी अनुवाद, विशिष्ट टिप्पणियों और प्रस्तावना के साथ शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से सन् १९९६ में हुआ है। दूसरा ग्रन्थ है—त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि। जैसी कि अभी ऊपर सूचना दी गई, मूल ग्रन्थ का पहला संस्करण ग्रन्थाक्षर में शिवज्ञानबोध प्रेस, मद्रास से सन् १९०१ में हुआ। दूसरा संस्करण कन्नड़ भाषा के अनुवाद के साथ कन्नड़ लिपि में मैसूर से सन् १९३० में निकला। इसका तीसरा संस्करण अनन्तशंभु-कृत संस्कृत टीका के साथ देवनागरी लिपि में गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास की बुलेटिन के भाग १७ से २० तक के अंकों में हुआ था। अब वाराणसी से ही अन्वयार्था और विस्तरार्था नामक दो हिन्दी टीकाओं के साथ इसका प्रकाशन आवश्यक टिप्पणियों और विस्तृत प्रस्तावना के साथ शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ से सन् १९९८ में हुआ है।

मध्यदेश से शैवागमों का प्रसार

जैसा कि ऊपर (पृ. ३-४) बताया गया है, अभिनवगुप्त (तन्त्रा. ३७.३८) के मत से मध्यदेश सभी शास्त्रों की उत्पत्तिस्थली है। वे ही कहते हैं कि श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से अद्वय, द्वय और द्वयाद्वय शास्त्रों के प्रसार के लिये क्रमशः त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नामक आचार्य अवतरित हुए। शिलाशासनों के प्रमाण से भी यह सिद्ध होजाता है कि इन सबकी अवतार-स्थली मध्यदेश ही थी। कदम्बगुहावासी, शंखमठिकानाथ, तेरम्बिपाल नामक आचार्य, आमर्दक तीर्थ, पुरन्दर, कवचशिव आदि शैवाचार्य [1]पतंगशम्भु के शिलालेख में चर्चित हैं। [2]आमर्दक तपोवन से विनिर्गत सदाशिवाचार्य लाट (गुजरात) देश में जाकर बस गये थे, यह सूचना सातवीं ई. शताब्दी के शिलालेख से मिलती है। इन सभी स्थानों की स्थिति [3]मध्यदेश में ही होनी चाहिये।

१. म. म. डॉ. वासुदेव मिराशी की प्राच्यविद्या निबन्धावली के चतुर्थ भाग में संगृहीत उनका "पतंगशम्भु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" (पृ. १७४-१७५) देखिये। उन्होंने उज्जयिनी को आमर्दक तीर्थ माना है। अन्यत्र (पृ. २४७) इसकी हमने समालोचना की है।

२. सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के शिवगुप्त बालार्जुन के सेनकपाट शिलालेख में आमर्दक तपोवन से विनिर्गत सदाशिवाचार्य का उल्लेख है। लाटदेश के राजा के बुलावे पर वे गुजरात चले गये थे।

३. अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (३७. ३८) के प्रमाण से और उक्त तीनों मठों की मध्यदेश में स्थिति की पुष्टि म. म. मिराशी के उक्त निबन्ध से होंने से इन सभी मठिकाओं की स्थिति मध्यदेश में ही मानना उचित है। इन सभी स्थानों की पहिचान अपेक्षित है।

इनमें कदम्बमठिका अथवा आमर्दक तीर्थ द्वैतागमों की, शंखमठिका द्वैताद्वैतागमों की और तेरम्बिमठिका[१] अद्वयागमों की प्रसारस्थली थी, ऐसा ऊपर के अभिनवगुप्त के वचन से ज्ञात होता है। आमर्दक, श्रीनाथ और त्र्यम्बक नामक आचार्य क्रमशः इन शास्त्रों के प्रवक्ता थे। धारानगरी के राजा भोज के गुरु लाटदेश के उत्तुंगशिव[२] के कनिष्ठ भ्राता थे। ये उत्तुंगशिव आमर्दक तपोवन से निकल कर लाटदेश में पहुँचे आचार्य सदाशिव की परम्परा के हो सकते हैं। दाक्षिणात्य अघोरशिवाचार्य त्रिलोचन[३] शिवाचार्य की परम्परा से संबद्ध हो सकते हैं। [४]अभिनवगुप्त के कथन के अनुसार उनके पूर्वज मध्यदेश से ही कश्मीर गये थे। हम कह सकते हैं कि मध्यदेश से ही सर्वत्र शैवशास्त्र का प्रसार हुआ।

शैवमठ-परम्परा

ऊपर शैव मठ-मठिकाओं, तीर्थों और आश्रमों की चर्चा आई है। डॉ. [५]वी. एस. पाठक के ग्रन्थ में तथा डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय के "द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागम"[६] शीर्षक निबन्ध में इनका परिचय दिया गया है। यहाँ (पृ. १६०-१६६) शैवमठों की परम्परा का सामान्य परिचय देते हुए आमर्दक[७], मत्तमयूर और माधुमतेय मठों की परम्परा का विशेष परिचय दिया गया है। इनसे

१. 'तेरम्बा' के नाम से प्रसिद्ध त्र्यम्बक मठिका में प्रवृत्त त्र्यम्बक सम्प्रदाय की परम्परा शिवदृष्टि (७. १०७-११२) में वर्णित है। तन्त्रसार (पृ. ४), तन्त्रालोक एवं उसकी विवेकटीका (भा. १, पृ. २५-२६) में भी चर्चित है। लगता है कि इस तेरम्बिमठिका से ही सोमानन्द अथवा उनके पूर्वज कश्मीर गये होंगे।

२. अघोरशिवाचार्य की पद्धति के प्रमाण से शैवदर्शनबिन्दु (पृ. ११-१२) में डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने यह कहा है।

३. त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि अनन्तशंभु की टीका के साथ अब प्रकाशित हो चुकी है। शैव कल्ट. (पृ. ३८. टि. २) की टिप्पणी में उद्धृत श्लोक यहाँ टीका (पृ. २५८) में उपलब्ध हैं। तदनुसार त्रिलोचन शिवाचार्य की परम्परा में अघोरशिवाचार्य की स्थिति मानी जा सकती है।

४. तन्त्रालोक (३७.३८-३९) द्रष्टव्य।

५. "हिस्ट्री आफ शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया", पृ. ४६-५० द्रष्टव्य।

६. संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, एकादश खण्ड द्रष्टव्य।

७. प्र. ल. सा. (३२.७२) में मत्तमयूर वंश का विमलशिव के शिष्य ईशानशिव और उनके शिष्य वैरोचन वह क्रम दिया है। सोमशम्भुपद्धति (पृ. १८७) में ईशान प्रथम और विमलेश द्वितीय नाम है। शिव-शम्भु नामान्त सिद्धान्तशैव मत के राजगुरुओं की नामावली

भी पहले म. म. वासुदेव विष्णु मिराशी ने अपने कुछ निबन्धों में इस विषय पर प्रकाश डाला था। नेपाली विद्वान् डॉ. देवराज पौडेल ने भी अपने शोधप्रबन्ध में इस विषय पर कुछ लिखा था। सिद्धान्तसारावलि की टीका में प्रसंगवश इस विषय की चर्चा हुई है।

ग्रन्थकार ने यहाँ क्रियापाद के अन्तिम दो श्लोकों (८९-९०) में दीक्षा एवं अभिषेक के क्रम से बिन्दुतत्त्व से चली आ रही शैवकुल-परम्परा, शैवमठ-परम्परा और आमर्दक मठ की परम्परा का निरूपण कर इन परम्पराओं में अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है। टीकाकार ने मुनि [१]दुर्वासा से शैव सम्प्रदाय की प्रवृत्ति, भारतवर्ष में आमर्दक मठ की स्थापना, उससे चली रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि मठों की परम्परा, कौशिक आदि ऋषियों की शैवी सृष्टि, सात गोत्रपुरुष एवं आमर्दकमठीय सम्प्रदाय और अपनी गुरु-परम्परा पर प्रकाश डाला है। पूर्व-गुरु के रूप में ग्रन्थकार ने यहाँ व्यापकशम्भु[२] को स्मरण किया है और टीकाकार ने ग्रन्थलेखक त्रिलोचन शिवाचार्य की पूर्वकथा[३] को प्रस्तुत किया है।

आमर्दक मठ का परिचय

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अन्वयार्था (पृ. १) में बताया गया है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता त्रिलोचन शिवाचार्य आमर्दक मठ के निवासी हैं। इसी मठ का संक्षिप्त

डॉ. वासुदेव मिराशी रचित प्राच्यविद्या निबन्धावली के चतुर्थ खण्ड में संगृहीत "पतंगशम्भु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" शीर्षक निबन्ध (पृ. १७४-१८२) भी देखा जा सकता है। ईशानशिवपद्धति की द्वितीय भाग की प्रस्तावना में भी यह विषय चर्चित है। इन आचार्यों के द्वारा निर्मित विमलावती आदि ग्रन्थ अभी मुद्रित नहीं हुए हैं। इन ग्रन्थों की सहायता से इन आचार्यों की नामावलियों में परस्पर विरोध का परिहार कर इनको परिष्कृत किया जा सकता है। एक विषय यहाँ अवधेय है—इन सोम-शम्भु नामान्त शैवाचार्यों में ब्रह्मशम्भु, सोमशम्भु, इस तरह के शम्भु नामान्त शैवाचार्यों के नाम मिलते हैं। इस तरह के नामों में केवल छन्द के अनुरोध से ही शिव के स्थान पर शम्भु किया गया हो, ऐसा नहीं लगता, क्योंकि ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के तृतीय भाग में गद्यभाग में भी बहुशः शम्भु-संयुक्त नाम ही मिलते हैं। इसी तरह से कर्मकाण्डक्रमावली के अन्त में सोमशिव और सोमशम्भु दोनों तरह के नाम मिलते हैं, जब कि पुष्पिका-वाक्य में सोमशम्भु नाम है। इनसे हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाते कि शम्भुनामान्त और शिवनामान्त आचार्यों की परम्परा एक ही है अथवा पृथक्-पृथक्।

१. सिद्धान्तसारावलि, क्रियापाद ८९ वाँ श्लोक और उसकी टीका देखिये।

२. "श्रीमद्व्यापकशम्भुपूर्वगुरुयुक्" (क्रिया. ९० श्लोक)।

३. वहीं, पृ. २५८ का अवलोकन कीजिये।

परिचय यहाँ दिया गया है। स्वयं ग्रन्थकार ने आमर्दक आश्रम के विषय में यह सूचना दी है कि इसकी स्थापना दुर्वासा ऋषि ने की थी (२. ८९)। इनकी गुरु-परम्परा व्यापकशम्भु से चली, इसका निर्देश भी ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में किया है। टीकाकार प्रमाण-वचनों को उद्धृत कर कहते हैं कि रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि नाम के पीठ आमर्दक मठ से ही संबद्ध हैं। इन सभी मठों की स्थिति गोदावरी नदी के तट पर विद्यमान शैवों की मन्धरकाली नामक वसति में स्थित मन्धरकालीश मन्दिर के चारों तरफ थी। इन मठों से संबद्ध कदम्ब, अर्जुन, जम्बूक और न्यग्रोध नामक वृक्षों का उल्लेख यहाँ (पृ. २५५) मिलता है। यहीं मण्डप-निर्माण के प्रसंग (पृ. १५८) में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ और प्लक्ष नामक वृक्षों से तोरण बनाने की सूचना मिलती है। नामों में अन्तर अवश्य है।

तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों के प्रमाण के विविध शैव मठों का परिचय हम आगममीमांसा (पृ. ३६) में दे चुके हैं। प्रसिद्ध इतिहासकर डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी ने प्राच्यविद्या निबन्धावली के चतुर्थ खण्ड में संगृहीत "पतंगशम्भु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" शीर्षक निबन्ध (पृ. १७५) में बताया है कि उज्जयिनी ही आमर्दक तीर्थ है। इसके विपरीत [१]डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ग्वालियर के आसपास कहीं इसकी स्थिति मानते हैं। डॉ. मिराशी अरणिपद्र या रणिपद्र मठ की भी चर्चा करते हैं (पृ. १७४,१७६-१७८)। डॉ. वी. एस. पाठक रणिपद्र के अतिरिक्त गोलकी मठ की भी चर्चा करते हैं। इन सब मठों की स्थिति मालवा में ही मानी जाती है, किन्तु प्रस्तुत स्थल पर इनकी स्थिति गोदावरी नदी के तट पर मानी गई है। यह भी अवधेय है कि यहाँ रणभद्र नाम दिया गया है, रणिपद्र नहीं। पुष्पगिरि नाम उक्त दोनों ही स्थलों पर नहीं मिलता। इस विषय पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि त्रिलोचन शिवाचार्य की पूर्वकथा के सूचक इन वचनों को टीकाकार ने कहाँ से उद्धृत किया है। तन्त्रालोक आदि के प्रमाण से इनकी मूल स्थिति मध्यप्रदेश ही माननी होगी। यह संभव है कि बाद में आमर्दक मठ की शाखाओं की स्थापना गोदावरी नदी के तट पर हुई हो।

---

१. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के यशस्वी सम्पादक म. म. टी. गणपति शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ के भा० २ की प्रस्तावना में म. म. हरप्रसाद शास्त्री जी की टिप्पणी को उद्धृत करते हुए बताया है कि शास्त्री जी के मत के अनुसार कदम्बगुहा, शंखमठिका, तेरम्बी और आमर्दक मठ की भी स्थिति ग्वालियर स्टेट में है। डॉ. वासुदेव मिराशी (प्राच्यविद्या निबन्धावली, पृ. १७५) आमर्दक तीर्थ को उज्जयिनी मानते हैं। इसकी परीक्षा अपेक्षित है। हम समझते हैं कि आमर्दक तीर्थ की सत्ता इससे अलग होनी चाहिये।

शैवभूषण में शैवागम के अठारह पद्धतिकारों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

उग्रोत्तरज्योतिरथोपसद्य: श्रीरामकण्ठोऽपि च वैद्यकण्ठ: ।
नारायणश्चापि विभूतिकण्ठ: श्रीनीलकण्ठोऽपि च सोमशम्भु: ।।
ईशानशम्भुर्द्वयमादिना स्याद् विरञ्चिवैराग्यकयुग्मवाच्यौ ।
ज्ञानस्त्रिनेत्रो वरुणेश्वरौ तावित्यादयस्ते स्युरघोरशम्भु: ।।

इन आचार्यों में से मोक्षकारिका के श्लो. १५७ से ज्ञात होता है कि उग्रज्योति सद्योज्योति के गुरु थे। मोक्षकारिका की वृत्ति के लेखक रामकण्ठ सद्योज्योति और बृहस्पति को शिवागम के आद्य आचार्य मानते हैं। इनमें से सद्योज्योति का उल्लेख केवल अभिनवगुप्त ने ही नहीं, प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवर्तक सोमानन्द ने भी शिवदृष्टि (३.१३;६४) में खेटपाल के नाम से किया है। अत: ये सोमानन्द से प्राचीन आचार्य हैं। बृहस्पतिपाद के शिवतनुशास्त्र और रौरववार्त्तिक का उल्लेख हमें मिलता है। मृगेन्द्रागम के वृत्तिकार नारायणकण्ठ अपने को विद्याकण्ठ का पुत्र और शंकरकण्ठ का [1]पौत्र बताते हैं। साथ ही अपने पिता विद्याकण्ठ को रामकण्ठ का शिष्य कहते हैं। रामकण्ठ की [2]सद्वृत्ति का अनुसरण कर श्रीकण्ठ ने रत्नत्रय नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की थी। यह सद्वृत्तिकार रामकण्ठ नारायणकण्ठ के पिता विद्याकण्ठ के गुरु हो सकते हैं। [3]स्पन्दकारिका के व्याख्याता का नाम भी रामकण्ठ है। [4]नारायणकण्ठ को क्षेमराज उद्धृत करते हैं। ये सभी आचार्य कश्मीर के निवासी हैं।

---

१. शाङ्करकण्ठश्रीमद्विद्याकण्ठादनुग्रहं लब्ध्वा। नारायणकण्ठ इमां तत्पुत्रो व्यरचयद् वृत्तिम्।।" (पृ. ३६३) मृगेन्द्रवृत्ति की विद्यापाद की समाप्ति के इस वचन से नारायणकण्ठ शंकरकण्ठ के पौत्र हैं, यह ज्ञात होता है। वे उनके प्रपौत्र नहीं हैं।

२. "साक्षाच्छ्रीकण्ठनाथादिव सुकृतिजनानुग्रहायावतीर्णाच्छ्रुत्वा श्रीरामकण्ठाच्छिवमतकमलोन्मीलन-प्रौढभास्वान्। श्रीविद्याकण्ठभट्ट:" (पृ. २) मृगेन्द्रागमवृत्ति के प्रारंभ के इस पद्य से विद्याकण्ठ के गुरु रामकण्ठ हैं, यह तो स्पष्ट हो जाता है, किन्तु—"रामकण्ठकृतालोकनिर्मलीकृतचेतसा। रत्नत्रयपरीक्षेयं कृता श्रीकण्ठसूरिणा।। श्रीरामकण्ठसद्वृत्तिं मयैवमनुकुर्वता। रत्नत्रयपरीक्षार्थ: संक्षेपेण प्रकाशित:।।" (पृ. १०७) रत्नत्रय की समाप्ति के इन वचनों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सद्वृत्ति के कर्ता यहाँ निर्दिष्ट प्रथम रामकण्ठ हैं या अन्य कोई रामकण्ठ।

३. स्पन्दशास्त्र के व्याख्याता रामकण्ठ और भगवद्गीता के व्याख्याता रामकण्ठ कश्मीर में प्रसिद्ध हैं। विद्याकण्ठ के गुरु रामकण्ठ और नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ को लेकर इनकी संख्या चार हो जाती है। इन पर अभी पर्याप्त विचार अपेक्षित है।

४. स्वच्छन्दोद्योत में क्षेमराज किसी अन्य टीकाकार के मत की समालोचना करते समय—"श्रीमृगेन्द्रवाक्यटीकायाम्⋯यद्भट्टनारायणकण्ठेनोक्तम्" (४.२०८) इस तरह से भट्ट

सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक वर्तमान [1]शिव-शम्भु नामान्त शैवाचार्यों की उपस्थिति प्रथमत: मध्यदेश, मालवा और गुजरात में तथा बाद में दक्षिणभारत में मिलती है। ऊपर के १८ पद्धतिकारों में कश्मीर, मध्यदेश और दक्षिण के आचार्यों के नाम अंकित हैं। इतना सब होते हुए भी आज यह शास्त्र दक्षिणभारत में ही सुरक्षित है। यह भी सही है कि इस विषय के हस्तलेख नेपाल, कलकत्ता, उदयपुर आदि में भी सुरक्षित हैं। अभी नेपाल की राजधानी काठमाण्डू से वैरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय का दो भागों में प्रकाशन हुआ है तथा पाण्डिचेरी के फ्रेंच शोधसंस्थान में संगृहीत मातृकाओं का परिचय तीन जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। उससे शैवसिद्धान्त का विशाल साहित्य अब भी सुरक्षित है, इसकी जानकारी मिलती है।

द्वैतवादी सिद्धान्तशास्त्र के इस संक्षिप्त परिचय के साथ हम इस शास्त्र के कुछ चुने हुए प्रसिद्ध ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का परिचय दे देना चाहते हैं।

निश्वासतत्त्वसंहिता

निश्वासशासन, निश्वासागम, नैश्वासतन्त्र जैसे नामों से यह आगम स्मृत है। सिद्धान्तशास्त्र के २८ आगमों में परिगणित रुद्रागमों में इसका तीसरा स्थान है। निश्वासतत्त्वसंहिता, निश्वासतन्त्र, निश्वासाख्यमहातन्त्र नाम से (ता. सा., पृ. ३४२) विवृत मातृका इसी आगम की हो सकती है। डॉ. बागची ने निश्वासतत्त्वसंहिता की नेपाल की मातृका का अपने ग्रन्थ के अन्त (पृ. ९३-९६) में विस्तार से परिचय दिया है और एन. एन. भट्टाचार्य ने संक्षेप में (पृ. ५३-५४)। हमारी दृष्टि में इसमें कुछ संशोधन अपेक्षित हैं। शिवसूत्रविमर्शिनी में—"तदुक्तं श्रीनैश्वासदेवी-महेश्वरनर्तनाख्ये सप्तमपटले देवीकृतस्तवे" (पृ. ४३) इस तरह से यह स्मृत है। निश्वासशासन तन्त्रालोक (३०.७७, ८१) में और नैश्वासतन्त्र महार्थमंजरीपरिमल (पृ. ४९) में उद्धृत है। इस आगम का प्रथम उपागम भी इसी नास से प्रसिद्ध है। "महादेवाष्टकं ह्येतत्" यह निश्वास-वचन मतंगपारमेश्वर की वृत्ति (पृ. ३७४) में

नारायण कण्ठ को स्पष्ट रूप से उद्धृत करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्षेमराज जिस टीकाकार के मत की समालोचना कर रहे हैं, नारायणकण्ठ उससे प्राचीन हैं। ये टीकाकार भुल्लक हो सकते हैं। क्षेमराज ने इनके मत की अनेक स्थलों पर इनका नाम लेकर समालोचना की है।

१. डॉ. मिराशी की पूर्वोक्त निबन्धावली (पृ. १७२-१८२) में और डॉ. वी. एस. पाठक के पूर्व-सूचित ग्रन्थ (पृ. ४६-५०) में सिद्धान्तशैवाचार्य राजगुरुओं की नामावली देखी जा सकती है।

स्मृत है। निश्वासाख्यमहातन्त्र आ. सूची (भा. ३, पृ. ६४) में विवृत है। हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. तून गान्द्रियान इसका संस्करण तैयार कर रहे हैं, ऐसी सूचना मिली है। निश्वाससंहिता को बौद्ध तान्त्रिक पद्मवज्र ने अपनी गुह्यसिद्धि (८.१२) में उद्धृत किया है। पद्मवज्र का समय सातवीं शताब्दी माना जाता है। यह सिद्धान्तशैवागम वराहपुराण (७१.५४-५६) में भी निर्दिष्ट है।

मतंगपारमेश्वर

मतंगपारमेश्वर नाम का शैवागम भट्ट रामकण्ठ की वृत्ति के साथ पांडिचेरी के फ्रेंच शोध संस्थान से प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रथम भाग (विद्या-पाद) का सन् १९७७ में और द्वितीय भाग (क्रिया-योग-चर्या पाद) का सन् १९८२ में प्रकाशन हुआ। शैवसिद्धान्त के महनीय विद्वान् डॉ. एन. आर. भट्ट ने इसका सम्पादन किया है। शिवदृष्टि (३. १३-१४) में सोमानन्द ने स्वायम्भुववृत्ति के कर्ता खेटपाल (सद्योज्योति शिवाचार्य) और मतंगटीका के कर्ता व्याख्यानिगुरु को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि व्याख्यानि नाम के कोई आचार्य रामकण्ठ से पहले इस आगम पर टीका लिख चुके थे। फ्रेंच शोध संस्थान से प्रकाशित अन्य आगमों की सूचना पहले दी जा चुकी है।

शिवपुराण

अनेक पुराणों में १८ महापुराणों और १८ उपपुराणों की उनकी श्लोक-संख्या के साथ नामावली मिलती है। महापुराणों की नामावली में प्रायः चौथे स्थान पर शिवपुराण का नाम मिलता है, किन्तु [१]मत्स्यपुराण में शिवपुराण के स्थान पर वायुपुराण का नाम है। कुछ उपपुराणों के भी नाम[२] वहाँ मिलते हैं। उनमें भी शिवपुराण का नाम नहीं है। देवीभागवत[३] में वायुपुराण का महापुराणों में और शिवपुराण का उपपुराणों में नाम मिलता है। इस तरह से इन दोनों पुराणों को लेकर दो तरह के मत मिलते हैं। शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण को प्राचीन माना जाता है। यह ठीक ही लगता है, क्योंकि पवमान (वायु) प्रोक्त पुराण का उल्लेख महाकवि बाण के हर्षचरित[४] नामक महनीय गद्यकाव्य में मिलता है। इसका

---

१. मोर संस्करण, पृ. १४५ द्रष्टव्य।

२. वहीं, पृ. १४७ देखिये।

३. कलकत्ता मोर संस्करण, पृ. २९ द्रष्टव्य।

४. हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई संस्करण, पृ. ८६

समय छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है। शिवपुराण में तो [१]शिवसूत्र, [२]शिवसूत्रवार्त्तिक, [३]विरूपाक्षपंचाशिका और [४]परापंचाशिका का उल्लेख मिलता है। काश्मीर के इतिहास से ज्ञात होता है कि शिवसूत्रों की प्राप्ति आचार्य वसुगुप्त को हुई थी। इनका समय ८२५-८५० के आस-पास निर्धारित[५] किया गया है। स्पष्ट है कि शिवपुराण का प्रवर्तन परवर्ती काल में हुआ।

शिवपुराण में पहले १२ संहिताएँ और एक लाख श्लोक थे। बाद में व्यासदेव ने इसे २४ हजार श्लोकों में संक्षिप्त कर सात संहिताओं में विभक्त किया। शिवपुराण का यही संस्करण आजकल उपलब्ध है। सात संहिताओं के नाम ये हैं—१. विद्येश्वरसंहिता, २. रुद्रसंहिता, ३. शतरुद्र०, ४. कोटिरुद्र०, ५. उमा०, ६. कैलास० और ७. वायुसंहिता। इनमें दूसरी रुद्रसंहिता १. सृष्टि, २. सती, ३. पार्वती, ४. कुमार और ५. युद्ध नामक पाँच खण्डों में और सातवीं वायुसंहिता पूर्व और उत्तर खण्ड में विभक्त है। इस पुराण में प्रधान रूप से शिव की महिमा वर्णित है। साथ ही पुराणों की समन्वय-प्रधान शैली का सहारा लेते हुए यहाँ [६]शिव और विष्णु की एकता भी बताई गई है। विभिन्न पुराणों पर वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों का बहुत प्रभाव है, इसकी स्थापना हमने [७]अलग से की है।

अठारह विद्याओं, अठारह पुराणों और रामायण-महाभारत का तो यहाँ उल्लेख है ही, एक स्थान पर २६ पुराणों[८] का भी निर्देश हुआ है। इनके नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। पुराणों की नामावली में देवीभागवत[९] गृहीत है। एक

---

१. "चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्" (६.१६.४४), "ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः" (६.१६.४६)।

२. "इत्यादिशिवसूत्राणां वार्त्तिकं कथितं मया" (६.१६.४६)।

३. "श्रीविरूपाक्षनिर्मिते। शास्त्रे पञ्चाशिके" (६.१९.४४)।

४. परापंचाशिका के १८-२५ श्लोकों की तुलना शिवपुराण की छठी कैलाशसंहिता के १६.७०-८४ श्लोकों से कीजिये।

५. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय रचित "अभिनवगुप्त." का द्वितीय संस्करण (पृ. १५४) देखिये।

६. विद्येश्वरसंहिता का द्वितीय तथा वायुसंहिता के पूर्वखण्ड का प्रथम अध्याय देखिये।

७. उपक्रमाधिकार का "पुराणों पर निगमागम का प्रभाव" शीर्षक (पृ. ३६-४२) देखिये।

८. "षड्विंशतिपुराणानां मध्येऽप्येकं शृणोति यः" (५.१३.४१)।

९. "भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतं प्रोक्तं ननु देवीपुराणकम्।।" (५.४४.१२९)।

स्थान पर [१]जाबालोपनिषत् और दो [२]स्थलों पर महिम्नस्तव का दूसरा श्लोक उद्धृत है। एक स्थान पर (७.२.८.४९) लिंगपुराण की और अन्यत्र (७.१.३२.१२) कामिक आदि २८ आगमों की चर्चा मिलती है। शिवपार्वती का सांख्य-वेदान्त संमत संवाद, जैन धर्म का मरुभूमि में प्रचार, दत्त के द्वारा संन्यासपद्धति का प्रचार जैसे विषय भी यहाँ प्रसंगवश चर्चित हुए हैं।

शिवपुराण की वायवीयसंहिता का विस्तृत परिचय बृहदितिहास, एकादश खण्ड (पृ. ११४-११७) में दिया जा चुका है।

अष्टप्रकरण

श्रीकृष्ण शास्त्री के शिष्य श्री ना. कृष्णशास्त्री ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९२३ में दूसरे का सन् १९२५ में श्रीरंगम् के वाणीविलास प्रेस से कराया था। यह किसी एक ग्रन्थ का नाम नहीं है, किन्तु द्वैतवादी शैवसिद्धान्त के आठ छोटे-छोटे ग्रन्थों और उनकी वृत्तियों का एक साथ समावेश कर उनको यह नाम दिया गया है। तदनुसार काशी-संस्करण को भी यही नाम दे दिया गया है। यह नया संस्करण योगतन्त्र-ग्रन्थ माला के १२वें पुष्प के रूप में सं. सं. वि. वि. से सन् १९८८ में प्रकाशित हुआ। इन आठ प्रकरणों में भोजदेव-कृत तत्त्वप्रकाश (शिका), श्रीकण्ठ-कृत रत्नत्रय, नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ की रचना नादकारिका के साथ अन्य पाँच ग्रन्थ—तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रयनिर्णय, भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका—सद्योज्योति शिवाचार्य कृत समाविष्ट हैं। तत्त्वप्रकाश(शिका) पर कुमार-कृत तात्पर्यदीपिका और अघोरशिव की वृत्ति का समावेश किया गया है। तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रयनिर्णय, रत्नत्रय, भोगकारिका और नादकारिका पर अघोरशिव की वृत्ति तथा मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका पर रामकण्ठ (नारायणकण्ठ-सुत) की वृत्ति है। इन सभी ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय वहीं उपोद्घात (पृ. ६-८) में देखा जा सकता है। वहाँ की टिप्पणियाँ भी अवलोकनार्ह हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थों की आगे विस्तार से समीक्षा की जा रही है।

सद्योज्योति शिवाचार्य

नारायण कण्ठ के पुत्र भट्ट रामकण्ठ और उनका अनुसरण करने वाले अघोरशिव आदि आचार्य सद्योज्योति और बृहस्पति को महान् शिवाचार्य मानते हैं।

---

१. "अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोपनिषद्गतैः" (१.२४.८)।

२. रुद्रसंहिता (३.४.११; ३.१२.१८) द्रष्टव्य। पुष्पदन्त-रचित यह स्तव भट्ट नारायणकण्ठ-रचित मृगेन्द्रागमवृत्ति (कश्मीर संस्करण, पृ. ३०) में उद्धृत है।

इनमें सद्योज्योति उग्रज्योति के शिष्य हैं। स्पष्ट है कि द्वैतवादी शैवदर्शन की परम्परा कश्मीर में उग्रज्योति और सद्योज्योति जैसे महिमाशाली शिवाचार्यों के द्वारा प्रवर्तित हुई। आचार्य सद्योज्योति [1]सिद्धगुरु, [2]खेटपाल, खेटकबाल, खेटकनन्दन जैसे नामों से शास्त्रों में उद्धृत हैं। शिवदृष्टि[3] में सोमानन्द ने इनको उद्धृत किया है, अतः इन से पहले नवीं शताब्दी में किसी समय इनकी स्थिति मानना उचित है।

ये निम्न ग्रन्थों के रचयिता हैं—१. तत्त्वसंग्रह, २. तत्त्वत्रयनिर्णय, ३. भोगकारिका, ४. मोक्षकारिका और ५. परमोक्षनिरासकारिका—ये पाँच ग्रन्थ अष्टप्रकरण में प्रकाशित हैं। ६. नरेश्वरपरीक्षा रामकण्ठ की वृत्ति के साथ कश्मीर से प्रकाशित हुई है। ७. स्वायम्भुववृत्ति (विद्यापाद) [4]इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली से अभी (सन् १९९४) अभी प्रकाशित हुई है। इन सात ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके ८. सुवृत्ति अथवा रौरवागमवृत्ति (रुरुवृत्ति) और ९. मन्त्रवार्त्तिक नामक दो ग्रन्थों की भी सूचना उद्धरणों के माध्यम से मिलती है।

रौरवागम की सुवृत्ति के सहारे तत्त्वसंग्रह की तथा स्वायम्भुवागम की वृत्ति के सहारे तत्त्वत्रयनिर्णय की इन्होंने रचना की, इस विषय की सूचना अन्यत्र दी जा चुकी है। यह भी सूचना मिलती है कि रौरवागम की सुवृत्ति की सहायता से ही इन्होंने भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका की भी रचना की। तदनुसार यह कहा जा सकता है कि रौरवागम की सुवृत्ति, स्वायम्भुवागम-वृत्ति, नरेश्वरपरीक्षा और मन्त्रवार्त्तिक ये चार इनके मुख्य ग्रन्थ हैं एवं बाकी के पाँच ग्रन्थ रौरव और स्वायम्भुव के व्याख्यानभूत ग्रन्थ हैं। इस प्रकार उग्रज्योति के शिष्य सद्योज्योति शिवाचार्य सिद्धान्तशैवागम के प्रथम व्याख्याता और पद्धतिकार माने जाते हैं।

---

१. लुप्ता. उपो. पृ. ३२ पर खेटकनन्दन का परिचय देखिये।

२. खेटपाल और खेटकबाल शब्दों के विषय में मतंग के उपो. (पृ. ४१-४२) में प्रो. एन. आर. भट्ट का वक्तव्य तथा हमारे लुप्ता. उपो. की पृ. ३२ की टिप्पणी देखिये। यहाँ खेटकबाल पद की व्युत्पति भी दी गई है।

३. "तथा चाह खेटपालः·····स्वायम्भुवस्य टीकायाम्" (३.१३-१४), "तदैक्यं खेटपालोऽपि प्राह" (३.६४)।

४. इस संस्करण में विद्यापादवृत्ति तो पूरी प्रकाशित है, किन्तु मूल ग्रन्थ को पूरा प्रकाशित नहीं किया गया, जब कि उसकी पूरी मातृका उपलब्ध है।

मतंगपारमेश्वर विद्यापाद के [१]उपोद्घात में पण्डित एन. आर. भट्ट ने और [२]लुप्ता. उपो. में हमने इनके विषय में जो कुछ कहा है, उसके विपरीत[३] जो सूचनाएँ मिलती हैं, वे सब अब पुरानी पड़ गई हैं। स्वायम्भुवागम विद्यापाद के दो संस्करणों की हमें सूचना मिलती है। हमारी समझ में सद्योज्योति शिवाचार्य ने सूक्ष्मस्वायम्भुव की ही वृत्ति लिखी है। नारायणसुत रामकण्ठ ने इनकी रौरवागम-वृत्ति पर विवेक व्याख्या लिखी है और यहाँ सभी आगमों के [४]प्रामाण्य पर विचार किया गया है।

बृहस्पतिपाद

मोक्षकारिका की व्याख्या का यह मंगलश्लोक है—

याभ्यां प्रकाशितं वर्त्म सिद्धान्ते सिद्धभावतः।
गुरूणामयि तौ वन्द्यौ सद्योज्योतिबृहस्पती।।

यहाँ सद्योज्योति शिवाचार्य के साथ बृहस्पतिपाद का स्मरण किया गया है। स्पष्ट है कि ये उग्रज्योति के शिष्य आचार्य सद्योज्योति के समसामयिक शैवाचार्य थे। यह ध्यान देने की बात है कि इस व्याख्या के लेखक नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ हैं, अघोरशिवाचार्य नहीं। भोगकारिका की वृत्ति (पृ. २३२) में अघोरशिव ने इनको अवश्य उद्धृत किया है। सद्योज्योति और बृहस्पतिपाद—ये दोनों आचार्य सिद्धान्तशैवागमों के प्रथम व्याख्याता माने जाते हैं। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने "अभिनवगुप्त." (पृ. १७०-१७१) एवं शैवदर्शनबिन्दु (पृ. ९) में इनका और इनके ग्रन्थों का परिचय दिया है।

बृहस्पतिपाद को शिवतनुशास्त्र के कर्ता के रूप में अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (८.३४५) में आदरपूर्वक स्मरण किया है। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ६६) में इनका एक

---

१. फ्रेंच इंस्टीट्यूट, पाण्डिचेरी संस्करण, सन् १९७७ का उपो. (पृ. ४१-४२) देखिये।

२. लुप्ता. उपो. (पृ. ५,६,३२,६४,७३,७६,८३) तथा अष्ट. उपो. (पृ. २-३) देखिये। पृ. ५ की टिप्पणी में संग्रहकार शब्द से हमारी समझ में सद्योज्योति का ही ग्रहण होना चाहिये।

३. तत्त्वप्रकाश तात्पर्यदीपिकोपेत, चौखम्बा प्राच्यविद्या ग्रन्थावली, काशी-संस्करण, सन् १९७६ की भूमिका (पृ. २१,४४) देखिये।

४. "दर्शितमस्माभिर्विस्तरेण रौरववृत्तिविवेकपरमोक्षनिरासकारिकासु" (न. प. टी., पृ. ९५), "दर्शितमस्माभिः सर्वागमप्रामाण्योपन्यासे रौरववृत्तिविवेके" (म. पा. वि. ३.२०)। रामकण्ठ के इन दोनों वचनों पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है।

श्लोक उद्धृत है। स्वल्प पाठभेद के साथ लुप्ता. द्वितीय भाग (पृ. १२४) में यह संगृहीत है। इनके शिवतनुशास्त्र के वचन भी वहीं (पृ. १६५-१७१) देखे जा सकते हैं। इस तरह से केवल तन्त्रालोक में ही नहीं, अन्यत्र भी इनको एक प्रामाणिक आचार्य के रूप में उद्धृत किया गया हैं। "उक्तं च गुरुभिरित्थं शिवतन्वाद्येषु शासनेष्वेतत्" (तन्त्रा. ८.३४५), "तथा शिवतनुग्रन्थे गुरुपादैर्निरूपितम्" (ई. प्र. वि. वि. , भा.३, पृ. २७१), "श्रीबृहस्पतिपादैः [1]शिवतनावन्वर्थव्याख्या-स्वरूपत्वाच्च" (स्व. उ. १.१-४) इस तरह के वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये शिवतनुशास्त्र के कर्ता हैं। यह ग्रन्थ आर्या छन्द में निबद्ध हुआ, ऐसा इसके उद्धरणों को देखने से स्पष्ट होता है। यहाँ के प्रथम उद्धरण की व्याख्या करते समय जयरथ आदि शब्द से रुरुवार्त्तिक आदि का ग्रहण करते हैं (८.३४५)। स्पष्ट है कि ये आचार्य रुरु(रौरव)वार्त्तिक आदि ग्रन्थों के भी रचयिता हैं।

"तत्र हि वार्त्तिककारस्तच्छब्देन मायां व्याख्यातवान्" (तन्त्रा. वि. ९.२१७) यहाँ जयरथ रौरववार्त्तिककार का स्मरण करते हैं। रौरववार्त्तिक के प्रथम उद्धरण को वे अपनी टीका (८.९२) में उद्धृत करते हैं। "गुरुभिर्गीते श्रीमद्रौरवशासने" (८.१०१) इस वचन की व्याख्या करते हुए वे गुरु शब्द से बृहस्पतिपाद का ग्रहण कर उनके कथन को वहाँ (पृ. ७६) उद्धृत करते हैं। वहीं (८.१८३) व्याख्या में इनके तीसरे वचन को उद्धृत किया गया है। इस प्रकार जयरथ ने रौरववार्त्तिक के तीन वचनों को उद्धृत किया है। ये तीनों उद्धरण अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं। इनको लुप्ता. द्वितीय भाग (पृ. १४९-१५०) में देखा जा सकता है। नारायणकण्ठ के द्वारा मृगेन्द्रवृत्ति में स्मृत 'जन्तोः' इत्यादि श्लोक भी रौरववार्त्तिक का ही होना चाहिये। लुप्ता. के प्रथम और द्वितीय भाग में वार्त्तिककार के नाम से संकलित वचन भी यहीं के हो सकते हैं।

"गुरुभिर्गीतं श्रीमद्रौरवशासने" (८.१०१) तन्त्रालोक का यह वचन विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। "मायातोऽव्यक्तकलयोरिति रौरवसंग्रहे" (तन्त्रा. ९.४०) इस वचन की व्याख्या में जयरथ का कहना है कि बृहत्तन्त्र की अपेक्षा से रौरवसंग्रह का यहाँ उल्लेख किया है। आगे वे कहते हैं कि बृहस्पतिपाद के मत से यहाँ 'तत्' शब्द से माया का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि कहा गया है—"मायातोऽव्यक्तकलयोः कलातो रागविद्ययोः"। आगे (९.२१७) भी जयरथ इसी वचन का स्मरण करते हैं। इन सब वचनों को देखने से हमें ऐसा लगता है

---

१. क्षेमराज के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि शिवतनुशास्त्र में बृहस्पतिपाद ने भैरव पद की अन्वर्थ व्याख्या की है।

कि बृहस्पतिपाद ने रौरववार्त्तिक की तो रचना की ही, साथ में उन्होंने विस्तृत रौरवतन्त्र (बृहत्तन्त्र) को संक्षिप्त कर उसको रौरवसंग्रह नाम भी दे दिया। रौरव-संग्रह बृहस्पतिपाद की कृति है, इसकी अभी परीक्षा अपेक्षित है। रुरुसंग्रह (स्व. उ. १०.४०२) और रौरवसूत्रसंग्रह (ई. प्र. वि. वि., भा. २, पृ. ३०५) के नाम से भी यही ग्रन्थ उद्धृत होना चाहिये। इन वचनों का संग्रह लुप्ता. द्वितीय भाग (पृ. १५०) में किया गया है।

हृदयशिव

डॉ. वी. एस. पाठक (पृ. ३४) महाभारत (सभा.३२.५) के प्रमाण से मत्तमयूर की स्थिति हरियाणा के रोहतक के पास मानते हैं। मत्तमयूर और रणिपद्र मठ की शाखाएँ यहाँ से मध्यप्रदेश, मालवा और दक्षिणभारत में फैलीं। मालवा शाखा के लम्बकर्ण की परम्परा में ईश्वरशिव के शिष्य हृदयशिव ने प्रायश्चित्तसमुच्चय की रचना की। आगे (पृ. ३९-४०) डॉ. पाठक ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के कर्ता ईशानशिव को राजेन्द्र चोल का राजगुरु मानते हैं और इसी सातत्य में कहते हैं कि प्रायश्चित्तसमुच्चय, नैमित्तिकक्रियानुसन्धान और प्रतिष्ठादर्पण नामक ग्रन्थों के कर्ता क्रमश: गोरठिका मठ, धारा के आचार्य हृदयशिव, कर्करोणी शाखा के आचार्य ब्रह्मशम्भु और वैरोचन इनके शिष्य थे। इस स्थापना में सोमशंभुपद्धति को बाधक देख वे इस नाम के दो ग्रन्थों की कल्पना करते हैं।

इस पूरे प्रकरण की परीक्षा अपेक्षित है। महाभारत में मत्तमयूर शब्द का प्रयोग रोहीतक के मत्तमयूर वंश के क्षत्रियों के लिये हुआ है। शैव मठों की मत्तमयूर शाखा से इसका कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता। हमें यह भी जान लेना चाहिये कि ईशानशिव नाम के अनेक आचार्य हुए हैं और ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति के कर्ता परवर्ती आचार्य हैं। इनकी चार भागों में मुद्रित पद्धति में ब्रह्मशम्भु ही नहीं, सोमशम्भुपद्धति (कर्मकाण्डक्रमावली) भी अनेक स्थलों पर उद्धृत है। स्पष्ट है कि ये ईशानशिव उक्त तीनों आचार्यों के गुरु नहीं हैं। वैरोचन शिवाचार्य का प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय नामक ग्रन्थ काठमाण्डू, नेपाल से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। वैरोचन मत्तमयूर वंश के विमलशिव के शिष्य ईशानशिव को अपना गुरु बताते हैं। यहाँ गोपालभूप, धीरनाथ और निर्भय भूपाल की चर्चा के आधार पर ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की नवीं शताब्दी बताया गया है। विमलशिव के विमलावतीतन्त्र की मातृका भी नेपाल में उपलब्ध है। यहाँ उद्धृत ईशानशिव वैरोचन के गुरु तो हैं ही, ये हृदयशिव और ब्रह्मशम्भु के भी गुरु हैं, इसकी परीक्षा अपेक्षित है। सोमशम्भु भी अपने परमेष्ठी गुरु का नाम ईशानशिव बताते

हैं। लुप्ता. उपो. (पृ. २१-२२) में भी यह विषय चर्चित है। शम्भुशिवान्त शैवाचार्यों की नामावली को ऐतिहासिक सही स्वरूप देने के लिये अभी हमें ऊपर उद्धृत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की अथवा इस तरह के ग्रन्थों की मातृकाओं की सूक्ष्म परीक्षा की प्रतीक्षा करनी होगी। हमारी जानकारी में एक व्यक्ति के पास विमलावतीतन्त्र की मातृका है, किन्तु तान्त्रिक रहस्यवाद के मकड़जाल में फँसे अधिकारीगण इस पुण्य-कार्य में बाधक बने हुए हैं।

हरप्रबोध शैवाचार्य

अन्यथा देवपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा ।
अन्यथा तत्पदं शान्तं लोकः पश्यति चान्यथा ।।

महार्थमंजरीपरिमल (पृ. ६) में यह श्लोक उद्धृत है। यशस्तिलकचम्पू (पृ. २५१) में पाठभेद के साथ यह इस तरह से उद्धृत है—

अन्यथा लोकपाण्डित्यं वेदपाण्डित्यमन्यथा ।
अन्यथा तत्पदं शान्तं लोकः क्लिश्यति चान्यथा ।।

वहाँ इसको हरप्रबोध शैवाचार्य का वचन बताया गया है। इस चम्पू में प्रस्तुत स्थल पर दक्षिण और वाम शब्दों का प्रयोग आजकल प्रचलित अर्थ में किया गया है। हरप्रबोध शैवाचार्य के विषय में अभी इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं होता कि ये वाम मत के शैवाचार्य होने चाहिये।

प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय

नेपाल राजकीय पुस्तकालय, काठमाण्डू से इस ग्रन्थ का पहला भाग संवत् २०२३ में तथा दूसरा २०२५ वि. में प्रकाशित हुआ है। प्रसिद्ध शैवाचार्य वैरोचन इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। ग्रन्थ के सम्पादक ने बताया है कि इस ग्रन्थ की रचना विक्रम की नवीं शताब्दी में हुई थी। शैवभूषण में अठारह पद्धतिकारों की नामावली मिलती है। उसमें इनका नाम नहीं है। इस नामावली से इनके परमगुरु विमलशिव का नाम भी नहीं है। ईशानशिव के शिष्य वैरोचन के अन्य ग्रन्थ प्रतिष्ठादर्पण की सूचना म. म. हरप्रसाद शास्त्री की नेपाली ग्रन्थों की सूची से मिलती है। डॉ. वी. एस. पाठक के ग्रन्थ में भी इसका उल्लेख है।

सिद्धान्तशैवागम का यह एक विशिष्ट पद्धति-ग्रन्थ है। शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत सिद्धान्त, गारुड, भैरव, भूत एवं वाम तन्त्रों के १६४ ग्रन्थों की नामावली यहाँ (२.११२-१२८) दी गई है। इनमें से ऊर्ध्व ईशान मुख से

विनिर्गत १० शिवागमों और १८ रुद्रागमों की, जो सिद्धान्तशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, नामावली अनेक स्थलों पर मिलती है। इसी तरह से दक्षिण अघोर मुख से विनिःसृत ६४ भैरवागमों की नामावली तन्त्रालोकाविवेक-धृत श्रीकण्ठीसंहिता में उपलब्ध है, किन्तु गारुड़, भूत और वाम तन्त्रों की नामावली अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। यहाँ (२.११६-१२०) ३२ भैरवागमों की ही नामावली दी गई है। तन्त्रालोकविवेक-धृत श्रीकण्ठीसंहिता में गारुड़ तन्त्रों की संख्या २८ बताई गई है। वहाँ पश्चिम मुख से विनिर्गत भूत तन्त्रों की एवं वाम मुख के तन्त्रों की चर्चा मात्र है। वहाँ उनकी संख्या भी नहीं दी गई है। ६४ भैरव तन्त्रों की नामावली के साथ वहाँ दक्षिण मुख से विनिःसृत केवल २४ तन्त्रों का भी उल्लेख है। इस प्रकार भैरव तन्त्रों की संख्या २४, ३२ और अन्ततः ६४ मानी गई है। २८ गारुड तन्त्रों की, २४ वाम तन्त्रों की और २० भूत तन्त्रों की पूरी नामावली यहाँ देखी जा सकती है। १६४ तन्त्रों की यह पूरी नामावली तन्त्रयात्रा (पृ. १०९-११०) में उद्धृत कर दी गई है और अकारादि क्रम से इनकी तालिका लुप्ता. उपो. (पृ. ९१-९३) में भी देखी जा सकती है।

इस ग्रन्थ की अन्य भी अनेक विशेषताएँ हैं। यहाँ (२. ५-१०) देशभेद से उत्तम, मध्यम, अधम, अन्त्यज और निन्दित गुरुओं का परिगणन किया गया है। वेदों की अपेक्षा शिवागमों की विशेषता का भी यहाँ (२.१५६-१६०) वर्णन मिलता है और नारदमहापुराण (२.२४.१९-२१) में भी इस तरह के वचन उपलब्ध हैं। २१ प्रतिष्ठा तन्त्रों के नाम यहाँ इस प्रकार गिनाये गये हैं—

प्रतिष्ठाकल्पकौमारं किरणं पिङ्गलामतम्।
देव्यामतं मयं नन्दिं प्रतिष्ठापारमेश्वरम्।।
भास्करं लिङ्गकल्पं च विद्या पुराणवाठुलम्।
शक्राख्यं वामदेवं च द्विधा पैतामहं तथा।।
बाणगर्गमतं याम्यं हंसाख्यं वैश्वकर्मकम्।
प्रतिष्ठातन्त्राण्येतानि शिवोक्तान्येकविंशतिः।।
(२.१७९-१८१)

अक्षोभ्या आदि ६४ योगिनियों के नाम और ध्यान यहाँ (६.३२७-४००) अतिविस्तार से वर्णित हैं। ६४ योगिनियों की यह नामावली प्राचीनतम लगती है और अष्टाष्टका पूजन के अवसर पर त्रिपुरा सम्प्रदाय में इन्हीं की आराधना विहित है। विद्यानन्द की ज्ञानदीपविमर्शिनी नाम की त्रिपुरापद्धति में और अग्निपुराण में भी

यही नामावली उपलब्ध है। इन तीनों नामावलियों को उसी पद्धति (पृ. १५५-१५८) में देखा जा सकता है।

इस ग्रन्थ को विधियों में विभक्त किया गया है। ३१वीं विधि तक की पुष्पिकाओं में ग्रन्थ का नाम लक्षणसमुच्चय मिलता है। प्रस्तुत नाम केवल अन्तिम ३२वीं विधि की पुष्पिका में है। विभिन्न सूचियों में इसी नाम से इसका विवरण मिलता है। ग्रन्थ के अन्त (३२.६८-६९) में ग्रन्थकार ने प्रतिष्ठापद्धतिकार सुन्दर-कण्ठाचार्य का नाम दिया है। गोपालभूप और धीरनाथ यहाँ चर्चित हैं। मत्तमयूर वंश के विमलशिव को निर्भय भूपति का गुरु बताकर ग्रन्थकार ने ईशानशिव को विमलशिव का शिष्य और अपने (वैरोचन) को ईशानशिव का शिष्य कहा है। इसी विवरण के आधार पर ग्रन्थ के सम्पादक ने द्वितीय भाग की प्रस्तावना में इनके समय आदि पर विचार किया है। विमलशिव का विमलावती तन्त्र उपलब्ध है और वैरोचन के गुरु ईशानशिव पद्धतिकार ईशानशिव से भिन्न हैं। ये देवीयामल के व्याख्याता ईशानशिव हो सकते हैं। ईशानशिव का विवरण भी देखिये।

अवधूतसिद्ध पाद

अवधूत सिद्ध के नाम से अनेक वचन विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। अब इनके ग्रन्थ भक्तिस्तोत्र का सुन्दर संस्करण भाषानुवाद तथा विशेष टिप्पणियों के साथ, जिनमें पौराणिक आख्यानों का स्थलनिदेश भी किया गया है, लखनऊ की अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् से १९७८ ई. में प्रकाशित हो चुका है। इनके नाम से उद्धृत सभी वचन वहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। इसमें वसन्ततिलका छन्द में निबद्ध मात्र ६५ श्लोक हैं। प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में उपलब्ध सारी जानकारी दी गई है। यहाँ के श्लोक १०वीं-११वीं शताब्दी के अनेक आचार्यों के द्वारा आदरपूर्वक उद्धृत हैं। अतः इनकी स्थिति इनसे पहले माननी चाहिये। इनके काल के विषय में अभी इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ में पौराणिक कथाओं के आधार पर भगवान् शिव की स्तुति की गई है और एक ही जन्म में मुक्ति जैसे शैवागम के सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया गया है।

अनेक स्थलों पर अवधूतसिद्ध के नाम से अनुष्टुप् श्लोक भी मिलते हैं और सद्योज्योति शिवाचार्य कृत परमोक्षनिरासकारिका की रामकण्ठ-कृत वृत्ति में इनके व्यासाक्षिणी नाम के ग्रन्थ की सूचना मिलती है। यहाँ परमशिव एवं सिद्धों के स्वरूप पर विचार किया गया है। इस नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई व्याख्या-ग्रन्थ है। इनसे हम अनुमान लगा सकते हैं कि इनके श्लोकमय और

व्याख्यामय दो ग्रन्थ और होने चाहिये। अवधूत सिद्धपाद के नाम से उद्धृत होने से तत्कालीन समाज में इनकी सादर प्रतिष्ठा का अनुमान लगा सकते हैं। विशेष जानकारी के लिये वहाँ की प्रस्तावना (पृ. १-१२) देखनी चाहिये। लुप्ता. उपो. (पृ. ६९) भी देखिये।

रामकण्ठ-चतुष्टयी

कश्मीर-मण्डल में रामकण्ठ नाम के चार आचार्य प्रसिद्ध हैं। स्पन्दशास्त्र के व्याख्याता और स्तोत्रकार राजानक रामकण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा नारायण-कण्ठ के परमगुरु एवं पुत्र भट्ट रामकण्ठ के नाम से। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इन सबका परिचय दिया है। हमारी समझ में उनका यह विवरण पुराना पड़ गया है। [1]उत्पलदेव के शिष्य राजानक रामकण्ठ की स्पन्दकारिकाविवृति[2] कश्मीर ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें इन्होंने अपने स्तोत्र की भी चर्चा की है (पृ. १६४)। इसकी सूचना [3]अन्य प्रमाणों से भी मिलती है और उन्हीं के आधार पर लुप्ता. में इसके तीन श्लोक संगृहीत हैं। क्षेमराज[4] का कहना है कि उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली को श्रीराम और आदित्यराज ने स्तोत्र का स्वरूप दिया। क्षेमराज[5] के वचन से ही यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने स्तवचिन्तामणि पर भी विवृति की रचना की थी। डॉ. पाण्डेय ने मतंगतन्त्र की वृत्ति के और भगवद्गीता की सर्वतोभद्र नामक व्याख्या के लेखक के रूप में भी इनको प्रस्तुत किया है। यह उचित नहीं लगता। मतंगतन्त्र की वृत्ति अब प्रकाशित हो चुकी है। उसके रचयिता नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ हैं।

भगवद्गीता के व्याख्याकार ने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय इस तरह से दिया है—

---

१. "श्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो राजानकश्रीरामकण्ठस्य" (पृ. १६८) स्पन्दकारिकाविवृति के पुष्पिका-वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है।

२. स्पन्दविवृति (पृ. ४०) में कक्ष्यास्तोत्र उद्धृत है, अतः शिवसूत्रवार्त्तिककार भास्कर के बाद इनकी स्थिति माननी पड़ेगी।

३. योगराज ने परमार्थसार की टीका (पृ. १४५) में इनके स्तोत्र को उद्धृत किया है।

४. "श्रीराम आदित्यराजश्च पृथक् पृथक् स्तोत्रशय्यायां न्यवेशयत्" (शिवस्तोत्रावलीविवृति, पृ. २)।

५. "श्रीरामेण कृतात्र सद्विवृति" (स्तवचिन्तामणिविवृति, पृ. १३०)।

यो नारायण इत्यभूच्छ्रुतनिधिः श्रीकान्यकुब्जे द्विज-
स्तद्वंशे स्वगुणप्रकर्षखचितो [1]मुक्ताकणाख्योऽभवत् ।
तस्यैषा सदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन-
श्लाघ्यत्वात् सफलश्रमेण भगवद्गीतापदार्थप्रभा ।।

ऊपर उद्धृत तीनों रामकण्ठों में से किसी ने अपना इस तरह का परिचय नहीं दिया है। अतः उक्त तीनों रामकण्ठों से इनकी स्थिति भिन्न ही मानी जानी चाहिये। ग्रन्थ के अध्ययन से विशेष स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

नारायणकण्ठ के परमगुरु और विद्याकण्ठ के गुरु रामकण्ठ रत्नत्रय के रचयिता [2]श्रीकण्ठ के अनुसार सद्वृत्ति के रचयिता हैं। सद्योज्योति शिवाचार्य ने रौरवागम पर सुवृत्ति लिखी थी। रामकण्ठ ने अपनी सद्वृत्ति किस ग्रन्थ पर लिखी? इस विषय पर अभी तक कोई जानकारी नहीं मिल सकी है। इन सबके समय के विषय में हमें पुनः विचार करना पड़ेगा।

आफ्रेख्ट (भा.१, पृ. ५०७) की बृहत्सूची में रामकण्ठ के नाम से उद्धृत ग्रन्थों की समीक्षा हम लुप्ता. उपो. (पृ. ६२-६३) में कर चुके हैं। वहाँ इन चारों रामकण्ठों के ग्रन्थों को एक साथ मिला दिया गया है। नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ कृत ग्रन्थों का सही परिचय मान्यवर प्रो. एन. आर. भट्ट ने दिया है। तदनुसार १. नादकारिका, २. सद्योज्योति-कृत मोक्षकारिका और ३. परमोक्षनिरासकारिका की वृत्तियाँ, ४. सद्योज्योतिकृत नरेश्वरपरीक्षा पर प्रकाशव्याख्या, ५. जातिनिर्णयपूर्व-कालप्रवेशविधि, ६. मतंगपारमेश्वरवृत्ति, ७. सार्धत्रिशतिकालोत्तर-वृत्ति—ये सभी ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुके हैं। ८. किरणागम-विद्यापाद-वृत्ति का अभी प्रकाशन हो रहा है। इसका प्रथम छः पटल का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। मतंग, सार्धत्रिशती और किरणवृत्ति का प्रकाशन फ्रेंच इंस्टीट्यूट, पांडिचेरी से हुआ है या हो रहा है। इनके ९. व्योमव्यापिस्तव की मातृका टीका के साथ वहीं उपलब्ध है। सद्योज्योतिकृत १०. मन्त्रवार्तिक की टीका, ११. आगमविवेक, १२. सद्योज्योति-कृत रौरववृत्ति की विवेक टीका—इन ग्रन्थों की सूचना भी विविध स्रोतों से मिलती है।

---

१. "मुक्ताकणश्च काश्मीरराजावन्तिवर्मणो राजसभायामेकः कविरासीदिति सुप्रसिद्धम्" (शैवदर्शन-बिन्दु, पृ. १२)।

२. "श्रीरामकण्ठसद्वृत्तिं मयैवमनुकुर्वता" (श्लो. ३२२) रत्नत्रयपरीक्षा का यह अन्तिम श्लोक है।

किरणवृत्ति के सम्पादक [1]डॉ. डी. गोडाल इसमें सन्देह प्रकट करते हैं कि व्योमव्यापिस्तव इनकी रचना है। इनका यह भी कहना है कि आगमविवेक और सर्वागमप्रामाण्योपन्यास अभिन्न ग्रन्थ हो सकते हैं। लुप्ता. उपो. (पृ. ७५) में हमने भी इसकी संभावना व्यक्त की थी। सर्वागमप्रामाण्योपन्यास की चर्चा रौरववृत्ति-विवेक के प्रसंग में आने से इसका यह भी अर्थ हो सकता है—"सभी आगमों की प्रामाणिकता का उपन्यास करते समय"। इस स्थिति में इस नाम के ग्रन्थ की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रह जायगी। मुद्राप्रकरण की भी यही स्थिति मानी जानी चाहिये कि रौरवागमवृत्तिविवेक में इस विषय पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला था। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके स्वायम्भुवोद्योत की सूचना भी हम वहीं (पृ. ६३) दे चुके हैं। डॉ. गोडाल, जातिनिर्णयपूर्वकालप्रवेशविधि इनकी रचना है, इस पर भी सन्देह प्रकट करते हैं और इनकी पिंगलामतवृत्ति की सूचना देकर कहते हैं कि यह सिद्धान्तशास्त्र का ग्रन्थ नहीं हो सकता। अभी ऊपर चर्चित २१ प्रतिष्ठातन्त्रों में पिंगलामत भी परिगणित है। अतः हमें इसकी गणना सिद्धान्तशास्त्र में ही करनी होगी। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची (स्टडीज., पृ. १०५-१०९) ने इसकी मातृका का परिचय दिया है। इसकी अन्य मातृकाएँ भी नेपाल में उपलब्ध हैं।

लुप्ता. उपो. (पृ. ६३,२१९) में हमने कहा था कि क्षेमराज ने रामकण्ठ की नादकारिका के १६वें श्लोक को नेत्रतन्त्रोद्योत (२१.५८) में उद्धृत किया है। किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि वह श्लोक रामकण्ठ का नहीं, सद्योज्योति शिवाचार्य का है। अतः इस प्रमाण से तो क्षेमराज की अपेक्षा रामकण्ठ की पूर्ववर्तिता स्थापित नहीं हो सकती, किन्तु शक्तिपात के प्रसंग में क्षेमराज ने किरणागम के व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है। रामकण्ठ की किरणागम-वृत्ति का कुछ अंश प्रकाशित हो गया है, अतः इस बात की परीक्षा होनी चाहिये कि क्या क्षेमराज ने यहाँ रामकण्ठ की वृत्ति का उल्लेख किया है?

डॉ. डी. गोडाल ने नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ की स्थिति को अभिनवगुप्त से भी पहले ले जाने का प्रयत्न किया है। इसके लिये अभी हमें पर्याप्त विचार करना पड़ेगा। यह भी हो सकता है कि अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत जिन वचनों को रामकण्ठ का माना जा रहा है, वे पूर्ववर्ती किसी अन्य आचार्य के हों और उनको रामकण्ठ ने भी उद्धृत किया हो। इतना स्पष्ट है कि ये रामकण्ठ अघोरशिव के गुरु नहीं हैं। अघोरशिव चोलदेश के निवासी थे और इन्होंने अपने गुरु का नाम

---

१. फ्रेंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी से रामकण्ठ की वृत्ति के साथ किरणागम विद्यापाद के १-६ प्रकरणों का प्रकाशन अभी सन् १९९८ में हुआ है।

सर्वात्मशिव बताया है। स्वयं इनकी पद्धति के प्रमाण से स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ की समाप्ति ११५८ ई. में हुई है। सर्वात्मशम्भु की सिद्धान्तप्रकाशिका और त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन हो चुका हैं। अभी इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता है कि सिद्धान्त-शैवशास्त्र की परम्परा त्रिलोचन शिवाचार्य से अघोरशिव तक किस प्रकार पहुँची।

नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ की नादकारिका एक विशिष्ट रचना है। इसमें नादतत्त्व की श्रेष्ठता (शिवात्मकता) स्थापित की गई है। ग्रन्थ के अन्त में स्वयं उन्होंने कहा है कि २५ आर्या वृत्तों में इसकी रचना की गई है। वस्तुत: इसमें २७ वृत्त हैं। प्रथम संस्करण के १५वीं कारिका की व्याख्या में मूल ग्रन्थ की तीन पंक्तियाँ रख दी गई थी, इसकी सूचना स्वयं रामकण्ठ द्वारा उनकी सार्धत्रिशतिकालोत्तर-वृत्ति के प्रमाण से मिलती है। वहाँ "नादाख्यम्" (१.५) इस श्लोक की व्याख्या में पूरी नादकारिका, अन्तिम श्लोक को छोड़कर, आनुपूर्वी से उद्धृत है। उमापति शिवाचार्य ने शतरत्नसंग्रह की टीका (पृ. ४०) में यहाँ की इन तीन पंक्तियों को नादकारिका के नाम से ही उद्धृत किया है। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर नूतन संस्करण में इनका मूल ग्रन्थ के अंग के रूप में समावेश किया गया है। यहाँ का २४वां श्लोक उक्त सा. का. वृ. में उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार यहाँ के अन्तिम श्लोक के साथ इसको भी हटा देने पर इस ग्रन्थ में पचीस वृत्त ही रह जाते हैं। इनके विषय में आगे (पृ. ३१-३२) भी रामकण्ठ शीर्षक से सूचना दी गई है।

श्रीकण्ठ (रत्नत्रयकार)

ये श्रीकण्ठ अष्टप्रकरण में प्रकाशित रत्नत्रय के कर्ता हैं। नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ[1] मतंगपारमेश्वर विद्यापाद (पृ. ६१०) की वृत्ति में श्रीकण्ठ को स्मरण करते हैं, अत: ये श्रीकण्ठ रामकण्ठ से प्राचीन हैं। रामकण्ठ का ही कहना है[2] (पृ. २०२) कि रामकण्ठ के शिष्य श्रीकण्ठ ने सद्वृत्ति का अनुसरण कर अपने ग्रन्थ रत्नत्रय की रचना की थी। इस विषय पर लिखते हुए प्रो. एन. आर. भट्ट का कहना है कि मृगेन्द्रागम-वृत्ति के रचयिता भट्ट नारायणकण्ठ अपना परिचय विद्याकण्ठ के पुत्र तथा शंकरकण्ठ के [3]प्रपौत्र के रूप में देते हैं और अपने पिता विद्याकण्ठ को रामकण्ठ का शिष्य बताते हैं। मृगेन्द्रवृत्ति के प्रारंभ में और विद्यापाद-वृत्ति के अन्तिम पद्य में उन्होंने यह कहा है। विद्याकण्ठ के गुरु प्रथम

---

१. यह उद्धरण परिशिष्ट (पृ. ६१०) में उपलब्ध है।

२. श्रीरामकण्ठसद्वृत्तिं मयैवमनुकुर्वता। रत्नत्रयपरीक्षार्थ: संक्षेपेण प्रकाशित:।। (श्लो. ३२२)

३. वहाँ के श्लोक को देखने से यह ज्ञात होता है कि ये शंकरकण्ठ के पौत्र हैं, प्रपौत्र नहीं।

रामकण्ठ भगवान् श्रीकण्ठनाथ के समान महान् शैवाचार्य थे, इसकी भी सूचना नारायणकण्ठ वहीं देते हैं। रामकण्ठ प्रथम ने ही सद्वृत्ति की रचना की। उसीका अनुसरण कर उनके शिष्य श्रीकण्ठ ने रत्नत्रय की रचना की, इसकी जानकारी श्रीकण्ठ के ग्रन्थ[१] से ही मिलती है। यह सद्वृत्ति किसी आगम ग्रन्थ की होनी चाहिये। जैसे रौरवागम की [२]सुवृत्ति का अनुसरण कर तत्त्वसंग्रह की तथा स्वायम्भुवागम की वृत्ति के आधार पर तत्त्वत्रयनिर्णय की रचना [३]सद्योज्योति शिवाचार्य ने की, उसी तरह से सद्वृत्ति के आधार पर रत्नत्रय की रचना की गई। अन्तर इतना ही है कि उक्त दोनों वृत्तियों और ग्रन्थों के रचयिता सद्योज्योति शिवाचार्य ही हैं, जब कि सद्वृत्ति की रचना रामकण्ठ प्रथम ने और रत्नत्रय की रचना श्रीकण्ठ ने की[४]।

नारायणकण्ठ

मृगेन्द्रागम की वृत्ति के रचयिता नारायणकण्ठ के विषय में रत्नत्रयकार श्रीकण्ठ और इनके पुत्र रामकण्ठ द्वितीय के परिचय के प्रसंग में बहुत कुछ बताया जा चुका है। नारायणकण्ठ अपनी वृत्ति (विद्या., पृ. ३४) में उत्पलदेव-कृत ईश्वरसिद्धि के ५५वें श्लोक को उद्धृत करते हैं। उत्पलदेव अभिनवगुप्त के परमगुरु हैं, इसकी सूचना तन्त्रालोक के—"उवाचोत्पलदेवश्च श्रीमानस्मद्गुरोर्गुरुः" (१२.२५) इस वचन से मिलती है।

भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली क्षेमराज-कृत टीका के साथ चौखंबा संस्कृत सिरीज में मुद्रित हो चुकी है। नारायणकण्ठ रचित स्तोत्रावली की सूचना हमें उन्हींके ग्रन्थ मृगेन्द्रागम-वृत्ति के क्रियापाद (पृ. २०४) से मिलती है। यह आज उपलब्ध नहीं है। इसका एक श्लोक लुप्ता. के द्वितीय भाग में संगृहीत है। मृगेन्द्रागम के वृत्तिकार नारायणकण्ठ मतंगपारमेश्वर आदि नाना ग्रन्थों के व्याख्याता भट्ट रामकण्ठ के पिता हैं। स्वच्छन्दोद्योत (४.२०८) में क्षेमराज ने इसका स्मरण किया है। अतः ये उनसे प्राचीन हैं। इन्होंने सद्योज्योति शिवाचार्य की कृति तत्त्वसंग्रह पर शरन्निशा नाम की बृहत् टीका का निर्माण किया था, इसकी सूचना

---

१. रामकण्ठकृतालोकनिर्मलीकृतचेतसा। रत्नत्रयपरीक्षेयं कृता श्रीकण्ठसूरिणा।। (श्लो. ३२१)

२. इत्यवदत् तत्त्वानि तु सद्योज्योतिः सुवृत्तिकृत्। (अ. प्र., पृ. १३५)

३. उक्तः समासतोऽयं तत्त्वत्रयनिर्णयश्च वृत्तिकृता। स्वायम्भुवस्य जडतामपनेतुमनादिकां पुंभ्यः।। (पृ. १४५)।

४. मतंगपारमेश्वर विद्यापाद के पूर्वोक्त संस्करण का उपो. (पृ. ३९-४०) द्रष्टव्य।

अघोरशिव की इसी ग्रन्थ की वृत्ति से मिलती है (पृ. १)। शतरत्नसंग्रह (पृ. ५८) में भी यह उद्धृत है। नारायणकण्ठ के द्वारा रचित स्वायम्भुववृत्ति-टिप्पण उन्हीं के पुत्र भट्ट रामकण्ठ की नरेश्वरपरीक्षा की टीका (पृ. २१६) में स्मृत है। ये नारायणकण्ठ [1]कर्णिकाकार के रूप में स्तवचिन्तामणि के कर्ता भट्टनारायण को उद्धृत करते हैं। अत: इनसे परवर्ती हैं। स्पष्टत: ये क्षेमराज के पूर्ववर्ती तथा उत्पल भट्ट तथा भट्टनारायण से परवर्ती आचार्य माने जायेंगे।

रामकण्ठ

'रामकण्ठचतुष्टयी' (पृ. २६०) शीर्षक में इनके विषय में भी लिखा गया है। इनका वहाँ चतुर्थ स्थान है। अष्टप्रकरण के व्याख्याकारों में रामकण्ठ कुमारदेव और अघोरशिव से प्राचीन हैं। अष्टप्रकरण-स्थित नादकारिका की रचना उन्होंने ही की है। रामकण्ठ और उनके रचित ग्रन्थों का परिचय पं. एन. आर. भट्ट महोदय ने म. पा. विद्यापाद के उपो. (पृ. ४०-४१) में दिया है। लुप्ता. उपो. (पृ. ६२-६३) में भी रामकण्ठ नाम वाले तीन आचार्यों का परिचय दिया गया है।

अष्टप्रकरण-स्थित मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका की व्याख्या चतुर्थ रामकण्ठ ने लिखी है। अनेक स्थलों पर इन्होंने गंभीर शास्त्रीय विचार प्रस्तुत किये हैं। यहाँ इनकी भाषा अतिप्रौढ दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करती है। मोक्षकारिका की व्याख्या के प्रारंभ में इन्होंने सद्योज्योति और बृहस्पति को अत्यन्त आदर दिया है। बृहस्पतिपाद [2]शिवतनुशास्त्र, रौरववार्त्तिक और रौरवसूत्रसंग्रह के कर्ता हैं। विद्याधिपति, रौरववार्त्तिक आदि के अतिरिक्त रामकण्ठ ने यहाँ स्वयं अपने मन्त्रवार्त्तिकटीका, सर्वागमप्रामाण्य और आगमविवेक नामक ग्रन्थों को उद्धृत किया है। "तासु वर्णाश्रमाचारान्" (मो. का., श्लो. १४६) इस श्लोक की व्याख्या में स्मृत पुराण, इतिहास, महाभारत, [3]सुवर्णाक्ष, कार्तवीर्यस्मृति जैसे ग्रन्थों को

---

१. स्तवचिन्तामणि के ४७ वें श्लोक को इन्होंने मृगेन्द्रवृत्ति (क्रिया, पृ. २०४) में "तत्रभवान् कर्णिकाकार:" कह कर उद्धृत किया है। तन्त्रालोकविवेक (९.३०५) में ज्योत्स्नाकार एवं लीलाकार (तन्त्रा. वि. ८.१०८) स्मृत हैं। कर्णिकाकार के समान ये सभी आचार्य इन नामों से प्रसिद्ध व्याख्या-ग्रन्थों के रचयिता होने चाहिये। उस समय ये इन नामों से प्रसिद्ध रहे होंगे। आज यह जान पाना कठिन है कि किन ग्रन्थों पर ये टीकाएँ लिखी गई थीं।

२. लुप्ता. उपो. (पृ. ५१,६३) द्रष्टव्य।

३. सुवर्णाक्ष और कार्तवीर्यस्मृति का विवरण बृहत्सूचियों में नहीं मिलता।

अघोरशिव ने [1]आनुपूर्वी से उद्धृत किया है। हृदयप्रमाण ग्रन्थ की सूचना दी जा [2]चुकी है। सर्वागमप्रामाण्य (पृ. २७५) संभवतः स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर इनकी रौरववृत्तिविवेक का ही अंश हो सकता है, इसकी सूचना—"दर्शितमस्माभिः सर्वागमप्रामाण्योपन्यासे रौरववृत्तिविवेके" (३.२०) इनके ही मतंगपारमेश्वरवृत्ति के इस वाक्य से मिलती है। इसीलिये श्री एन.आर. भट्ट महोदय ने रामकण्ठ के ग्रन्थों में इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है। प. मो. का. की वृत्ति में रामकण्ठ ने "गुरुणा स्वायम्भुवादौ" (पृ. २८७) ऐसा लिखा है। इसका अभिप्राय स्वायम्भुववृत्ति से लेना चाहिये।

रामकण्ठ मतंगपारमेश्वर विद्यापाद की वृत्ति में नरेश्वरपरीक्षाप्रकाश का, मोक्षकारिकावृत्ति में रौरववृत्तिविवेक और सर्वागमप्रामाण्योपन्यास का तथा मतंग-पारमेश्वर योगपाद की वृत्ति में अपनी किरणवृत्ति का स्मरण करते हैं। परमोक्षनिरासकारिका रौरववृत्ति का ही भाग है, ऐसा उन्हीं के कथन से ज्ञात होता है। मोक्षकारिकावृत्ति की भी यही स्थिति है, किन्तु उन्होंने परमोक्षनिरासकारिका की व्याख्या पहले और मोक्षकारिका की व्याख्या बाद में लिखी (पृ. २५०)। मोक्षकारिका की वृत्ति से पहले मन्त्रवार्त्तिकटीका (पृ. २६८) और परमोक्षनिरासकारिका से पहले आगमविवेक (पृ. २९८) की रचना की थी। नरेश्वरपरीक्षाप्रकाश की भी रचना उन्होंने प. मो. का. की रचना से [3]पहले ही की। सार्धत्रिशतिकालोत्तरवृत्ति के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती, किन्तु सम्पूर्ण नादकारिका यहाँ उद्धृत है, अतः नादकारिका के बाद ही इसकी रचना हुई होगी। इस क्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मतंगपारमेश्वर की वृत्ति इन्होंने अपनी परिपक्व अवस्था में लिखी।

भोजदेव

नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ और भोजदेव में कौन प्राचीन है, इसका निश्चय अभी हो नहीं पाया है। तत्त्वप्रकाश के रचयिता भोजदेव के विषय में भी यह निर्णय करना होगा कि वे कौन से भोजदेव हैं। क्षेमराज[4] नारायणकण्ठ को

---

१. भारत में प्राचीन काल से ही यह परम्परा चली आ रही है कि अन्य आचार्यों के वचन बिना संकोच के उद्धृत किये जाते रहे हैं। सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में अघोरशिव के वचन भी इसी तरह से उद्धृत हैं। आजकल के कापीराइट में एकदम विपरीत स्थिति है।

२. पाशुपत प्रकरण, पृ. १८ तथा बृहदितिहास. (ख.११, पृ. १२४) भी देखिये।

३. "दर्शितमस्माभिर्विस्तरेण रौरववृत्तिविवेकपरमोक्षनिरासकारिकायाम्" (न. प. टी., पृ. ९५)।

४. "मृगेन्द्रवाक्यटीकायाम्···यद्भट्टनारायणकण्ठेनोक्तम्" (स्व.त.उ., ४.२०८)।

स्मरण करते हैं, यह निश्चित है। क्षेमराज रामकण्ठ को भी उद्धृत करते हैं, ऐसा हमने [१]कहा था। यह सही नहीं है, क्योंकि नेत्रतन्त्रोद्योत (१.४३, २१.५८) में दो बार उद्धृत "एक: शिवोऽविकारी" यह वचन सद्योज्योति के तत्त्वसंग्रह (श्लो. ४४) का है, नादकारिका का नहीं। नादकारिका का पाठ "अविकार्यत्रात्मोक्त:" (श्लो. १९) है। इससे भी स्पष्ट प्रमाण यह है कि स्वच्छन्दोद्योत (११.५७) में क्षेमराज ने सद्योज्योति का नाम लेकर ही इस वचन को उद्धृत किया है। स्पष्ट है कि इस कारिका के आधार पर रामकण्ठ को क्षेमराज का पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता। इनके पिता नारायणकण्ठ को ये उद्धृत करते हैं। इससे इनको क्षेमराज का समकालीन माना जा सकता है। क्षेमराज और भोजदेव के विषय में इतिहासज्ञों का कहना है कि इनकी स्थिति ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में निश्चित रूप में थी। काल की दृष्टि से कोई भी पहले या बाद में हुआ हो, किन्तु इतना निश्चित है कि सद्योज्योति, श्रीकण्ठ, रामकण्ठ आदि की परम्परा कश्मीर से संबद्ध थी, जब कि भोजदेव की परम्परा मध्यदेश से।

यह सही है कि "नि:शेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश:" (तन्त्रा. ३७.३८) अभिनवगुप्त की इस उक्ति के अनुसार कश्मीर की परम्परा भी मध्यदेश से ही फैली थी, तो भी इनमें परस्पर देश-काल प्रयुक्त भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत आगमों की प्रवृत्ति की हमने [२]अन्यत्र चर्चा की है। द्वैतागमों के प्रचारक आर्मदक मठ से विनिर्गत सदाशिवाचार्य[३] लाट देश में जाकर बस गये थे, इसकी सूचना सातवीं शताब्दी के शिलालेख से मिलती है। सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी पर्यन्त वर्तमान मध्यदेशीय शैवाचार्यों की स्थिति प्रथमत: मालवा, [४]गुजरात आदि में मानी जाती है। यहीं से ये उत्तर में कश्मीर तथा दक्षिण में [५]कर्णाटक, तमिलनाडु आदि में गये। भोजदेव के गुरु के विषय में अघोरशिव की पद्धति में निम्न दो श्लोक उपलब्ध होते हैं—

---

१. लुप्ता. उपो. के ६३ एवं २१९ पृष्ठ देखिये।

२. इसी प्रकरण का पृ. २३८ देखिये।

३. लुप्ता. उपो., पृ. २०९ की ५वीं टिप्पणी देखिये।

४. "मध्यदेशकुरुक्षेत्रलाटोज्जयिनिसंभवा:। अन्तर्वेदिप्रतिष्ठाना आवन्त्याश्च गुरूत्तमा:।।" गुरुदेवपद्धति में उद्धृत योगशिवपद्धति के इस वचन में उत्तम गुरुओं की सूचना है।

५. आगममीमांसा (पृ. ३६-३७) एवं वहाँ की टिप्पणी देखिये।

ततोऽभूल्लाट उत्तुङ्गशिवो विन्ध्ये [१]यतीश्वरः ।
कल्याणनगरीवासी गुरुः पद्धतिकृत् सुधीः ।।
सर्वविद्याधिपो यस्य कनीयानार्यदेशजः ।
सर्वागमार्थनिर्णेतुः श्रीभोजनृपतेर्गुरुः ।।

अघोरशिव यहाँ लाटदेशीय यतीश्वर उत्तुंगशिव को विन्ध्यप्रदेश की कल्याणनगरी का निवासी और पद्धतिकार बताया है। आर्यदेश में उत्पन्न इनके छोटे भाई राजा भोजदेव के गुरु थे। इनके नाम के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। अघोरशिव की यह पद्धति हमारे सामने नहीं है, अतः इसके विषय में हम कुछ कह नहीं सकते। द्वैतवादी शैवदर्शन के प्रचारक, आमर्दक मठ से विनिर्गत लाट देश में बस गये सदाशिवाचार्य का उल्लेख हमने इस अभिप्राय से किया है कि उत्तुंग शिवाचार्य इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे। लाट देश में प्रादुर्भूत लकुलीश पाशुपत मत के साथ इन सिद्धान्तशैवचार्यों का संबन्ध कैसा था, यह ज्ञात नहीं हो पाया है, किन्तु शैवमत के अनुयायियों के लिये यह एक पवित्रतम स्थान था। मध्यदेश के आचार्य वहाँ गये होंगे और पुनः वे विन्ध्यप्रदेश, मालवा आदि में आये होंगे। उत्तुंगशिव ऐसे ही आचार्य हो सकते हैं। उत्तुंगशिव धाराधिपति भोजदेव के गुरु नहीं थे, किन्तु उनके छोटे भाई राजगुरु थे, इसकी सूचना डॉ. [२]कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी भी देते हैं। [३]कल्याण नगरी की स्थिति वे लाट देश में मानते हैं। "विन्ध्ये यतीश्वरः" यह उत्तुंगशिव का और "आर्यदेशजः" यह उनके छोटे भाई का विशेषण हैं। इनको देखते हुए ऐसा लगता है कि कल्याणनगरी विन्ध्यप्रदेश के आसपास ही कहीं थी। हिमवान् और विन्ध्यपर्वत के मध्यवर्ती प्रदेश को ही आर्यावर्त माना जाता है, [४]मनुस्मृति इसमें प्रमाण है। इस तरह से स्पष्ट है कि आर्यदेश के विन्ध्यप्रदेश की कल्याणनगरी के निवासी यतीश्वर उत्तुंगशिव के छोटे भाई भोजदेव के राजगुरु थे। उत्तुंगशिव लाट देश से आकर यहाँ बस गये थे। इससे स्पष्ट है कि रामकण्ठ और भोजदेव की परम्परा एक दूसरे से भिन्न थी। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में भी इसकी स्पष्ट झलक देखने को मिलती है।

---

१. 'व्रतीश्वरः' पाठान्तर मिलता है।

२. शैवदर्शनबिन्दु (पृ. ११-१२) द्रष्टव्य।

३. कल्याणनगरी की स्थिति मध्यदेश में मानी जाती है।

४. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।। (२.२१)।

कर्मकाण्डक्रमावली

सोमशम्भु की कर्मकाण्डक्रमावली के अब तक तीन संस्करण हो चुके हैं। पहला संस्करण देवकोट्टै से सन् १९३१ में, दूसरा कश्मीर ग्रन्थावली में सन् १९४७ में और तीसरा पाण्डिचेरी फ्रेंच शोध संस्थान से तीन भागों (सन् १९६३,६८,७७) में हुआ। इन सभी संस्करणों में लुप्ता. (भा. १, पृ. ११) में संगृहीत वचन उपलब्ध नहीं होता। संभव है, इस नाम का यह कोई अन्य ग्रन्थ हो।

गुरुदेवपद्धतिकार ईशानशिव सोमशम्भु को अनेक स्थलों (भा. ३, पृ., ९७,२०७,२१४,२१८,३२०) पर उद्धृत करते हैं। सोमशम्भु ने ११३० वि. (ई. १०७३) में इस ग्रन्थ को पूरा किया था। ये अपना नाम सोमशिव बताते हैं। ये गार्ग्य कुल के थे और एक स्थान (पृ. ४१) पर अपने को गोवीलवंश्यपाद का शिष्य कहते हैं। संभव है यहाँ मध्यदेशीय गोलकीमठ की चर्चा हो। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक (१८१४) में इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा इस तरह से बताई है—ईशान, विमलेश, सशिव, सोमशम्भु। यहाँ प्रदर्शित ईशान स्पष्ट ही गुरुपद्धतिकार से भिन्न हैं। तीसरा नाम अस्पष्ट है। "तस्यापि शिष्यः सशिवाभिधानः" (पृ. १८७) यहाँ 'खशिव' पाठ माना जाय, तो उससे व्योमशिव नाम की प्रतीति हो सकती है। ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. १२४) में विद्यानन्द ने और ऋजुविमर्शिनी में शिवानन्द ने सोमशम्भु के इस ग्रन्थ को उद्धृत किया है। सोमशम्भु का कहना है कि दमनक विधि का वर्णन यद्यपि स्वच्छन्दभैरव तन्त्र में हुआ है, तो भी सिद्धान्तशास्त्र में शैवशास्त्र की समानतन्त्रता के आधार पर इसकी विधि को मान्यता दी जाती है।

स्वच्छन्दभैरवे तन्त्रे यद्यपीदमुदाहृतम्।
तथापीह समानत्वात् सिद्धान्तेऽप्युपयुज्यते ।।५०१।।

शिवानन्द ने भी ऋजुविमर्शिनी (पृ. २२५) में इसी श्लोक को उद्धृत किया है।

अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड से तथा ७१-१०६ अ. सोमशम्भु की इस कर्मकाण्डक्रमावली से आनुपूर्वी से मिलते हैं। सोमशम्भु (पृ.३१) ने यह प्रकरण लीलावती शिवागम की सहायता से लिखा है। शिवागमों की सूची में यह नाम उपलब्ध नहीं होता। लीलावती का उपपुराण के रूप में उल्लेख डॉ. आर. सी. हाजरा ने (स्टडीज इन उपपुराण्स, भा. १, पृ. १३) एकाम्रपुराण में स्थित उपपुराणों की सूची के आधार पर किया है।

ईशानशिवपद्धति

यह ग्रन्थ ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के नाम से दो बार प्रकाशित हो चुका है। तन्त्रपद्धति, तन्त्रसार, तन्त्रसारपद्धति इत्यादि नामों से भी यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसका अन्तिम भाग सिद्धान्तसार के नाम से प्रसिद्ध है (ता. सा., पृ. ६०)। कुमारदेव ने गुरुदेवपद्धति के नाम से इसको उद्धृत किया है। प्रपंचसार के अनुकरण पर ही यद्यपि यह ग्रन्थ लिखा गया है, तो भी यहाँ प्रथमतः गणपति की तथा बाद में त्रिपुरा भगवती की पूजा-पद्धति वर्णित हैं। प्रपंचसार का समावेश स्मार्त-तन्त्रों में होगा, जब कि यह ग्रन्थ सर्वात्मना शैव सिद्धान्तशास्त्र का अनुसरण करता हुआ भी सर्वधर्मसमन्वयवादी दृष्टि से भरपूर है। इसकी चर्चा प्रपंचसार के परिचय के प्रसंग में दी गई है। यहाँ प्रपंचसार के वचन उद्धृत हैं। इसी प्रसंग में ईशानशिव के काल के विषय में भी बताया गया है कि इनका समय ख्रीष्टीय एकादश शताब्दी का अन्तिम भाग होना चाहिये।

शंकराचार्य के समान ईशानशिव की भी जन्मस्थली केरल हैं, ऐसा इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के संपादक डॉ. एन. पी. उण्णी का कहना है (उपो., पृ. ११-१२,२४-२५)। "शैव कल्ट." के लेखक डॉ. वी. एस. पाठक का कहना है कि ईशानशिव राजेन्द्र चोल के राजगुरु थे (पृ. ३९), किन्तु वहीं (पृ. ३८) उद्धृत वचन से त्रिलोचन शिवाचार्य के साथ उनका संबन्ध जुड़ता है। इस विषय पर हम अन्यत्र प्रकाश डाल चुके हैं। तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमार को भी डॉ. उण्णी केरलीय मानते हैं, किन्तु डॉ. वी. एस. पाठक का कहना है कि ये गुजरात के सोलंकी वंश के राजा मूलराज के राजगुरु थे और उनके किसी शिष्य ने वाराणसी में रहते हुए १०९० ई. वर्ष में किसी प्रतिष्ठा-ग्रन्थ की रचना की थी। मध्यदेश के निवासी शिव-शम्भु नामान्त शैवाचार्यों की चर्चा अनेक स्थलों पर हो चुकी है। ऐसी स्थिति में ईशानशिव और कुमारदेव को केरलीय बताना कदापि उचित नहीं है।

डॉ. एन. पी. उण्णी का कहना है कि प्रयोगमंजरी, तन्त्रसारसंग्रह जैसे ग्रन्थों के वचनों को ईशानशिवपद्धति में उद्धृत किया गया है। इन ग्रन्थों की भी देश-काल की परीक्षा के साथ उद्धरणों की भी परीक्षा अपेक्षित होगी। पुण्यानन्द, अमृतानन्द आदि के ग्रन्थों की कश्मीर में उपलब्धि होने के आधार पर इनको कश्मीरी आचार्य मान लिया गया था, किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि ये सभी त्रिपुरा-सम्प्रदाय के आचार्य चोलदेश के थे। केरल में हस्तलेखों की उपलब्धि के आधार पर इसी न्याय से इनको केरलीय नहीं माना जा सकता। ईशानशिव ने

अपनी विस्तृत पद्धति में अनेक ग्रन्थ-ग्रन्थकारों और मत-मतान्तरों का उल्लेख[१] किया है। इन सबकी परीक्षा के उपरान्त ही और तत्त्वसागरसंहिता जैसे ग्रन्थों की उपलब्धि के बाद ही प्राचीन शैवाचार्यों के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहा जा सकता है।

ईशानशिव अपने ग्रन्थ में ब्रह्मशम्भु और भोजराज को बार-बार उद्धृत करते हैं। भोजराजपद्धति, भोजराजेन्द्रपद्धति, भोजेन्द्रपद्धति के नाम से भोजदेव का पद्धति-ग्रन्थ भी यहाँ उद्धृत है, किन्तु ब्रह्मशम्भु के ग्रन्थ का नाम कहीं नहीं दिया गया। इनके निमित्तक्रियानुसन्धान ग्रन्थ की सूचना मिलती है। वहाँ ब्रह्मशम्भु के नाम से उद्धृत वचनों की खोज होनी चाहिये। तभी यह स्पष्ट हो सकेगा कि ब्रह्मशम्भु ने इसके अतिरिक्त भी किसी ग्रन्थ की रचना की थी या नहीं। सोमशम्भु के नाम से उद्धृत सभी वचन उनकी पद्धति में मिलते हैं या नहीं, इसकी भी परीक्षा अपेक्षित है। वरुणशिव पद्धतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। सद्योज्योति शिवाचार्य आगम-ग्रन्थों के व्याख्याता और प्रकरण-ग्रन्थों के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका कोई व्याख्या-ग्रन्थ भी यहाँ उद्धृत मिलता है।

त्रिलोचन शिवाचार्य

त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि के अब तक चार संस्करण हो चुके हैं। इनका नाम सिद्धान्तशैव शास्त्र के १८ पद्धतिकारों में परिगणित है। सोमशम्भु की कर्मकाण्डक्रमावली पर इनकी व्याख्या उपलब्ध है। सोमशम्भु ने ११३० वि. (१०७३ ई.) में अपने ग्रन्थ को पूरा किया था। अत: इस ग्रन्थ के टीकाकार की स्थिति इसके बाद ही मानी जायगी। इनके प्रायश्चित्तसमुच्चय, रत्नत्रयोद्योत, सर्वमतसिद्धान्तरहस्य (सिद्धान्तसमुच्चय), ध्यानरत्नावली जैसे ग्रन्थों की मातृकाएँ उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ का पहला संस्करण ग्रन्थलिपि में शिवज्ञानबोध प्रेस, मद्रास से सन् १९०१ में हुआ था। दूसरा संस्करण कन्नड़ लिपि में सन् १९३० में मैसूर से कन्नड भाषा के अनुवाद के साथ हुआ। तीसरा संस्करण अनन्तशम्भु की संस्कृत टीका के साथ देवनागरी लिपि में गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास की बुलेटिन के भाग १७ से २० तक के अंकों में हुआ। इसका चौथा संस्करण अन्वयार्था और विस्तरार्था नामक हिन्दी टीकाओं के साथ काशी जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोधप्रतिष्ठान से अभी हाल (सन् १९९८) में हुआ है।

---

१. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "आचार्यशङ्करीय: प्रपञ्चसार:" (पृ. १८९-१९२) शीर्षक निबन्ध देखिये।

शैव कल्ट. नामक ग्रन्थ की टिप्पणी (पृ. ३८) में "राजन्द्रचोल इत्याख्य: ...प्रविस्तरा:" ये श्लोक उद्धृत हैं। ये अनन्तशंभु की टीका में आनुपूर्वी से उपलब्ध हो जाते हैं (पृ. २५८)। इनसे ज्ञात होता है कि गंगा-स्नान के लिये आये चोल देश के राजा राजेन्द्र चोल ने अनेक शिवाचार्यों को उत्तरभारत से ले जाकर कांचीनगरी में बसाया था। राजेन्द्र चोल प्रथम का समय १०१२-४२ ई. माना जाता है। राजेन्द्र चोल द्वारा ले जाये गये विद्वानों में इनकी गणना करने पर सोमशम्भु की पद्धति के व्याख्याकार के रूप में इनकी संगति नहीं बैठ सकती, क्योंकि उक्त पद्धति की रचना तो १०७३ ई. में हुई थी। अत: इस प्रकरण की परीक्षा अपेक्षित है। काशी में रहते हुए इनके ग्रन्थरचना की सूचना मिलती है।

इस ग्रन्थ के टीकाकार अनन्तशम्भु ने सर्वात्मशम्भु की सिद्धान्तदीपिका को उद्धृत किया है (पृ. ११३)। अघोरशिव सर्वात्मशम्भु को अपना गुरु मानते हैं। सर्वात्मशम्भु की सिद्धान्तप्रकाशिका की प्रस्तावना (पृ. ५-६) में हमने इनका परिचय दिया है। अनन्तशम्भु अघोरशिवाचार्य को भी उद्धृत करते हैं। अत: इनके बाद ही अनन्तशम्भु की स्थिति मानी जायगी। न्यू. कैट. (भा. १,पृ. १८३) में प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त अनन्तशम्भु के तीर्थकालादिनिर्णय नामक ग्रन्थ की भी सूचना मिलती है। यहाँ इनका नाम अनन्त शिवाचार्य भी दिया गया है।

इनका सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ अनेक विशेषताओं को अपने में समेटे हुए है। टीकाकार ने अतीव विशिष्ट विषयों को बहुत विस्तार से सप्रमाण प्रस्तुत किया है। विद्यापाद में यहाँ शिव और शक्ति के अतिरिक्त पति, पशु और पाश तत्त्व का तथा शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध विभाग के अन्तर्गत ३६ तत्त्वों का समग्र स्वरूप प्रस्तुत किया है। नाद, बिन्दु एवं लिपि का तथा कुण्डलिनी शक्ति का विशद स्वरूप भी यहाँ प्रदर्शित है। पंचकंचुक एवं कृत्यपंचक के विवेचन के साथ एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या का एवं देश और काल का भी स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ के क्रियापाद की एक विशिष्ट स्थिति है। ग्रन्थ का प्रारम्भ यद्यपि निष्कल प्रासाद मन्त्र की स्तुति के साथ हुआ है, तो भी नवकल, द्वादशकल और षोडशकल प्रासाद मन्त्र का स्वरूप क्रियापाद में ही बताया गया है। द्वादशकल बीजाक्षरों की चर्चा अन्यत्र भी मिलती है, किन्तु नवकल एवं षोडशकल मन्त्र का स्वरूप यहीं देखने को मिलता है। सिद्धान्तशैव संमत मलपरिपाक, कर्मसाम्य, शक्तिपात एवं विविध दीक्षाओं का विधान यहाँ विस्तार से मिलता है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने दीक्षा-संस्कार किसका? यह प्रश्न उठाकर इस संस्कार को

ही नकार दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रश्न का समाधान किया गया है। कारणेश्वरत्याग, दीक्षित व्यक्ति की चर्या जैसे विषयों को प्रस्तुत कर यहाँ आन्तर और बाह्य पूजा का तथा जप का विधान प्रस्तुत किया गया है। पंचब्रह्म मन्त्र की ३८ कलाओं के न्यास का विधान, अष्टविध कुण्डों और विविध मण्डलों की रचना का प्रकार एवं शिष्यदीक्षा के प्रसंग में अग्निकार्य का विस्तृत निरूपण अन्यत्र अनुपलब्ध है। दीक्षा के उपयोगी ३१ संस्कार यहाँ वर्णित हैं।

योगपाद में यहाँ नाडी, चक्र, आधार, प्राणायाम के द्वारा नाडीशुद्धि एवं वायुजय का प्रकार वर्णित है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत नामक पाँच अवस्थाओं के स्वरूप का निरूपण। टीकाकार ने अचिन्त्यागम के प्रमाण से इस विषय को और भी स्पष्ट किया है।

चर्यापाद में २८ सिद्धान्तशैवागमों का विशद परिचय देने के साथ पवित्रोत्सव, भोजनविधि, प्रायश्चित्त, अन्त्येष्टिविधान, प्रतिष्ठाविधान, वास्तुपूजा, त्रितत्त्व-पंचमूर्ति-अष्टमूर्ति न्यास, तत्त्वव्याप्ति जैसे विषय वर्णित हैं। शिवलिंग पर चिह्नांकन की पद्धति उत्तरभारत में लुप्त हो चुकी है। इसको भी यहाँ स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है।

सर्वात्मशम्भु

सर्वात्मशम्भु की सिद्धान्तप्रकाशिका का प्रकाशन भाषानुवाद के साथ काशी जंगमबाड़ी मठ स्थित शैवभारती शोधप्रतिष्ठान से अभी हाल में (सन् १९९६) हुआ है। इससे भी पहले श्री आर. दामोदरन् द्वारा सम्पादित होकर यह ग्रन्थ सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजोर की शोधपत्रिका के ३२वें भाग में छप चुका था। शतरत्नसंग्रह के लेखक उमापति शिवाचार्य ने सिद्धान्तदीपिका नामक ग्रन्थ को उद्धृत किया है (पृ. ८-९)। उससे यह ग्रन्थ अभिन्न है। पाण्डिचेरी की सूची के अनुसार हमने ग्रन्थ का यह नाम दिया है। प्रस्तुत संस्करण की प्रस्तावना (पृ. ४-६) में सर्वात्मशम्भु और उनके इस ग्रन्थ का पर्याप्त परिचय दिया गया है। वहीं (पृ. २५) यह भी बताया गया है कि श्रीलंका एवं तमिलनाडु में शैवसिद्धान्त के पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में इसका उपयोग बहुत पहले से होता रहा है। इस प्रसंग में यह समझ लेना आवश्यक है कि शैवाचार्यों के नाम के अन्त में शम्भु अथवा शिव शब्द का प्रयोग एक ही आचार्य के लिये छन्द के अनुरोध से यथेच्छ किया जाता है। तदनुसार सर्वात्मशम्भु अथवा सर्वात्मशिव भिन्न आचार्य नहीं है।

अघोरशिव ने अपने पद्धति-ग्रन्थ को ११५७ ई. में पूरा किया था। तत्त्वत्रयनिर्णय की वृत्ति (पृ. १४६) में वे सर्वात्मशिव को अपना गुरु बताते हैं।

३६ तत्त्वों की और उनसे भिन्न पुरुष तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करने में इन दोनों आचार्यों में पूरी समानता है। इस दृष्टि से हम सिद्धान्तप्रकाशिका के कर्ता सर्वात्मशम्भु को ही अघोरशिव का गुरु मान सकते हैं और तदनुसार ही इनका समय भी निर्धारित कर सकते हैं। इनके अन्य किसी ग्रन्थ की अब तक कोई सूचना नहीं मिली है।

त्रिलोचन शिवाचार्य के प्रायश्चित्तसमुच्चय के अनुसार अघोरशिव आमर्दक मठ के अधिपति थे। न्यू. कैट. (भा. ३, पृ. १४६) में यह सूचना भी अंकित है कि त्रिलोचनशिव ने अपने प्रायश्चित्तसमुच्चय में सर्वात्मशिव की भी चर्चा की है। इससे हम यह मानने को बाध्य होते हैं कि सिद्धान्तसारावलि के कर्ता त्रिलोचन शिवाचार्य से प्रायश्चित्तसमुच्चय के कर्ता त्रिलोचन शिव भिन्न होने चाहिये। सूचियों के प्रमाण के आधार पर अभी इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। शोधार्थियों के सामने यह बहुत बड़ी चुनौती है कि शिव-शम्भु नामान्त शैवाचार्यों की क्रमबद्ध सुव्यवस्थित नामावली प्रस्तुत की जाय।

इस छोटे से ग्रन्थ के हम तीन विभाग कर सकते हैं। पहले विभाग में हमें सिद्धान्तशैव-संमत ३६ तत्त्वों का विवरण मिलता है। दूसरे विभाग में पूरे भारतीय वाङ्मय को पाँच विभागों में बाँट कर उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है और अन्तिम भाग में सिद्धान्तशैवागम-प्रतिपादित दीक्षा, मुक्ति आदि का स्वरूप प्रदर्शित है। ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या पाद के विषयों का भी यहाँ परिचय दिया गया है।

दूसरे विभाग में प्रथमतः लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक विभागों की चर्चा कर पुनः इनके पाँच-पाँच विभागों का उल्लेख यहाँ अवश्य हुआ है, किन्तु मान्त्रिक विभाग के अतिरिक्त यहाँ प्रथम चार विभागों के दो या तीन उपविभागों का ही परिचय मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना में इन कार्यों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में आगम-तन्त्रशास्त्र का विशेष रूप से विवरण मिलता है।

महान् वेदान्ती एवं भक्त मधुसूदन सरस्वती ने भी प्रस्थानभेद के नाम से एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा है। उसमें भी सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का इसी पद्धति से विवरण दिया गया है। हम कह सकते हैं कि प्रस्थानभेद में निगम-शास्त्र का विशेष रूप से परिचय दिया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में मिलकर निगमागम वाङ्मय का समग्र विवरण हमें प्राप्त हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ प्रस्थानभेद को भी परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया गया है।

अघोरशिव के मत की आलोचना करते समय हमने देखा है कि सभी छत्तीस तत्त्व उनके मत में जड़ हैं। यहाँ (पृ. १४) भी बिन्दु से शिव को अभिन्न मानकर बिन्दु को जड़ माना है। हमारे सामने उपलब्ध शैवागमों में इसकी पुष्टि नहीं होती। अघोरशिव भोजदेव के तत्त्वप्रकाश की ३२वीं कारिका को प्रक्षिप्त मानते हैं, क्योंकि वह उनके मन्तव्य के विपरीत पड़ती है। इसके बीज हमें दक्षिण के तमिल शैव-साहित्य में, अब तक अप्रकाशित शैवागमों में अथवा अघोरशिव के ग्रन्थों में खोजने होंगे।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में अन्य भी अनेक विषयों पर विचार किया गया है। उन्हें वहीं देखना चाहिये।

कुमारदेव

भोजदेव के ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश पर तात्पर्यदीपिका नामक टीका के लेखक कुमारदेव भारद्वाज गोत्र के शंकर के पुत्र सोमयाजी शिवभक्त थे। इसकी सूचना ग्रन्थ की समाप्ति में स्थित पुष्पिका से मिलती है। इस ग्रन्थ के प्रथम संपादक म. प. पण्डित गणपतिशास्त्री जी का कहना है कि परमेश्वराचार्य-कृत लघुबृंहणी नाम की लघुस्तुति की टीका को कुमारदेव ने उद्धृत किया है, अत: इनके बाद ही इनका स्थिति-काल माना जाना चाहिये। परमेश्वर-कृत लघुबृंहणी (लघुस्तवटीका) की मातृका केरल विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध है। कुमारदेव द्वारा उद्धृत बृंहणी इससे भिन्न नहीं है, ऐसा मान कर ही शास्त्री जी ने ऐसा कहा है। किन्तु वहाँ परमेश्वराचार्य का समय नहीं बताया गया है।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के अनेक वचन कुमार द्वारा अपनी इस टीका (पृ. १७-२०,१११,११३) में [१]गुरुदेव अथवा गुरुदेवपद्धति के नाम से उद्धृत हैं। कोई कुमारशिव गुजरात के राजा मूलराज के गुरु थे, इसकी सूचना इस पद्धति के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में पं. गणपति शास्त्री जी म. म. हरप्रसाद शास्त्री जी के प्रमाण से देते हैं। यह कुमारशिव प्रस्तुत कुमारदेव से अभिन्न हैं, इसकी परीक्षा अपेक्षित है। गुरुदेवपद्धति में सोमशम्भु उद्धृत हैं और इस पद्धति को कुमारदेव उद्धृत करते हैं। सोमशम्भु ने अपने ग्रन्थ की समाप्ति का समय ११३० वि. संवत् (१०७३ ई.) दिया है। कुमारशिव के वाराणसी-वास्तव्य किसी शिष्य ने १०९० ई. में किसी प्रतिष्ठा-संबन्धी ग्रन्थ की रचना की और इसकी [२]मातृका एशियाटिक सोसाइटी की कलकत्ता शाखा में सुरक्षित है। यहाँ कुमारशिव को मूलराज का गुरु

१. त्रिलोचन शिवाचार्य के ग्रन्थ सिद्धान्तसारावलि (पृ.२७४) में ईशानदेवगुरु उद्धृत हैं।

२. "शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया" (पृ. ३८-३९) द्रष्टव्य।

बताया गया है। गुजरात के राजा मूलराज ने रुद्रमहालय की स्थापना के लिये उत्तरभारत से एक हजार ब्राह्मणों को आहूत किया था। उनके वंशज आजकल सहस्रौदीच्य कहलाते हैं। इन्हीं में कुमारशिव भी हो सकते हैं। तात्पर्यदीपिका में ईशानशिव का नाम न लेकर गुरुदेव अथवा गुरुदेवपद्धति नाम से वचनों को उद्धृत करने से ऐसा लगता है कि ये कुमारदेव के साक्षात् गुरु थे। यह भी कहा जा सकता है कि ये कुमारदेव कुमारशिव से अभिन्न थे। अष्टप्रकरण के प्रथम संस्करण की विज्ञप्ति (पृ. ४) में बताया गया है कि शैव-पद्धति ग्रन्थों में कुमारदेव को उद्धृत किया गया है। अत: इन्होंने किसी पद्धति-ग्रन्थ की भी रचना की होगी। ग्रन्थ की उपलब्धि के उपरान्त ही इस विषय में कुछ कहा जा सकता है।

मूलराज ने रुद्रमहालय की प्रतिष्ठा सन् १०९० में की थी। तत्त्वप्रकाश के रचयिता धाराधिपति भोजदेव का काल १०१८-६० ई. निर्धारित है। सोमशम्भु ने अपने कर्मकाण्डक्रमावली नामक पद्धति-ग्रन्थ को विक्रम संवत् ११३० तदनुसार १०७३ ई. में पूरा किया। इन सबको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ११वीं ई. शताब्दी के अन्तिम भाग में कुमारदेव उत्तरभारत में क्रियाशील थे। इस स्थिति में ईशानशिव तथा कुमारदेव को केरलीय[१] मानना कथमपि संभव नहीं हो सकता। इस तरह की उक्तियाँ आमर्दक मठ की परम्परा से अनभिज्ञता की ही सूचना देती हैं। आमर्दक मठ की स्थिति मध्यभारत में थी, इसकी सूचना म. म. हरप्रसाद शास्त्री जी ने पूर्वसूचित प्रस्तावना में ही दे दी थी। [२]डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी आमर्दक पीठ की स्थिति उज्जयिनी में मानते हैं। आमर्दक तपोवन की भौगोलिक स्थिति का प्रश्न अभी असमाहित है।

दासगुप्त और हांडीकी के मत की समीक्षा

डॉ. एस. एन. दासगुप्त ने बड़े परिश्रम के साथ पाँच भागों में भारतीय दर्शन का इतिहास लिखा है। उसके पाँचवें भाग में शैवदर्शनों का परिचय दिया गया है, किन्तु वहाँ काल-क्रम पर बिना विचार किये बहुत कुछ लिखा गया है। यह दक्षिणभारतीय दर्शन है, इस मिथ्या धारणा का इसमें बहुत बड़ा हाथ है। इसीलिये प्राचीन और अर्वाचीन सामग्री का वहाँ घालमेल हो गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के निबन्धक का इसीलिये संकल्प उठा कि इस तरह की विसंगतियों को दूर कर आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं के स्वरूप का एक तुलनात्मक पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया जाय।

---

१. गुरुदेवपद्धति के नूतन संस्करण के संपादक डॉ. एन. पी. उण्णी ने यह मत व्यक्त किया है।

२. प्राच्य विद्या निबन्धावली का चतुर्थ खण्ड (पृ. १७५) द्रष्टव्य।

आधार ग्रन्थ में ही जब त्रुटियाँ हों, तो उसको प्रमाण मान कर लिखे गये ग्रन्थों की क्या स्थिति होगी? अठाईस आगमों में से कुछ को ही महत्त्व दिया गया था, यह कथन तब गलत सिद्ध हो जाता है, जब कि शैवाचार्यों के द्वारा निर्मित पद्धति-ग्रन्थों और निबन्ध-ग्रन्थों में इन सभी आगमों को श्रुति (वेद) के समान आदर के साथ उद्धृत किया गया है।

डॉ. [१]एस. एन. दासगुप्त और डॉ. [२]कृष्णकान्त हाण्डीकी ने अपने-अपने ग्रन्थों में सिद्धान्तशैव दर्शन का परिचय प्रधान रूप से भोजदेव के तत्त्वप्रकाश और कुमार-कृत तात्पर्यदीपिका व्याख्या के आधार पर दिया है। अघोरशिव और रामकण्ठ की वृत्ति के साथ अष्टप्रकरण में सिद्धान्तशैव मत के आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे, तो भी इन दोनों विद्वानों ने इनसे सहायता नहीं ली। दासगुप्त तत्त्वप्रकाश की अघोरशिव की वृत्ति की मातृका का अवश्य उल्लेख करते हैं। संभव है दक्षिणभारत में छपे इन ग्रन्थों का उत्तरभारत में प्रचार न हुआ हो। वास्तव में देखा जाय तो द्वैतवादी सिद्धान्तशैव मत की दृष्टि का इन्हीं ग्रन्थों में विवेचन मिलता है। तत्त्वप्रकाश और उसकी तात्पर्यदीपिका टीका की रचना मध्यभारत में हुई है और इनकी प्रकृति कश्मीर में रचित सिद्धान्तशैव दर्शन से कुछ भिन्न है[३]।

डॉ. दासगुप्त कुमार को अस्थिरचित्त का बताते हैं (पृ. १५१)। कुमार द्वारा वर्णित सारी बातें कुछ शैवपुराणों में और सूतसंहिता में विस्तार से मिलती हैं, ऐसा उनका कहना है, किन्तु कुमारदेव ने सूतसंहिता को कहीं भी उद्धृत नहीं किया है। श्रीकण्ठ के भाष्य में सूतसंहिता उद्धृत है या नहीं, अभी इसकी परीक्षा अपेक्षित है। यह सही है कि कुमार ने वायवीयसंहिता को अनेक बार उद्धृत किया है। वे अन्य कुछ पुराणों के साथ कूर्मपुराण और उसमें विद्यमान ईश्वरगीता को आदर के साथ उद्धृत करते हैं। साथ ही मतंग, मृगेन्द्र जैसे आगमों को भी प्रसंग के अनुसार उन्होंने उद्धृत किया है, किन्तु अघोरशिव आदि दाक्षिणात्य आचार्य काश्मीर के द्वैतवादी आचार्यों के द्वारा स्थापित परम्परा का ही अनुसरण करते हैं और मध्यदेशीय[४] आचार्य सर्वात्मना ऐसा नहीं करते। वे द्वैताद्वैत अथवा अद्वैत मत के

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भा. ५, पृ. १५१-१६३ द्रष्टव्य। इस पूरे प्रकरण की समीक्षा अपेक्षित है।

२. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. ३३४-३३७ द्रष्टव्य।

३-४. आगे (पृ. २७९-२८३) कुमारदेव की तात्पर्यदीपिका टीका का परिचय देते समय इसको स्पष्ट किया गया है।

समर्थक विद्वानों के द्वारा स्थापित तथा पुराणों एवं प्रपंचसार जैसे ग्रन्थों में प्रदर्शित परम्परा का अनुसरण करते हैं। तत्त्वप्रकाश के व्याख्याता कुमार ने सर्वात्मना इनका अनुसरण किया है। अतः कुमार को अस्थिरचित्त कहना कथमपि उचित नहीं है।

कुमारदेव ने एक स्थान पर शैवमत में परिणामवाद के स्थान पर [१]विवर्तवाद के अनुसरण की बात की है (पृ. ४३)। इस तरह के शांकर अद्वैतवाद के समर्थक वाक्यों को देखकर डॉ. हांडीकी कहते हैं कि शैवदर्शन विवर्तवाद का अनुसरण करता है। इसमें वे ईशानशिवगुरुदेवपद्धति को भी उद्धृत करते हैं, किन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि ऐसे वाक्यों को देखकर ही अघोरशिव ने तत्त्वप्रकाश की वृत्ति के आरंभ में इस ग्रन्थ के व्याख्याकारों को अद्वैत मत की वासना से आविष्ट बताया है। वस्तुतः द्वैतवादी शैवाचार्य सत्कार्यवादी हैं। इसकी सूचना देते हुए अघोरशिव कहते हैं कि सत्कार्यवाद का विस्तृत विवेचन उन्होंने अपने ग्रन्थ [२]मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका में किया है। स्पष्ट है कि कुमार की व्याख्या पूरी तरह से द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन का अनुवर्तन नहीं करती। आगे के विवेचन से इस विषय की बार-बार पुष्टि होगी।

द्वैतवादी सिद्धान्तशैव पति, पशु और पाश नामक त्रिविध तत्त्वों का पूरी तरह से पार्थक्य स्वीकार करते हैं। उनमें परस्पर एकता स्थापित नहीं हो सकती, यह उनका निश्चित सिद्धान्त है। इसीलिये ये द्वैतवादी कहलाते हैं। नैयायिकों और माध्व वैष्णव मत के अनुयायियों के समान ये भी जीवात्मा और परमात्मा की शाश्वतिक भिन्नता को मानते हैं। अतः सिद्धान्तशैव मत के ग्रन्थों का विपरीत व्याख्यान उस परम्परा से संबद्ध नहीं माना जा सकता। बन्ध और मोक्ष की भी यहाँ वास्तविक स्थिति है, इनको अद्वैतवादी आगमों अथवा बौद्ध तन्त्रों के अनुसार विकल्प-स्वरूप नहीं माना गया है।

यह भी स्पष्ट है कि मोक्ष के अभिलाषी पुरुष के लिये इस मत में दीक्षा को ही मुख्य साधन माना गया है। कर्म, ज्ञान और योग की यहाँ दीक्षा के अंग के रूप में ही मान्यता है। यथावसर इस पर प्रकाश डाला जायगा। प्रसंगवश इतना ही यहाँ कहना है कि कुमार ने दीक्षा की कहीं कोई चर्चा नहीं की है। इस तरह के अवसरों पर वे कर्म और ज्ञान की ही चर्चा करते हैं (पृ. ३३)। इसके विपरीत

---

१. "माया च वस्तुरूपा" (श्लो. १९) तत्त्वप्रकाश के इस श्लोक की किसी व्याख्याकार ने अन्यथा व्याख्या की है। इसी प्रसंग में कुमार ने विवर्तवाद की चर्चा की है (पृ. ४३)।

२. मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (पृ. २४१-२४३) द्रष्टव्य।

अघोरशिव स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मल एक द्रव्य है, अतः आँख के मोतियाबिन्द को हटाने के लिये जैसे वैद्य के व्यापार (आपरेशन) की अपेक्षा रहती है, उसी तरह से ईश्वर के शक्तिपात के अनुसार गुरु के द्वारा प्रदत्त दीक्षा से ही उसकी निवृत्ति होती है, केवल ज्ञान से नहीं। रत्नत्रय में विद्यमान—

सदाशिवपदं योगाच्चर्यातो वाऽथ दीक्षया।
प्राप्यते चित्तभेदेन मोक्षो वाऽथ चतुष्टयात्॥ (श्लो. १४७)

मतंगपारमेश्वर (२६.६३) के इस वचन में भी मोक्ष के साधनों में दीक्षा की ही प्रधानता बताई गई है। षट्साहस्रिका (कालपादा) में भी साधक में चिच्छक्ति को अभिव्यक्त करने वाली दीक्षा को ही मोक्ष का साधन बताया गया है। मालिनीवार्तिक में अभिनवगुप्त के द्वारा उद्धृत—"यथोक्तं कालपादादौ दीक्षयेत् श्वपचानिति" (१.१९७) कालपादा का यह वचन सार्धत्रिशतिकालोत्तर में—"तं विदित्वा महासेन श्वपचानपि दीक्षयेत्" (८.७) इस तरह से उपलब्ध है। यहाँ मनुष्यमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना गया है।

तात्पर्यदीपिका

भोजराज-कृत तत्त्वप्रकाश की कुमार-कृत टीका का यह नाम है। अघोरशिव ने भी इस पर व्याख्या की है। उनका कहना है कि अद्वैत दर्शन की वासना से आविष्ट और द्वैतवादी सिद्धान्तशास्त्र के ज्ञान से शून्य व्यक्तियों ने इसकी अन्यथा व्याख्या कर दी है। इसी दोष की परिशुद्धि के लिये हम इस व्याख्यान को लिखने में तत्पर हुए हैं (पृ. ६)। यहाँ अघोरशिव कुमार को ही लक्षित करते हैं, ऐसा अन्य विद्वानों का भी विचार है। यद्यपि—"अपरे पुनर्माया च···इस श्लोकांश की अन्य आचार्य अन्यथा व्याख्या करते हैं" (पृ. ४३) कुमार के इस वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ पर अन्य आचार्यों ने भी व्याख्या लिखी थी, किन्तु उसके उपलब्ध ने होने से उसके विषय में कुछ कह नहीं सकते। सिद्धान्तशैव दर्शन के अनेक सिद्धान्तों को कुमार स्वीकार नहीं करते, यह निश्चित है। कुमार की वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास, तन्त्रागमशास्त्र—इन सब पर समान श्रद्धा है। विष्णुपुराण को भी यहाँ प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है। भगवद्गीता की रचना भगवान् विष्णु ने की, ऐसा कुमार का मानना है। वह वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, ईश्वरकर्तृक नहीं। [१]सद्योज्योति आदि शैवाचार्य इनको ईश्वरकर्तृक मानते हैं।

---

१. अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ. १०-११) की २री टिप्पणी देखिये।

"अन्यथाख्यामुपाश्रित्य" इत्यादि [1]भूतशुद्धितन्त्र के वचन के प्रमाण से कुमार का कहना है कि नैयायिकों के जैसे शैव भी अन्यथाख्याति को मानते हैं। कुमार ने यहाँ सांख्य शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु अन्यथाख्याति को मानने वाले नैयायिक ही हैं, सांख्य दर्शन तो सत्कार्यवादी है। अथवा शैव परमार्थसार के व्याख्याता योगराज आधारकारिका, अर्थात् वैष्णव परमार्थसार को सांख्यमत का ग्रन्थ मानते हैं (पृ. ६-७)। इस परमार्थसार में निदर्शित अद्वैतवाद का अथवा भास्कर, श्रीकण्ठ, श्रीपति पण्डिताराध्य, अप्पय दीक्षित जैसे आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैतवाद का अनुसरण कुमार करते हैं। स्पष्ट है कि वे सिद्धान्तशैवों के द्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते। "तत्त्वं वस्तुत एकम्" (श्लो. ३३) ऐसा कहते हुए भोजराज भी स्मार्त दृष्टि का ही अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। इसीलिये अघोरशिव इससे पहले की ३२वीं कारिका (पञ्चानामप्येषाम्) को प्रक्षिप्त मानते हैं और शुद्धाध्वा में शुद्ध काल की स्थिति को मानते हैं। कुमार भूतों की देवीदेवात्मकता (पृ. ९), तत्त्व की अलिंगता (पृ. १०), शक्ति एवं शाक्तिमान् की अभेदात्मकता एवं भेद की औपाधिकता (पृ. १०,४९), अप्रच्युतस्वभाव शिव की पति-पशु-पाशात्मकता (पृ. १३) मानते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे [2]अद्वयवाद के समर्थक हैं।

वास्तव में मध्यदेशीय द्वैतवादी शैवाचार्य प्रपंचसार की पद्धति से स्मार्त दृष्टि का अनुसरण करते हैं। शिवप्रधान पंचायतन पूजा का वे अनुसरण करते हैं। शिवपुराण की [3]वायवीयसंहिता में पाशुपत मत को श्रौत और २८ सिद्धान्त-शैवागमों को स्वतन्त्र माना है। आमर्दक तपोवन से विनिर्गत लाटदेशीय शैवाचार्य प्रधान रूप से श्रौत दृष्टि का अनुसरण करते हैं। कुमार के ग्रन्थ में शतरुद्रिय (पृ. १५), नीलरुद्रसूक्त (पृ. २,१५), रौद्र-सूक्त (पृ. १५), त्रैयम्बकाध्याय (पृ. २) जैसे वैदिक प्रकरणों को विशेष आदर के साथ स्मरण किया गया है। प्रस्तुत तात्पर्यदीपिका टीका, श्रीकण्ठभाष्य, ईश्वरगीता जैसे ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट होता है। कुमार के परवर्ती शैव विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्रीकण्ठ आदि शैवाचार्य इसी पद्धति का अनुसरण करते हैं, यह बात इनमें दिये गये उद्धरणों को

१. लुप्ता. उपो. (पृ.५२) द्रष्टव्य।

२. नित्यानित्यविवेक आदि का स्मरंण करने से ये स्पष्ट रूप से शांकर अद्वयवादी हैं।

३. "शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च····श्रुतिसारमयः श्रौतः····स्वतन्त्रो दशधा····अष्टादशधा पुनः। कामिकादिसमाख्याभिः सिद्धः सिद्धान्तसंज्ञितः।।" (१.३२.११-१२)।

देखने से स्पष्ट हो जाती है। इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि सद्योज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणसुत रामकण्ठ पर्यन्त कश्मीर के शैवाचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट द्वैतवादी शैवागमों से आमर्दक तपोवन से विनिर्गत मध्यदेशीय शिव-शम्भु नामान्त शैवाचार्यों की दृष्टि कुछ भिन्न थी। कश्मीर की द्वैतवादी परम्परा का अनुसरण कालक्रम से बाद में अघोरशिव जैसे दाक्षिणात्य आचार्यों ने किया। इसी दृष्टिसाम्य के कारण [१]अघोरशिव को विद्याकण्ठ, रामकण्ठ आदि का शिष्य मान लिया गया है।

तात्पर्यदीपिका में मायापद के निर्वचन के प्रसंग में ख्यातिवाद (पृ. ३७-४३) का सुन्दर विश्लेषण मिलता है। "कर्त्रा विना न कार्यम्" (श्लो. ३७) इस कारिका की व्याख्या में अनुमान प्रमाण के आधार पर ईश्वर की सिद्धि (पृ. ५८-६८), बुद्धितत्त्व की व्याख्या के प्रसंग (पृ. ८१-८९) में प्रमाणों का विवेचन और मोक्ष के स्वरूप का पर्यवेक्षण (पृ. १०७-११०) जैसे विषय हैं, जिनका इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में भी दुर्लभ है। यहां प्रसंगवश वैशेषिक, नैयायिक, भाट्ट और प्राभाकर मतों का आरम्भवादियों के रूप में उल्लेख मिलता है (पृ. ७०)। भट्टपाद (पृ. ११,५०,८२) और कौमारिलों (पृ. ८३) का, वैशेषिक (पृ. ७०,७३,८६), नूतन वैशेषिक (पृ. ८२), वृद्ध वैशेषिक (पृ. ८२), वृद्ध नैयायिक (पृ. ८२), भूषणकार (पृ. ८२), प्रभाकराचार्य (पृ. ८२), प्राभाकर (पृ. ७०), प्राभाकरैकदेशी (पृ. ४१), दिगम्बर (पृ. १०८-१०९), आर्हत (पृ. ८२), आर्हतैकदेशीय (पृ. २७,१०९), बौद्ध (पृ. २७,३७,८२,८४,११०), चतुर्विध सौगत (पृ. १०९-११०) जैसे आचार्यों एवं मत-मतान्तरों की चर्चा यहाँ देखने योग्य है। "शैवागमेषु मुख्यम्" (श्लो.५) इस कारिका की व्याख्या में कुमार ने शैवागमों के प्रामाण्य पर विचार करते समय मार्कण्डेय, अगस्त्य, राम और दधीचि को उद्धृत करते हुए बताया है कि ये सब आगमशास्त्र का अनुवर्तन करते थे। "यथागमप्रज्ञाश्रुतिस्मृतिविभागात्" सांखायन गृह्यसूत्र के इस वचन में आगमशास्त्र को प्रथम स्थान दिया गया है।

"आत्मनि गुरुषु बहुवचनविधानादस्माभिरिति बहुवचननिर्देशः" (पृ. १३), ऐसा कहते हुए कुमार हमें शिष्टाचार से भी परिचित कराते हैं। क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी के प्रारंभ में शिवसूत्रों की दैवी उत्पत्ति स्वीकार की है। कुमार (पृ. २) इस मत से सहमत हैं। वे शिवसूत्रों को शिवोपदिष्ट मानते हैं, वसुगुप्त की रचना नहीं। शिवसूत्रवार्त्तिक की तीन पंक्तियाँ यहाँ (पृ. ३४) उद्धृत हैं। वे

---

१. न्यू. कैट. कैट., भा. १, पृ. ५८ द्रष्टव्य।

भास्कर-कृत शिवसूत्रवार्त्तिक में आनुपूर्वी से पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। शिवपुराण की वायवीयसंहिता अनेक स्थलों पर उद्धृत है, किन्तु [1]शिवपुराण का नाम कहीं देखने को नहीं मिलता। कूर्मपुराण, कूर्मपुराण की ईश्वरगीता, लिंगपुराण, लिंगोद्भवपुराण को ही नहीं, विष्णुपुराण को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कूर्मपुराण (पृ. ११), ईश्वरगीता (पृ. ६) लिंगपुराण (पृ. ४) और मनुस्मृति (पृ. ११२) के कुछ वचन मुद्रित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते और उपलब्ध वचनों में भी विशिष्ट पाठभेद देखने को मिलते हैं। यहाँ उद्धृत महाभारत के कुछ वचनों को भांडारकर संस्करण में परिशिष्ट में स्थान दिया गया है। उनकी पुनः परीक्षा अपेक्षित है। महाभारत में प्रदेशभेद से भी पाठभेद मिलते हैं। इनके आधार पर कुमार जैसे लेखकों के जन्मस्थान के विषय में निष्कर्ष निकालने में भी सहायता मिल सकती है। मोक्षधर्म (पृ. ५) और सनत्सुजातीय (पृ. १०) के नाम से भी महाभारत को उद्धृत किया गया है। चन्द्रज्ञान, शिवरहस्य जैसे ग्रन्थों के वचन यहाँ बिना नाम के [2]उद्धृत हुए लगते हैं। शिवरहस्य मुद्रित हो चुका है। यहाँ उद्धृत वचनों की खोज वहाँ होनी चाहिये। अन्ये, अपरे, परैः—जैसे सर्वनाम शब्दों से किन-किन मतों का ग्रहण होगा, इसकी जानकारी के लिये कठिन परिश्रम अपेक्षित है।

परमार्थसार के तीन श्लोक शतककार (पृ. ४३) के नाम से उद्धृत हैं। वे अभिनवगुप्त के परमार्थसार के हैं, वैष्णव परमार्थसार के नहीं। अभिनवगुप्त ने आधारकारिका (वैष्णव परमार्थसार) की सहायता से अपने ग्रन्थ की रचना की है, अतः इनमें परस्पर शब्दसाम्य और अभिप्राय-साम्य तो मिल ही सकता है। सांख्यसूत्र परवर्ती काल की रचना है, ऐसा आजकल प्रायः माना जाता है, किन्तु "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" (१.६१) यह सूत्र यहां (पृ. ८०) उपलब्ध है। सांख्यकारिका के भी अनेक वचन यहाँ मिलते हैं। कुमार (पृ. १७) प्रयोगमंजरी को और ईशानशिव मंजरी को अनेक स्थलों पर उद्धृत करते हैं। भवत्रात के पौत्र और [3]अष्टमूर्ति के पुत्र रवि द्वारा रचित प्रयोगमंजरी टीका के साथ उपलब्ध है।

---

१. शिवपुराण में शिवसूत्र (६.१४.४४), शिवसूत्रवार्त्तिक (६.१६.४६), विरूपाक्षपंचाशिका (६.१९.४४) आदि ग्रन्थ उद्धृत हैं।

२. कुमार द्वारा उद्धृत वचनों से उन-उन ग्रन्थों के कालनिर्णय में सहायता मिल सकती है।

३. तान्त्रिक साहित्य में इसकी तीन मातृकाओं का परिचय दिया गया है। यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ का भी विवरण दिया गया है। प्रो. उण्णी ने इसकी सूचना गुरुदेवपद्धति के प्रथम भाग की भूमिका (पृ. १७) में दी है।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के द्वितीय संस्करण के संपादक केरल विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. एन. पी. उण्णी का यह कहना है। इसकी परीक्षा अपेक्षित है कि इस ग्रन्थ में कुमार एवं ईशानशिव के द्वारा उद्धृत वचन वहाँ उपलब्ध होते हैं या नहीं।

तात्पर्यदीपिका में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय प्राय: हमने लुप्ता. के उपोद्घात में दे दिया है। उसको यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ के कुछ प्रसंगों पर विचार करना अपेक्षित है। "तत्त्वानामपि" (श्लो. ७५) इत्यादि श्लोक की व्याख्या के प्रसंग में "अत्र निवृत्तिः कलाध्वा" (पृ. ११२) इत्यादि वाक्यावली से किया गया षडध्व का विचार अप्रासंगिक लगता है। लगता है मातृका के पत्रों के विपर्यय से अथवा लेखक के प्रमाद से यह प्रसंग यहाँ जुड़ गया। इसी तरह से ६०-६१ संख्या की कारिकाओं की व्याख्या में शंकुकर्ण भुवन की तीन स्थलों पर चर्चा है। इसका कारण समझ में नहीं आता। एक स्थान पर (पृ. ८२) कहा गया है कि योग का लक्षण आगे बताया जायगा, किन्तु प्रयत्न करने पर यह लक्षण उपलब्ध नहीं हुआ।

तात्पर्यदीपिका में तत्त्वप्रकाश को छः परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। अघोरशिव की वृत्ति में यह विभाग नहीं दिया गया। तात्पर्यदीपिका के अनुसार १-२० श्लोक तक के प्रथम परिच्छेद में पति-पशु-पाश नामक त्रिविध तत्त्वों का स्वरूप निर्दिष्ट है। २१-३७ श्लोकात्मक द्वितीय परिच्छेद में शुद्ध तत्त्वों का, ३८-४९ श्लोकात्मक तृतीय परिच्छेद में शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का, ५०-६२ श्लोकात्मक चतुर्थ परिच्छेद में अशुद्ध तत्त्वों का विवेचन है। ६३-७० श्लोकात्मक पंचम परिच्छेद का नाम सामान्यवाद और ७१-७५ श्लोकात्मक अन्तिम षष्ठ परिच्छेद का नाम निवृत्ति दिया गया है। विषयों के विभाजन की दृष्टि से यह उचित ही लगता है।

अघोरशिव

अघोरशिव ने भोजदेव के तत्त्वप्रकाश पर वृत्ति लिखी है। धाराधिप भोजदेव का समय १०१८-६० ई. माना जाता है। अघोरशिव ने ११५८ ई. में अपने पद्धति-ग्रन्थ[1] को पूरा किया और नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ की नादकारिका पर भी वृत्ति लिखी। इन दोनों के स्थिति-काल में पर्याप्त अन्तर है। ऐसी स्थिति में अघोरशिव को रामकण्ठ का शिष्य मानना कथमपि संभव नहीं हो सकता। इसी

१. "नादज्ञेये शकस्याब्दे वर्तमाने कलौ युगे" इससे ११५८ ई. वर्ष गृहीत है। द्रष्टव्य—शैव-दर्शनबिन्दु, पृ. १२

तरह से इनको कश्मीर का आचार्य मानना भी सही नहीं है। तत्त्वत्रयनिर्णय की वृत्ति के [१]अन्त में वे स्वयं ही अपने को चोल देश का निवासी और सर्वात्मशिव को अपना गुरु बताते हैं। स्पष्ट है कि ये न तो कश्मीर के आचार्य हैं और न ये [२]रामकण्ठ के शिष्य ही हैं, किन्तु ये चोल देश के दाक्षिणात्य शैवाचार्य हैं और इनके गुरु का नाम [३]सर्वात्मशिव है।

इनके द्वारा रचित निम्न ग्रन्थों की सूचना अब तक मिली हैं—तत्त्वप्रकाश, तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रयनिर्णय, रत्नत्रय, भोगकारिका, और नादकारिका नामक अष्टप्रकरण में प्रकाशित छः ग्रन्थों पर वृत्तियों के अतिरिक्त, नारायणकण्ठ-कृत मृगेन्द्रवृत्ति पर दीपिका टीका भी इन्होंने लिखी है। इनके पद्धति-ग्रन्थ की सूचना ऊपर दी गई है। ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

अष्टप्रकरण में प्रकाशित इन वृत्तियों में वे अपने विषय में अनेक सूचनाएँ स्वयं देते हैं। जैसे—[४]लक्षद्वयाध्यापक श्री अघोरशिव ने शैवाचार्यों के आग्रह पर तत्त्वप्रकाश पर वृत्ति लिखी (पृ. ११४), अनेक विद्वानों के आग्रह पर तत्त्वसंग्रह पर लघ्वी वृत्ति लिखी (पृ. १३६), कुण्डिन कुल के चोल देश के निवासी, सर्वात्मशिव के शिष्य अघोरशिव ने तत्त्वत्रयनिर्णय पर वृत्ति लिखी (पृ. १४६), आश्चर्यसार, पाषण्डापजय, भक्तप्रकाश, अभ्युदय नाटक एवं शैव-ग्रन्थों पर अनेक वृत्तियों के साथ रत्नत्रयोल्लेखिनी की रचना की (पृ.२०२)। आफ्रेख्ट की बृहत्सूची (भा.१, पृ. ४) और "न्यू कैटलाग्स् कैटलागरम्" (भा.१, पृ. ५८-५९) में इनके विषय में जो कुछ कहा गया है, उसकी परीक्षा अपेक्षित है। विद्याकण्ठ, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ, उत्पल भट्ट आदि काश्मीर के आचार्यों से इस चोलदेशीय आचार्य का कोई साक्षात् संबन्ध नहीं है, यह बात ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सद्योज्योति और बृहस्पति की सूचना अघोरशिव की नहीं, रामकण्ठ की मोक्षकारिका की वृत्ति के प्रथम श्लोक से मिलती है।

---

१. श्रीमद्घोरशिवाह्वयेन गुरुणा ···· कुण्डिनकुलं चोलेष्वलङ्कुर्वता" (पृ. १४६)। छन्द के अनुरोध से यहाँ घोरशिव नाम दे दिया गया है।

२. शैवदर्शनबिन्दु (पृ. १२) में इनको रामकण्ठ का शिष्य बताया गया है।

३. श्रीसर्वात्मशिवाङ्घ्रिपादरजसामाराधकेन... (वहीं, पृ. १४६)

४. न्यू कैटलाग्स कैटलागरम् (भा. १, पृ. ५८) में मद्रास विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला में प्रकाशित बृहती नामक ग्रन्थ के उपो. (पृ. ६) में लक्षद्वयाध्यापक शब्द का अर्थ मीमांसाध्यापक किया है, किन्तु "द्वैते लक्षद्वयाधीतिश्चाद्वैते लक्षपारगः" इस वचन के आधार पर यहाँ श्लोकसंख्या का निर्देश माना गया है। तदनुसार इस शब्द का अर्थ दो लाख श्लोक-प्रमाण द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन का अध्यापक करना उचित होगा।

अघोरशिव की इन वृत्तियों में अन्य भी अनेक सूचनायें मिलती हैं। इनमें ईश्वरवाद, शब्दनित्यताविचार, सत्कार्यवाद, मलविचार, वेदों की ईश्वर-कर्तृता, दीक्षाविचार, देहात्मवादनिरास, अद्वैतवादनिरास जैसे विषयों पर मृगेन्द्रवृत्ति की दीपिका में विस्तार से विचार किया गया है, ऐसा वे बार-बार कहते हैं। यहां तत्त्वत्रयनिर्णयवृत्ति में ये तत्त्वसंग्रहलघुवृत्ति को, तत्त्वसंग्रहवृत्ति में रत्नत्रयोल्लेखिनी को और रत्नत्रयोल्लेखिनी में तत्त्वप्रकाश वृत्ति को उद्धृत करते हैं। रत्नत्रयोल्लेखिनी में ही वे अपनी पद्धति का भी स्मरण करते हैं। नादकारिकावृत्ति को छोड़कर अन्य सभी वृत्तियों में वे मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका को उद्धृत करना नहीं भूलते। अतः सबसे पहले उन्होंने मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका अथवा पद्धति-ग्रन्थ की रचना की। बाद में क्रमशः तत्त्वप्रकाशलघुव्याख्या, रत्नत्रयोल्लेखिनी, तत्त्वसंग्रहलघुटीका, तत्त्वत्रयनिर्णयवृत्ति की रचना की, ऐसा कहा जा सकता है। नादकारिकावृत्ति की समाप्ति में उन्होंने ज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण न मानकर दीक्षा का अंगभूत माना है। यहाँ उन्होंने कहा है कि हम इस पर बाद में विचार करेंगे (पृ. २४४)। इससे क्या यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रस्तुत छः वृत्तियों में उन्होंने सबसे बाद में नादकारिका पर वृत्ति लिखी? अन्य प्रायः सभी वृत्तियों में दीक्षा के अंग के रूप में ज्ञान की मोक्षसाधनता प्रतिपादित है।

तत्त्वप्रकाश पर इन्होंने लघ्वी टीका लिखी, तो कोई बृहती टीका भी होनी चाहिये। "अद्वैतवासनाविष्टैः" (पृ. ६) से ऐसा प्रतीत होता है कि यह बृहती व्याख्या कुमारदेव की तात्पर्यदीपिका ही होगी। कुमारदेव (पृ. ४३) ने तत्त्वप्रकाश की अन्य किसी व्याख्या की भी सूचना दी है। तत्त्वसंग्रह पर भी उन्होंने लघुवृत्ति ही लिखी थी। इस ग्रन्थ की शरन्निशा नाम की नारायणकण्ठ-रचित बृहट्टीका की सूचना वे ही देते हैं (पृ. ११५)। रत्नत्रयोल्लेखिनी की रचना का प्रयोजन बताते हुए वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ की कुछ विद्वानों ने वेदपरक, अन्य विद्वानों ने कुलशास्त्रपरक तथा कुछ विद्वानों ने न्याय की पद्धति से तथा अन्यों ने मनमानी पद्धति से व्याख्या की है। इस तरह से इन सबने अपने अज्ञान के कारण रत्नत्रय को मलिन कर दिया है (पृ.१४७)। उनके इस वचन के अनुसार उनके सामने इस ग्रन्थ की चार व्याख्याएँ अवश्य थी। रत्नत्रय[१] ईशानशिव की पद्धति में स्मृत है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वप्रकाश पर लिखी कुमारदेव की टीका के समान

---

१. तृतीय भाग (पृ. १०,११,१६,५९) द्रष्टव्य।

ही मध्यदेशीय किसी आचार्य ने रत्नत्रय पर भी टीका लिखी होगी। कश्मीर में कुलागम का अनुसरण कर किसी आचार्य ने उसी पद्धति से व्याख्या की होगी, जैसी भुल्लुक ने भैरवागम का अनुसरण करने वाले स्वच्छन्द तन्त्र की सिद्धान्त परक व्याख्या की थी। बाकी दो व्याख्यानों के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। अपनी वृत्ति में अघोरशिव ने इनमें से किसी को उद्धृत भी नहीं किया है।

नादकारिका की व्याख्या उन्होंने श्रेष्ठ गुरुओं के कहने पर लिखी थी (पृ. २४४)। "तन्मात्राणीह घटवत्" इस मतंगपारमेश्वर के वचन को वे एक जगह (पृ. १०१) मृगेन्द्रागम का तथा अन्यत्र (पृ. ११७,२०४) मतंग का बताते हैं। किसी न किसी की असावधानी से ऐसा हुआ होगा। अघोरशिव मृगेन्द्र, मतंग, कालोत्तर आदि आगमों को श्रुति कहकर उद्धृत करते है (पृ. ७,८,३५ इत्यादि)। इससे इनकी आगमों के प्रति श्रद्धा का पता चलता है। कुमार ऐसा नहीं करते, वे तो आगम पद से भी वेदों का (पृ. ५८,६८,९८) और पुराणों (पृ. ८) का भी स्मरण करते हैं। "दाक्षिणात्यादेः काश्मीरादौ" (पृ. २२७) इत्यादि अघोरशिव के वचन से दाक्षिणात्य विद्वानों के ज्ञानार्जन के लिये कश्मीर जाने की बात स्पष्ट होती है। दाक्षिणात्य मधुराज योगी अभिनवगुप्त से अध्ययन करने के लिये कश्मीर गये थे, इसकी स्पष्ट सूचना उन्होंने अपनी कृति गुरुनाथपरामर्श में दी है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अघोरशिव कश्मीर की शैवागम की परम्परा से संबद्ध थे, मध्यदेशीय आचार्यों से नहीं। भोगकारिका की वृत्ति में नन्दिकेश्वरकारिका स्मृत है। यह ग्रन्थ [१]नन्दिकेश्वरकाशिका से भिन्न है। इससे अधिक इस ग्रन्थ के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। इसी तरह से तत्त्वसंग्रह की वृत्ति (पृ. १३२) में उद्धृत गीता भगवद्गीता और ईश्वरगीता से भी भिन्न ही है।

तत्त्वसंग्रह की व्याख्या (पृ. १२९) में तुलादीक्षा के प्रसंग में वे महापातकी के भी पापमुक्त हो जाने की बात कालोत्तर आदि आगमों के प्रमाण से कहते हैं। [२]धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्त्तिक में इस मत का खण्डन किया है। उसको देखने से ऐसा लगता है कि जैसे वे कालोत्तर के इस प्रसंग की ही चर्चा कर रहे हों।

---

१. बृहत्सूचियों में जहाँ इस ग्रन्थ का परिचय नन्दिकेश्वरकारिका के नाम से मिलता है, वहाँ भोगकारिका में उद्धृत नन्दिकेश्वरकारिका का विवरण नहीं दिया गया है। सार्धत्रिशतिकालोत्तर के उपो. (पृ. ६२) में प्रो. एन. आर. भट्ट ने प्रस्तुत ग्रन्थ का परिचय दिया है।

२. षाण्मासिक पत्रिका 'धीः' के प्रथम अंक में प्रकाशित "दीक्षाविषयक सौगत पक्ष पर क्षेमराज का दृष्टिकोण" शीर्षक निबन्ध देखिये—पृ. १०६-११२

पद्मवज्र की कृति [1]गुह्यसिद्धि में कालोत्तर के साथ निःश्वासतन्त्र भी स्मृत है। बौद्धों के प्रज्ञापारमिताशास्त्र के समान कालोत्तरा, कालपादा आदि के नाम से कश्मीर के सोमानन्द, उत्पलभट्ट आदि आचार्यों के द्वारा उद्धृत इस आगम के भी तेरह संस्करणों की सूचना प्रो. एन. आर. भट्ट ने सार्धत्रिशतिकालोत्तर के अपने संस्कृत उपोद्घात में विस्तार से दी है और परिशिष्ट में त्रयोदशशतिक, षट्सहस्र, स्कन्दकालोत्तर जैसे संस्करणों के वचनों का भी संग्रह किया है। इनमें से षट्सहस्रकालोत्तर को अघोरशिव (पृ. १७३) ने भी उद्धृत किया है। तुलादीक्षा का यह प्रसंग यद्यपि मुद्रित सार्धत्रिशतिकालोत्तर में उपलब्ध नहीं है, तो भी षट्साहस्रसंहिता के संस्करण में दीक्षा के प्रसंग में तुलादीक्षा का प्रकरण अवश्य मिलना चाहिये।

कुमारदेव के समान अघोरशिव ने भी प्रकृति, पुरुष, कर्म अथवा ईश्वर की जगत्-कर्तृता जैसे विषयों पर (पृ. ११५) तथा अनेक मतवादों पर अपनी समालोचनात्मक दृष्टि डाली है। इससे नानाविध आगमों और दर्शनों में इनकी निपुणता स्पष्ट होती है। इन दोनों आचार्यों के विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने का यहाँ प्रयत्न किया जायगा।

अघोरशिव के मत की समीक्षा

"पञ्चानामाद्यानां चिद्रूपतयाऽन्वयः" (श्लो. ६४, पृ.१०२) तत्त्वप्रकाश के इस अंश की व्याख्या करते हुए अघोरशिव कहते हैं कि प्रथम पाँच शुद्ध तत्त्व सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों को जगाने वाले हैं, अतः उनका चिद्रूप में, अर्थात् चैतन्य शक्ति को जगाने में उपयोग होता है। इनमें चैतन्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इनकी अचेतनता को पहले ही (श्लो. २५) स्थापित किया जा चुका है। बिन्दु नामक शिवतत्त्व का स्वरूप बताते हुए उन्होंने पहले कहा है—"अथवा ज्ञान और क्रिया इसका स्वभाव नहीं है, इस तरह से नञ् का प्रश्लेष कर इस प्रकरण की व्याख्या करनी चाहिये, क्योंकि बिन्दु में ज्ञान की सत्ता नहीं मानी जा सकती। बिन्दु के शुद्ध सृष्टि में उपादान होने से वह मिट्टी आदि की तरह अचेतन ही माना जायगा, क्योंकि ज्ञानस्वरूप में उपादानता नहीं मानी जा सकती" (पृ. ४७)।

---

१. "कालोत्तरादिसंशुद्धं नो चेन्निःश्वाससंभवम्" (८.१२)। गुह्यसिद्धिकार पद्मवज्र का समय सातवीं शताब्दी माना जाता है। तदनुसार इस समय तक बौद्ध सिद्धों में सिद्धान्तशैवागम के ग्रन्थ मान्य हो चुके थे, यह मानना पड़ेगा।

इस तरह से अघोरशिव ने शुद्धतत्त्व-प्रकरण की बिन्दु और नाद परक व्याख्या कर इन सबको अचेतन मान लिया है। यह कहाँ तक उचित है, इसके लिये **प्रमातृसप्तक** पर विचार करना जरूरी है। शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नाम के [१]सात प्रमाता काश्मीर शैव एवं शाक्त मत में स्वीकृत हैं। शक्ति-समवेत शिव प्रथम प्रमाता, सदाशिव ही मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर ही मन्त्रेश्वर और शुद्धविद्या ही मन्त्र कहलाती है। मलमात्र से युक्त विज्ञानाकल, मल और कर्म से युक्त प्रलयाकल तथा मल, कर्म एवं माया नामक त्रिविध पाश से बद्ध आत्मा सकल कहलाता है। [२]मन्त्रमहेश्वर को छोड़कर इन शब्दों का विवरण अष्टप्रकरण में विशेष शब्दार्थसूची की सहायता से देखा जा सकता है।

माया के अधिकारक्षेत्र से मुक्त हुए प्रलयाकल और विज्ञानाकल क्रमश: मन्त्र और मन्त्रेश्वर पदवी को ही नहीं, शिवत्व को भी प्राप्त कर सकते हैं। मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि के स्वामी अनन्त, क्रोधेश, मण्डली, शतरुद्र आदि क्या ये सब अचेतन हैं, क्या इन सबमें ज्ञान का अभाव है? इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में ही दिया जा सकता है। शिव महामाया की सहायता से शुद्ध सृष्टि का और अनन्त माया के सहारे अशुद्ध सृष्टि का विस्तार करते है, स्वयं अघोरशिव भी इसको मानते हैं। अत: ऐसा लगता है कि अघोरशिव ने शुद्धाध्वा से संबद्ध इस प्रकरण के स्वरूप को विकृत कर दिया है। अन्यथा जड़ तत्त्व को प्रमाता के रूप में कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है?

अघोरशिव (पृ. ४८) शिव और शक्ति को तत्त्वातीत मानते हैं, तत्त्वों में भी इनकी स्थिति माननी पड़ेगी। छत्तीस तत्त्वों में सर्वत्र शिव और शक्ति ही परिगणित हैं, बिन्दु और नाद का परिगणन इनमें कहीं भी नहीं किया गया। [३]वायुसंहिता के वचन में शक्ति से शब्द की और शिव से अर्थ की सृष्टि मानी गई है। अन्यत्र बिन्दु से अर्थात्मक और नाद से शब्दात्मक सृष्टि मानी जाती है। तदनुसार बिन्दु और

---

१. अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार के नवम आह्निक (पृ. ९२) में और सुभगोदयवासना (श्लो. ४३) में शिवानन्द ने इन सात प्रमाताओं की सूचना दी है।

२. अघोरशिव (पृ. ३१) ने महेश्वर का अर्थ मन्त्रमहेश्वर किया है। इस शब्द से उनको मन्त्रेश्वर अनन्त अभिप्रेत हैं, मन्त्रमहेश्वर सदाशिव नहीं। पृ. १३१ एवं ३३१ में भी उन्होंने मन्त्रमहेश्वर पद की ईश्वरपरक ही व्याख्या की है।

३. सौन्दर्यलहरी की अरुणामोदिनी टीका (पृ. ३०) में ''शब्दजात'' इत्यादि को वायुसंहिता का वचन कहा है।

नाद को हम शिव-शक्ति स्वरूप मान सकते हैं, किन्तु बिन्दु और नाद के दृष्टान्त से पाँचों शुद्ध तत्त्वों को जड़ मानना युक्ति और शास्त्र के भी विरुद्ध ही माना जायगा।

त्रिविध पशुओं का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं—मल का परिपाक हो जाने पर सकल पशुओं को आचार्य के स्वरूप में प्रतिष्ठित शिव ही शक्तिपात की सहायता से परतत्त्व में प्रविष्ट करा देते हैं। शेष जीवों को ११८ संख्या के [1]रुद्रों के रूप में मन्त्रेश्वर पदवी प्रदान करते हैं। प्रलयाकलों में जिनके मल और कर्म परिपक्व हो गये हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। बाकी के प्रलयाकल संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। इनमें से महेश्वर के अनुग्रह से कुछ जीव भुवनपति बन जाते हैं और अन्य सात करोड़ मन्त्रों का स्वरूप धारण कर लेते हैं। यहाँ शुद्धतत्त्वों की शिव-प्रेर्यता और अशुद्ध तत्त्वों की अनन्त-प्रेर्यता मानी गई है। इस प्रसंग में अघोरशिव [2]गुह्य, अतिगुह्य, गुह्यतर, पवित्र और स्थाणु नामक पंचाष्टक, अर्थात् चालीस भुवनाधिपतियों का नियोजन अनन्त ही करते हैं, ऐसा स्पष्ट बताते हैं (पृ. ३१) शिव के द्वारा नियोजित भुवनाधिपति पद पर प्रतिष्ठित सकल जीवों में आठ मण्डली देवता, आठ क्रोधीश आदि देवता, वीरेश और श्रीकण्ठ के साथ शतरुद्रों की गणना करने पर इनकी संख्या ११८ होती है।

आठ मण्डली देवताओं में [3]कलामस्तक स्थित गहनेश आदि की (पृ. ३२, १२७) [4]गुणमस्तक स्थित क्रोधेश, [5]श्रीकण्ठ आदि आठ देवताओं की गणना होती है (पृ. ३२, १२७, २६२)। वीरेश, अर्थात् वीरभद्र को शतरुद्रों का अधिष्ठाता माना गया है (पृ. ३२, १२७)। अन्यत्र (पृ. २३१) भी ये ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले शतरुद्रों के अधिष्ठाता माने गये हैं। एक जगह (पृ. २६२) बताया गया है कि वीरभद्र आदि माया के गर्भ में अधिकारी हैं और इसीलिये इनकी गणना सकल जीवों में होती है। ब्रह्मा आदि की तरह माया तत्त्व के नीचे कला आदि के भुवनों में इनकी स्थिति मानी गई है। दूसरी जगह (पृ. २६४) कहा गया है कि शेष

---

१. अघोरशिव ने ११८ रुद्रों की मन्त्रेश्वरता की स्थिति को स्पष्ट किया है (पृ.२६२)।

२. गुह्याष्टक, अतिगुह्याष्टक, गुह्याद्गुह्यतराष्टक, पवित्राष्टक और स्थाण्वष्टक भुवनों का विवरण स्वच्छन्दतन्त्र (१०. ८५३-८९२) में और भोगकारिका (श्लो. ११३) में भी देखिये।

३. कलामस्तक स्थित गहनेश आदि मण्डली देवताओं के नाम भी वहीं (१०.११२४) निर्दिष्ट हैं।

४. गुणमस्तक स्थितं क्रोधेशाष्टक देवताओं की चर्चा भी वहीं (१०.९७६, १०६७) मिलती है।

५. श्रीकण्ठाष्टक की नामावली भी स्वच्छन्द (१०.९८२-९८३) में देखिये।

अप्रधान वीरभद्र, रुद्र आदि की सूक्ष्म मन्त्रों और उनके अधिपति वीरभद्र आदि की, अनन्त के विश्राम लेने पर ही सबकी एक साथ शिवसमता-रूप परा मुक्ति हो जाती है। इस तरह से वीरभद्र का वर्णन यहाँ किया गया है। [१]श्रीकण्ठ को यहाँ (पृ. ३२,१२७) गुणतत्त्व एवं उसके नीचे के भुवनों का अधिष्ठाता माना गया है। शतरुद्रों का परिचय देते हुए बताया गया है कि ये सारे ब्रह्माण्ड की रक्षा में नियुक्त हैं (पृ. ३२,१२७)। [२]शतरुद्रों के नाम कुमारदेव द्वारा यहाँ (पृ. १७-१८) उद्धृत गुरुदेवपद्धति में देखे जा सकते हैं। श्रीकण्ठ एवं गहनेश आदि के नाम उन-उन भुवनपतियों की नामावली [३]तन्त्रयात्रा में संक्षेप से और [४]स्वच्छन्दतन्त्र में विस्तार से देखी जा सकती है। मोक्षकारिका (श्लो. ७९) के अनुसार इनकी मन्त्रेश्वरता गौण मानी गई है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए अघोरशिव कहते हैं कि मन्त्र और मन्त्रेश्वर के बाद इनकी उत्पत्ति मानी गई है तथा ये माया-गर्भ में निवास करने वाले अधिकारी हैं, तो भी दीक्षा देने वाले आचार्य के समान ये भी पशुओं पर अनुग्रह करने के लिये मन्त्र आदि को प्रेरित करते हैं, अतः इनको भी गौण रूप से मन्त्रेश्वर कहा जाता है। मन्त्रों के ऊपर विद्यमान अनन्त आदि की तरह इनकी मुख्य मन्त्रेश्वरता नहीं मानी जाती (पृ. २६२)।

गुह्य, अतिगुह्य, गुह्यतर, पवित्र, स्थाणु नामक पंचाष्टक (चालीस) भुवनपति अनन्त द्वारा नियोजित हैं, यह बात अभी ऊपर अघोरशिव के प्रमाण से बताई गई है (पृ. ३१)। मोक्षकारिका की व्याख्या में भी वे कहते हैं—तन्मात्रा से लेकर अहंकार पर्यन्त अध्वा में गुह्य, अतिगुह्य, गुह्यतर, पवित्र और स्थाणु नामक पंचाष्टक भुवन स्थित हैं (पृ. २३१)। प्रलयाकलों को [५]महेश्वर ही इन भुवनों का

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र (१०.१३५०) में श्रीकण्ठ को कैलाशनिवासी एवं शिव की शर्व आदि अष्टमूर्तियों का अधिष्ठाता माना गया है।

२. शतरुद्रों में बल और अतिबल नाम मिलते हैं। विश्वामित्र ने दाशरथि राम को बला और अतिबला विद्या का उपदेश किया था (वा. बा., २२सर्ग)। क्या इसका कोई परस्पर संबन्ध है?

३. पृ. २६-२७ द्रष्टव्य।

४. स्वच्छन्दतन्त्र के दशम पटल में सिद्धान्ति-संमत २२४ भुवनों का विवरण विस्तार से मिलता है। किरणागम के विद्यापाद (८.९२-१४१) में वे संक्षेप में सूचित हैं। मालिनीविजय (१.३७) में १०८ भुवन ही सूचित हैं और पंचम अधिकार में वे ही वर्णित हैं। विभिन्न आगमों में भुवनों की विभिन्न संख्याएँ मिलती हैं। इसके लिये मतंगपारमेश्वर विद्यापाद का डॉ. एन. आर. भट्ट का उपोद्घात (पृ. ४८) देखिये।

५. इस प्रसंग में अष्टप्रकरण, पृ. २५ की २री टिप्पणी देखिये।

अधिपतित्व को देते हैं, यह व्याख्या भी अघोरशिव ही करते हैं (पृ. १२)। इन सब वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अघोरशिव सकल की अपेक्षा प्रलयाकल की स्थिति नीची मानते हैं। तन्त्रालोक के व्याख्याकार जयरथ का भी कहना है कि श्रीपूर्वशास्त्र में मन्त्रमहेश्वरों को विज्ञानाकलों का और मन्त्रेश्वरों को सकलों का उपादान माना गया है। अब प्रलयाकल बचे, सो मन्त्रों को प्रलयाकलों का उपादान मानना उचित होगा (९.१४१)। इससे अघोरशिव के वचन का ही समर्थन होता है।

इसके विपरीत कुमार प्रलयाकलों को ही ११८ भुवनों का अधिपति मानते हैं, सकलों को नहीं। सकल जीवों के लिये उनका कहना है कि पुर्यष्टक (सूक्ष्म) देहधारी ये सकल जीव तो संसार में घूमते रहते हैं। कुमार के द्वारा उद्धृत सिद्धान्तहृदय के वचन भी उसीकी व्याख्या का अनुसरण करते हैं, किन्तु वहीं उद्धृत शैवरहस्य के वचन अघोरशिव की व्याख्या के समर्थक हैं। मोक्षकारिका में अनन्त आदि आठ विद्येश्वर, सात करोड़ मन्त्र और मण्डली आदि ११८ भुवनों के अधिपति वर्णित हैं, किन्तु उनका विज्ञानाकल आदि से कोई संबन्ध नहीं बताया गया। यह देखने की बात है कि इस प्रसंग में सदाशिव नामक मन्त्रमहेश्वर की कहीं चर्चा नहीं है। यहाँ रत्नत्रयकार श्रीकण्ठ का यह वचन ध्यान देने योग्य है—"माया के सागर से उत्तीर्ण, कर्म की अर्गला को तोड़ देने वाले और अब तक शिवधाम को प्राप्त नहीं हुए—ये तीन प्रकार के विज्ञानकेवल जीव होते हैं" (श्लो. २३)। आगे (श्लो. १४१) स्पष्ट रूप से वे इन त्रिविध विज्ञानकेवलों को सदाशिव, ईश्वर और मन्त्र स्वरूप मानते हैं। २४वें श्लोक में इसी क्रम में विद्या, विद्याधिपति और सदाशिव चर्चित हैं। स्पष्ट है कि यहाँ त्रिविध विज्ञानकेवल ही चर्चित हैं, तो भी अघोरशिव इस प्रकरण की सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल-परक व्याख्या करते हैं। हमें सोचना होगा कि यह कहाँ तक उचित है।

सद्योज्योति शिवाचार्य के ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में भी इस विषय की चर्चा है। इस प्रकरण की व्याख्या करते हुए अघोरशिव "विज्ञानकेवलानष्टौ" (१.१९) श्रुति के नाम से मालिनीमत के इस वचन को उद्धृत करते हैं और इनकी शुद्धाध्वा में गणना कर कहते हैं कि इन विज्ञानाकलों के बीच में जो मलपरिपाक से सम्पन्न हैं, उनकी मलपरिपाक की स्थिति के अनुसार विद्येश्वर और मन्त्रेश्वर पद पर नियुक्ति होती है और अपर मन्त्रेश्वर पद पर अशुद्ध अध्वा के निवासी, अपक्वमल प्रलयाकलों की (पृ. १२७)। इस तरह से यहाँ वे प्रलयाकलों की अपर-मन्त्रेश्वरता और विज्ञानाकलों की परमन्त्रेश्वरता को मानते हैं। **मन्त्र** शब्द की उन्होंने वहीं यह व्युत्पत्ति दी है कि इसके मनन से सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है और यह

संसारी जीव की रक्षा भी करता है। इस प्रकार मनन और त्राण इन दो व्यापारों के संपादक को मन्त्र कहा जाता है। इसकी मुख्य प्रवृत्ति शिव, शक्ति और इनके द्वारा अनुगृहीत जीवों के लिये होती है। औपचारिक रूप से इनके वाचक शब्दों को भी मन्त्र माना जाता है। ये मन्त्र निर्मल स्वभाव के हैं, अतः ये आराधक के चित्त में ज्ञान और क्रिया शक्ति को प्रकाशित कर देते हैं और शुद्धविद्या तत्त्व में इनकी स्थिति मानी जाती है। इसीलिये रौरव आदि शैवशास्त्रों में इनका मन्त्रतत्त्व के रूप में वर्णन मिलता है (पृ. १२७)। अघोरशिव की इस व्याख्या में स्पष्ट ही अनन्तेश आदि विज्ञानाकलों का मन्त्रेश्वर और मन्त्र के रूप में और ११८ संख्या के प्रलयाकलों का अपर मन्त्रेश्वर और भुवनाधिपति के रूप में परिचय दिया गया है। स्पष्ट है कि अघोरशिव की यह व्याख्या पूर्व-कृत व्याख्या से विपरीत है।

यहाँ (पृ. १३१) अघोरशिव ने मन्त्रेश्वरों को ही मन्त्रमहेश्वर बताया है और मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि की उपादानभूत, अर्थात् विद्येश्वर आदि के शुद्ध शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि के निर्माण में सहायिका महामाया नाम की कुण्डलिनी शक्ति को स्थापित किया है। वास्तव में तो सदाशिव तत्त्व ही मन्त्रमहेश्वर कहलाता है। महामाया पद से भी उसीका बोध हो सकता है। इस तरह से मन्त्रमहेश्वर से सदाशिव का, मन्त्रेश्वर से अनन्त आदि ईश्वरों का और मन्त्र एवं विद्या पद से सात करोड़ मन्त्रों का ग्रहण कर त्रिविध विज्ञानाकल यहाँ वर्णित हैं। पृथिवी से लेकर कला तत्त्व तक के सभी भुवनों के स्वामी शतरुद्र आदि को प्रलयाकलों की तथा मलपरिपाक से सम्पन्न सकलों को हिरण्यगर्भ आदि देवताओं की, सनक आदि योगियों की, आचार्यों एवं देवताओं की पदवी प्राप्त होती है, यही मानना उचित होगा। सिद्धान्तहृदय में इसी पक्ष का समर्थन किया गया है। सकलों के नीचे प्रलयाकलों की स्थिति मानना कथमपि तर्कसंमत एवं शास्त्रसंमत नहीं माना जा सकता।

कुमारदेव और अघोरशिव के मतभेद

"तत्र पतिः शिव उक्तः" (श्लो. ५) इस वचन की व्याख्या करते हुए कुमार शिव शब्द से शिवत्व से संयुक्त मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, मुक्तात्मा, शक्ति और शिव इन सभी का पति पदार्थ में संग्रह करते हैं, क्योंकि ये सब दीक्षा आदि उपायों के सहारे पशुओं को मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं। तत्त्वप्रकाश की छठी कारिका में बताया गया है कि मुक्तात्मा भी शिव ही हैं, किन्तु ये जिसके प्रसाद से मुक्त होते हैं, वह अनादिमुक्त शिव इनसे भिन्न इसलिये है कि पंचब्रह्म मन्त्रों से इसका शरीर बनता है। अतः यह पंचकृत्यकारी शिव इन सबसे भिन्न है। भगवान्

अवधूतसिद्ध के एक वचन से भी यह स्पष्ट होता है कि परमशिव का मुक्त हुए जीवों (सिद्धों) के प्रति कोई व्यापार नहीं रहता, किन्तु जो अभी मुक्त नहीं हुए हैं, उनके प्रति उसका व्यापार चलता रहता है। इसके विपरीत मुक्त सिद्ध पूरी तरह से सभी व्यापारों से मुक्त हो जाता है। स्पष्ट है कि यहाँ परमशिव और मुक्तशिव में भी स्पष्ट भेद किया गया है और पाँच शुद्ध तत्त्वों के अतिरिक्त मुक्तात्मा को भी शिव शब्द से संबोधित किया गया है। "सततोदितः प्रभुः शान्तः" (श्लो. १) इस श्लोक में भगवान् शिव की सततोदित (नित्योदित) और शान्तोदित नाम की दो [1]दशाओं की सूचना मिलती है। इनका वर्णन पांचरात्र आगम में पर और व्यूहवासुदेव के रूप में विशद रूप से मिलता है। [2]लय, भोग और अधिकार नामक; [3]शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक; [4]सकल, सकलनिष्कल और निष्कल नामक शिव की त्रिविध अवस्थाओं का निरूपण भी शास्त्रों में मिलता है। ये त्रिविध अवस्थाएँ जीवोन्मुख शिव की है। इसी तरह से शिवोन्मुख जीव में भी [5]त्रिविध अवस्थाएँ और [6]सांसिद्धिक आदि तीन गुण अभिव्यक्त होते हैं।

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद शिवसाम्य-रूप मुक्ति की कामना वाला जीव जब षडध्वशुद्धि करने लगता है, तब तत्त्वों में परिगणित शिव की भी शुद्धि अपेक्षित है? या सभी पर अनुग्रह करने वाला पंचमन्त्रशरीर शिव इनसे भिन्न है? यहाँ अघोरशिव "शिवतत्त्वं जगदुराचार्याः (श्लो. २५) इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शुद्ध तत्त्वों की उपादानभूत महामाया को ही आचार्यगण शिवतत्त्व कहते हैं। उनका कहना है कि इस आर्या में परमशिव या उसकी शक्ति का उल्लेख नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों का लक्षण बताया जा रहा है। उस प्रकरण में तत्त्वातीत शिव-शक्ति का प्रस्ताव अनुचित है। यदि इन्हीं को शिवतत्त्व मान कर

---

१. इन द्विविध दशाओं का परिचय पांचरात्र प्रकरण (पृ. १२०) से प्राप्त कीजिये।

२. भगवान् शिव की इन तीन अवस्थाओं का मतंगपारमेश्वर विद्यापाद के ३-४ पटलों में विस्तार से वर्णन मिलता है।

३. अभी आगे (पृ. ३२१) इनका स्वरूप बताया जा रहा है।

४. इन त्रिविध अवस्थाओं का स्वरूप प्रायः सर्वत्र बताया गया है। योगिनीहृदय के प्रमाण से श्रीचक्र के इन तीन स्वरूपों की भावना अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

५. शिवोन्मुख जीव की इन अवस्थाओं का स्वरूप भी आगे (पृ. ३२८) बताया जा रहा है।

६. "सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः" (का.४३) सांख्यकारिका के इस वचन में वर्णित भावों का स्वरूप "सांसिद्धिका वैनयिकाः प्राकृताश्च भवन्त्यणोः" इस मृगेन्द्रवचन के प्रमाण से अष्टप्रकरण (पृ. २१६) में व्याख्यात हैं।

इनसे शुद्धाध्वा की सृष्टि मानी जायगी, तो इनमें परिणामित्व, अचेतनत्व आदि दोषों की प्रसक्ति हो उठेगी। यह जगत् चितिशक्ति का विवर्त है, यह हम मान नहीं सकते, क्योंकि सभी प्रमाणों से जगत् की सत्यता स्थापित होती है, अत: इसको असत्य नहीं कह सकते, जब कि विवर्त को तो असत्य ही माना जाता है। इस तरह से प्रस्तुत प्रकरण में बिन्दुस्वरूप कुण्डलिनी शक्ति को ही शिवतत्त्व मानना उचित है, क्योंकि शास्त्रों में इसको परिग्रह शक्ति माना गया है (पृ. ४८)।

इस प्रसंग में अघोरशिव पौष्करागम के वचनों को उद्धृत करते हैं और नाद के उपादान के रूप में भी महामाया को स्थापित करते हैं। इसी तरह से अन्यत्र "उपादानं शरीराणाम्" (पृ. ४५) इस वचन को उद्धृत कर नाद आदि के क्रम से मन्त्र-तन्त्र इत्यादि की उत्पत्ति भी इसी से मानते हैं। "शक्तेर्नादो भवेद् बिन्दुरक्षरं मातृका तत:" (क्रि. १.१) मृगेन्द्रागम के इस वचन को भी वे उद्धृत करते हैं। शक्तितत्त्व की व्याख्या करते समय वे कहते हैं कि इस बिन्दु का जो प्रथम उन्मेष अर्थात् परिणाम है, वह शान्ति आदि भुवनात्मक तथा नादात्मक है, इसीको शक्तितत्त्व कहते हैं (पृ. ५०)। शिव और शक्ति शब्द को इस प्रसंग में वे बिन्दु और नाद का वाचक मानते हैं। इस तरह से षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया में ३६ तत्त्वों में परिगणित शिव और शक्ति के पर्यायस्वरूप बिन्दु और नाद की ही शुद्धि अपेक्षित है, तत्त्वातीत शिव और शक्ति की नहीं, यही उनकी स्थापना है। मृगेन्द्रागम की क्रियापाद की वृत्ति (पृ. १७४) में उद्धृत स्वायम्भुवागम के वचन में भी बताया गया है कि यह सारा षडध्वात्मक जगत् अप्रमेय, अनिर्देश्य एकमात्र परमशिव में विलीन हो जाता है।

"नादो बिन्दु: सकलौ" (श्लो. ३१) इस श्लोक की व्याख्या के अवसर पर कुमार "शिवाख्यं तत्त्वमाश्रितौ" ऐसा पाठ मानते हैं और विद्येश्वर की विद्या तथा मन्त्रों की सदाशिव में वृत्ति मानने वालों के मत का वे खण्डन करते हैं। साथ ही वे सकल नाद और बिन्दु की सदाशिव तत्त्व में स्थिति मानते हैं। अघोरशिव का यहाँ कहना है कि परबिन्दु ही शिवतत्त्व है और उसका कार्य सूक्ष्म नाद शक्तितत्त्व माना गया है, अत: यहाँ सकल बिन्दु को अक्षरबिन्दु और नाद को स्थूल-ध्वनिरूप मानना उचित है। इन दोनों की स्थिति सदाशिव तत्त्व में मानी गई है। अनन्त आदि विद्येश्वरों का ईश्वरतत्त्व में और सात करोड़ मन्त्रों का, व्योमव्यापी आदि विद्याओं[1] का एवं कामिक आदि २८ आगमों का विद्यातत्त्व में अन्तर्भाव माना

---

१. यहाँ अघोरशिव ने **विद्या**-पद की शाक्त सम्प्रदाय में स्वीकृत व्याख्या स्वीकार नहीं की, किन्तु प्रकरण के अनुसार वही उचित लगती है।

जाता है (पृ. ५३)। सदाशिव का स्वरूप वे इस प्रकार बताते हैं—बिन्दुतत्त्व का जो दूसरा प्रसार शक्तितत्त्व के बाद होता है, उसी को सदाशिवतत्त्व कहा जाता है (पृ. ५१)।

शिव आदि पाँच तत्त्वों का क्रम कल्पित है, इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाली "पञ्चानामप्येषाम्" (श्लो. ३२) इस कारिका को अघोरशिव प्रक्षिप्त मानते हैं और "तत्त्वं वस्तुत एकम्" (श्लो. ३३) इस श्लोक का संबन्ध वे परमशिव के साथ जोड़ते हैं। भोजदेव की इस कारिका में 'कल्पिता:' पाठ है। अत: यहां कुमार की व्याख्या ही भोजदेव के अनुगुण है। वह "पञ्चानाम्" (पृ. ३२) इत्यादि कारिका को प्रक्षिप्त नहीं मानते। इसके विपरीत अघोरशिव इस कारिका को प्रक्षिप्त मानकर अगले श्लोक के 'कल्पिता:' पद का अर्थ करते हुए कहते हैं कि सदाशिव आदि भेद काल्पनिक ही हैं, वास्तविक नहीं। अधिष्ठेय बिन्दु के ये शिव आदि अवस्थाभेद वास्तविक है, सत्य है (पृ. ५५) । इस प्रसंग में वे प्रमाण के रूप में मृगेन्द्र और पौष्करागम के वचनों को उद्धृत करते हैं।

वास्तव में यहाँ भोजराज और उसके व्याख्याता कुमार सिद्धान्तशैव दर्शन के द्वैतवाद से दूर हुए से जान पड़ते हैं, क्योंकि "तत्त्वं वस्तुत एकम्" कह कर तो वे अभेदवाद की ही स्थापना करने जा रहे हैं। षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया का एक निश्चित क्रम है और वह क्रम शास्त्रों में व्युत्क्रम से, अर्थात् सृष्टिक्रम के विपरीत संहार-क्रम से गृहीत है। स्वायम्भुवागम में स्पष्ट ही यह बात मानी गई है—"व्युत्क्रमेणोपनेयोऽसौ शिवाय गमनं प्रति"। इसी तरह से प्रलयाकलों और विज्ञानाकलों को विद्या, विद्येश्वर आदि पदों की प्राप्ति क्रम से ही होती है। "शुद्धेऽध्वनि शिव: कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभु:" (कि. वि. ३.२७) इस वचन के अनुसार महामाया को उपादान बना कर शिव शुद्धाध्वा के और माया को उपादान बना कर अनन्त अशुद्ध सृष्टि के कर्ता माने गये हैं। इस तरह की असंगतियों को देखते हुए ही अघोरशिव सप्रमाण यह बताते है कि यह कारिका प्रक्षिप्त है (पृ. ५४)।

रत्नत्रय में बिन्दु, शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्व वर्णित हैं। इनमें शक्ति और शिव तत्त्वातीत हैं और बिन्दु को शिवतत्त्व मानना चाहिये। वहीं २२वें श्लोक में बताया गया है कि जिससे शुद्धाध्वा की सृष्टि होती है, जहाँ रहता और जिसमें लीन हो जाता है, उसे ही बिन्दु कहते हैं। वही परनाद कहलाता है और वही नाद, बिन्दु और वर्ण का जनक है। यहाँ शिव ही कर्ता है, शक्ति की सहायता से यह महामाया का उपादान कर जगत् के सृष्टि-स्थिति-संहार व्यापार को चलाता है। अत: यह कथन उचित ही है। बिन्दुस्वरूप यह शिवतत्त्व परनाद के नाम से

प्रसिद्ध है। रत्नत्रय (श्लो. ७०-७१) में शब्दतत्त्व, अघोषा वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्या, शक्ति, परनाद, महामाया, व्योम और अनाहत आदि शब्दों को [1]बिन्दु का पर्याय माना गया है। इसी तरह से नादकारिका (श्लो. १६-१७) में परनाद, सुमंगला, मालिनी, महामाया, समना, अनाहत बिन्दु, अघोषा वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्यातत्त्व—ये सब विभिन्न आगमों के अनुसार पर्यायवाची शब्द माने गये हैं। इन वचनों से स्पष्ट है कि एक ही तत्त्व उन-उन आगमों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। [2]परनाद के नाम से परिचित बिन्दु ही नाद, बिन्दु और वर्णों के कारण के रूप में कालोत्तर आदि आगमों में वर्णित है। इनमें नाद शब्द से बिन्दु के प्रथम प्रसर, मन के अगोचर, सूक्ष्म नाद का ग्रहण किया जाता है। बिन्दु शब्द से इस सूक्ष्म नाद से उत्पन्न, मयूर के अंडे की समान अस्पष्ट और अव्यपदेश्य परामर्शज्ञानरूप अक्षरबिन्दु सूक्ष्मबिन्दु के रूप में गृहीत है। वर्ण को ही वहाँ **अर्ण** कहा गया है। आकाश में वायु के संघट्ट से विभिन्न स्थानों में इसका जन्म होता है और यह स्थूल शब्द कानों से सुनाई पड़ता है। कालोत्तर में ये तीनों स्थितियाँ इस प्रकार वर्णित हैं—

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत्परं परिकीर्तितम्।।
(सा. का. १.८)

रत्नत्रय के उक्त वचन की व्याख्या करते समय अघोरशिव ने ही ये सारी बातें कही हैं। इससे कारणबिन्दु से भिन्न कार्यबिन्दु की और परनाद से भिन्न अपरनाद की सूचना मिलती है। नादकारिका (श्लो. १) में इस परनाद को बुद्धि, अस्मिता, मन, विद्या, राग, कला, माया, पुरुष, शक्ति और ध्वनि से भी परे माना गया है। रत्नत्रय में शब्दराशि की उत्पत्ति बिन्दु से, बिन्दु की नाद से और नाद की उत्पत्ति अनाहत नाद से मानी गई है। यह अनाहत नाद ही शुद्ध सृष्टि का कारण

---

१. इस बिन्दु की सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार अवस्थाओं का रत्नत्रय (श्लो. ७२-८५) में स्पष्ट स्वरूप वर्णित है। वहाँ (श्लो. ८५-८६) इस बिन्दु की निवृत्ति आदि पाँच वृत्तियों का भी वर्णन किया गया है। मतान्तर की समालोचना के साथ यहाँ (श्लो. १२६-१८२) बिन्दुविषयक अतिविस्तार देखने को मिलता है।

२. परनादाख्य बिन्दु का प्रपंचसार और शारदातिलक में वर्णित स्वरूप हमारे "आगम और तन्त्रशास्त्र" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टिप्रक्रिया" शीर्षक निबन्ध (पृ. ८९-९८) में देखा जा सकता है। इस विषय पर यहाँ पुनः विचार किया जायगा।

है। अघोरशिव का कहना है कि अनाहत बिन्दु महामाया का ही नाम है, जिससे शुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है (पृ. १७८)।

शास्त्र का विस्तार

सदाशिव के पाँच मुखों में से प्रत्येक से पाँच-पाँच प्रकार के लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक शास्त्रों से २५ प्रकार[1] के स्रोत निकलते हैं। समस्त वाङ्मय, समस्त शास्त्र इन्हींमें समाविष्ट हैं। कामिकागम में कहा गया है—लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्र के भेद से शास्त्र अनेक प्रकार के हैं। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक भगवान् शिव के पाँच मुखों में से प्रत्येक के पुनः पाँच-पाँच भेद होते हैं और इस प्रकार पचीस मुखों से पचीस प्रकार के शास्त्रों का स्रोत फूट पड़ता है। समस्त विषयों का ज्ञान कराने वाला वाङ्मय इसीमें समाविष्ट है। स्वच्छन्दतन्त्र (११.४३-४५) में बताया गया है—सद्योजात मुख से लौकिक, वामदेव से वैदिक, अघोर से आध्यात्मिक, तत्पुरुष से अतिमार्ग और ईशान मुख से मन्त्रसंज्ञक महाज्ञान विनिर्गत होता है। अतिमार्ग का लक्षण वहाँ (स्व. त. ११.१८२) इस प्रकार दिया गया है—मनुष्य की बुद्धि से अतीत मार्ग को अतिमार्ग कहते हैं। लोकातीत ज्ञान को ही अतिमार्ग कहा जाता है। यही विषय **सोमसिद्धान्त** में भी वर्णित है—लौकिक तन्त्र के और वैदिक तन्त्र के भी पाँच-पाँच भेद हैं। इसी तरह से आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्रनामक तन्त्रों के भी पाँच-पाँच भेद शास्त्रों में कहे गये हैं। इन लौकिक आदि शास्त्रों में से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेदों का स्वरूप सर्वात्मशंभु-कृत सिद्धान्तदीपिका में वर्णित है। सौभाग्य से यह [2]ग्रन्थ अब उपलब्ध हो गया है।

उमापति शिवाचार्य ने अपने ग्रन्थ शतरत्नसंग्रह (पृ. ८-९) में इस विषय को प्रस्तुत करने के बाद मान्त्रिक शास्त्र के पाँच भेदों का परिचय देते हुए कहा है—पंचविध मान्त्रिक शास्त्र क्रमशः भगवान् सदाशिव के ऊर्ध्व, पूर्व, कुबेर (उत्तर), वरुण (पश्चिम) और याम्य (दक्षिण) मुख से निःसृत हैं। ऊर्ध्व मुख से मुक्तिप्रद सिद्धान्तशास्त्र, पूर्व मुख से सर्वविध विषनाशक गारुड़तन्त्र, उत्तर मुख से सर्ववशीकरण वामतन्त्र, पश्चिम मुख से भूत-ग्रह आदि के दोषों को दूर करने वाले भूततन्त्र एवं दक्षिण मुख से शत्रुनाशक भैरवतन्त्रों का प्रादुर्भाव होता है। कामिकागम में भी यही कहा गया है—

---

१. लुप्ता. उपो., पृ. ११३ की २री टिप्पणी देखिये।

२. भाषानुवाद और टिप्पणियों के साथ इसका प्रकाशन शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से सन् १९९६ में हो चुका है।

तथैव मन्त्रतन्त्राख्यं सदाशिवमुखोद्गतम् ।
सिद्धान्तं गारुडं वामं भूततन्त्रं च भैरवम् ।।
ऊर्ध्व-पूर्व-कुबेराप्य-याम्यवक्त्राद् यथाक्रमम् ।

लुप्ता. के दोनों भागों में संगृहीत वचनों में इन सभी तथा इनसे भिन्न शास्त्रों के नाम मिलते हैं। जैसे कि प्रथम भाग के पृ. २७ पर वेदान्त, वैष्णव, शैव, सौर और बौद्ध शास्त्रों का, पृ. २९ पर वाम और दक्ष तन्त्रों का, पृ. ४३ पर कापालिक मत का, पृ. ६९ पर कौलिकी विद्या (वामेश्वरी अवतार) का, पृ. ८२ पर भैरव और सिद्धान्त मत का, पृ. ९१ पर वाम मत का, पृ. ९६ पर सिद्धान्त, तन्त्र, त्रिक, कुल, कौल, वाम और भैरव मतों का, पृ. ११९ पर वाम नय का उल्लेख मिलता है। इसी तरह से द्वितीय भाग के पृ. २१-२२ पर वेद, सांख्य, पुराण, पांचरात्र, बौद्ध और आर्हतों की, पृ. १५२ पर सांख्य, योग, वेदान्त, पांचरात्र, योगिमहेश्वर और मोक्षवादियों की चर्चा मिलती है। कुब्जिकातन्त्र को यहां (भा.१, पृ. २२) षडन्वय तन्त्र कहा गया है। कैवल्याश्रम षडन्वय शांभवमत को उद्धृत करते हैं। तन्त्रसार (पृ. ३२) में अभिनवगुप्त पारमेश्वर, सिद्धान्त, तन्त्र, कुल और उच्छुष्मशास्त्र का स्मरण करते हैं। श्रीकुल[1] और कालीकुल नामक मतों की चर्चा मिलती है। स्रोतोभेद और आम्नायभेद से भिन्न इन सभी शास्त्रों (मतों) का परिचय यथास्थान (पृ. २५-३५) दिया जा चुका है।

शक्तिसंगमतन्त्र के चारों भागों में भी शास्त्रों के विस्तार की चर्चा अतिविस्तार से मिलती है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के उपोद्‌घात के पूर्वार्ध में इनका एक साथ परिचय दिया गया है। वहाँ इस प्रकरण में षडंग वेद और चतुर्दश विद्यास्थान का संक्षेप में तथा आगम ग्रन्थसंख्या, पर्यायसप्तक (देश, काल, आम्नाय, विद्या, दर्शन[2] (षड्विध आयतन, आगम), कादि-हादि-कहादि विभाग, केरल कश्मीर-गौड नामक त्रिविध विभाग, दक्षिण और वाम भेद, भेदोपभेद के साथ विविध सम्प्रदाय, सम्प्रदायों का उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य, परस्पर अन्तर्भाव, परस्पर निन्दा और उसका प्रयोजन, नाना प्रकार के सम्प्रदाय, वैदिक परम्परा का अनुपालन,

---

१. श्रीकुल शब्द से त्रिपुरा सम्प्रदाय का और कालीकुल पद से क्रम सम्प्रदाय का ग्रहण किया जाता है।

२. शक्ति. उपो. (पृ. २६-२७) द्रष्टव्य। यहाँ षड्दर्शनों के अतिरिक्त तारा, त्रिपुरा और छिन्ना के षड्दर्शनों की भी अलग अलग चर्चा है।

शंकराचार्य-प्रवर्तित [1]दशनामी सम्प्रदाय, [2]सप्तविध अवधूत सम्प्रदाय:, आर्हत सम्प्रदाय, कालामुख सम्प्रदाय, कापालिक और कौल सम्प्रदाय, गाणपत्य, घोर, चण्ड और चान्द्र[3] सम्प्रदाय, चीन एवं चैतन्य सम्प्रदाय, दिव्य-वीर-पशु नामक त्रिविध मार्ग, दौर्ग, पाशुपत एवं पाषण्ड सम्प्रदाय, बौद्ध-भैरव-विलास-वैष्णव सम्प्रदाय, शाक्त-शैव-सौर-स्मार्त सम्प्रदाय एवं स्वायम्भुव सम्प्रदाय का परिचय देने के साथ सम्प्रदाय-परम्परा का भी परिचय दिया गया है (पृ. २१-५०)। विस्तार के भय से यहाँ इसमें से कुछ ही मतों की चर्चा यथास्थान करेंगे।

शास्त्रों में प्रमाण-तारतम्य

शास्त्ररूप ज्ञान में तन्त्रागमशास्त्र की दृष्टि से वेद आदि का ज्ञान अपर और सिद्धान्त ज्ञान पर है। सिद्धान्त ज्ञान में भी शिवज्ञान पर और रुद्र ज्ञान अपर है। शिव ज्ञान में भी प्रवक्ता के क्रम से और यजन के क्रम के अनुसार परापर विभाग किया जाता है। रुद्र ज्ञान में और इनके उपभेदों में भी यह [4]परापर क्रम निर्धारित किया जाता है। इसी तरह से शब्द ज्ञान की तरह अवबोधरूप ज्ञान में भी शुद्ध मार्ग, अशुद्ध मार्ग, शिव, सदाशिव, पशु, माया आदि के प्रकाशक ज्ञान के रूप में परापर भेद किये जाते हैं। जैसा कि स्वायम्भुवागम में कहा गया है—शिव के मुख से नि:सृत एक ही शास्त्र परापर आदि के भेद से और प्रतिपाद्य वस्तु के भेद से अनेकविध हो जाता है। कामिकागम में भी कहा गया है—अधिकारी के भेद से प्रथमत: शिव ज्ञान द्विधा विभक्त हो जाता है। पति और पशु का निदर्शक यह ज्ञान पर और अपर के भेद से द्विविध माना गया है। इनमें शिव का प्रकाशक ज्ञान पर और पशु एवं पाश का निरूपक वेद आदि का ज्ञान अपर कहलाता हैं। जैसे रात्रिकाल में श्वान, विडाल आदि का चक्षु विलक्षण होता है, उसी तरह से इस परापर ज्ञान की भी विलक्षणता को समझना चाहिये।

शास्त्रों के इस प्रमाण-तारतम्य का विस्तार से वर्णन मिलता है। जैसे कि सर्वज्ञानोत्तर में मनुष्य, ऋषि, देवता, ब्रह्मा, विष्णु के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष बताया गया है। कामिकागम में वेद, सांख्य, पुराण, पांचरात्र,

---

१. शक्ति. उपो., (पृ. ३६-३८) देखिये। इसी शीर्षक का हमारा निबन्ध 'तन्त्रागमीयं संस्कृतिदर्शनम्' शीर्षक ग्रन्थ (पृ. ८३-८५) में छपा है।

२. वहीं, पृ. ३८-३९ देखिये।

३. लुप्ता. उपो. (पृ. ८०) में सोमसिद्धान्त का विवरण देखिये।

४. मुण्डकोपनिषत् (१.१.४-५) में श्रुतियों में भी परापर भेद की चर्चा की गई है।

बौद्ध, आर्हत आदि शास्त्रों में अवरत्व प्रदर्शित है। तन्त्रालोक (१३.३०४-३०५) में अभिनवगुप्त का कथन है कि वाम मार्ग में अभिषिक्त परतत्त्ववित् आचार्य को भी भैरव तन्त्र में प्रवेश इस मत में दीक्षित होने पर ही मिल सकता है। शैव, [1]वैमल, सिद्धान्त, आर्हत, कारुक आदि मतों में दीक्षित व्यक्ति भैरव मत में वर्णित मातृमण्डल में प्रवेश नहीं पा सकता। टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट किया है कि कुल-कौल मत में वर्णित मातृमण्डल में भैरव तन्त्र में दीक्षित व्यक्ति भी प्रवेश नहीं पा सकते। तन्त्रा. (१३.३००-३०१) में सिद्धान्त, वाम, दक्ष, मत, कुल, कौल और षडर्ध (हृदय) शास्त्रों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता मानी गई है। तन्त्रा. (१५.३१९-३२०) में ही बताया गया है कि सिद्धान्त मत में विद्या तत्त्व पर्यन्त, वाम और दक्ष शास्त्र में सदाशिव पर्यन्त, मत और यामल शास्त्र में समना पर्यन्त और त्रिकशास्त्र में उन्मना पर्यन्त साधक को पहुँचाने की शक्ति है। जयरथ ने षडर्ध, हृदय और त्रिक को पर्याय शब्द माना है। स्पष्ट है कि यहाँ त्रिकशास्त्र को सर्वोत्तम माना गया है। तन्त्रा. (२२.४०-४१) में कहा गया है कि २८ भेद वाले सिद्धान्तशास्त्र और ६४ भेद वाले भैरवागम में दीक्षित व्यक्ति को ही त्रिक, सिद्धवीरावलीसार और भैरवीय कुल में प्रवेश का अधिकार है। यहां क्रमिक रूप से दीक्षा का अधिकार दिया गया है। जयरथ द्वारा (तन्त्रा. वि. १३.३१४) उद्धृत वचन में वैष्णव, सौगत, श्रौत एवं वेदान्ती को पतिशासन का अनधिकारी माना गया है। इसी तरह वहीं (२९.७४) आगे बताया गया है कि सिद्धान्त, वैष्णव, बौद्ध, वेदान्ती और स्मार्त मत के अनुयायी इस (पति) मत में प्रवेश के अयोग्य हैं। इन सबकी पशुमत में गणना की जाती है। तन्त्रा. (१३.३२०-३२१) में बताया गया है कि इसीलिये सिद्धान्ती वाम मत में, वह दक्ष मत में, वह मतशास्त्र में, वह कुल, कौल और त्रिक शास्त्र में प्रवेश नहीं पा सकता। इससे भी शास्त्रों का तरतमभाव स्पष्ट होता है। अन्यत्र (तन्त्रा. ३५.३१-३४) त्रिक और कुल मत की सर्वोत्तमता निर्दिष्ट है। नि. षो. के उपोद्घात (पृ.५३) में भी यह विषय चर्चित है।

स्वच्छन्दतन्त्र (११.६९-७४) में शास्त्रों का तरतमभाव इस प्रकार वर्णित है—बौद्धों का परमपद सर्वज्ञता (बुद्धितत्त्व) माना जाता है। आर्हतों (जैनों) का गुणपद, वैदिकों का प्रधानपद, सांख्यों का सुखदुःखादिवर्जित पुरुषपद, योगशास्त्र का षड्विंश ईश्वरपद, पाशुपतों का परमपद ऐश्वर्यगत, मौसुल और कारुक मत का मायातत्त्वगत क्षेमेश ब्रह्मस्वामी और वैमल मत का तेजेशगत एवं प्रमाणमत का ध्रुवपद

---

१. वैमल, कारुक आदि पाशुपतों की चर्चा स्वच्छन्द एवं उसकी उद्योत टीका में मिलती है। अभी आगे उनकी चर्चा की जायगी।

प्राप्य है। जप, भस्म आदि क्रियाओं में निरत पाशुपत ऐश्वरपद को प्राप्त करते हैं। इन सबसे ऊपर शैवों का परमपद है।

यहाँ पाशुपतों के भेद भी वर्णित हैं। इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए क्षेमराज कहते हैं कि पाशुपतों के लाकुल और मौसुल नामक दो भेद हैं। लकुलीश के शिष्य कारोहण स्थल में अवतीर्ण मुसुलेन्द्र ने मायातत्त्वगत क्षेमेश ब्रह्मस्वामी की प्राप्ति के लिये क्रियाप्रधान शास्त्रों में नाना प्रकार के व्रतों का विधान बताया है। इसी तरह से वैमल नाम के पाशुपत तथा अन्य पंचार्थ प्रमाणाष्टक के उपासक ईश्वरतत्त्वगत तेजेश एवं ध्रुवेश को परम पद मानते हैं। इनसे भिन्न शैव [1]छः स्रोतों में विभक्त शैवशास्त्र के अनुवर्ती हैं। "शैवाद् वामम्" यहाँ शिव पद से अनुत्तीर्ण शिवपद के प्रापक किरण आदि सिद्धान्तशास्त्र गृहीत हैं। जयरथ (तन्त्रा. वि. १.३३) ने इस विषय को स्पष्ट किया है। इस तरह लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चतुर्विध पाशुपत मतों की सूचना यहाँ मिलती है। लाकुल मत की सूचना स्वच्छन्द में अन्यत्र (४.१५९) भी मिलती है। क्षेमराज 'अन्यत् तन्त्र' शब्द से लाकुल मत का ग्रहण करते हैं। "न ते (मन्त्रमन्त्रेश्वरादयः) लाकुलादिदृशि इव पशुरूपाः" (ई. प्र. वि. वि., भा. २, पृ. ४०५) यहाँ अभिनवगुप्त लाकुल मत को अवर मानते हैं। अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. १९३-१९७) में भी शास्त्रों के प्रामाण्य की तरतमता पर विचार किया है। अन्यत्र (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ८९-१००) सभी [2]आगमों का प्रामाण्य स्वीकृत है।

सभी शास्त्रों का प्रामाण्य

तन्त्रशास्त्र में अन्ततः सभी शास्त्रों को समान रूप से प्रमाण मान लिया गया है। नरेश्वरपरीक्षा (३.७६) में सद्योज्योति शिवाचार्य का कहना है कि शैवशास्त्र में वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार किया गया है। इसीलिये वेदों के प्रामाण्य को स्थापित करने का हमारा यह प्रयत्न है। इसकी व्याख्या करते हुए रामकण्ठ भी एक श्लोक को उद्धृत करते हैं कि वेदोक्त वर्णाश्रमाचारों का मन से भी उल्लंघन न करे। [3]स्वच्छन्दतन्त्र में भी सांख्य, योग, पांचरात्र और वेदों की निन्दा निषिद्ध

---

१. षड्विध स्रोतों की विस्तार से चर्चा की जा चुकी है (पृ. ३१)। लुप्ता. उपो. की पृ. ११३ की २ री टिप्पणी भी देखिये।

२. भट्ट नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ के सर्वागमप्रामाण्य के आधार पर इसकी चर्चा उपसंहार में की जायगी।

३. "सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत्। यतः शिवोद्भवाः सर्वे ह्यपवर्गफलप्रदाः।।" (५.४४-४५)

मानी गई है। इसी तरह से वहाँ (५.४५) सदाचार मार्ग के दर्शक स्मार्त धर्म की निन्दा को भी वर्जित माना है। सांख्य, योग आदि के विषय में तन्त्रालोक (३५.३६) में भी यही कहा गया है। मोक्षकारिका की वृत्ति (श्लो. १४४) में रामकण्ठ का कहना है कि हमने अपने सर्वागमप्रामाण्य में सभी आगमों की प्रामाणिकता को स्थापित करते हुए कहा है कि शैवागम के प्रामाण्य को स्थापित करने का अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य सारी दृष्टियाँ अप्रामाणिक हैं। यामुनाचार्य का काश्मीरागमप्रामाण्य आज उपलब्ध नहीं है। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ९२) में उद्धृत मायावामनसंहिता के अनुसार विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में उन उन शक्तियों के परिवारों से युक्त भगवान् एक ही हैं। ध्यानभेद से एक ही भगवान् की विविध रूपों में उपासना की जाती है। नेत्रतन्त्र १३वें अधिकार की व्याख्या करते समय क्षेमराज कहते हैं कि इस प्रकरण में मायावामनिका में वर्णित ऊर्ध्वलिंगी विश्वरूप तथा नरसिंह, वराह, वामन, एवं कपिल अवतारों के ध्यानों का स्वरूप बताया गया है। नेत्रतन्त्र में ही नवम से लेकर त्रयोदश अधिकार तक वाम, दक्षिण, सिद्धान्त, कुलाम्नाय, वैष्णव, सौर और बौद्ध मतों में स्वीकृत परतत्व का विवेचन किया गया है। महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या (पृ. ११) में भी बताया गया है कि यह परम तत्त्व लोकायत के मत में देह-स्वरूप, शून्यवादियों के यहाँ शून्य-स्वरूप, क्षणिकवाद में क्षण-स्वरूप, भेदवादियों के यहाँ भेद-स्वरूप, मीमांसकों के मत से अपूर्व-स्वरूप, ब्रह्मवादियों के यहाँ ब्रह्म-स्वरूप, अद्वैतवादियों के यहाँ सभी प्रकार के भेदों से अतीत हैं। इस विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है कि यही बच्चों का खिलौना और जिज्ञासुजन का गुरु है। महार्थ (क्रम-दर्शन) के मनीषियों के लिये यह परम तत्त्व महार्थ-स्वरूप है।

शास्त्रों के उपदेष्टा (आयातिक्रम)

यह शास्त्रस्वरूप अपर ज्ञान सदाशिव, अनन्त, श्रीकण्ठ आदि देवों और मुनि(ऋषि)गणों की परम्परा से पृथिवी पर उतरता है। पौष्करागम में बताया गया है कि [1]अनुष्टुप् छन्द के बहुकोटि श्लोकों में निबद्ध यह शिवज्ञान पहले सदाशिवदेव तब अनन्तदेव और फिर श्रीकण्ठ की परम्परा से ऋषियों को और उनसे मनुष्यों को प्राप्त होता है। इस शास्त्र में चार पाद हैं। मृगेन्द्रागम (२.२) में बताया गया है कि जगत् के स्वामी तीन पदार्थों के प्रतिपादक चार पाद वाले महातन्त्र का उपदेश करते हैं। शास्त्रों का यह आयातिक्रम प्रत्येक शाखा में अपनी-अपनी पद्धति से

१. "अनुष्टुप्छन्दसा" इत्यादिक श्लोक मतंगपारमेश्वर विद्यापाद (१.३०) में थोड़े पाठभेद के साथ उपलब्ध है।

वर्णित है। लुप्ता. में संगृहीत वचनों और उन-उन आधार-ग्रन्थों में उपलब्ध कुछ शाखाओं का क्रम यहाँ दिखाया जा रहा है।

कामिक आदि दस आगम शिवभेद और विजय आदि अठारह आगम रुद्रभेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। शिवरुद्रात्मक ये अट्ठाईस तन्त्र [१]सिद्धान्तशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। शिवभेद के तीन-तीन और रुद्रभेद के दो-दो, कुल मिलाकर इन २८ आगमों के ६६ श्रोता हैं। मुकुटतन्त्र में बताया गया है कि शिवभेद नामक आगमों के श्रोता तीन-तीन तथा रुद्रभेद के दो-दो, इस तरह से ६६ श्रोताओं की परम्परा से यह सिद्धान्तशास्त्र लोक में अवतरित हुआ है। शिवभेद और रुद्रभेद में विभक्त इन अट्ठाईस आगमों के नाम एवं इनके वक्ताओं और श्रोताओं की नामावली लुप्ता. प्रथम भाग में संगृहीत किरणागम के विस्तृत उद्धरण में मिलती है। किरणागम का विद्यापाद अब प्रकाशित हो चुका है। रौरवागम (भा. १, पृ. ७-९) और अजितागम (भा. १, पृ. ४-१०) में भी यह विषय देखा जा सकता है।

स्वच्छन्दभैरव में दक्षिणागम (भैरवागम) का आयातिक्रम इस प्रकार प्रदर्शित है—प्राचीन काल में शिव ने असंख्य, अप्रमेय ज्ञान का ईश्वर को उपदेश किया। शिव की इच्छा से ईश्वर ने श्रीकण्ठ को दिया। उसके बाद श्रीकण्ठ ने प्रधान आदि दस रुद्रों को सभी कामनाओं और प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले इस दक्षिणागम का उपदेश किया। स्वच्छन्दतन्त्र (८.३२-३९) का भी इस विषय में कहना है—सर्वप्रथम ईश्वर को यह ज्ञान प्राप्त हुआ। शिव की इच्छा से ईश्वर ने विद्या एवं विद्येश्वरों को यह ज्ञान आदरपूर्वक दिया। इसके बाद माया से नियति पर्यन्त भुवनों के निवासी रुद्रों को यह प्राप्त हुआ। ईश्वर से प्राप्त इस परम दुर्लभ ज्ञान को श्रीकण्ठ ने ईश्वर की इच्छा के अनुसार प्रधान से लेकर शतरुद्र पर्यन्त रुद्रों को दिया। इसी प्रसंग में श्रीकण्ठ ने दीक्षा और अभिषेक के उपरान्त मुझे (स्वच्छन्द को) भी सर्वार्थसाधक इस ज्ञान को दिया और मैंने भी अधिकार के साथ यह ज्ञान तुम्हें दिया है। अब आगे तुम इस ज्ञान को स्कन्द, रुद्र आदि को देना और वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, देव, वसु, मातृगण, नाग, यक्ष आदि को संक्षेप में इसका उपदेश करेंगे। इस प्रकार शिवोक्त यह ज्ञान ऋषियों और मनुष्यों को भी प्राप्त होगा। यह स्वच्छन्दतन्त्र शिवोक्त उसी दिव्य ज्ञान का खजाना है।

---

१. अट्ठाईस सिद्धान्तागमों की नामावली अनेक स्थलों पर मिलती है। उनमें अनेक तरह के पाठभेद मिलते हैं। इनकी सुनिश्चित नामावली अपेक्षित है। इस शब्द का जैन सम्प्रदाय से भी संबन्ध प्रतीत होता है।

तन्त्रालोक (३७.१४-१६) में यह आयातिक्रम भिन्न प्रकार से वर्णित है। जैसे कि इस शास्त्र के श्रीकण्ठ और लकुलीश्वर ये दो आप्त पुरुष हैं। इन्हीं दो आप्त पुरुषों से नि:श्रेयस को देने वाला यह ज्ञान दो मार्गों से प्रवाहित हुआ। इनमें श्रीकण्ठ का शासन पाँच स्रोतों में विभक्त हो गया। यहाँ लकुलीश की परम्परा को नहीं दिखाया गया है। तन्त्रालोक में ही अन्यत्र (३६.१-१४) कहा गया है—अब इस शास्त्र का अवसरप्राप्त आयातिक्रम यहाँ बताया जा रहा है। यह सिद्धों के द्वारा विनिर्दिष्ट क्रम हमें गुरुजनों से प्राप्त हुआ है। भैरव, देवी भैरवी, स्वच्छन्द, लाकुल, अणुराट् (मन्त्रेश्वर), गहनेश, ब्रह्मा, शुक्र, गुरु—इन नौ देवताओं ने नौ करोड़ विस्तार वाले इस शास्त्र का प्रचार किया। गुरु (बृहस्पति) ने अपने कोटि- प्रमाण शास्त्र को १७ खण्डों में विभक्त कर एक पाद दक्ष आदि को, दो पाद संवर्त आदि को, एक पाद वामन आदि को, आधा पाद भार्गव को, चौथाई पाद बलि को, चौथाई पाद (नर) सिंह को, बचे दो भाग गरुड़ को और एक वासुकि नाग को दिया। आधे भाग को रावण ने स्वर्ग से अपहृत कर लिया। विभीषण के मुख से राम ने इस आधे भाग को प्राप्त किया। इस प्रकार गुरु-शिष्य की परम्परा से यह १९ खण्डों में विभक्त ज्ञान धरातल पर उतरा। राम से लक्ष्मण को, लक्ष्मण से सिद्धों, दानवों, गुह्यकों, योगियों एवं श्रेष्ठ मानवों तक यह ज्ञान पहुँचा। बीच में यह ज्ञान अकस्मात् नष्ट हो गया। कालान्तर में श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से सिद्ध अवतरित हुए। [1]त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नाम के ये सिद्ध क्रमशः [2]अद्वय, द्वय और द्वयाद्वय सिद्धान्त में निपुण थे। त्र्यम्बक की दुहिता से भी एक सम्प्रदाय अर्धत्र्यम्बक नाम से प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार शैव सम्प्रदाय के चार मठ सन्तति-क्रम से प्रचलित हुए थे। शिष्य एवं प्रशिष्य के विस्तार से अब इस शैव-सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ प्रवृत्त हो गई हैं। यहाँ लाकुल का नाम भी उल्लिखित है, तो भी यह लकुलीश की परम्परा नहीं है। प्रधान रूप में यहाँ भैरवागम की तथा सामान्य रूप में शिवशासन की त्रिविध परम्परा ही सूचित है।

क्रमकेलि में सूचित शिवानन्दनाथ आदि, देवीपंचशतिका में स्मृत निष्क्रियानन्दनाथ, विद्यानन्द, शक्त्यानन्द, शिवानन्द; पादुकोदय में वर्णित मंगलादीप्ति, शिवानन्द आदि अम्बा और नाथ-पदान्त गुरुओं और गुरुपत्नियों की परम्परा, शक्ति, शिव, देवपाणि, दक्षिणामूर्ति एवं सोमराज द्वारा स्मृत वामनभानु, सोमराज—इन सब क्रमागम के आचार्यों की परम्परा की परिचय डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय एवं डॉ. नवजीवन रस्तोगी के ग्रन्थों से प्राप्त किया जा सकता है।

---

१. देशभाषा में तेरम्बा के नाम से प्रसिद्ध त्र्यम्बक मठिका की परम्परा शिवदृष्टि (७.१०७-११२) में वर्णित है।

२. इन तीन नामों से प्रसिद्ध शिवशासन की परम्परा के लिये लुप्ता. उपो. (पृ. ११९) की २री टिप्पणी देखिये।

खगेन्द्र, कूर्म, मेष और मच्छन्द (मत्स्येन्द्र) नामक चार युगपुरुषों; अमर, वरदेव, चित्र, अलिनाथ, विन्ध्यनाथ और गुडिकानाथ नामक छः साधिकार राजपुत्रों तथा भट्ट, इन्द्र, वल्कल, अहीन्द्र, गजेन्द्र और महीधर नामक छः निरधिकार राजपुत्रों की चर्चा तन्त्रालोक (२९.२९-४१) में मिलती है। तन्त्रालोक में ही देवीयामल के प्रमाण से दस गुरुओं के नाम दिये गये हैं। तदनुसार भगवान् शिव ही उच्छुष्म, शबर, चण्डगु, मतंग, घोर, अन्तक, उग्र, हलहल, क्रोध और हुलुहुलु—इन दस गुरुओं का स्वरूप धारण कर लेते हैं (२८.३९०-३९१) और ये सभी मद्य, मांस और मैथुन प्रधान अर्चनविधि का उपदेश करने वाले शास्त्रों में दीक्षित हैं (२८.३९३)। जयरथ द्वारा उद्धृत देवीयामल के वचन से यह ज्ञात होता है कि ये सभी आचार्य कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। आनन्दशासन के वचन से भी यह ज्ञात होता है कि मातङ्ग, हुलुहुलु, हेतुक, दिव्यरूपी, कापालिक, कंकाल, महोच्छुष्म आदि असंख्य आचार्य महाचण्डेश्वर की प्रेरणा से उग्र द्रव्यों से विहित शिवपूजा के शासन में दीक्षित होकर उग्र द्रव्यों से जीवनयापन करते हैं। डॉ. [1]कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इन सबका परिचय दिया है।

पंचविध अथवा षड्विध संबन्ध

भगवान् शिव से प्रवृत्त ज्ञान हम तक पहुँचता है। शास्त्रों में बताया गया है कि इस प्रक्रिया में पर, महान्, दिव्य, दिव्यादिव्य और अदिव्य नामक [2]पाँच प्रकार का संबन्ध जुड़ता है। यह पंचविध बोध्यबोधक-स्वरूप संबन्ध अध्यापक और शिष्य के साथ जुड़ता है। यहाँ शिव और सदाशिव का यह संबन्ध पर, सदाशिव और निधनेश का महान्, निधनेश और स्वयंभू का दिव्य, स्वयंभू और बालखिल्य का दिव्यादिव्य तथा बालखिल्य एवं मनुष्यों का अदिव्य कहलाता है। स्वायम्भुवागम की पद्धति से यह पंचविध संबन्ध वर्णित है। इसीका अनुवर्तन अन्यत्र भी किया जाता है। जैसे कि कुलरत्नमाला अथवा रत्नमाला में महान्, अवान्तर, दिव्य, दिव्यादिव्य तथा इतरेतर नामक पंचविध संबन्ध वर्णित हैं। अमित तेजोमय परिपूर्ण

---

१. द्रष्टव्य—अभिनवगुप्त., पृ. ५४३-५४८; निष्क्रियानन्दनाथ आदि चार आचार्य क्रमदर्शन के हैं, कौल सम्प्रदाय के नहीं। क्रम और कुल मत में सिद्धान्ततः अधिक भेद नहीं है, यह बात अपनी जगह पर ठीक है, किन्तु आचार्यों की परम्परा तो दोनों मतों की भिन्न है ही।

२. पंचविध संबन्ध स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ८४) में भी प्रदर्शित है। पंचविध एवं षड्विध संबन्ध के प्रवृत्ति-प्रयोजक तत्त्व का निदर्शन ऊपर (मूल ग्रन्थ में पृ. ३०३) सिद्धान्तसारावलि के आधार पर स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकरण में इतनी बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि ग्रन्थ के पादिक आदि पंचविध संबन्धों से शास्त्र के आयातिक्रम के पंचविध अथवा षड्विध संबन्ध पूरी तरह से भिन्न हैं।

परमशिव और उसकी इच्छास्वरूपा सादाख्या कला जब स्वतन्त्र स्वरूप धारण कर लेती है, तो इनका परस्पर संबन्ध महान् कहलाता है। सादाख्य कला के साथ अनन्तेश का संबन्ध अवान्तर, अनन्तेश (श्रीकण्ठ) के साथ नन्दी का संबन्ध दिव्य, नन्दी के साथ ऋषियों का संबन्ध चतुर्थ दिव्यादिव्य तथा विद्यापीठ के माध्यम से ऋषियों और मानवों का शिष्याचार्य के रूप में स्थापित पंचम संबन्ध इतरेतर कहलाता है। यहां संबन्धों की संख्या पाँच होते हुए भी उनके नामों और क्रम में अन्तर है। पंचम अदिव्य को ही यहाँ इतरेतर नाम दिया गया है। परात्रीशिकाव्याख्या में अभिनवगुप्त ने अनुत्तर नय में केवल पर नामक एक ही संबन्ध माना है। जैसे ईश्वर की अनुग्रह शक्ति सदा सभी प्रमाताओं में निरन्तर प्रकाशित होती रहती है, अतः षडर्धशास्त्र (त्रिकदर्शन) में केवल **पर** संबन्ध ही मान्य है। इस अनुत्तर शास्त्र में महान्, अन्तराल (अवान्तर), दिव्य, अदिव्य आदि उपदेशों की कोई अपेक्षा नहीं रहती (पृ. १२-१३)। यह पंचविध संबन्ध त्रिक-हृदय में अवश्य वर्णित है।

भट्ट नारायणकण्ठ की विद्यापाद की वृत्ति में भिन्न प्रकार का पंचविध संबन्ध बताया गया है। वे कहते हैं कि प्रकरण के प्रारंभ में पंचविध संबन्ध बताना चाहिये, जैसा कि पौष्करागम में कहा गया है। तन्त्रशास्त्र में पटल के आरंभ के साथ सूत्र (श्लोक) पढ़ा जाता है, अतः इनका परस्पर पंचविध संबन्ध बताया जाना चाहिये—तन्त्र में प्रतिपादित पति-पशु-पाश नामक तीन पदार्थों का "त्रिपदार्थं चतुष्पादम्" यहाँ निर्दिष्ट क्रम से पटल का पतिपरीक्षा स्वरूप, सूत्र का "सर्वकृत् सर्वविच्छिवः" इससे पतिलक्षण स्वरूप तथा वाक्य का आगे के पटलगत 'जगत्कृत्' इत्यादि वाक्यों से, इसी तरह से प्राकरणिक विद्यापाद के अन्य प्रकरणों का पाटलिक संबन्ध पूर्व पटल के अन्त में निर्दिष्ट सर्वेशान आदि शब्दों के द्वारा आगे के अन्य पटलों के साथ बताया जाता है। इसी क्रम से विद्यापाद पर्यन्त यह पंचविध संबन्ध यहाँ वर्णित है (पृ. ९७-९८)। तन्त्रालोक (२८.४००-४०३) में भी देवीयामल के प्रमाण से यह पंचविध संबन्ध सूचित है। जयरथ (पृ. १७१-१७२) ने उसे इस प्रकार उद्धृत किया है—पादिक, पाटलिक, पाद, सूत्र और वाक्य नामक पांच संबन्ध शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं। प्रत्येक संहिता (आगम) में चार पाद हैं। प्रारंभ, मध्य और अन्त में वर्णित समस्त विषयों का एक अनुस्यूत एवं अविरोधी रूप में प्रतिपादन करना पादिक संबन्ध माना गया है। इसी तरह से एक पटल के अन्त में अन्य पटल के साथ अनुस्यूतता को बताना पाटलिक, एक पटल में वर्णित पदार्थों का अन्य पटलों में वर्णित पदार्थों के साथ संबन्ध पादार्थ, एक सूत्र में वर्णित अर्थ की सम्यक् परीक्षा कर अन्य सूत्र के साथ उसकी

अनुस्यूतता को बताना सौत्र तथा एक पटल के विभिन्न सूत्रों का अन्य सूत्र-वाक्यों के साथ संबन्ध का संयोजन वाक्यगत संबन्ध माना जाता है। यहाँ सुसंस्कृत शब्दों का नदी के प्रवाह के समान, कभी पवन के वेग के कारण उठी तरंगों के समान, कभी हाथी की चाल के समान, कभी मण्डूकप्लुति और कभी सिंहावलोकित न्याय से शिष्य के प्रबोधन के लिये आचार्य शास्त्र के स्वरूप को, तद्गत विषयों को समझाने के लिये इन संबन्धों का सहारा लेता है, शिष्य की जिज्ञासा के अनुसार अपने आम्नाय की मर्यादा का पालन करता हुआ समाधान प्रस्तुत करता है (पृ. १७१-१७२)।

इस तरह से यहाँ आयातिक्रम के तथा ग्रन्थक्रम से संबद्ध पाँच संबन्धों का शास्त्रों में वर्णित स्वरूप दो तरह के उद्धरणों की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

मृगेन्द्रवृत्ति-विद्यापाद (पृ. ७) में छः प्रकार के संबन्ध वर्णित हैं। अघोरशिव ने मृगेन्द्रवृत्ति की अपनी दीपिका टीका में पर, महान्, अन्तराल, दिव्य, दिव्यादिव्य और अदिव्य नामक छः संबन्ध बताये हैं। ऊपर वर्णित पाँच संबन्धों में पर या अन्तराल की गणना नहीं की जाती। तन्त्रालोक (१.२७३-२७५) और उसकी विवेक टीका में षड्विध संबन्ध को ही बताया गया है। जयरथ (पृ.२८१) का कहना है कि पंचविध संबन्ध में षष्ठ पर-संबन्ध की सर्वत्र अनुस्यूति रहने से उसकी अलग से गणना नहीं की जाती। अभिनवगुप्त (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ४००) और क्षेमराज (ने. उ., भा. १, पृ. १७; स्व. उ., ८.२७) षड्विध संबन्ध को ही मान्यता देते हैं।

त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि के चतुर्थ चर्यापाद के प्रथम दो श्लोकों में और उसकी अनन्तशंभु-कृत संस्कृत टीका में इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। अवबोध-रूप और शब्द-रूप परापर ज्ञान का स्वरूप बता कर वहाँ (पृ. २७६-२७७) **महौघक्रम** लक्षण और **गुरुसंहिता क्रम** लक्षण द्विविध गुरु-परम्परा का वर्णन किया गया है। आगे (पृ. २८०-२८१) पर, महान्, अन्तराल, दिव्य, दिव्यादिव्य और अदिव्य नामक षड्विध संबन्धों की चर्चा कर प्रश्न उठाया गया है कि कामिक आदि तन्त्रों में प्रणव आदि का श्रोता के रूप में वर्णन मिलता है। ऐसी स्थिति में शिव और अनन्त आदि के संबन्धों की चर्चा आप कैसे कर सकते हैं? इस शंका का समाधान यह है कि प्रस्तुत स्थल पर **महौघ-क्रम** का संबन्ध बताया गया है। इसी पद्धति से प्रत्येक संहिता के **गुरु-क्रम** का संबन्ध भी जान लेना चाहिये। वस्तुतः अनन्तेश्वर आदि को ज्ञान का उपदेश करने के बाद ही भगवान् शिव प्रणव आदि को यह ज्ञान देते हैं। इस तरह से यह

संबन्ध दो प्रकार का होगा—एक तो अनन्तेश्वर आदि का और दूसरा प्रणव आदि का। अनन्तेश्वर आदि का क्रम ऊपर बता दिया गया है। प्रणव आदि का यह षड्विध संबन्ध इस प्रकार होगा—शिव और प्रणव का पर, प्रणव और त्रिकल का महान्, त्रिकल और हर का अन्तराल, हर और देवताओं दिव्य, देवता और ऋषियों का दिव्यादिव्य तथा ऋषियों और मनुष्यों का अदिव्य। शिवभेद के अन्य आगमों का भी यह षड्विध संबन्ध इसी पद्धति से जान लेना चाहिये। रुद्रभेद के आगमों के दो-दो ही श्रोता हैं। इनके संबन्ध का क्रम इस प्रकार होगा—शिव और अनादि रुद्र का पर, अनादि रुद्र और परमेश का महान्, परमेश और देवताओं का दिव्य, देवताओं और ऋषियों का दिव्यादिव्य तथा ऋषियों और मनुष्यों का अदिव्य। अन्तराल संबन्ध के अभाव में रुद्रभेद के आगमों का यह संबन्ध पंचविध ही होगा। इस तरह से परमेश्वर से लेकर आज तक इन आगमों की अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा के विद्यमान रहने से परमशिव-प्रणीत इन आगमों का प्रामाण्य अव्याहत रूप से सिद्ध है।

शास्त्र का प्रयोजन

मल, माया और कर्म नामक त्रिविध बन्ध से मुक्ति दिलाने और शिवभाव की अभिव्यक्ति के लिये शिवज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इस विषय को यहां विस्तार से समझाया गया है। पराख्यसंहिता में बताया गया है कि शिवभूमि से उत्थित इस ज्ञानरूपी औषध को अपने कल्याण के लिये ग्रहण करना चाहिये। यह ज्ञानरूपी ओषधी परिणाम में सुखद और स्वादिष्ट भी है। साधक से सेवित हो यह अपना विशेष गुण दिखाती है। शिवधर्मोत्तर में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि परमशिव से उत्पन्न इस शास्त्ररूपी ज्ञान को संसार के दोषों को दूर करने के लिये अवश्य प्राप्त करना चाहिये—"संसार में औषध जैसे रोग का स्वभावत: नाश कर देती है, उसी तरह से आत्मज्ञानरूपी औषध से सभी सांसारिक दोष निवृत्त हो जाते हैं। अत: समझदार व्यक्ति को चाहिये कि वह शान्त भाव से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर तपस्या में निरत हो शिवज्ञान की सहायता से वास्तविकता को समझ कर मुक्ति-मार्ग का अनुसरण करे। "शिवज्ञानरूपी अमृत का पान कर यथेच्छ विचरण करो" यह सर्वज्ञानोत्तर का कहना है। षाड्गुण्यविवेक का कहना है—"साक्षात् स्वयं भगवान् ही अथवा उनकी मति ही शब्द के रूप में परिवर्तित हो अधिकारी पुरुषों को संस्कार-सम्पन्न बनाती है"। सर्ववीरशास्त्र का कहना है—"ज्ञान और धर्म का उपदेश कर भगवान् जीवों पर अनुग्रह करते हैं"। "गुरुमुख से निकला हुआ ज्ञान परम दुर्लभ माना गया है" इस निशाचार के वचन में उसी बात को कहा गया है। स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत—"साक्षाद् भवान्" यह आगमरहस्य का वचन और

"यद्वत्" यह पांचरात्र श्रुति इसी विषय को स्पष्ट करते हैं। शास्त्र की सहायता से ही भगवान् को जाना जा सकता है। यही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

त्रिपदार्थ चतुष्पाद शास्त्र

मृगेन्द्रागम (विद्या. २.२) में महातन्त्र को त्रिपदार्थ और चतुष्पाद कहा गया है। सायण-माधव ने सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ६५) में त्रिपदार्थ का अर्थ पति-पशु-पाश नामक तीन पदार्थ और चतुष्पाद का अर्थ विद्या, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पाद किया है। इनकी विशद व्याख्या करते हुए वहीं (पृ. ६५-६६) कहा गया है—"त्रिविध पदार्थों में पशु परतन्त्र और पाश अचेतन है, अतः इन दोनों से विलक्षण, इन पर नियन्त्रण करने वाले 'पति' पदार्थ का यहां सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। चैतन्य की सत्ता जीव में भी है, अतः पति के बाद पशु का और सबके अन्त में बचे हुए पाश तत्त्व का विवेचन यहाँ किया गया है। इसी तरह से दीक्षा से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है और वह दीक्षा पशु-पाश-ईश्वर के स्वरूप को बताने वाले और मन्त्र-मन्त्रेश्वर आदि के माहात्म्य के सूचक ज्ञान के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती, अतः इनके स्वरूप को बताने वाले विद्यापाद[1] की पहले, अनेक प्रकार की दीक्षाविधियों को बताने वाले क्रियापाद की उसके बाद योजना की गई है। योग के बिना अभिमत मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, षडध्वशुद्धि और चित्त की निर्मलता के लिये भी योग आवश्यक है, अतः सांग योग के निरूपक योगपाद की इसके बाद और विहिताचरण-निषिद्धवर्जन रूप चर्या के बिना योग भी सिद्ध नहीं हो सकता, अतः इसके प्रतिपादक चर्यापाद की योजना सबके अन्त में की जाती है"। इन चार पादों के प्रतिपाद्य विषयों[2] का विवरण मतंगपारमेश्वर (विद्या. २.८-१३) में दिया गया है। चतुष्पीठ तन्त्रों का भी विवरण शास्त्रों में मिलता है। इसके लिये उपक्रम प्रकरण (पृ. २४-२५) देखना चाहिये, जहाँ स्वच्छन्दोद्योत, तन्त्रालोक आदि की सहायता से इनका परिचय दिया गया है।

ऊपर उद्धृत मृगेन्द्रागम के वचन के अनुसार तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव तीन पदार्थों का परिचय देते हुए पाँचवें श्लोक में बताते हैं कि शैवागमों में पति, पशु, और पाश नामक तीन पदार्थ मुख्य हैं। इनमें पति को शिव, पशु को अणु आत्मा और अर्थपंचक को पाश कहा जाता है। किरणागम (१.१३) में भी बताया गया है कि इस महातन्त्र में पशु, पाश और पति के स्वरूप का ज्ञान कराया गया है। इस तरह से यहाँ भी तीन ही पदार्थ प्रतिपादित हैं। अन्यत्र बताया गया है कि

---

१. इस प्रसंग में लुप्ता. उपो., पृ. १२२ की पहली टिप्पणी अवलोकनार्ह है।

२. क्षेमराजकृत शिवस्तोत्रावलीविवृति (१५.१) में भी यह विषय चर्चित है।

शिवशास्त्र में अर्थषट्क और दीक्षा का प्रतिपादन हुआ है। जैसे मतंगपारमेश्वर (वि. १.२९-३०) नामक चतुष्पाद शास्त्र में [1]षड्विध पदार्थ विवेचित हैं। इनके नाम हैं—शिव, शक्ति, माया, पशु, भोग और उपाय। ईशानशिवपद्धति के क्रियापाद के द्वितीय पटल में पशु, पाश, पति, शक्ति, विचार एवं क्रियाचर्या नामक छः पदार्थ विवेचित है। सर्वदर्शनसंग्रह में ज्ञानरत्नावली के प्रमाण से यह नामावली इस प्रकार दी गई है—

पतिविद्ये तथाऽविद्या पशुः पाशश्च कारणम् ।
तन्निवृत्ताविति प्रोक्ताः पदार्थाः षट् समासतः ।।

इस विभाग को अधिक प्रसिद्धि नहीं मिली और इन षड्विध पदार्थों का उक्त[2] तीन पदार्थों में ही अन्तर्भाव कर लिया गया। अतः मृगेन्द्रागम की पद्धति से यहाँ इन त्रिविध पदार्थों का स्वरूप बताया जायगा।

पति (शिव)

विश्वसारोत्तरसूत्र में शिव को पति इसलिये कहा है कि यह अचेतन माया, प्रकृति आदि का प्रवर्तक है। यह सभी प्रयोजनों का संपादक, कर्ता, व्यापक और सततोदित स्वरूप है। वायवीय वचन के अनुसार पशु और पाश से विलक्षण, अनन्त रमणीय गुणों का स्वामी यह पति इस विश्व का निर्माता है और समस्त कार्यों का कर्ता भी यही है। पशु और पाश में यह सामर्थ्य नहीं है। पौष्करागम के अनुसार यह अचेतन जगत् बिना किसी चेतन की प्रेरणा के प्रवृत्ति और निवृत्ति में उसी तरह समर्थ नहीं हो सकता, जैसे यह जड़ शरीर। जो इसका प्रवर्तक है, वही पति कहलाता है। यह विवादास्पद विश्व बिना किसी विश्ववित् वेत्ता के बन नहीं सकता। घट के दृष्टान्त से हम इस बात को समझ सकते हैं कि जैसे घट का निर्माता कुम्भकार है, उसी तरह इस कार्यस्वरूप जगत् का कर्ता ईश्वर है। मतंगपारमेश्वर (वि. ६.९५) में [3]अनुमान प्रमाण से शिवभट्टारक [4]पति की सत्ता

---

१. लुप्ता. उपो., पृ. १२३ की पहली टिप्पणी में षड्विध पदार्थों का स्वरूप विवेचित है।

२. अन्तर्भाव का प्रकार लुप्ता. उपो., पृ. १२३ की दूसरी टिप्पणी में बताया गया है। उपायों के स्वरूप के विषय में यहाँ विशेष चर्चा की गई है।

३. सिद्धान्तशैवागम में सर्वत्र अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि की जाती है। इस दृष्टि से इनकी नैयायिकों से समानता है। अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१.१.१) की विवृतियों में बताते हैं कि ईश्वर की सिद्धि अथवा निराकरण की वास्तव में कोई आवश्यकता नहीं है।

४. लुप्ता. उपो. (पृ. १२४, टि. २) में उन विभिन्न स्थलों की सूचना दी गई, जहाँ पति का स्वरूप विवेचित है।

सिद्ध की गई है। बृहस्पतिपाद का कहना है कि पुरुष के [१]कर्म, आशय और विपाक से अनभिज्ञ इसकी रचना नहीं कर सकता। पराख्यसूत्र का कहना है कि ज्ञान और क्रियात्मक ऐश्वर्य से जो स्वयं संपन्न हो, जो दूसरों को भी इन शक्तियों से संपन्न बना सकता हो, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। किरणागम (२.३) में ईश्वर को अनादि मल से मुक्त होने के कारण सर्वज्ञ बताया गया है। लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है, अतः इन विभिन्न आगम-वचनों और अनुमान प्रमाण के आधार पर यहाँ ईश्वर को सिद्ध किया गया है। [२]शक्तिद्वययुत का अर्थ ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न है। इनमें ज्ञानशक्ति का प्रयोजन जगाद्विषयक ज्ञान और क्रियाशक्ति का जगन्निर्माण है। रत्नत्रय (श्लो. १२८) में स्पष्ट कहा गया है पति ज्ञानशक्ति से जीव के कर्म, आशय विपाक आदि को जानता है और क्रियाशक्ति से सारे जगत् का निर्माण करता है। पराख्यसंहिता में भी कहा गया है कि भगवान् शिव का स्वरूप चिन्मय है। यह ज्ञान और क्रिया शक्ति से संपन्न है। वस्तुतः ज्ञान रूप में विद्यमान रहते हुए भी यह इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न है। पौष्करागम का भी यही कहना है कि शिव में विद्यमान ज्ञान और क्रिया शक्ति अत्यन्त निर्मल, श्रेष्ठ, सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।

अशरीरी शिव

पति सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है, यह अभी बताया गया है। मूर्ति (शरीर) के बिना उसमें कर्तृत्व कैसे सिद्ध होगा? यह एक स्वाभाविक शंका उठती है। इसका समाधान मतंगपारमेश्वर (वि. ३.१-३) में इस प्रकार दिया गया है—इस पति का [३]शरीर अपनी शक्ति की किरणों से ही बनता है। उस दिव्य देह में यह अपने प्रकाश से ही आलोकित है। यह निष्कम्प, अचल मूर्तिमय है। इससे आगे अन्य कुछ भी नहीं। यह परम सूक्ष्म है, सभी दिशाओं में व्याप्त है, अमृतमय है। सभी आवरणों से रहित, शान्तस्वभाव, अत्यन्त अभीष्ट, आदि और अन्त से रहित इसका यह सुन्दर स्वरूप ही **मूर्ति** यह औपाधिक नाम धारणा कर लेता है। कौल आदि अद्वैत शास्त्रों की वासना से आविष्ट

---

१. क्लेश, कर्म, विपाक और आशय की चर्चा योगसूत्र (१.२४) में देखिये। आगे विभिन्न सूत्रों में इनके लक्षण दिये गये हैं।

२. ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न शिव का स्वरूप ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के ज्ञानाधिकार और क्रियाधिकार में विशेष रूप से प्रतिपादित है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद अथवा भेद सभी शैव, शाक्त, वैष्णव आगमों में मिलता है। शि. सू. वि. (पृ. ११३-११४) में अम्बुधि-तरंग दृष्टान्त से इनका स्वरूप विवेचित है।

३. पति के अधिष्ठान का विवेचन प्रत्यभिज्ञादर्शन की दृष्टि से तन्त्रा. (१.२०२) में किया गया है।

विद्वान् [1]विवर्तवाद और परिणामवाद का सहारा लेकर पति (शिव) की अद्वैतपरक व्याख्या करते हैं। पांचरात्र आदि मतों के अनुयायी ईश्वर को शरीरी ही मानते हैं। अन्य मतवादी परमेश्वर की अपेक्षा मोक्ष की स्थिति को श्रेष्ठ बताते हैं। इन सभी पक्षों का समाधान इस मतंग-वचन से हो जाता है। इसीलिये किरणागम (४.७) में पति का शरीर [2]शुद्धयोनिमय एवं मलरहित माना गया है। पौष्करागम का कहना है कि साधक की ध्यान की सुविधा के लिये शिव शुद्धयोनिमय शरीर धारण करता है। तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव का भी यही कहना है—"चित् एवं अचित् पदार्थों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से प्रभु शिव आदि पंचविध शुद्ध स्वरूपों को धारण कर अनादिकालीन मल के कारण अवरुद्ध शक्ति वाले प्राणियों पर अनुग्रह करते हैं" (श्लो. ३४)।

इसका अभिप्राय यह है कि पति को शरीरी मानने पर उसके परिशुद्ध-स्वरूप होने से उसका भौतिक देह नहीं माना जा सकता, अत: बैन्दव देह माना जाता है। इस देह का उपादान बिन्दु होगा, किन्तु यह संभव नहीं है। क्योंकि सर्वत्र क्षुब्ध बिन्दु की ही उपादानता मानी जाती है। यह क्षोभ स्वत: होगा या शिव के द्वारा? स्वत: नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्माश्रय दोष आवेगा। द्वितीय पक्ष में बिन्दु में क्षोभ पैदा करने के लिये शिव का शरीर मानना पड़ेगा और उस शरीर में साधक के बिन्दु के क्षोभ के लिये पुन: दूसरा शरीर मानना पड़ेगा। इस तरह से अनवस्था दोष होगा। यदि अचल मूर्तिमात्र से ही बिन्दु में क्षोभ पैदा होगा, तो इस स्थिति में सृष्टि आदि के लिये अन्य शरीर की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। इसी तरह से शरीर के अधीन रहने वाले अदृष्ट और निमित्त-कारण की भी कोई स्थिति नहीं मानी जायगी। अत: शिव के लिये तीनों कारणों में से किसी भी कारण की अपेक्षा न रहने से इनके कृत्रिम शरीर के न रहने पर भी अपने देह के स्पन्दन में जैसे जीव स्वतन्त्र है, उसी तरह से शिव में सृष्टि आदि क्रियाओं की निष्पत्ति स्वत: हो जायगी। यही बात पौष्करागम में भी बताई गई है—"अदेहस्यापि कर्तृत्वं स्वदेहप्रेरणे यथा"।

शक्ति की करणता

यहाँ शंका उठती है कि पति की जगत् की सृष्टि-स्थिति आदि क्रियाएँ बिना करण (साधन) के संभव नहीं हो सकती, क्योंकि लोक में वृक्षच्छेदन आदि क्रियाएँ

---

१. समसत्ताक कार्यापत्ति और विषमसत्ताक कार्यापत्ति यह परिणाम और विवर्त का लक्षण सर्वत्र मान्य है। इस पर विस्तार से चर्चा लुप्ता. उपो. (पृ. १२४-१२५ टि.) में की गई है।

२. शाक्त शरीर और भगवान् की साकारता सर्वदर्शनसंग्रह के शैवमत (पृ. ६७) में वर्णित है। इस विषय पर संक्षेप में यहाँ भी अभी चर्चा की जायगी।

कुठार आदि की सहायता से ही संभव हो पाती है, अत: ईश्वर के लिये भी किसी करण की अपेक्षा माननी पड़ेगी। इस शंका का समाधान मृगेन्द्रागम (वि.३.४) में मिलता है। उसका अभिप्राय यह है कि शिव को अपनी शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य वस्तु की करण के रूप में अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ निषेध के रूप में विधि बताई गई है कि शिव के लिये उसकी शक्ति ही करण है, उसी की सहायता से वह सब कुछ करता है। चिदात्मक शिव की शक्ति कभी अचिदात्मक नहीं हो सकती, अत: यह शक्ति चिदात्मक ही है। ज्ञेय पदार्थ और करणीय पदार्थों की अनन्तता के कारण शक्तिस्वरूप करण की भी अनन्तता माननी पड़ेगी। परमेश्वर की ज्ञान एवं क्रिया शक्ति अपरिमित है, इसलिये विषय और करणीय पदार्थों की अनियतता और अपरिच्छिन्नता के कारण एक ही शक्तिरूपी करण बोध (ज्ञान) और कृत्य (कार्य) के भेद के कारण अनन्त प्रकार से भासित होने लगता है। सिद्धान्तसारावलि के "शक्तिश्चित्तनु" (१.४) इस पद्य में यही विषय प्रतिपादित है। इसीलिये कामिकागम में कहा गया है कि उस देवों के देव शिव के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिये जगत् की सृष्टि-स्थिति आदि में यह पूरी तरह से स्वतन्त्र है। मन्त्रवार्त्तिक की टीका में रामकण्ठ ने कहा है कि ईश्वर में स्वातन्त्र्यात्मक परिपूर्ण कर्तृत्व माना जाता है।

किरणागम (३.१०) का यह वचन भी ईश्वर में परिपूर्ण स्वतन्त्रता को दिखाता है कि जैसे लोक में क्षण, मुहूर्त आदि अमूर्त काल ऋतु के अनुसार फल-दान में समर्थ होता है, प्रतिक्षण द्रव्य-परिपाक एवं बाल्य-यौवन आदि अवस्थाओं का संपादक बन जाता है; उसी तरह से [1]अमूर्त शिव भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के आधार पर सब कुछ बना सकता है। योगी का भी उदाहरण यहाँ दिया जाता है कि योगी जैसे अपनी इच्छा के अनुसार बिना किसी उपादान के वस्तु के निर्माण में समर्थ है, उसी तरह से भगवान् शिव भी इच्छामात्र से सर्वविध कार्य करने में समर्थ है। इन्द्रिय आदि करणों के अभाव में वह कैसे कुछ कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे अयस्कान्त (चुंबक) लोह के आकर्षण में समर्थ है, उसी तरह से बिना इन्द्रियों के भी ईश्वर सृष्टि आदि करने में समर्थ होगा। किरणागम (३.१२) में भी इस प्रसंग में यही दृष्टान्त दिया गया है। इसीलिये

---

१. अमूर्त शिव किस प्रकार इस सृष्टि को सम्पन्न करता है, इसको यहाँ अनेक उदाहरणों के द्वारा स्थापित किया गया है। महिम्नस्तोत्रकार ने "किमीहः किंकायः" इत्यादि श्लोक में जो समाधान दिया है, यहाँ के उदाहरणों की उससे उत्कृष्ट स्थिति है।

पौष्करागम में स्पष्ट बताया गया है कि अनादिस्वरूप भगवान् अपनी [१]इच्छामात्र से इस संसार को धरती पर उतार देता है, इस जगत् का निर्माण कर देता है। यह पूरा विषय मृगेन्द्रागम के विद्यापाद (३.१-८) और उसकी नारायणकण्ठ रचित वृत्ति में भी प्रतिपादित है।

शक्ति एवं शक्तिमान्

तत्त्वसंग्रह (श्लो. ५०) में मूर्ति और मूर्तिवान् ही शक्ति और शक्तिमान् के रूप में वर्णित हैं। अष्टप्रकरण स्थित अन्य ग्रन्थों में शक्ति को मूर्ति माना गया है। उस मूर्ति का सहारा लेकर परहित में निरत शम्भु जीवों को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करते हैं। एक जगह बताया गया है कि आसन, मूर्ति और आवाह्य की व्याप्यव्यापकता को जान कर साधक को आराधना करनी चाहिये। आसन की स्थिति शुद्धविद्या पर्यन्त, मूर्ति की शक्तिपर्यन्त और आवाह्य स्वयं शिव हैं। इन सभी स्थलों पर प्रयुक्त मूर्ति शब्द शक्ति का वाचक है और इस शक्ति से सम्पन्न तत्त्व शिव है। अत: तत्त्वसंग्रह की यह उक्ति ठीक ही है कि संक्षेप में मूर्ति और मूर्तिमान् ही शास्त्रों में शिव और शक्ति के रूप में वर्णित हैं।

भगवान् की शक्ति तो एक ही है, किन्तु आवश्यकता के अनुसार यह इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि के रूप में नाना स्वरूप धारण कर लेती है। वस्तुत: देखा जाय तो शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है, क्योंकि लय, भोग और अधिकार दशाओं में चिन्मात्र रूप में इनकी स्थिति मानी जाती है। स्पष्ट है कि अभिन्न रूप में विद्यमान शिव और शक्ति में औपचारिक रूप से भिन्नता मान ली जाती है। रत्नत्रय (श्लो. १८०-१८२) में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि एक ही चिच्छक्ति शिव के साथ सदा समवेत रूप में विद्यमान है। लय, भोग और अधिकार नामक उपाधियों के कारण यह त्रिधा विभक्त हो जाती है और इसी के आधार पर भगवान् शिव भी शिव, सदाशिव और मन्त्रेश्वर कहलाते हैं। यहीं आगे (श्लो. १८२) शक्ति का भी लक्षण बताया गया है। शक्ति की महिमा को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि जैसे एक ही कल्पवृक्ष नाना प्रकार की कामनाओं को देने में समर्थ है, जैसे एक ही चिन्तामणि मन में विचार आने मात्र से सभी पदार्थों को उपस्थित कर देती है, उसी तरह से यह चितिशक्ति भी अपने अचिन्त्य प्रभाव के कारण समस्त

---

१. "योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्" (ई. प्र. वि. १.५.७) और "अकाम: संसृजेत्" (स्वच्छन्द. ११.३१६-३१८)—ये वचन अद्वय दृष्टि का अनुवर्तन करते हैं। लकुलीश दर्शन में पति को जगत् का निरपेक्ष कारण माना गया है (स. द. सं., पृ. ६४-६५) और सिद्धान्तशैव दर्शन में सापेक्ष। तत्त्वसंग्रह के ४४-५१ श्लोकों को देखिये।

अभिलाषाओं को पूरा करने में समर्थ है। रत्नत्रयकार श्रीकण्ठ के प्रतिपादन की विशेषता यह है कि ये शिव, शक्ति और बिन्दु नामक तत्त्वों की पृथक् सत्ता मानते हैं। अत: इस प्रसंग में उन्होंने चिदद्वयवाद की विस्तार से समालोचना की है।

स्पष्ट है कि श्रीकण्ठ शिव और शक्ति के अभेद को स्वीकार नहीं करते। "तयोर्भेदोऽधुनोच्यते" (श्लो. २८८) कह कर वे शक्ति और शक्तिमान् के भेद को सप्रमाण सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि शिव का स्वरूप किसी की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु शक्ति तो कहीं न कहीं रहती है। अत: इसको परापेक्षा है। इस तरह से परापेक्षा और अनपेक्षा के आधार पर उन्होंने शिव और शक्ति का भेद स्थापित किया है। आगे उन्होंने शक्ति और शक्तिमान् के अभेद को स्वीकार करने वालों के मत का खण्डन किया है और बताया है कि शिव के साथ समवेत रूप में विद्यमान रहने पर भी यह शिव से भिन्न ही मानी जाती है। इस प्रसंग में रत्नत्रय के १२७-१२९ संख्या के श्लोक विशेष रूप से अवधेय हैं। यहाँ बताया गया है कि ज्ञान और क्रिया नामक दो शक्तियाँ शिव में समवेत रूप में विद्यमान हैं। ज्ञानशक्ति ही संवित् और विज्ञान कहलाती है। क्रियाशक्ति ही कुण्डलिनी है। ज्ञानशक्ति से जानकर शिव क्रियाशक्ति के सहारे जगत् का निर्माण करते हैं। केवल ज्ञान के सहारे कोई कुछ नहीं कर सकता। इसके लिये तो क्रियाशक्ति अपेक्षित है। अत: शिव इन दोनों शक्तियों का सहारा लेते हैं और ये दोनों शक्तियाँ भी शिव के बिना नहीं रह सकती। ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के विषय में हम वीरशैव प्रकरण में विचार करेंगे।

शिव की पंचमन्त्रतनुता

शिव की अशरीरता और शक्ति की करणता का निरूपण अभी किया गया है। इसी पृष्ठभूमि में आगमों में शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है। उसी का अब यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है। तत्त्वप्रकाश के प्रथम तीन श्लोकों में भोजराज ने शिव और शक्ति के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि भगवान् शिव चिद्घन, एक, व्यापी, सततोदित, सबके स्वामी, शान्त, सब पर अनुग्रह करने वाले और इस जगत् के एकमात्र कारण हैं। यह शांभव तेज उदय-अस्त से रहित है, यह कभी बुझता नहीं और सबको शान्ति प्रदान करता है। यह ज्ञान और क्रिया स्वरूप है। जिसकी सहायता से यह शम्भु पशुगण (जीवात्मा) को भोग और मोक्ष देने में समर्थ हैं, उस चिद्रूपा, एकाकिनी आद्या शक्ति को मैं सर्वात्मना नमन करता हूँ। मंगलाचरण के रूप में शिव और शक्ति के स्वरूप का वर्णन करने के बाद भोजराज छठे श्लोक में मुक्तात्मा के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि मुक्तात्मा

भी शिवस्वरूप ही है, किन्तु जिसके अनुग्रह से ये मुक्त होते हैं, वह अनादिमुक्त शिव [1]पंचमन्त्रतनु हैं, अर्थात् शिव का शरीर पाँच मन्त्रों से बना है। लिंगोद्भवपुराण में भी शिव को पंचमन्त्रतनु बताया गया है। मृगेन्द्रागम (३.८-१३) में इसका वर्णन इस तरह से किया गया है—"पंचकृत्य में सहायक ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात नामक पाँच मन्त्रों से भगवान् शिव के मस्तक आदि अवयव बनते हैं। ऊर्ध्व ईशान मुख के कारण यह भगवान् सर्वश्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हैं और सारे जगत् को प्रिय हैं, अतः ये मूर्धा के समान सर्वश्रेष्ठ हैं। संसार के सभी प्राणियों के शरीर में ये निवास करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, अतः तत्पुरुष इसका वक्त्र (मुख) है। हृदय बोध का वाचक है। भगवान् शिव का यह बोध कल्याणकारक है, इसको परिग्रह की घोरता के आधार पर औपचारिक रूप से घोर कह दिया जाता है। यह अघोर मन्त्र इनका हृदयस्थानीय है। इसको वामदेव इसलिये कहा जाता है कि यह त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के विपरीत केवल मोक्ष प्रदान करता है, इसकी उपासना रहस्यमय होने से यह गुह्यस्थानीय है। यह सद्योजात इसलिये है कि इसकी इच्छा से तत्काल अनन्त आत्माओं का निर्माण हो जाता है अथवा तत्काल योगियों की मूर्तियों को निर्मित कर देता है, उनको तत्काल मुक्ति प्रदान कर देता है।

शिव की पंचकृत्यकारिता

पंचमन्त्रतनुधारी शिव के द्वारा संपाद्य [2]कृत्यपंचक मृगेन्द्रागम (२.३) में वर्णित हैं। जगत् की सृष्टि, स्थिति और ध्वंस तथा तिरोभाव और विमुक्ति—ये ही पाँच कृत्य भगवान् के कार्य और फल के रूप में जाने जाते हैं। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ७) में भी सततोदित भगवान् शिव को सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह नामक पंचविध कृत्य बताये गये हैं। इस जगत् और जन्म-मरणशील जन्तुचक्र की, उसके भोग के उपयोगी उपकरणों के साथ बार-बार उन-उन विविध

१. भगवान् शिव की पंचमन्त्रतनुता की विवेचना मतंग (१.६५-६८), तन्त्रा. (भा. ७, पृ. १२; ९.१०१), कालोत्तर (२२.१२-१६), म. म. प. (पृ. १२१) में भी देखी जा सकती है। पंचमन्त्रतनु का ध्यान स्वच्छन्द (१२.१२५-१३७) में तथा पंचमूर्ति शिव की पंचभूतात्मकता कालोत्तर (२२.१२-१३) में विवेचित है।

२. प्रत्यभिज्ञाहृदय और स्पन्दसन्दोह में शिव के समान पशु के भी पंचकृत्यों का विवरण दिया गया है। सौन्दर्यलहरी की सौभाग्यवर्धनी टीका में स्मृत शाम्भवदीपिका में शैव-शाक्त आगमों में विवेचित पंचकृत्य ही वर्णित हैं। ई. प्र. वि. (भा. १, पृ. ३३१), म. म. प. (पृ. ९७), और स. द. सं. (पृ. ६८) भी देखिये।

योनियों में सृष्टि करना ही प्रथम [1]**जन्म** नामक व्यापार है। यही शिव का सृष्टि-नामक पहला व्यापार है। अपने द्वारा सृष्ट सभी प्राणियों को पुरुषार्थ-सम्पादन के लिये तदनुकूल कार्य में नियुक्त करना और उनका पालन करना **स्थिति** नामक दूसरा कृत्य है। स्थिति काल के पूरा हो जाने पर शुद्ध और अशुद्ध भोगों के साधन शरीर, इन्द्रिय और भुवन आदि का बिन्दु अथवा माया रूपी कारण में सारी शक्तियों के विलयन के साथ संसार में निरन्तर परिभ्रमण के कारण थके हुए समस्त प्राणियों के विश्राम-स्थल के रूप अपने में समेट लेना ही तीसरा **ध्वंस** नामक कृत्य है। यह ध्वंस ही प्रलय कहलाता है। अधम, मध्यम और उत्तम के भेद से यह त्रिविध है। ब्रह्मा के दिन के बाद रात्रि-काल में कालाग्निरुद्र के नेत्र से निकली अग्नि से भूः, भुवः और स्वः नामक तीनों लोकों का नाश अधम प्रलय, श्रीकण्ठ के दिन के बाद रात्रि-काल में भूत तत्त्व से लेकर गुण तत्त्व (प्रकृति) तक का लय मध्यम प्रलय तथा कालाग्निभुवन से नादान्त तक के भुवनों का लय उत्तम प्रलय कहलाता है। मतंगपारमेश्वर के २५वें पटल में विस्तार से यह प्रदर्शित है। इस महाप्रलय की स्थिति में [2]माया, पुरुष और शिव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचता। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ६९-७०) में बताया गया है कि महाप्रलयावस्था में माया, पुरुष और शिव ही बचे रहते हैं, बाकी सब का ध्वंस हो जाता है और सृष्टि-काल में पुनः वे पहले के जैसे ही प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रभु संसार में आवागमन के कारण थके हुए समस्त प्राणियों को विश्रान्ति देने के लिये महासंहार में प्रवृत्त होते हैं।

भगवान् का चतुर्थ कृत्य [3]**तिरोभाव** है। पाशों की सहायता से वह पशुओं में भोगों की अभिलाषा को जगाये रहते हैं। [4]अन्यत्र इसका नाम **संरक्षण** दिया गया है। जैसा कि वार्त्तिककार ने कहा है—अपने संस्कारों के अनुरूप भोगों से प्राणियों को वियुक्त न करना ही संरक्षण कहा गया है, क्योंकि भगवान् भोगासक्त प्राणियों को अपने अभीष्ट भोगों को भोगने में सुरक्षा प्रदान करते हैं। पंचम कृत्य विमुक्ति, अनुध्यान अथवा **अनुग्रह** कहलाता है। इसमें भगवान् पाशों का तिरोधान कर प्राणियों को पर और अपर नामक मुक्ति प्रदान करते हैं। इनमें अपर मोक्ष छः प्रकार

---

१. द्वैतागमों और अद्वैतागमों में तथा आज्ञावतार, कक्ष्यास्तोत्र, कामसिद्धिस्तोत्र और सौन्दर्यलहरीस्तोत्र में विवेचित जन्माख्य व्यापार की सूचना लुप्ता. उपो. (पृ. १२७, टि. ३) से प्राप्त की जा सकती है।

२. तत्त्वप्रकाश का यह ६९वाँ श्लोक तत्त्वत्रयनिर्णय के तीसरे श्लोक का अनुकरण करता है।

३. तिरोभाव का विवेचन तन्त्रालोक के १४वें आह्निक में विस्तार से मिलता है।

४. मृगेन्द्रवृत्ति (विद्या. २.३-४) और रौरव. (विद्या. १.१५) आगम देखिये।

का और पर मोक्ष एक, मिलकर सप्तविध मोक्ष का स्वरूप मतंगपारमेश्वर के मोक्षप्रकरण[१] में प्रदर्शित है। इस अनुग्रह[२] कृत्य को शिव सृष्टि-काल में भी करते हैं, इस विषय की जानकारी मृगेन्द्रागम के विद्यापाद के चतुर्थ-पंचम पटल से मिलती है। स्वायम्भुवागम में कृत्यपंचक का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि प्राणियों का देह से संयोग भोग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये होता है। मुख्य रूप से कृत्यपंचक की स्थिति भगवान् शिव में ही है; विद्या, विद्येश्वर आदि में शिव की प्रेरणा से यह सामर्थ्य आती है। रौरवागम में स्पष्ट बताया गया है कि शिव की इच्छा से प्रेरित हो ये अनुग्रह का अधिकार प्राप्त करते हैं। यह कृत्यपंचक माया अथवा कर्म की सहायता से संभव नहीं हो सकता, क्योंकि ये अचेतन हैं। पुरुष के द्वारा भी यह संभव नहीं है, क्योंकि उसकी शक्ति मल से अवरुद्ध है। शिव तो प्रलयावस्था में भी इन कृत्यों को करते रहते हैं। जैसा कि पौष्करागम में बताया गया है—भगवान् काल की सहायता से सदा प्रलय दशा में भी सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान व्यापार के साथ अनुग्रह व्यापार में भी लगे रहते हैं। मृगेन्द्रागम के विद्यापाद (४.१५) के "स्वापेऽप्यास्ते बोधयन्" इस श्लोक में भी यही विषय निर्दिष्ट है।

सृष्टि-विवेचन

शैवागमों में पंचविध सर्ग का और अण्डचतुष्टयात्मिका सृष्टि का वर्णन मिलता है। अण्डचतुष्टयात्मिका सृष्टि का वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ पंचविध सर्ग का स्वरूप बताया जा रहा है। कुमारदेव सर्ग पद की व्याख्या करते समय बताते हैं कि यह सर्ग पांच प्रकार का है, क्योंकि भाव, तत्त्व, भुवन, भूत और प्रत्यय नामक पाँच पदार्थों की यहाँ सृष्टि होती है (पृ. २५)। शैवरहस्य को वे यहाँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनमें तत्त्वात्मक, भुवनात्मक और पंचभूतात्मक सृष्टि तो प्रसिद्ध ही है। भावसर्ग और प्रत्ययसर्ग सांख्य दर्शन के साथ शैवागमों में भी विस्तार से वर्णित है। सिद्धान्तसारावलि (१.२२) में तनु, देव, भाव और भुवन

---

१. वहाँ योगपाद (५.६३-६७) में यह विषय वर्णित है।

२. अनुग्रह, शक्तिपात, मुक्तिवैचित्र्य जैसे विषयों के लिये मृगेन्द्र विद्यापाद पंचम पटल देखिये। "बध्नाति काचिदपि शक्ति." (श्लो. १७) यह अवधूतसिद्ध का वचन है। वाजसनेय, सर्ववीर, ब्रह्मयामल, सिद्धा आदि तन्त्रों में अनुग्रह के अनेक प्रकार वर्णित हैं। कभी भक्तियोग से, कर्म से, विद्या से, ज्ञान से, धर्मोपदेश से, मन्त्र से अथवा दीक्षा से भी इसकी प्राप्ति होती है। भगवान् इन सबमें से किसी भी उपाय का सहारा लेने वाले संसारी जीव पर अनुग्रह करते हैं। अद्वैतवादी शैवागम शक्तिपात में कर्मसाम्य आदि की अपेक्षा नहीं मानते। इस निरपेक्ष शक्तिपात की चर्चा आगे (पृ. ३६०) की जायगी।

के रूप में भगवान् के सृष्टि-व्यापार का निरूपण किया गया है। यहां **तनु** शब्द से उस-उस भुवन के योग्य शरीर का, **देव** शब्द से इन्द्रियों का, **भाव** शब्द से धर्म आदि आठ भावों का और **भुवन** शब्द से कालाग्नि आदि भुवनों का ग्रहण किया जाता है। इनका निर्माण करना ही भगवान् का **सृष्टि** नामक व्यापार है। महामाया की सहायता से भगवान् शिव शुद्ध सृष्टि का और माया की सहायता से अनन्त अशुद्ध सृष्टि का निर्माण करते हैं। मृगेन्द्रागम के विद्यापाद (१३.१९३-१९४) में—

एवं तत्त्वानि भावाश्च भुवनानि वपूंषि च ।।
शुद्धाशुद्धाध्वनोर्विप्र व्याख्यातानि समासतः ।

इसी विषय का उपसंहार किया गया है।

पंचकृत्य के प्रसंग में अभी विद्या-विद्येश्वरों की चर्चा आयी है। मन्त्रों और मन्त्रेश्वरों के रूप में इनकी चर्चा भोगकारिका (श्लो. ७२-९३) में भी मिलती है। सद्योज्योति शिवाचार्य का कहना है कि सूक्ष्म आदि के नायक अनन्त शिव की प्रेरणा से उत्पत्ति, स्थिति, संहार, संरोध और अनुग्रह नामक [१]पंचकृत्यों का सम्पादन करते हैं। सृष्टि आदि कृत्यों का अनुष्ठान करने के उपरान्त अनन्तेश्वर परतन्त्रता से मुक्त हो शिवसाम्य को प्राप्त कर लेते हैं (श्लो. ८७,९४)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शिव के समान अनन्त भी पंचकृत्यों का सम्पादन करते हैं। रत्नत्रय की वृत्ति में अघोरशिव ने भी ऐसी ही व्याख्या की है (पृ. १५२)। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह नामक पंचकृत्य शैवागमों में प्रसिद्ध हैं। रौरवागम (१.१५) में इनको सृष्टि, संरक्षण, आदान, भव और अनुग्रह नाम दिये गये हैं। यहाँ सृष्टि के स्थान पर स्थिति और भव के स्थान पर भाव पाठ मिलता है, यह ठीक नहीं है। संरक्षण शब्द स्थिति का और आदान शब्द संहार का वाचक है। भव शब्द से जन्म और मृत्यु की परम्परा के सूचित होने से यह तिरोभाव का बोधक है। इस तरह से रौरवागम में पंचकृत्यों में नामभेद के सिवाय अर्थ में किसी प्रकार का कोई भेद या वैपरीत्य नहीं है।

पति की निमित्तकारणता

द्वैतवादी शैवसिद्धान्तशास्त्र में पति (शिव) को [२]निमित्तकारण माना गया है, उपादानकारण नहीं। पराख्यसंहिता का कहना है—ईश्वर नामक निमित्तकारण, दृष्ट

---

१. वैष्णवागम में वर्णित पंचकृत्यों का स्वरूप पांचरात्र प्रकरण में (पृ. १२२) देखिये।

२. शिव की निमित्तकारणता मतंग (विद्या. ६.९९) और स्वच्छन्द (११.२-३) में भी वर्णित है। नेत्रतन्त्र (२१.५०-५१) में निमित्तोपादानता विवेचित है। आगमरहस्य और शिवदृष्टि (३.५१-५२) में शिव की निमित्तकारणता नहीं मानी गई।

दण्ड-चक्र आदि सहकारिकारण और मृत्तिका आदि उपादानकारण—ये तीनों कारण सभी कार्यों से संबद्ध हैं। इस तरह से इन तीनों कारणों के सभी पदार्थों से संबद्ध होने से सभी कार्यों की इन तीन कारणों के साथ अलग-अलग व्याप्ति का प्रतिपादन होने से समस्त कार्य-प्रपंच के लिये अलग-अलग तीन कारणों की आवश्यकता यहाँ दिखाई गई है, अत: अभिन्न-निमित्तोपादान-कारणतावादी सिद्धान्त यहाँ मान्य नहीं है। यहाँ शंका उठती है कि मकड़ी जाले के निर्माण में निमित्त और उपादान दोनों रूपों में देखी जाती है? किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वह अपने मुख की लार से इसे बुनती है। फिर ईश्वर को उपादान मानने पर उसमें परिणामिता और अचिद्रूपता का दोष आवेगा अथवा उससे निर्मित सारा प्रपंच चिद्रूप बन जायगा।

इसीलिये ईश्वर में समवाय संबन्ध से विद्यमान शक्ति की भी उपादानता नहीं मानी जा सकती। संसार को चित् का विवर्त मानने पर जगत् को असत्य कहना पड़ेगा। आप जगत् को असत्य नहीं कह सकते, क्योंकि सभी प्रमाणों से सिद्ध इस जगत् को आप नकार नहीं सकते। पौष्करागम में कहा गया है—जैसे शिव को उपादान नहीं माना जाता, उसी तरह से उसकी शक्ति की भी उपादानता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ये दोनों चित्स्वरूप हैं। परिणाम तो अचित् पदार्थ का ही होता है, चित् का तो विवर्त होता है, परिणाम नहीं। ऐसा मानने पर कार्य की स्थिति ही न रहने पावेगी, किन्तु ऐसा है नहीं। जब सभी प्रमाणों से कार्य की सत्ता सिद्ध है, तब इस जगत् को चित् का विवर्त कैसे कहा जा सकता है। इससे यह स्थापित हो जाता है कि इस प्रपंच का ईश्वर निमित्तकारण, शक्ति सहकारिकारण और बिन्दु उपादानकारण है। इसकी चर्चा भी पौष्करागम में ही है—सभी कार्यों का निमित्तकारण ईश्वर और उपादानकारण बिन्दुराट् है। यह वचन पराख्यसंहिता में भी उपलब्ध है। वहाँ भी शुद्ध सृष्टि में शिव की निमित्तता और बिन्दु की उपादानता तथा अशुद्ध सृष्टि में अनन्तेश की निमित्तता और माया की उपादानता बताई गई है। किरणागम (३.२७) में भी शुद्ध सृष्टि का कर्ता शिव को और अशुद्ध सृष्टि का कर्ता अनन्त को माना गया है। पौष्करागम का कहना है कि शुद्ध सृष्टि में माया को उपादान नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह तो अपने प्रभाव से सबको मोह में डाल देती है और शुद्ध सृष्टि में यह दोष नहीं है।

माया, काल, कर्म आदि की ही निमित्तकारणता हो सकती है, ईश्वर की नहीं; यह कथन भी ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये सब तो अचेतन हैं, चेतन की प्रेरणा के बिना ये कुछ भी करने में असमर्थ हैं। अत: जब चेतन की सत्ता

माननी ही पड़ेगी, तो हमारे जैसे अज्ञ जनों की ज्ञान और क्रिया शक्ति के संकुचित होने से उनमें माया आदि की प्रेरकता नहीं मानी जा सकती। फलतः सर्वज्ञ, सर्वकर्ता ईश्वर में ही यह शक्ति माननी पड़ेगी और इस तरह सकल प्रपंच के प्रति ईश्वर की ही निमित्तकारणता सही होगी। इसीलिये पौष्करागम में कहा गया है कि इस सृष्टि के प्रति ईश्वर निमित्त कारण, बिन्दुराट् उपादान कारण और पशु का कर्म सहकारीकारण—इस तरह से जगत् के ये तीन कारण माने जाते हैं। अतः समस्त कार्यात्मक प्रपंच के प्रति ईश्वर आदि की त्रिविध कारणता सभी को माननी होगी।

पति की त्रिविधता

इस जगत् का कर्ता पति (शिव) शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त के भेद से त्रिविध है। [1]मृगेन्द्रागम में कहा गया है कि कर्ता (शिव) के शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक तीन भेद शक्ति की प्रवृत्ति के भेद के कारण औपचारिक हैं, वास्तविक नहीं। अभिप्राय यह है कि भगवान् शिव की शक्तियाँ ही शरीर और इन्द्रियों का कार्य करती हैं, वह वास्तव में शरीर, करण आदि से रहित है। अतः वह अपनी चिच्छक्ति की त्रिविध प्रवृत्तियों के, अर्थात् उदासीनता, उद्योग और प्रवृत्ति के कारण शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक औपचारिक रूप धारण कर लेता है, ये इसके वास्तविक रूप नहीं हैं। इस विषय को हम इस तरह से समझ सकते हैं—शक्त का अर्थ कार्य करने की सामर्थ्य है, इसे निष्कलावस्था कहते हैं, इससे युक्त शिव शान्त कहलाते हैं। उद्युक्तता सकलनिष्कलावस्था है, इसे सदाशिव दशा कहते हैं। प्रवृत्तता स्थूलावस्था (सकल दशा) है, इसे ईश्वर कहते हैं। इस तरह से शिव का यह अवस्थाभेद कार्य की भिन्नता के आधार पर है, अतः इस औपचारिक भेद के कारण इनकी त्रिविधता मान ली जाती है। वास्तव में ये एक ही तत्त्व के त्रिविध रूप हैं। किरणागम (३.१४) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है—वह शिव निष्कल[2], सकल (स्थूल) और सकलनिष्कल नामक त्रिविध स्वरूप वाला होने से यथायोग्य ईश्वर, सदाशिव और शान्त नाम धारण कर लेता है।

किरणागम (३.२५-२६) के अन्य वचन में लय, भोग और अधिकार नामक अवस्थाओं के भेद से शिव की त्रिविधता बताई गई है। पौष्करागम का

---

१. यहाँ निर्दिष्ट "शक्तोद्युक्तप्रवृत्तश्च" इत्यादि श्लोक मृगेन्द्रागम में उपलब्ध नहीं है।

२. सकल और निष्कल शिव, उसकी ३८ कलाएँ, उनकी न्यासविधि रौरवा. (भा. १, पृ. १६,१७९,१८२; भा. २, पृ. २२) में, ३८ कलाएँ स्वच्छन्द (भा. १, पृ. ४८) में वर्णित हैं। अभी हाल में प्रकाशित सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११७-१२०) में भी यह विषय देखा जा सकता है। लुप्ता. उपो. (पृ. १३०, टि. २) भी देखिये।

कहना है कि वास्तव में लय, भोग और अधिकार अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है, किन्तु बिन्दु और अणुओं की दृष्टि से इनको वास्तविक ही माना जाता है। मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के तृतीय-चतुर्थ पटलों में इन तीन अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है, तो भी इन तीनों अवस्थाओं में कार्योपसंहार, कार्योद्योग और कार्यसम्पत्ति के रूप में परस्पर स्वरूपतः कोई भेद नहीं माना जाता। जैसे जीवात्मा शरीर का संसर्ग होने पर **सकल**, प्रलयावस्था में **अकल** और मुक्तावस्था में **पर** कहलाता है, उसी तरह से शिव भी सकल, निष्कल आदि के भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में उपचरित होने लगता है, वास्तव में इनमें कोई पारमार्थिक भेद नहीं है। लिंगोद्भवपुराण में निष्कल और सकल तथा हंसपारमेश्वर में निष्कल, सकल और शान्त नामक शिव वर्णित है। तन्त्रालोक (८.३७९-३८०) में लय, भोग और अधिकार नामक त्रिविध तथा सकल, निष्कल आदि त्रिविध अवस्थाओं का वर्णन मतंगपारमेश्वर के प्रमाण से ही किया गया है।

जीवोन्मुख शिव

ऊपर पति की शक्त, उद्युक्त, और प्रवृत्त; लय, भोग और अधिकार तथा निष्कल, निष्कलसकल और सकल नामक तीन प्रकार की त्रिविध अवस्थाओं का स्वरूप बताया गया है। इनको हम जीवोन्मुख शिव की विभिन्न स्थितियाँ मान सकते हैं। भाव, तत्त्व आदि पंचविध सर्ग तथा अण्डचतुष्टयात्मक सर्ग की रचना परशिव जीवों को भोग और मोक्ष प्रदान करने की इच्छा से करते हैं। ऐसा करते समय भगवान् शिव जीवोन्मुख हो जाते हैं, वे अपने पर स्वरूप को छोड़कर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाओं में प्रवेश कर लेते हैं। भोगों से संतृप्त जीव के कल्याण के लिये, उनको मुक्ति दिलाने के लिये वे पुनः स्थूल से सूक्ष्म एवं पर रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं और अपनी अनुग्रह शक्ति की सहायता से उसमें मुक्ति की कामना जगाते हैं। इस तरह से जीव की भोगोन्मुख और शिवोन्मुख नामक दो स्थितियाँ बन जाती हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि जीव के कल्याण के लिये भगवान् सकल (मूर्त) स्वरूप धारण करते हैं। इस तरह से इस सकल स्वरूप को धारण कर शिव जीवोन्मुख हो जाते हैं।

अनुग्रह-प्राप्त शिवोन्मुख जीव भी तीन अवस्थाओं से गुजरता है। शास्त्रों में उन जीवों को केवलावस्थ, सकलावस्थ और अमलावस्थ नाम दिया गया है। अमलावस्था में पहुँचने के लिये जीव को भगवान् शिव के [1]मूर्ति-रूप सकल स्वरूप का सहारा लेना पड़ता है।

---

१. अष्टप्रकरण में "मूर्तिः शक्त्यन्तगोचरा" (पृ. ११३), "ध्येयाकाराभिव्यक्तां शक्तिरूपां मूर्तिमधिष्ठाय" (पृ. १३३) इत्यादि स्थलों पर मूर्ति शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

शिव का सकल स्वरूप

अघोरशिव का कहना है कि अधिकारावस्था में स्थित शिव विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिये और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये [१]अड़तीस कलाओं से सम्पन्न अपनी शक्ति से मूर्ति का आकार ग्रहण कर लेते हैं। ३८ कलाओं से सम्पन्न इस मूर्ति के कारण ही यह सकल कहलाता है (पृ. १३३)। शिव के इस सकल स्वरूप के साक्षात्कार के लिये जीव मन्त्रों का सहारा लेता है। ये मन्त्र निर्मल स्वभाव के हैं, अतः इनकी मनन आदि के रूप में आराधना करने वाले जीवों में ये उनकी ज्ञान और क्रिया शक्ति को प्रकाशित कर देते हैं। इनकी स्थिति शुद्धविद्या तत्त्व में मानी गई है। इसीलिये रौरवागम आदि शैवशास्त्रों में इनको मन्त्रतत्त्व कहा गया है (पृ. १२७)। प्रतिमा, चित्र आदि की तरह ही मन्त्रात्मक शब्द से अभिव्यक्त, शिव आदि शब्दों से अभिहित होने वाले ये मन्त्र भी आराधक को उनका अभीष्ट फल देने में समर्थ हैं (पृ. १३१)। शास्त्रों में बताया गया है कि जीवों पर अनुग्रह करने के लिये शिव मन्त्र का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शिव की अनुग्राहिका शक्ति ही **मन्त्र** बन जाती है। सभी भावों की शिवस्वरूप में भावना करने से ये मन्त्र आराधक की रक्षा करते हैं। अतः मनन करने वालों की रक्षा करने वाली यह शक्ति मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। स्पष्ट है कि प्रतिमा, चित्र आदि की तरह ही भगवान् मन्त्र, मातृका, यन्त्र आदि में भी अवतरित होते हैं। यहाँ अवतरण का अर्थ है अपनी उद्योगावस्था का परित्याग कर प्रवृत्तावस्था में उतरना। यही भगवान् का सकल स्वरूप है। शाक्त तन्त्र योगिनीहृदय के चक्रसंकेत प्रकरण में भगवती त्रिपुरसुन्दरी का श्रीचक्र के रूप में अवतरण इसी पद्धति से वर्णित है (१.९)।

पशु (जीव)

पराख्यसंहिता में [२]पशु को देह से भिन्न, अनश्वर, व्यापी, अनेक, समल, अजड़ (चेतन), अपने किये का फल भोगने वाला, कर्ता और अल्पज्ञ माना गया

---

१. अड़तीस कलाओं के स्वरूप, न्यास आदि से परिचित होने के लिये सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११७-१२०) देखिये।

२. पशु पदार्थ की सिद्धि और उसका स्वरूप मृगेन्द्र के षष्ठ पटल में वर्णित है। तत्त्वसंग्रह, सर्वदर्शनसंग्रह, शैवदर्शनबिन्दु, मतंग और मृगेन्द्र में द्वैत दृष्टि से; स्पन्दनिर्णय, प्रत्यभिज्ञाहृदय, ई.प्र.वि., ई.प्र.वि.वि., म.म.प., शि.सू.वि., तन्त्रसार, परमार्थसार और तन्त्रा. में अद्वय दृष्टि से पशु का स्वरूप विवेचित है। ईश्वराद्वयवाद की यह विशेषता है कि यहाँ पशु को भी पंचकृत्यकारी माना गया है। इन ग्रन्थों के स्थलनिर्देश के लिये लुप्ता. उपो., पृ. १३१ की टिप्पणी देखिये। इस प्रसंग में "निगमागम संस्कृति" (पृ. २६-३७) में प्रकाशित "शैवागम-संमत जीवस्वरूप" शीर्षक हमारा निबन्ध देखा जा सकता है।

है। देह से भिन्न कहने से चार्वाक के पक्ष का, अनश्वर कहने से सौगत क्षणभंगवाद का, व्यापी कहने से जैन मत का, विभिन्न (अनेक) कहने से वेदान्त पक्ष का खण्डन हो जाता है। समल में विद्यमान मल शब्द से ज्ञान के आवरक, कर्म से भिन्न, राग के कारण अज्ञान का बोध होता है। अजड होने से यह ज्ञान-क्रिया स्वभाव है। स्वकर्मफलभुग् इस विशेषण में विद्यमान स्वकर्म अपना धर्माधर्मात्मक कर्म है, उसके फल को यह भोगता है। एक साथ सेवा, कृषि आदि में प्रवृत्त दो व्यक्तियों में से एक को सफलता मिलती है, दूसरे को नहीं। इसीसे इनकी प्रतीति होती है। पौष्करागम में इसको स्पष्ट किया गया है—दो व्यक्ति एक साथ कृषि कार्य में लगे हैं। इनमें से एक को धान्य की प्राप्ति होती है, दूसरे को नहीं। इसमें कर्म की ही कारणता मानी जाती है। कर्ता का अर्थ पुण्यापुण्यात्मक कर्म का करने वाला है। किंचिज्ज्ञ का अर्थ अल्पज्ञ है। सेश्वर का अर्थ ईश्वर के द्वारा प्रेरित है। यहाँ सांख्यदर्शन के समान यह स्वतन्त्र नहीं है। पराख्यसंहिता का कथन है कि ईश्वर के द्वारा प्रेरित होने से यह पशु अस्वतन्त्र (परतन्त्र) है। पराख्यसंहिता में ही अणु, अर्थात् आणव मल से युक्त जीव को ईश्वर की कला से समाविष्ट होने के कारण कर्ता कहा गया है। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ५) और सिद्धान्तहृदय में पशु को अणु, अर्थात् आणव मल से युक्त होने से संकुचित ज्ञान-क्रियाशक्ति स्वरूप माना गया है। किरणागम (१.१५) में भी पशु को नित्य, अमूर्त, अज्ञ, निष्क्रिय, निर्गुण, अप्रभु (परतन्त्र), व्यापी, माया के उदर में रहकर संसार-चक्र में घूमते रहने वाला और भोग के उपाय की खोज में सदा लगा रहने वाला बताया है।

मृगेन्द्रागम (वि. २.५-६) में कहा गया है जीवात्मा में ज्ञान और क्रिया शक्ति स्वरूप चैतन्य सदा विद्यमान रहता है और मुक्तिदशा में यह स्पष्ट रूप से सर्वत्र प्रतीत होता है। इसीलिये इसे सर्वतोमुख कहते हैं। जीवदशा में भी इसकी सत्ता अवश्य है, किन्तु उसकी प्रतीति मलावृत होने से हो नहीं पाती। यह अनावृत वीर्य, सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर के वश में रहने के कारण पराधीन है। यहाँ अणु जीव को ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न बताते हुए कहा गया है कि मल से आवृत होने से उसका यह चैतन्य प्रकाशित नहीं होने पाता।

नरेश्वरविवेक में अणु (जीवात्मा) को चिदचिद्रूप एवं शिवात्मक प्रमाता माना गया है। हंसभेद में बताया गया है कि बुद्धि, प्राण और शरीर नामक तीन पुरों का दाहक होने से जीव भी त्रिपुरान्तक शिव बन जाता है। तत्त्वगर्भ में कहा गया है कि जिन जीवों को परमार्थ स्वरूप का बोध हो गया है, उनका ज्ञान-क्रियामय चैतन्य-स्वरूप का प्रकाश कभी लुप्त नहीं होता। त्रिशिरोभैरव में जीव को ही

शिव-शक्ति स्वरूप माना गया है और तन्त्रसद्भाव में इसके अभाव में जीव को पाश्य, अर्थात् पाश से बाँधने योग्य कहा है।

त्रिविध पशु

यह पशु विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से त्रिविध हैं। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ८-१६) में इनका विस्तार से परिचय दिया गया है। टीकाकार ने सिद्धान्तहृदय आदि ग्रन्थों की सहायता से इसे पुनः स्पष्ट किया है। इनमें [1]विज्ञानाकल वह जीव है, जिसके कर्मों का क्षय विज्ञान, योग, संन्यास अथवा भोग से हो गया है और कर्मों का क्षय हो जाने से कला आदि माया के बन्धनों के अभाव में केवल आणव मल बचा रह गया है। द्वितीय प्रलयाकल में कला आदि माया के बन्धन नहीं रहने पाते, अतः यह मल और कर्म नामक बन्धन से युक्त रहता है और तृतीय सकल जीव में मल, माया और कर्म नामक तीनों बन्धनों की स्थिति रहती है।

विज्ञानाकल समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम समस्त दोषों के परिपाक से परिशुद्ध अन्तःकरण वाले श्रेष्ठ पुरुषों को अधिकार-सम्पन्न कर भगवान् शिव अनुग्रहपूर्वक अनन्त आदि आठ[2] विद्येश्वरों की पदवी प्रदान करते हैं। अन्यों को सात करोड़ मन्त्रों का स्वरूप प्रदान कर उनको भी अनुग्रह की सामर्थ्य से सम्पन्न कर देते हैं। प्रलयाकल भी द्विविध हैं—पक्वाशय और अपक्वाशय। इनमें प्रथम मोक्ष प्राप्त करता है और द्वितीय पुर्यष्टक से बँधा हुआ कर्म के कारण नाना योनियों में जन्म लेता रहता है। इनमें से विशिष्ट पुण्य-सम्पन्न, [3]पुर्यष्टक-देहधारियों में से कुछ को महेश्वर अनन्त भुवनों का पति बना देते हैं। सकल जीव भी पक्वकलुष और अपक्वकलुष के भेद से द्विविध हैं। इनमें से प्रथम कोटि के जीवों को परमेश्वर उनके कर्मों के परिपाक के तारतम्य के अनुसार और तदनुगुण [4]शक्तिपात के अनुसार ११८ संख्या के

---

१. विज्ञानाकल आदि का स्वरूप तत्त्वप्रकाश-कुमारवृत्ति, मृगेन्द्रवृत्ति-विद्यापाद, रत्नत्रय, सर्वदर्शनसंग्रह, मालिनीविजयोत्तर, प. त्री. वि., सिद्धान्तसारावलि-प्रस्तावना आदि में भी विवेचित है। तन्त्रालोक में यहां का क्रम विपर्यस्त हो गया है। प्रमातृसप्तक विचार हमने आगे (पृ. ३२६) किया है।

२. आठ विद्येश्वरों का स्वरूप मतंग-विद्यापाद के ४-५ पटलों में विशेष रूप से विवेचित है। स्वायम्भुव एवं सिद्धान्तागम के वचनों को भी देखिये।

३. विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर पुर्यष्टक के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन अलग से किया गया है।

४. शक्तिपात के स्वरूप पर आगे (पृ. ३५७-३६१) विस्तार से विचार किया जा रहा है।

मण्डली देवताओं के रूप में [१]मन्त्रेश्वर पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। कर्मपरिपाक के और शक्तिपात के क्रम को निरुद्ध कर, अर्थात् जीव के फलाकांक्षा से विमुख हो जाने पर उस जीव को ईश्वर गुरु का स्वरूप धारण कर दीक्षा प्रदान कर मोक्ष का अधिकारी बना देते हैं। अपक्वकलुष बद्ध जीवों को परमेश्वर उनके कर्मफल के अनुसार सांसारिक भोग प्रदान करते हैं।

जीवों के अन्य प्रकार

बन्ध तत्त्व में स्थित निवृत्ति आदि चार कलाओं के चतुर्विध भुवनों को योग के बल से अथवा दीक्षा से प्राप्त शक्ति के आधार पर प्राप्त करने वाले जीव मूर्ति-केवली, योगकेवली, ज्ञानकेवली और शक्तिकेवली के नाम से चतुर्विध पशुओं के रूप में शतरत्नसंग्रह (पृ. ७७-७८) में मतंगपारमेश्वरागम के प्रमाण से वर्णित हैं। आगे सप्तविध मोक्ष का निरूपण करते समय इनके लक्षण बताये गये हैं। अप्रबुद्ध, प्रबुद्धकल्प, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धकल्प और [२]सुप्रबुद्ध नामक पंचविध प्रमाता विरूपाक्षपंचाशिका की व्याख्या (पृ. १८) में निर्दिष्ट हैं। संबुद्ध नामक जीव का स्वरूप त्रिशिरोभैरव के प्रमाण से तन्त्रालोक (१.१३६) में भी बताया गया है। सुभगोदयवासना (श्लो. ४३) में सूचित सप्तविध [३]प्रमाताओं का स्वरूप यहाँ भी निर्दिष्ट है। इनके नाम शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल हैं[४]।

भोगोन्मुख जीवात्मा

भोगोन्मुख जीवात्मा को यहाँ अणु, पशु, पुद्गल, पुरुष आदि नामों से कहा गया है। कुमार का कहना है कि अणु-परिमाण होने से ही इसे अणु नहीं कहा

---

१. "तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधाद्यास्तत्समाश्च वीरेशः। श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम्।।" (त. प्र. १४) में इन सबका मन्त्रेश्वर के रूप में परिचय दिया गया है। शतरुद्रों की नामावली मतंग-विद्यापाद (२३.१३-४४) में मिलती है।

२. स्पन्दनिर्णय, स्पन्दप्रदीपिका, रामकण्ठवृत्ति जैसी स्पन्दकारिका की व्याख्याओं में भी इन भेदों को देखा जा सकता है।

३. प्रमातृसप्तक पर विचार अन्य ग्रन्थों में भी किया गया है। इसके लिये लुप्ता. उपो., पृ. १३४ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

४. सांजन एवं निरंजन पशु का तन्त्रसार और सर्वदर्शनसंग्रह में, समल और निर्मल सिद्धों का ई. प्र. वि. वि. में, चतुर्विध आत्मा का मालिनी. (पृ. ३-६), तन्त्रालोक एवं स्वच्छन्द में वर्णन मिलता है। प्रमातृतत्त्वविचार ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ३०५-३५४ में मिलता है। जीवों के विनायक गृहीत आदि भेद क्रियाकालगुणोत्तर और तोतुल में वर्णित हैं।

जाता, अपि तु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि शक्तियों के संकोच के कारण इसको यह नाम दिया गया है (पृ. १६)। ये अणु जीव पाशों से बँधे होने से पशु कहलाते हैं। ये पशु विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से त्रिविध हैं। रौरव आदि शास्त्रों में त्रिविध मल भी पशु नाम से जाने जाते हैं। परमोक्षनिरासकारिका की व्याख्या में रामकण्ठ ने सदाशिव में भी अनुग्रह और तिरोभाव नामक दो पाशों की स्थिति मानी है और सदाशिव को प्रथम पशु माना है (पृ. २८२)। अत: सदाशिव की भी प्रथम पशु के रूप में गणना करनी होगी। रत्नत्रय की उल्लेखिनी वृत्ति में अघोरशिव सदाशिव को अधिकार दशा में स्थित शिव मानते हैं (पृ. १५३)। मलों से आवृत आत्मा को ही पुद्गल कहा जाता है। मोक्षकारिका (श्लो. ७२) में अनन्त आदि मन्त्रेश्वरों को भी पुद्गल कहा गया है, किन्तु वहीं (श्लो. ८७) यह भी बताया गया है कि सृष्टि आदि पंचकृत्यों को कर लेने के उपरान्त अनन्तेश्वर पारतन्त्र्य से छुट्टी पाकर पति (शिव) के तुल्य बन जाते हैं। पशु भी पति के समान ही माना जाता है, किन्तु काल, नियति, कला अविद्या और राग नामक [1]पाँच कंचुकों से जब वह आवृत हो जाता है, तब वह पुरुष कहलाने लगता है और उसकी गणना तत्त्वों में होने लगती है। अघोरशिव का यहाँ कहना है कि कला आदि पाँच तत्त्वों से आवृत यह अणु भोक्ता पुरुष तत्त्व कहलाता है, वास्तव में यह न तो तत्त्व ही है और न अन्य तत्त्वों के समान इसमें किसी भुवन की स्थिति मानी जाती है। इसीलिये मतंग आदि शास्त्रों में षडध्वशुद्धि के प्रसंग में पुरुष तत्त्व की शुद्धि रागतत्त्व में बताई गई है (पृ. ८०)।

पुरुष शब्द में एकवचन पुरुष जाति का सूचक है, अत: मल से संबद्ध सभी बद्ध आत्मा पुरुष कहलाते हैं। तत्त्वसंग्रह (श्लो. २७) में पशु को नित्य, विभु तत्त्व माना है, किन्तु इसकी दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति अनादि काल से चले आ रहे मल के कारण अवरुद्ध रहती है। इस बद्धावस्था में इसके भोग के लिये ही यह सारा संसार निर्मित है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए अघोरशिव कहते हैं कि कूटस्थ नित्य मल और प्रवाहनित्य कर्म से अनादि काल से आबद्ध जीव को शिव जब मोक्ष देना चाहते हैं, तो मल के परिपाक एवं कर्म के उपभोग के लिये इसे मायीय मल से संबद्ध कला आदि से संयुक्त कर देते हैं, तब यह आत्मा

---

१. पंचकंचुकों का यह क्रम कुमारदेव के अनुसार दिया गया है। कला आदि के क्रम के विषय में शास्त्रों में अनेक मत प्रदर्शित हैं। शास्त्रों में कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तीस तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्म शरीर का वर्णन मिलता है। तन्त्रालोक (९. २०३-२०४) में भी यही क्रम मान्य है। इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। उसके समाधान के लिये तन्त्रालोक (९. २१९-२२०) देखिये। अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ. ३१-३२) तथा सिद्धान्तसारावलि की प्रस्तावना (पृ. ३५-३६) की टिप्पणियों में भी इस पर विचार किया गया है।

सकल कहलाता है। महाप्रलय की स्थिति में कला आदि का संहार हो जाने से केवल मल और कर्म से संबद्ध जीव प्रलयाकल और कर्म का भी नाश हो जाने पर केवल मल से युक्त जीव विज्ञानाकल कहलाता है (पृ. १२६)। अघोरशिव पुरुषतत्त्व की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मतंगशास्त्र में प्रकृति और राग के बीच में पुरुष तत्त्व की गणना की गई है, यह ठीक है, किन्तु वह चेतन और नित्य है, अतः भुवन आदि का आधार होने से इसमें अध्वता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कला आदि पंचकंचुक से आवृत यह भोक्ता पुंस्त्व मल से, अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमान रूप अज्ञान से आवृत हो जाता है। उसकी शुद्धि के लिये दीक्षा के समय इसी क्रम से इसकी शुद्धि का विधान है। तदनुसार यहाँ पुरुष की गणना राग और प्रकृति तत्त्व के बीच में की गई है। इसीलिये आचार्य सद्योज्योति ने मायातत्त्व का वर्णन कर लेने के उपरान्त पशु के स्वरूप का वर्णन किया है (पृ. १२०)। इस मत में मायातत्त्व के बाद पुरुषतत्त्व की शुद्धि की जाती है, प्रकृति के बाद नहीं, यह इस ग्रन्थ का अभिप्राय प्रतीत होता है।

शिवोन्मुख जीव

जीवोन्मुख शिव का स्वरूप बताते समय (पृ. ३२२) शिवोन्मुख जीव की भी संक्षिप्त चर्चा की गई है। अपनी तीन अवस्थाओं के रूप में जीव शिवोन्मुख होता है। पृ. ६६ पर इन अवस्थाओं के साथ सांसिद्धिक आदि गुण भी चर्चित हैं। शतरत्नसंग्रह (पृ. ५८-५९) में स्वायम्भुवागम और सुप्रभेदागम के प्रमाण से पशु की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। इनके नाम वहाँ अविमल, बद्ध और मुक्त[१] दिये गये हैं। अविमल का अर्थ अत्यन्त मलिन है। इसीको केवल भी कहते हैं। बद्ध का अर्थ कला आदि के बन्धनों से जकड़ा हुआ है। इसीको सकल भी कहते हैं। दीक्षा के द्वारा जिसके कला आदि के बन्धन टूट चुके हैं, उसको मुक्त कहा जाता है। शुद्ध अवस्था से सम्पन्न इस जीव को अमल कहा जाता है। सुप्रभेदागम के अनुसार यह शुद्ध अवस्था वाला जीव शिवस्वरूप हो जाता है।

केवलावस्थ

स्वायम्भुवागम के अनुसार केवल पशु [२]अचेतन, विभु, नित्य, गुणहीन, अक्रिय, अप्रभु, शोध्य और बोध्य है। इसकी शक्ति कुण्ठित रहती है। सुप्रभेदागम

---

१. तत्त्वत्रयनिर्णय (श्लो. ६) की व्याख्या में अघोरशिव इस प्रकरण की विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल जीवपरक व्याख्या करते हैं।

२. यहाँ पशु को अचेतन बताया गया है, किन्तु मृगेन्द्रागम (विद्या.२.५) में पशु में दृक्क्रियात्मक चैतन्य की सदा सत्ता मानी गई है। इन परस्परविरोधी वचनों का समन्वय इस तरह से किया जा सकता है कि वस्तुतः जीव सचेतन ही है, किन्तु जब वह मलों से घिर जाता है, तो उसका चैतन्य छिप जाता है।

में इसको अमूर्त, नित्य, निर्गुण, निष्क्रिय, अप्रभु, व्यापी, माया के उदर में पड़ा हुआ और सदा भोग की चिन्ता में लगा हुआ बताया है। शुद्ध पुरुष की भोग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, पर जीवात्मा सदा भोगों की तलाश में रहता है, इसीलिये इसकी अशुद्धि (मलिनता) का पता चलता है। यह केवलावस्थ जीव अपनी अनादि काल से चली आ रही मलिन वासनाओं के कारण इस संसाररूपी बीहड़ वन में भटकता रहता है। यह पूरी तरह से मोह से ग्रस्त रहता है, सांसारिक भोगों में अन्धा बना रहता है। इसलिये यह मुक्ति की बात कभी सोचता ही नहीं। कला से पृथ्वी पर्यन्त माया की कलाओं से पूर्ण रूप से आवृत होने से यह केवल कहलाता है।

सकलावस्थ

स्वायम्भुवागम के अनुसार यह संसारी, विषयी, भोक्ता, क्षेत्रज्ञ, शरीरी और बद्ध है। सुप्रभेदागम में बताया गया है कि सकलावस्थ जीव तीनों मलों से आवृत रहता है। संसारी, विषयी, क्षेत्री, क्षेत्रज्ञ, भोक्ता, शरीरी, भोगी, पशु, अज्ञानी, बद्धात्मा—ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। यह सकलावस्थ जीव यह जानने लगता है कि मैं बद्ध हूँ और इस बन्धन से छुटकारे के लिये वह प्रयत्नशील हो उठता है।

अमलावस्थ

बन्धन से मुक्ति पाने के लिये चेष्टाशील जीवात्मा पर से धीरे-धीरे शिव का तिरोधान व्यापार (रोध शक्ति) हटने लगता है और अनुग्रह शक्ति उसी अनुपात में प्रकट होने लगती है। यह अनुग्रह व्यापार शास्त्रों में शक्तिपात के नाम से जाना जाता है। [1]शक्तिपात से पवित्र हुआ जीव योग्य गुरु के पास जाता है और उससे दीक्षा लेकर भगवान् की आराधना में लग जाता है। ऐसा करने से उसके बन्धन कट जाते हैं और वह अपने निर्मल स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर बिना किसी विघ्न-बाधा के शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है। यह अमलावस्थ जीव इस तरह से मुक्त हो जाता है। उसका ज्ञानचक्षु खुल जाता है, वह अपने को शरीर आदि से भिन्न शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानस्वरूप समझने लगता है। सभी प्रकार की अभिलाषाओं से रहित इस शान्त अवस्था को ही शास्त्रों में जीवन्मुक्त दशा कहा जाता है।

---

१. शक्तिपात का स्वरूप और इसमें कर्मसाम्य अथवा मलपरिपाक की हेतुता अथवा शक्तिपात की स्वतन्त्रता आदि विषयों के लिये लुप्ता० उपोद्घात (पृ. १५५-१५८) देखिये।

यह अमलावस्थ जीव शरीर के छूटने के बाद मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। द्वैतदर्शन में शिवसदृश शिवता की प्राप्ति ही मुक्ति (मोक्ष) कही गई है। अद्वयदृष्टि के समान यहाँ पशु कभी पति नहीं बन सकता, वह पतिसदृश अवश्य हो जाता है। इन्द्रपद प्राप्त होने पर जीव स्वर्ग में जाता है, इस मुक्त जीव को इस तरह से कहीं जाना नहीं पड़ता, किन्तु यह केवल पशुभाव को छोड़कर पतिभाव में स्थित हो जाता है। शिवता को प्राप्त कर लेने के बाद जीव का भोक्तृत्व, अधिकारित्व और पतिकृत्यानुकारित्व निवृत्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब जीव शिवता को प्राप्त कर लेता है, तो सकल जीव में देखे जाने वाले भोगों से मुक्त हो जाता है, प्रलयाकल जीव में देखे जाने वाले माया के गर्भ में स्थित भुवनों के आधिपत्य से और विज्ञानाकल में देखे जाने वाले पति के निर्देश के अनुसार कार्य करने की परतन्त्रता से भी मुक्त हो जाता है। वह स्वतन्त्र हो जाता है, शिव के समान शाश्वत शुद्ध हो जाता है।

यह अमलावस्थ जीव शिवसायुज्य को प्राप्त कर लेता है। सुप्रभेदागम के अनुसार मुक्त जीव का शिव में संयोजित रूप ही शिवसायुज्य कहलाता है। सायुज्य शब्द यहाँ सादृश्य का बोधक है, तादात्म्य का नहीं। शतरत्नसंग्रह (पृ. ८५) में अभियुक्त-वचन के प्रमाण से कहा गया है कि शरीर का उच्छेदमात्र अपवर्ग नहीं है और न पशु एवं शिव की एकता को ही अपवर्ग कहते हैं। वेदान्त, सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शन के द्वारा प्रदर्शित अविद्या के ग्रास से मुक्ति, गुणविहीनता (प्रकृतिपुरुषविवेक) और पाषाणतुल्य दुःखान्तता को भी मुक्ति नहीं माना जाता। वस्तुतः आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों के हट जाने से जो बोधानन्दलक्षण आत्मस्वरूप प्रकट होता है, उसी को यहां मोक्ष कहा जाता है। इस शिवसायुज्य लक्षण मोक्ष में मुक्त जीव शिवसदृश बन जाता है। शैवशास्त्र के अनुसार सविधि दीक्षा प्राप्त कर तदनुसार आचरण करने पर इसी जन्म में मुक्ति मिल जाती है, उसको पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। यह मोक्ष ही मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग आदि नामों से भी जाना जाता है।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन में जीव अनादि काल से चले आ रहे पाशों से बँधा हुआ है। दीक्षा के द्वारा इन मलों (पाशों) का अपाकरण होने पर यह शिवता (शिवसायुज्य) को प्राप्त कर लेता है। शिवसायुज्य का अर्थ यहाँ शिवसदृश किया जाता है। मुक्तावस्था में शिवसदृश हो जाने पर भी मुक्त जीव की पृथक् स्थिति बनी रहती है। इसीलिये यह दर्शन द्वैतवादी है।

पाश

तत्त्वप्रकाश के ५वें [1]श्लोक में पाँच तथा १७वें में चार पाश वर्णित हैं। मृगेन्द्रागम (२.७) में चार ही पाश बताये गये हैं। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ७१-७२) में कहा गया है कि महामाया (बिन्दु) को पाश इसलिये नहीं माना जाता कि शिव-पदप्राप्ति रूप परम मुक्ति को प्राप्त करने में यद्यपि यह सहायक नहीं बन पाती, तथापि विद्येश्वर आदि पद-प्राप्ति रूप अपर मुक्ति को प्राप्त कराने में यह सहायता करती है। शतरत्नसंग्रह आदि ग्रन्थों में पाँच पाश वर्णित हैं। उनके नाम ये हैं—मल, तिरोधान शक्ति, महामाया (बिन्दु), माया और कर्म। अघोरशिव भी महामाया की औपचारिक पाशता मानते हैं। इसी तरह से तिरोधान शिव की रोधशक्ति का व्यापार है। पशु में न रहने पर भी यह शिव की इच्छा के अनुसार पशु को पाशों से मुक्त नहीं होने देती, अतः इनकी भी पाशों में गिनती कर ली जाती है। इस तरह से पाशों की संख्या वस्तुतः तीन ही है—मल, माया और कर्म। द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागमों में पाँच ही पाश वर्णित हैं।

१. मल

द्वैतवादी दार्शनिक [2]मल को एक ऐसा द्रव्य मानते हैं, जो अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है। यह पुरुष की ज्ञान और क्रिया शक्ति को उसी तरह ढक देता है, जैसे तुष तण्डुल को ढके रहता है और ताम्र (ताँबे) पर चढ़ा हुआ मैल उसकी चमक को। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि तुष और तण्डुल मिल कर जैसे अंकुर को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही यह मल संसार रूपी अंकुर का कारण है। ताम्र की कालिमा को रसायन शास्त्र की पद्धति से दूर कर देने पर जैसे वह स्वर्ण बन सकता है, उसी तरह से दीक्षा-व्यापार के द्वारा मल को शोधित कर देने पर पशु पतिस्वरूप बन जाता है।

---

१. "अर्थपञ्चकं पाशः" (श्लो. ५), "पाशाश्चतुर्विधाः" (श्लो. १७)। मृगेन्द्र-विद्यापाद के सप्तम पटल में पाश की सत्ता में प्रमाण देते हुए उसके चातुर्विध्य पर विचार किया गया है। वहीं (२.७) चार पाश और पाश का निर्वचन सौरभेयागम के प्रमाण से वृत्ति में दिया गया है। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ७१-७२), मोक्षकारिका (पृ. ६३-७१), शैवदर्शनबिन्दु (पृ. १८-२५) और मतंग के विद्यापाद के पुंपाशेश्वरपटल में पाश पदार्थ का विवेचन देखा जा सकता है।

२. मालिनीविजय (१.२३) में मल का लक्षण बताया गया है। मतंग (विद्या. २६-६५) में इसको बन्ध का कारण अज्ञान कहा गया है। किरण (२.२०) में इसके मल, अज्ञान, पशुत्व, तिरस्कारकर, तम, अविद्या, आकृति, मूर्छा—ये पर्याय बताये गये हैं। तन्त्रालोक (९.८४-८६) में भी इसके पर्याय निर्दिष्ट हैं। तन्त्रालोक (९.६२-१४७) और शैवदर्शनबिन्दु (पृ. १९-२०) में त्रिविध मल वर्णित हैं, पंचविध नहीं।

शतरत्नसंग्रह (पृ. ३६) में उद्धृत स्वायम्भुवसूत्र (२.१) में पशुत्व का कारण आणव मल को माना गया है। अनादि काल से चला आ रहा आणव मल पशु की दृक्क्रियात्मक शक्ति को ढक देता है। यही आणव मल पुरुष (जीवात्मा) में पशुत्व को उजागर कर देता है। जैसे तुष का छिलका शालि-तण्डुल की उच्छूनता में, अर्थात् उसमें से अंकुर के निकलने में निमित्तकारण माना जाता है, उसी तरह से शिव की इच्छा से माया के प्रसवाभिमुख होने पर वह कला आदि कार्यों की निमित्तकारण बनती है। ताम्र की कालिमा जैसे रस-शक्ति से निवृत्त होती है, उसी तरह से मल की निवृत्ति शिव की शक्ति से होती है। सुप्रभेदागम के अनुसार मल, अज्ञान, तम, अज्ञता, पति, पशु, अविद्या—ये सब मल के पर्याय हैं। मृगेन्द्रागम (वि. ७.७) में पशु, नीहार, मृत्यु, मूर्छा, मल, अंजन, अविद्या, आवृति रुक्, ग्लानि, पाप, मूल, क्षपा—ये सब पशु के पर्याय बताये गये हैं। मृगेन्द्रागम (वि. ७.८) में मल का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—यह मलस्वरूप आवरण [1]चतुर्दश भुवनों में स्थित सभी प्राणियों में एक ही है। यह अनादि काल से प्रवृत्त है, मायीय बन्धन के समान आगन्तुक नहीं। इसीलिये यह एक ही है। इसका अभिप्राय है कि कर्मप्रवाह के समान इसकी प्रवाहानादिता न होकर माया के समान कारण के अभाव में अनादिता मानी जाती है। यह मल अभेद्य है, इसको हटा पाना कठिन है। यह व्यापक आत्मा को भी ढक देता है, अतः महान् है।

शंका उठती है कि मल को एक मानने पर एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जायंगे? इसका उत्तर 'प्रत्यात्मस्थ' इत्यादि विशेषण से दिया गया है। अर्थात् प्रत्येक आत्मा में विद्यमान यह मल अपने प्रयत्न से ही दूर होता है, अतः यह उसी आत्मा से दूर होगा, जो इसके लिये प्रयत्नशील है। इसका अभिप्राय यह है कि मल एक है, किन्तु इसकी शक्तियाँ अनन्त है, अतः एक आत्मा से मल के निवृत्त होने पर भी दूसरी आत्मा से वह निवृत्त नहीं होगा। तत्त्वत्रयनिर्णय (श्लो. ११) में बताया गया है कि मल की अनेक शक्तियाँ हैं। प्रत्येक आत्मा की शक्ति को ये अलग-अलग रूप में निरुद्ध करती हैं। इस तरह से मल के एक होने पर भी उसकी आवरक शक्तियों की अनन्तता के कारण उनके आवार्य जीवों के भेद से एक की मुक्ति होने पर सभी की मुक्ति का प्रसंग ही नहीं आवेगा।

स्वायम्भुवागम और मृगेन्द्रागम में वर्णित यह सारा विषय तत्त्वप्रकाश में भी मिलता है। किरणागम के मायापटल में भी अपनी पद्धति से मल की उपयोगिता निरूपित है। सिद्धान्तसारावलि की प्रस्तावना (पृ. २८-३०) में इसे देखना चाहिये।

---

१. "अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः।।" (का. ५३) इस सांख्यकारिका में चतुर्दश भुवन परिगणित हैं।

[1]मल की सत्ता में शेषवत् अनुमान को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—मोह आदि कार्यों का कोई कारण होना चाहिये, क्योंकि घट के समान यह भी कार्य है। यहाँ माया आदि की प्रकाशकता के कारण उनको मोह का कारण नहीं माना जा सकता है। पारिशेष्यात् मोह के कारण के रूप में मल की सिद्धि होती है। मतंगपारमेश्वर (वि. ६.१०३) में मल के मोह, मद, राग, विषाद, शोष, वैचित्त्य, और हर्ष नामक सात सहज कार्य माने गये हैं। इनका स्वरूप वहीं (८.३१-५१) बताया गया है।

तन्त्रालोक (१.२३) में मालिनीविजय (१.२३) के प्रमाण से अद्वयवादी शैवों को मान्य मल का स्वरूप विवेचित है। वहाँ संसाररूपी अंकुर के कारण अज्ञान को ही मल बताया गया है। वहाँ (१.३६-५१) बौद्ध और पौरुष[2] के भेद से द्विविध मल वर्णित है। इनमें से दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष मल दूर हो जाता है, किन्तु बौद्ध मल तब तक दूर नहीं होता, जब तक उसका प्रतिरोधी समान जातीय बौद्ध ज्ञान उत्पन्न न हो। बौद्ध ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही वह सारहीन बौद्ध अज्ञान दूर हो पाता है। अभिनवगुप्त ने चिल्लाचक्रेश्वरीमत के आधार पर बौद्ध और पौरुष नामक द्विविध मल (अज्ञान) की चर्चा की है। अभिनवगुप्त वहीं (१.५०) निशाटन शास्त्र के प्रमाण से बौद्ध और पौरुष के भेद से ज्ञान और अज्ञान की द्विविध व्याख्या कर बताते हैं कि विकल्प-व्यापार के समाप्त हो जाने पर बौद्ध अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है और इसीको मोक्ष कहा जाता है। स्पष्ट है कि यहाँ [3]विकल्पात्मक अज्ञान को ही संसार का कारण माना गया है। [4]इस

---

१. मल का स्वरूप मतंग (भा. १, पृ. २१२), तन्त्रा. (भा.१, पृ. २५४) आदि में भी निर्दिष्ट है। अद्वैत दृष्टि से मल का स्वरूप नेत्रो. (भा.२, पृ. १८५) में तथा मल की द्रव्यता का निरास स्प. नि. (पृ. २४) में किया गया है। मतंग-विद्यापाद के पुंपाशेश्वरपटल में भी मल के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है।

२. बौद्ध और पौरुष नामक द्विविध अज्ञान का विवेचन तन्त्रा. (भा. १, पृ. ५५,७३-८९), ई. प्र. वि. वि. , भा. १, पृ. २३ तथा तन्त्रसार (पृ. २-५) में भी देखिये।

३. विकल्प शब्द की विस्तृत व्याख्या तन्त्रागमीय ज्ञानकोश में देखिये।

४. तन्त्रालोक (१.४६) में कहा गया है कि ज्ञानाज्ञानगत इस द्वित्व की चर्चा स्वायम्भुव, मतंग आदि आगमों में तथा खेटपाल के ग्रन्थों में भी की गई है, किन्तु बौद्ध और पौंस्न ज्ञानाज्ञान के रूप में उनको प्रस्तुत करना कठिन है। मतंग (विद्या. १७.६१-६२) में अवश्य अष्टविध पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान की चर्चा मिलती है, किन्तु उनकी भी अभिनवगुप्त-कृत विभाग से कोई समानता नहीं है।

तरह का विभाग अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। "अपने स्वरूप का परामर्श न होना ही अज्ञानरूपी अपराध है", "अज्ञानरूपी पंक के दूर होने पर ही आत्मा कैवल्य को प्राप्त कर सकता है", "अज्ञानरूपी संकोच के कारण ही जीव परिमिताहन्ता में फँस जाता है", "जीव में भेददृष्टि का कारण यह परिमिताहन्ता ही है", "अज्ञान के कारण जीव बन्धन में पड़ जाता है और वह जन्म-मरण की शृंखला से बाहर नहीं निकलने पाता", "यह आपकी एक ही शक्ति छः भेदों में विभक्त हो बाह्य परामर्श में पड़कर अविद्या बन जाती है", "यह अविद्या असत्यस्वरूपा है" इस तरह के मोक्षोपाय, स्वात्मसंबोध, षाड्गुण्यविवेक, संवित्प्रकाश, सर्वाचार, कक्ष्यास्तोत्र, धातुसमीक्षा के इन वचनों में अज्ञान, अविद्या, अहन्ता जैसे पदों से विकल्पात्मक अज्ञान ही बोधित होता है और सर्वत्र इस अज्ञान को ही बन्ध का कारण माना गया है।

मल, अज्ञान, अविद्या[१] आदि शब्द यद्यपि पर्यायवाची माने गये हैं, किन्तु उन-उन दार्शनिक सम्प्रदायों में उनमें से प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषता है। वहाँ प्रयुक्त ये शब्द अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न अर्थ का बोध कराते हैं। शिवसूत्रविमर्शिनी, धातुसमीक्षा जैसे ग्रन्थों के उद्धरणों को देखने पर इसकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। शैवदर्शन में सर्वत्र मल शब्द से आणव मल का बोध होता है। शैवशास्त्रों में इसका प्रथम पाश **मल** के रूप में वर्णन मिलता है।

यहाँ अघोरशिव मल को तत्त्वान्तर न मानकर उसका अन्तर्भाव पशु तत्त्व में ही करते हैं। मल के बिना पशु की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती, अतः इसे औपचारिक प्रयोग माना जा सकता है। वास्तव में पति, पशु और पाश इन तीनों की इस शास्त्र में स्वतन्त्र स्थिति मानी गई है। अद्वैतवादी शैवाचार्य तिरोधान शक्ति और महामाया की औपचारिक पाशता के कारण इनको पाश से बाहर कर बचे हुए मल , कर्म और माया नामक पाशों की ही गणना कर आणव, कार्म और मायीय मल के रूप में उनका वर्णन करते हैं। इनमें आणव मल ही संसाररूपी अंकुर का कारण है और यह अज्ञानस्वरूप है। उनके इस मत का परिचय हमने लुप्ता. उपो. (पृ. १५०-१५१) में दिया है। इस मत को द्वैतवादी शैवाचार्य स्वीकार नहीं करते। इसके मत में मल एक प्रकार का द्रव्य है। आँख में आया मोतियाबिन्द जैसे

---

१. शि. वि. (पृ. ५-७, ३२, ३६-३८), स्पन्द. राम. (पृ. १.१४), प. त्री. वि. (पृ. ४१) इत्यादि स्थलों को देखिये।

आपरेशन करके निकाला जाता है, उसी तरह से दीक्षारूपी व्यापार से ही इसकी निवृत्ति हो सकती है। इसीलिये अघोरशिव का अपने गुरुजनों के प्रमाण से कहना है कि शिष्य को शुद्धविद्या (मन्त्र) से संयुक्त करने से पहले ही दीक्षा देते समय माया के ऊर्ध्व स्थान में मल का शोधन कर देना चाहिये (पृ. १२८)। अघोरशिव का यह भी कहना है कि इसीलिये दीक्षा के समय सूक्ष्म देह की शुद्धि मायातत्त्व के नीचे की जाती है। रौरव आदि शास्त्र इसमें प्रमाण हैं (पृ. १२५)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मायातत्त्व के नीचे तीस तत्त्वों के समष्टि रूप सूक्ष्म देह की शुद्धि तथा शुद्धविद्या (मन्त्र) से संयुक्त करने से पहले माया के ऊर्ध्व स्थान में पुरुष (आणव) मल की निवृत्ति गुरु को करनी चाहिये। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि मायातत्त्व के ऊपर पुरुषतत्त्व की शुद्धि की जाती है।

कुमारदेव ने मल के स्वरूप के बोधक तीन लक्षण प्रस्तुत किये हैं—१. यह ज्ञान का प्रागभाव है, २. यह तिमिर (अन्धकार) के जैसा जडात्मक भावरूप पदार्थ है, इसकी निवृत्ति ज्ञान से होती है, ३. यह अविद्या का संस्कार है। ये तीनों ही लक्षण सिद्धान्तशैवागम का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यहां दीक्षारूपी व्यापार से मल की निवृत्ति मानी गई है। रत्नत्रय (श्लो. १२९) में इस प्रसंग में ज्ञान की अपेक्षा क्रिया को वरीयता दी गई है। मल के विषय में हमने लुप्ता. उपो. (पृ. १३६-१५१) में और अघोरशिव ने मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका में विस्तार से विचार किया है।

२. तिरोधान शक्ति

मल की नानाविध शक्तियों की अभी चर्चा हुई है। ये शक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से न तो प्रवृत्त हो पाती हैं और न निवृत्त ही, किन्तु परमेश्वर शिव की रोधशक्ति के अधीन कार्य करती हैं। इस रोधशक्ति को भी मृगेन्द्रागम (वि. ७.११-१२) में औपचारिक रूप से ही पाश माना गया है—"यह माहेश्वरी शक्ति यद्यपि सब प्राणियों पर अनुग्रह करने वाली है, तो भी प्राणियों की चिच्छक्ति के अवरोधक रूपों का अनुवर्तन करने के कारण ही **पाश** कहलाती है। यह शक्ति रोधशक्ति पर्यन्त मल-शक्तियों को जब ईश्वररूपी सूर्य[1] की ज्ञानरूपी किरणों से निरुद्ध कर देती है, तो उस स्थिति में अनुग्राहिका शक्ति का

---

१. मृगेन्द्र में यहाँ 'कार्कचित्त्विषा' ऐसा पाठ है। इसका "क एवार्कः कार्कः, तस्य चित्त्विषा चिद्रूपया त्विषा कान्त्येति विग्रहः" इस तरह से विग्रह किया गया है। **क** शब्द से मूर्धा का, सदा अनुग्रह में निरत ईशान का ग्रहण किया जाता है, "ईशानो मूर्धा" यह श्रुतिवाक्य भी उपलब्ध है। यह ईशान मूर्ति सकल जगत् के कल्याण में सदा लगी रहती है। पारिभाषिक रूप में यह भगवान् शिव का नित्य उद्युक्त स्वरूप है, अतः सदा जगत् के कल्याण में उद्यत आदित्य की उपमा यहाँ इनको दी गई है।

उन्मीलन होता है। स्पष्ट है कि यह माहेश्वरी शैवी रोधशक्ति उन-उन रोधक शक्तियों के धर्मों का अनुवर्तन कर जीव की दृक्क्रियात्मक शक्ति के निरोधक धर्म का अनुवर्तन करने के कारण औपचारिक रूप से पाश का भान कराने लगती है। निरोधशक्ति को मुख्य पाश नहीं माना जा सकता। [1]रोधशक्ति में जब तक मल का परिपाक नहीं होता, तभी तक उसकी तिरोधायकता मानी जाती है, मल का परिपाक हो जाने के बाद जीवात्माओं के चित्त के विकास में सहायक होने से इसमें अनुग्राहकता आ जाती है। इस तरह से यह पति की रोधकशक्ति मलपरिपाक से पहले अचित्स्वरूप मल-कर्म-मायात्मक कार्यों को प्रेरित कर आत्मा की चित्स्वरूपता को ओझल कर देती है, किन्तु वही शक्ति मलपरिपाक के अनन्तर आत्मा पर अनुग्रह करती है, अर्थात् उक्त त्रिविध पाशों के व्यापार को रोक कर चिदचित् समस्त प्राणियों पर अनुग्रह की वर्षा करती है, अत: उस स्थिति में वह सर्वानुग्राहिका कहलाती है। यह स्थिति शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—"शिव की शक्ति स्वाभाविक रूप से सदा सब पर अनुग्रह ही करती है। बन्धन के हेतु पाशों के पाशात्मक धर्मों का भी निरोध कर उनको पाशों की निवृत्ति का कारण बनाकर पशु के अनुग्रह के लिये उनको प्रेरित कर देती है, उनके पाशात्मक धर्मों में अवरोध पैदा कर देती है, अत: तिरोधानशक्ति को रोधिका भी कहा जाता है। तत्त्वप्रकाश (श्लो. २०) में भी कहा गया है कि पुरुष के स्वरूप को ढक देने वाली यह ईश्वर की तिरोधानशक्ति पाशों की अनुग्राहिका होने से औपचारिक रूप से पाश कहलाती है, वास्तव में नहीं। इसीलिये पाशों की संख्या वास्तव में चार ही है। यह द्वितीय पाश है।

३. महामाया (बिन्दु)

बिन्दु और महामाया का एक ही तत्त्व है। विश्वसारोत्तर में वागीश्वरी महामाया शुद्धाध्वा की मूलभूत उपादान मानी गई है, क्योंकि कोई भी कार्य बिना उपादान के नहीं होता। इस तरह से वहाँ महामाया नामक तृतीय पाश का निरूपण किया गया है। पौष्करागम में वागीश्वरी को परा विद्या और माया को अपरा अविद्या कहा गया है। महामाया के नाद आदि अनेक पर्याय हैं। जैसे [2]नादकारिका में बताया गया है—सिद्ध परनाद, सुमंगला, मालिनी, महामाया, समना, अनाहत बिन्दु,

---

१. शैवदर्शनबिन्दु (पृ. २०-२१) में निरोधशक्ति के रूप में यह व्याख्यात है।

२. इस प्रसंग में नादकारिका (अष्टप्रकरण) का परिष्कृत संस्करण देखिये। वहाँ के पहले और दसवें श्लोक में **नाद** का लक्षण दिया गया है। कालोत्तरा (१.५,८) में भी नाद का स्वरूप बता कर उसके तीन भेद वर्णित हैं। अभिनवगुप्त (ई.प्र.वि.वि., भा. २, पृ. १९२) नाद के

अघोषा वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्यातत्त्व इन नामों से आगमों में एक ही तत्त्व कहा गया है। इससे महामाया की शुद्धाध्वा के प्रति उपादानता भी स्पष्ट हो जाती है। इसमें समवाय संबन्ध से विद्यमान शक्ति में यह उपादानता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अचेतन कार्य की उसमें उपादानता मानने पर उसको भी अचेतन मानना पड़ेगा और इस स्थिति में उसका चेतन शिव से संबन्ध नहीं रहने पावेगा। पौष्करागम में इस विषय को स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् के कर्ता शिव में यह कुण्डलिनी शक्ति तादात्म्य से नहीं रहती, किन्तु कुलाल (कुम्भकार) घट के निर्माण में जैसे मृत्तिका का उपादान के रूप में ग्रहण करता है, उसी तरह से ईश्वर भी शुद्ध सृष्टि के उपादान के रूप में इसका उपयोग करता है। माया और प्रकृति की यहाँ उपादानता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इनमें मोहकता है, प्रबुद्ध आत्माओं के शरीर, इन्द्रिय आदि की शुद्ध सृष्टि में इनकी उपादानता नहीं मानी जा सकती, अतः परिशेष अनुमान से महामाया की सिद्धि होती है।

परात्रीशिका-व्याख्या में धृत कुब्जिकामत और तत्त्वसंग्रह-वृत्ति एवं मृगेन्द्र-वृत्तिविद्यापाद में स्मृत रौरवागम (१.१५) में माया के ऊपर महामाया की स्थिति मानी गई है। कुब्जिकामत में इस महामाया को त्रिकोणा और आनन्दस्वरूपिणी बताया गया है। परात्रीशिका-विवृति (अभि. पृ. ५३-५४) में शुद्धविद्या को ही त्रिकोणा महागुहा कहा गया है। महामाया, शुद्धविद्या, वागीश्वरी, मातृका—ये शब्द इसीके नामान्तर हैं (तन्त्रा. ८.३३७-३३८)। अभिनवगुप्त का ई. प्र. वि. (३.१.६) में कहना है कि रौरवागम आदि के व्याख्याता गुरुओं के अनुसार शुद्धविद्या ही महामाया है। मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के ७वें पटल में शुद्धविद्या के रूप में ही यह व्याख्यात है। इसीको पौष्करागम में कुण्डलिनी कहा गया है।

रत्नत्रय (श्लो.२२) में यह बिन्दु के नाम से व्याख्यात है—"जिससे शुद्धाध्वा की उत्पत्ति होती है, जहाँ यह रहता है और जिसमें लीन हो जाता है, उसे बिन्दु[1] कहते हैं। यही परनाद कहलाता है। यह नाद, बिन्दु और वर्ण का

इन स्थूल, सूक्ष्म और चिन्तामय स्वरूपों को मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणी से अभिन्न माना है। इसीलिये नादकारिका (श्लो. १९) में वाग्ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति को चिद्ब्रह्म की प्राप्ति की बात कही गई है। यही विषय कालपरा के इस वचन में भी प्रतिपादित है—"शब्दो नादात्मकस्तस्मात् प्रत्ययेनोपबृंहितः। मन्त्रबोधस्वरूपत्वमभिन्नो बोधयत्यपि।।" (स्प. प्र, पृ. १०९) में उद्धृत।

१. अघोरशिव ने इस श्लोक की व्याख्या इस तरह से की है—"तत्र नादो नामाभिधेयबुद्धिहेतुर्बिन्दोः प्रथमप्रसररूपः सूक्ष्मो **नादश्चिन्तया** रहितत्वेन श्रीमत्कालोत्तरादावुक्तः। **बिन्दुश्च** तत्कार्यो

कारण है"। यहाँ नाद, बिन्दु और वर्ण के कारण-स्वरूप परनाद नामक बिन्दु का वर्णन कर आगे (श्लो. ७०-७१) बताया गया है कि शब्दतत्त्व, अघोषा वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्या, शक्ति, परनाद, महामाया आदि शब्दों से आचार्यों ने बिन्दु का ही वर्णन किया है। इसे व्योम और अनाहत भी कहा जाता है। इसकी चार वृत्तियाँ हैं, जो सभी जीवों में व्याप्त हैं। परा, पश्यन्ती, आदि चार वाणियाँ इसीकी वृत्तियाँ मानी गई हैं। इस तरह वागीश्वरी, महामाया, नाद, बिन्दु—इन सब शब्दों से कुण्डलिनी शक्ति का ही बोध होता है।

महामाया कुण्डलिनी

पौष्करागम के एक वचन में महामाया को शुद्ध कुण्डलिनी कहा गया है। शतरत्नसंग्रह[1] में स्वतन्त्रतन्त्र, सर्वज्ञानोत्तर आदि के प्रमाण से इस महामाया कुण्डलिनी शक्ति की व्याख्या इस तरह से की गई है—शिव की समवायिनी शक्ति के नीचे विद्यमान, माया और कर्म का अनुसरण करने वाली कुण्डलिनी शक्ति शिव की परिग्रह शक्ति मानी जाती है। रत्नत्रय (श्लो. १६६) में यह महामाया परिग्रह शक्ति और मन्त्रयोनि कही गई है। सर्वज्ञानोत्तर के वृत्तिकार का कहना है कि यहाँ कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार की है और यह प्रत्येक पुरुष में अपने नादात्मक कार्य के रूप में स्थित है। स्वरूपत: यह प्रत्येक पुरुष में नहीं रहती। इस महामाया से नाद-बिन्दु आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। विश्वसारोत्तर में बताया गया है—यह कुण्डलिनी शक्ति माया, कर्म आदि के सहारे नाद-बिन्दु आदि कार्यों के क्रम से सारे जगत् की सृष्टि करती है।

इसका अभिप्राय यह है—शिव के साथ समवेत शक्ति से क्षुब्ध महामाया कुण्डलिनी से प्रथमत: नादतत्त्व उत्पन्न होता है। इसी को शिवतत्त्व भी कहा जाता है। इससे बिन्दुतत्त्व की उत्पत्ति मानी गई है, जो शब्द पर आधृत शक्तितत्त्व है। इस शक्तितत्त्व से सादाख्यतत्त्व, उससे ईश्वरतत्त्व और ईश्वर से विद्यानामक तत्त्व

मयूराण्डरसबिन्दुवदव्यपदेश्य: परामर्शज्ञानरूपोऽपरबिन्दुस्तत्रैव सूक्ष्मत्वेनोक्त:। अर्णश्च वर्ण:, आकाशवायुप्रभव: श्रोत्रग्राह्य: स्थूलशब्द:" (पृ. १५२)। इस तरह से कालोत्तर में पठित यह त्रिविध नाद यहाँ बिन्दु से उत्पन्न माना गया है। बिन्दु-नाद का विवेचन और वैयाकरणों के मत का खण्डन शैवदर्शनबिन्दु (पृ. २१-२५) में देखिये।

१. शतरत्नसंग्रह (पृ. ४१-४४) में स्वतन्त्रतन्त्र, सर्वज्ञानोत्तर, रत्नत्रय, त्रयोदशशतिक, कालोत्तर, मृगेन्द्र, मतंग, सिद्धान्तदीपिका, सुप्रभेद और पौष्करागम के प्रमाण से यह विषय विवेचित है। मतंग विद्यापाद के सप्तम विद्यातत्त्वनिरूपक पटल में प्रधान रूप से शुद्धविद्या का ही विवेचन किया गया है।

सृष्ट होता है। इस तरह से पाँच शुद्ध तत्त्वों की सृष्टि होती है। इनमें से विद्यातत्त्व में विद्यातत्त्व की अधिपति [1]भृगुणी आदि सात विद्याराज्ञियाँ, उनके अधीन सात करोड़ मन्त्र, वाचक शब्द, व्योमव्यापी आदि पद, वैखरी आदि वाणियाँ और कामिक आदि २८ महातन्त्रों की स्थिति मानी गई है। ईश्वरतत्त्व में अनन्त आदि आठ विद्येश्वर, उनकी वामा आदि आठ शक्तियाँ, भानुमती आदि आठ रमणियाँ, उच्छुष्म आदि पाँच रुद्र, सिद्धान्तशास्त्र में पूजित नन्दी आदि आठ गणेश्वर, इन्द्र आदि आठ लोकपाल, उनके आयुध और शिव के आसन के धर्म आदि आठ पाद स्थित हैं। सदाशिवतत्त्व में अधिकारावस्थ सदाशिव, प्रणव आदि दस अणु, पंचब्रह्म, षडंग, अक्षरबिन्दु और स्थूल ध्वनि रूप नाद—इन सबकी स्थिति है। बिन्दु- तत्त्व में भुवनरूप निवृत्ति आदि पंचकला सम्पन्न, सद्योजातादि मूर्तिमय सकलनिष्कल- स्वरूप शिव और अक्षरबिन्दु का कारण सूक्ष्म नाद स्थित है। नादतत्त्व में ध्वनिपति, इन्धिका, दीपिका, रोचिका के अधिपति, निवृत्ति आदि भुवनों के स्वामी शिव विराजमान हैं और चिच्छक्ति में सर्वश्रेष्ठ शक्तिमान् पारमेश्वर समस्त जगत् के परम कारण, कुण्डलिनी शक्ति और समस्त वाणियों की अधिष्ठातृदेवता स्थित हैं। इन सबके ऊपर केवल परमशिव विराजमान हैं।

यह नित्य नादतत्त्व ही सबका परम कारण है। कुछ आचार्य इसीको महामाया कहते हैं। उनके मत में चार ही शुद्ध तत्त्व मान्य हैं। तत्त्वप्रकाश (श्लो. २१) में बताया गया है कि पाँच शुद्ध तत्त्वों में से पहले को शिवतत्त्व कहा गया है। शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या—ये चारों तत्त्व इसी के विस्तार हैं। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—इन पाँच शुद्ध तत्त्वों में से पहला [2]बिन्द्वात्मक शिवतत्त्व प्रधान उपादान माना गया है। परम उपादान होने से ही यह माया के समान नित्य है। इससे भिन्न अन्य चार तत्त्व इसके कार्य हैं। पौष्करागम में नाद नामक शिवतत्त्व को भी कार्यकोटि में ही रखा है, किन्तु वहाँ शक्तितत्त्व में ही उसका अन्तर्भाव मान लेने से चार ही शुद्ध कार्य माने गये हैं। यथा—इसकी तत्त्वात्मिका चतुर्धा वृत्ति ही शिवतत्त्व, सदेश, ईश और विद्या नाम के चार शुद्ध तत्त्व के रूप में मान्य हैं। महात्मा रुद्राणुओं के ही ये विभिन्न रूप हैं। सर्वज्ञानोत्तर में शक्तिनामक बिन्दुतत्त्व को ही परमकारण माना गया है—इन सबके ऊपर विमल, सर्वतोमुख, बैन्दव तत्त्व स्थित है। अनन्त ज्योतिस्वरूप यह तत्त्व सभी तत्त्वों में परम श्रेष्ठ है।

---

१. इस विषय का विस्तार मृगेन्द्र विद्यापाद (१३.१५६-१९८) और मतंग विद्यापाद (७.१६-३४) में देखना चाहिये।

२. प्रकरण के अनुरोध से यहाँ नादात्मक पाठ होना चाहिये।

चतुर्विध वाग्वृत्ति

चतुर्विध वैखरी आदि वाणियाँ इस महामाया (बिन्दुशक्ति) की ही वृत्तियाँ हैं। विश्वसारोत्तर में बताया गया है कि वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा (परा) नामक चार वाणी की वृत्तियाँ मानी गई हैं। इनमें से पहली वृत्ति का नाम वैखरी, दूसरी का मध्यमा, तीसरी का पश्यन्ती और चौथी वृत्ति का नाम सूक्ष्मा (परा) है। इनमें सूक्ष्मा वृत्ति नाद, पश्यन्ती बिन्दु, मध्यमा अक्षर और चौथी वैखरी[१] वृत्ति मातृका कहलाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्दसृष्टि का उपादान भी बिन्दु ही है। यहां सृष्टि का क्रम यह है—शिवेच्छा से क्षुब्ध महामाया से प्रथमतः नाद की उत्पत्ति होती है, नाद से बिन्दु, बिन्दु से अक्षर और अक्षर से [२]मातृका की उत्पत्ति होती है। मृगेन्द्रागम (क्रि. १.२) में यही क्रम प्रदर्शित है। पराख्यसंहिता में भी कहा गया है कि शिव की इच्छा से बिन्दु के क्षुब्ध होने पर शब्दराशि उत्पन्न होती है।

इन चारों वृत्तियों की आश्रयभूत निवृत्ति आदि पाँच कलाएँ बिन्दु का ही कार्य मानी जाती हैं। रत्नत्रय (श्लो. ५५) में स्पष्ट किया गया है कि बिन्दु की यह चतुर्विधा वृत्ति ही निवृत्ति आदि कलाओं के रूप में पाँच प्रकार की हो जाती हैं। इस तरह से यह महामाया शब्द और अर्थ उभय रूपों में भासित होती है, क्योंकि शब्दात्मक वर्ण-पद-मन्त्र और अर्थात्मक कला-तत्त्व-भुवन की सृष्टि इसीसे होती है।

यहाँ शब्दब्रह्मवादियों का कहना है कि आत्मा ही नाद आदि के क्रम से स्फुरित होता है, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि अविकारी आत्मा की नाद आदि के रूप में परिणति नहीं हो सकती। शक्ति की भी यही स्थिति है, क्योंकि उसका भी परिणाम नहीं होता, ऐसा मानने पर उनको अचेतन मानना पड़ेगा। अतः बिन्दु की ही शब्दोपादानता मानना उचित है। नादकारिका (श्लो. १६) में स्पष्ट ही कहा है कि शिव और शक्ति को अविकारी माना गया है, इनमें शब्दार्थात्मक सृष्टि की उपादानता नहीं मानी जा सकती, अतः [३]कुण्डलिनी शक्ति की ही उपादानता शैवशास्त्रों में मान्य है। स्पष्ट है कि वागीश्वरी महामाया ही कुण्डलिनी, नाद, बिन्दु

---

१. शतरत्नसंग्रह-धृत सिद्धान्तरहस्यसार का यह वचन देखिये—"नादः सूक्ष्मा भवेद् बिन्दुः पश्यन्ती मध्यमाऽक्षरम्। मातृका वैखरी ज्ञेया नादाद्यास्तु शिवादयः।।" (पृ. ५३)

२. हमने शाक्ताधिकार में मातृका, मालिनी और भूतलिपि के प्रसंग में संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किये हैं। इस विषय पर विशेष कर मातृका के संबन्ध में पर्याप्त विचार अपेक्षित है।

३. इस प्रकरण से संबद्ध नाद, बिन्दु, लिपि, कुण्डलिनी शक्ति आदि विषयों पर सिद्धान्तसारावलि की प्रस्तावना (पृ. ४०-४२) में भी पर्याप्त विचार किया गया है।

आदि शब्दों से उन-उन शास्त्रों में निर्दिष्ट है। इस प्रकार तृतीय महामाया नामक पाश का स्वरूप शैवशास्त्रों में निरूपित है। महामाया के प्रसंग में ये सारे विषये सिद्धान्तसारावलि (प्रस्ता., पृ. ३३-४२) में भी विवृत हैं।

४. माया

यह बताया गया है कि सिद्धान्तशैव दर्शन में कर्ता ईश्वर में अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता नहीं मानी जाती। वहाँ [१]शुद्धाध्वा में शिव को निमित्त और बिन्दु को उपादान तथा अशुद्धाध्वा में अनन्तेश को निमित्त और माया को उपादान कारण माना गया है[२]। माया, काल, कर्म आदि की निमित्तता यहाँ नहीं मानी जाती, क्योंकि ये सब अचेतन हैं। चेतन की प्रेरणा के बिना ये कुछ भी नहीं कर सकते। चेतन की प्रेरकता को मान लेने पर भी निरुद्ध दृक्क्रिया शक्ति वाले हमारे जैसे प्राणी उनके प्रेरक नहीं बन सकते। अतः सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, ईश्वर में ही उनकी प्रेरकता माननी होगी। इस प्रकार समस्त प्रपंच के प्रति ईश्वर की ही निमित्त-कारणता यहाँ मान्य है।

शतरत्नसंग्रह-धृत स्वायंभुवसूत्र में माया का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—"मायातत्त्व इस जगत् का बीज है, अविनाशी और अशिवात्मक है। यह विभु, एक, अकल, सूक्ष्म, अनादि, अव्यय और ईश्वर है"। [३]"प्रलय काल में सारा जगत् जिसमें लीन हो जाता है अथवा जिसमें से यह सारा जगत् निकलता है, उसे माया कहते हैं" पौष्करागम में माया पद की यह निरुक्ति दी गई है। स्वायम्भुवागम में भी बताया गया है कि पशु के उपभोग के लिये इस सारे जगत् की सृष्टि उसकी भावनाओं के अनुसार माया से होती है। शैवागम में यह मायात्मक तत्त्व कहलाता है। यही तत्त्व [४]**ग्रन्थि** आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। यह

---

१. "शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः" (कि. वि. ३.२७)।

२. अनुमान प्रमाण से माया की सिद्धि मृगेन्द्र (विद्या. ९.३-२१) में की गई है।

३. माया पद की व्युत्पत्ति करते समय शास्त्रों में बताया गया है कि प्रलयावस्था में यह सारा जगत् माया में शक्ति के रूप में छिप जाता है और सृष्टिकाल में पुनः उसमें से प्रकट हो जाता है। मृगेन्द्रवृत्ति (विद्या. २.७) में उद्धृत सौरभेयागम में स्पष्ट रूप से यही कहा गया है। मतंग विद्यापाद के अष्टम पटल में माया का, उसके भुवनों का और उनके अधिपतियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। लुप्ता. उपो. पृ. १४४ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

४. मृगेन्द्र (विद्या.९.१,१०.१) में माया को ग्रन्थि कहा गया है। माया में गहन नाम के रुद्र की स्थिति होने से इसको **गहन** भी कहा जाता है। परमार्थसार (२,११) में इसका गहन नाम ही प्रयुक्त हुआ है। मतंग (विद्या. ८.९३) में इसको गहन इसलिये कहा गया है कि प्रलय

तत्त्व समस्त कलादि- पृथिव्यन्त जगत् का उपादानकारण है। अविनाशी एवं नित्य है। जगत् का संहार होने पर उसके उपादानकारण मायातत्त्व का भी नाश मानने पर सृष्टिकाल में जगत् की पुनः सृष्टि कैसे होगी? अतः इसका नाश नहीं माना जाता। यह अशिवात्मक, अशुद्ध तत्त्व है, अर्थात् इसमें शिव में विद्यमान चैतन्य नहीं है, अर्थात् यह अचेतन है। इसके कार्य कला आदि में अचेतनता के आधार पर इसकी भी अचेतनता सिद्ध होती है। अचेतन कार्य की उपलब्धि होने पर भी यदि इसमें चेतनता मानी जायगी, तो कार्यकारण के निश्चित नियमों के अनुसार अनुमान प्रमाण के आधार पर स्थापित समस्त व्यवहार का लोप ही हो जायगा। यह माया-तत्त्व विभु है, व्यापक है, अर्थात् पुरुष के भोग के लिये समस्त दिशाओं में समस्त स्रोतों से समस्त कार्यों को यह तत्त्व उत्पन्न करता है। पक्षियों के पक्ष (पंख), तुण्ड (चोंच) आदि भोगसाधनों का, कला आदि विविध कार्यों का एवं भोग के साधनों का भी यही एक मात्रसाधन है, अतः यह एक है, भेदरहित है। इसकी भिन्नता और अनेकता मानने पर अचेतन घट, पट आदि के समान इसकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यह तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसका कोई कारण नहीं है, प्रत्युत यही सबका परमकारण है। परम कारण बहुत नहीं हो सकते। मृगेन्द्रागम (वि. ९. ७) में स्पष्ट बताया गया है कि अनेक एवं अचेतन पदार्थों की ही उत्पत्ति देखी गई है। यह मायातत्त्व उत्पन्न नहीं होता, अतः इसकी एकता ही मानना उचित होगा।

प्रश्न उठता है कि [१]न्याय-वैशेषिक दर्शन में परिकल्पित परमाणु आदि के समान उपादानकारण की अनेकता मानने में क्या दोष है? अनेक तन्तुओं की सहायता से पट की उत्पत्ति होती ही है। उसी तरह से यह सारा जगत् भी अनेक कारणों से उत्पन्न होगा, इसके लिये ग्रन्थि (माया) नामक एक परमकारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका समाधान यह है कि यह जो आपने अनेक तन्तुओं को पट का कारण माना है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि उन तन्तुओं की उत्पत्ति एक ही कार्पास (कपास=रुई) से होती है, एक ही दुकूल (दुपट्टा) से पट के अनेक टुकड़े बन जाते हैं। जैसे एक ही दुकूल, कार्पास आदि से अनेक आकार

काल में मायाशक्ति के कारण सभी प्राणी मूर्छित हो जाते हैं, उनका सारा व्यवहार समाप्त हो जाता है, इसीलिये इसे गहन नाम दिया गया है।

१. मृगेन्द्र विद्यापाद नवम एवं दशम पटल में माया की ही जगदुपादानता मानी गई है, नैयायिकों के समान यहाँ परमाणुओं को जगत् का कारण नहीं माना जाता। भोगकारिका (श्लो. ११४-१२०) में भी यह विषय विस्तार से प्रदर्शित है।

के पट आदि की उत्पत्ति हो जाती है, उसी तरह से सृष्टि के आरम्भ में परमकारण, सृष्टि-स्थिति-लय के आधारभूत मायातत्त्व से जगत् की उत्पत्ति मानने में कोई दोष नहीं है।

अकल का अर्थ है कला से रहित। कला शब्द से नानाविध भुवन-संनिवेश, उनके अधिपति रुद्र और भोग्य पदार्थविशेष का ग्रहण होता है। मायातत्त्व इनसे रहित है। यहाँ इन सबकी स्थिति नहीं मानी जाती। मायातत्त्व के बाद कलातत्त्व से ही इन सबकी उत्पत्ति मानी जाती है। इसीलिये माया को अकल कहा जाता है। यह मायातत्त्व सूक्ष्म है। यह बुद्धि आदि की तरह स्थूल नहीं हैं, अर्थात् सूक्ष्मता की पराकाष्ठा इसीमें है, अत: यह सूक्ष्म कहलाती है। जैसा कि पौष्करागम में कहा गया है—पृथिवी आदि की अपेक्षा तन्मात्राएँ सूक्ष्म हैं, इनकी अपेक्षा से अहंकार, अहंकार की अपेक्षा से बुद्धि, उसकी अपेक्षा से प्रकृति, प्रकृति की अपेक्षा से कलादि वर्ग और इन सबकी अपेक्षा माया अत्यन्त सूक्ष्म है। जहाँ सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है, उसीको माया कहते हैं।

यह माया अनादि है, क्योंकि यह परमकारण है। अनादि वस्तु का सर्वात्मना परिणाम नहीं होता, किन्तु शक्ति के रूप में विद्यमान मायातत्त्व के एक देश से यह सारा जगत् प्रकट होता है। जिनके मत में जगत् के बीज का सर्वात्मना परिणाम मान्य है, उनके मत में उसे अनित्य मानना पड़ेगा। अत: अनादि पद से एक देश का परिणाम मानना उचित होगा। इस सिद्धान्त में पटनिर्मित कुटी के समान कार्यता नहीं मानी जाती, क्योंकि पटावस्था में कुट्यवस्था की प्रतीति नहीं होती। सांख्यदर्शन की तरह दधिक्षीर-न्याय से भी यहाँ परिणामिता नहीं मानी जाती, क्योंकि ऐसा मानने पर क्षीर के नाश की तरह सर्वात्मना उपादान का नाश मानना पड़ेगा। इसी तरह बौद्ध दर्शन की पद्धति से बीजांकुर-न्याय को भी यहाँ मान्यता नहीं दी गई है, क्योंकि बीज का सर्वात्मना नाश हो जाता है। मायावाद की पद्धति से शुक्तिरजत-न्याय के आधार पर विवर्तवाद भी यहाँ मान्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य की असत्यता का प्रसंग आवेगा। अत: इस मत में घृतकीट-न्याय से एक देश में ही परिणाम की मान्यता के आधार पर कार्यत्व की सिद्धि मानी गई है। जैसा कि कहा गया है—बिन्दु, माया और प्रकृति में विकृति घृतकीट-न्याय से एक देश में मानी गई है। इस मत में तनु, करण, भुवन आदि कार्य संहार दशा में अपने बिन्दु आदि उपादानों में शक्ति के रूप में स्थित रहते हैं और सृष्टि काल में जीव के बन्धन की सिद्धि के लिये पुन: अभिव्यक्त हो जाते हैं। मृगेन्द्रागम (९.१३) में बताया गया है—"संहति काल में ये कार्य अपने आधार में विलीन हो जाते हैं और सृष्टि काल में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये पुन: अभिव्यक्त हो उठते हैं।

यह मायातत्त्व अव्यय है। इसकी विकार उत्पन्न करने की शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होतीं, उनका कभी व्यय नहीं होता। अव्यय पद से यहाँ असत्कार्यवादियों की अपेक्षा अपने मत की विशेषता बताई गई है। इस तरह से सभी विकारों की उपादान-स्वरूपा यह माया सभी पदार्थों की आपूर्ति करती रहती है, अतः ईश्वर के समान पुरुषार्थ की साधिका होने से मायातत्त्व में भी ईश्वरता मानी गई है।

इस प्रकार स्वायम्भुवसूत्र की पद्धति से यहाँ माया का स्वरूप बताया गया है। एक ही मायातत्त्व अपने सहकारी कारणों की सहायता से अनेक प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति में समर्थ है। इस विषय का समर्थन मृगेन्द्रागम (९.२) में भी किया गया है—

तदेकमशिवं बीजं जगतश्चित्रशक्तिमत् ।
सहकार्यधिकारान्तसंरोधि व्याप्यनश्वरम् ।।

इसका अर्थ यह है—यह मायातत्त्व एक है, यह अशिव है, मोहक होने से अशुद्ध है। जगत् का बीज (कारण) है। चित्रशक्तिमत्, अर्थात् विचित्र नाना प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है। इनकी सहायता से ही यह अनेक विचित्र कार्यों को पैदा करने में समर्थ है। यह सहकार्यधिकारान्तसंरोधि है, अर्थात् यह अपने सहकारी कर्मों (जीवगत) की सहायता से उनके उपभोग पर्यन्त जीवात्माओं को बन्धन में डाले रहती है, यह इसका स्वभाव है। इन कर्मों के अभाव में माया की प्रवृत्ति नहीं होती, यह इसका अभिप्राय है। इससे कर्म इसका सहकारी कारण है, यह स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इसके अभाव में ग्रन्थितत्त्व (माया) की प्रवृत्ति नहीं होती। व्यापी और अनश्वर पदों की व्याख्या ऊपर कर दी गई है।

[१]तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव प्रथमतः (श्लो. १९) संक्षेप में माया का स्वरूप बताकर आगे (श्लो. ३८-४०) विस्तार से समझाते हैं कि माया ही समस्त जगत् का उपादान कारण है। यहाँ माया को वस्तुस्वरूप, विश्व का उपादानकारण और नित्यतत्त्व माना गया है। इस जगत् की सृष्टि में शिव की शक्तियाँ करण और माया उपादान है। यह माया सूक्ष्म, एक, नित्य, व्यापिनी, अनादिनिधन, शिवासक्त, साधारण रूप से सभी जीवों से संबद्ध, समस्त भुवनों की उपादानकारण, समस्त प्राणियों के कर्मों से संबद्ध और स्वभावतः जीवों में मोह को पैदा करती रहती है। भगवान् शिव जीवों के कर्मों का अनुसन्धान करते हुए अपनी शक्तियों की सहायता

---

१. इस प्रसंग में तत्त्वप्रकाश की कुमारदेव-कृत तात्पर्यदीपिका का अवलोकन अवश्य करना चाहिये।

से माया को क्षुब्ध कर प्रत्येक पुरुष के भोग-संपादन के लिये उनके शरीरों और इन्द्रियों का निर्माण करते हैं। किरणागम (२.१६) में और रुद्रयामल के सारभूत विज्ञानभैरव (श्लो. ९३) में माया को विमोहिनी बताया गया है। तत्त्वसंग्रह (श्लो. २६) में बताया गया है कि कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३० तत्त्व माया की विकृतियाँ हैं, अत: इन सबके ऊपर माया की स्थिति मानी गई है। यह नित्य, विभु, अचेतन और एक है। सर्ग-स्थिति-विलय का यही आधार है और समस्त जगत् का कारण भी।

परमार्थसार (श्लो. १५) में अद्वयवादी शैवों के मत के अनुसार माया का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि यह माया शिव की परम स्वातन्त्र्य शक्ति है। इसीको शिव की अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति कहा गया है। यह वह देवी माया शक्ति है, जिससे शिव स्वयं ही अपने को आवरण से ढक लेता है। नरेश्वरविवेक में माया के द्विविध कार्यों की सूचना देते हुए बताया है कि यह माया नाम की शक्ति एक साथ दो कार्य करती है—समस्त सदसत् स्वरूप वेद्य पदार्थों का यहीं निर्माण करती है और उनमें से कुछ वेद्यों को वेदक रूप भी यही देती है। यह माया शक्ति इन कार्यों का सम्पादन करने के कारण ही मायीय मल कहलाती है। शचीमत में माया को भगवान् की अतिदुर्घटकारिणी स्वातन्त्र्य शक्ति बताया गया है, जो इस विश्व को स्वरूप प्रदान करती है। इसी तरह से संवित्प्रकाश में विवर्तवाद की पद्धति से माया का स्वरूप बताते हुए कहा है कि मायात्व को हम इसी रूप में समझ सकते हैं कि वास्तविकता को जान लेने पर उसकी कोई सत्ता नहीं बची रहती। रज्जु की वास्तविकता से परिचित व्यक्ति के लिये सर्प आदि की कोई सत्ता बची नहीं रहती।

शुद्धाध्वा में शिव की निमित्तता और बिन्दु की उपादानता तथा अशुद्धाध्वा में अनन्त की निमित्तता और माया की उपादानता की चर्चा आ चुकी है। "शुद्धेऽध्वनि शिव: कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभु:" (वि. ३.२७) किरणागम का यह वचन इसमें प्रमाण है। अनन्त शब्द से अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों का वर्ग गृहीत है, असित का अर्थ अशुद्ध मायात्मक सर्ग है, प्रभु का अर्थ सृष्टिकर्ता है। यहाँ अनन्त आदि ईश्वर की प्रेरणा से ही प्रवृत्त होते हैं। कैलाशसंहिता में यही कहा गया है कि अनन्त ईश्वर की सहायता से माया को विक्षुब्ध करते हैं। यहाँ शिव से प्रेरित अनन्त ही कला आदि प्रधान पर्यन्त तत्त्वों के कर्ता माने जाते हैं। अनन्त-प्रेरित श्रीकण्ठ गुण से लेकर क्षिति पर्यन्त तत्त्वों के कर्ता माने जाते हैं। इस प्रसंग में शतरत्नसंग्रह (पृ. ५१) में पौष्कर, मतंग, स्वायंभुव आगमों के वचन प्रमाण के रूप में उद्धृत हैं। सिद्धान्तसारावलि (पृ. ९-१०) की टीका में भी ज्ञानशिव के प्रमाण से यह मत उल्लिखित है।

अनन्त[१] द्वारा क्षोभित माया तत्त्व के [२]अशुद्ध कार्यों की गणना मृगेन्द्रागम (१०.१) में की गई है। तदनुसार उनकी उत्पत्ति का क्रम यह है—मायातत्त्व से सर्वप्रथम कला तत्त्व से परिगृहीत कला और नियति नाम के तत्त्वों की तथा काल और नृ शब्द से गृहीत पुरुष तत्त्व—इन चारों तत्त्वों की साक्षात् अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद कलातत्त्व से विद्या और राग तत्त्व एवं मातृ शब्द से परिगृहीत प्रधान—इन तीन तत्त्वों की अभिव्यक्ति मानी गई है। श्रीकण्ठ से क्षोभित [३]प्रधान तत्त्व से गुण शब्द से परिगृहीत सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की, उससे धी शब्द के अर्थ बुद्धितत्त्व की और बुद्धितत्त्व से गर्व शब्द से बोधित होने वाले तैजस, वैकारिक और भूतादि संज्ञक त्रिविध अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति मानी गई है। तैजस अहंकार से [४]चित्त शब्द वाच्य मन की और अक्ष शब्द वाच्य ज्ञानेन्द्रियों की, वैकारिक अहंकार से कर्मेन्द्रियों की और भूतादि शब्द वाच्य अहंकार से मात्रा शब्द के द्वारा उद्दिष्ट तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से ये तीस तत्त्व अनन्तेश आदि विद्येश्वरों के द्वारा ग्रन्थि (माया) तत्त्व से साक्षात् अथवा परम्परया अभिव्यक्त किये जाते हैं।

इस तरह से ग्रन्थि, गहन आदि शब्दों के द्वारा विभिन्न आगमों में बोधित यह माया नामक चतुर्थ पाश शास्त्रों में वर्णित है।

---

१. "क्षोभितोऽनन्तनाथेन ग्रन्थिर्मायात्मको यदा। तदा स्वेन विकारेण तनोति विपुलं जगत्।।" (विद्या.९.२) इत्यादि प्रकरण में मतंग में भी यह विषय वर्णित है।

२. आगमों में शुद्ध और अशुद्ध नामक दो विभाग अथवा शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध नामक तीन विभाग भी वर्णित हैं। इन दोनों प्रकार के विभागों को सिद्धान्तसारावलि में देखा जा सकता है। वहाँ (पृ. ९) बताया गया है कि माया के सहारे अनन्त शुद्धाशुद्ध सृष्टि की तथा प्रकृति के सहारे श्रीकण्ठ अशुद्ध सृष्टि की रचना करते हैं। आगे यहाँ भी इस विषय की चर्चा आई है। तदनुसार प्रस्तुत स्थल पर शुद्धाशुद्ध कार्यों का ही ग्रहण होना चाहिये। इन सबका वर्णन अत्यन्त विस्तार से मतंग विद्यापाद के ९-२३ पटलों में किया गया है। वहाँ इनके भुवनों एवं भुवनाधिपतियों का भी परिचय दिया गया है। तत्त्वाध्व प्रकरण (पृ. ४०२-४२०) में इस पर विचार किया जायगा। शुद्ध एवं अशुद्ध रूप द्विविध सृष्टि शैवदर्शनबिन्दु (पृ. १८-१९) में प्रदर्शित है।

३. यहाँ का सृष्टिक्रम सांख्यकारिका में वर्णित क्रम से भिन्न प्रकार का है।

४. **चित्त** पद की व्युत्पत्ति म.म.प. (पृ. २३) में दी गई है। परिमल-व्याख्या (पृ. ६१) में इनका क्रम अहंकार, बुद्धि और मन दिया गया है। अद्वयसम्पत्तिवार्त्तिक में अहंकार की स्थिति बुद्धि से ऊपर मानी गई है (विज्ञानभैरव, पृ. १०० की २ टि. देखिये)। ऐसा लगता है कि महेश्वरानन्द को भी उक्त स्थल पर यही क्रम मान्य है।

५. कर्म

कर्म नामक पंचम पाश का लक्षण विश्वसारोत्तर में इस प्रकार निरूपित है—प्रथमतः अधर्म-धर्म स्वरूप कर्म जातिप्रद, आयुप्रद और भोगप्रद के भेद से त्रिविध माना जाता है। योगसूत्र (२.१३) में धर्माधर्मात्मक कर्म को जाति-आयु-भोग प्रद बताया गया है। यहाँ जाति देवत्व आदि, आयु शतवर्ष पर्यन्त जीवन आदि और भोग सुख-दुःख का अनुभव माना गया है। ये भी उत्तम आदि के भेद से त्रिविध माने गये हैं। मतंगागम के धर्माधर्मनिर्णय पटल में जातिभेद, रूपभेद, शौर्यभेद और विज्ञान के भेद से भी इनमें वैचित्र्य माना गया है। इनमें जाति की विचित्रता तो प्रसिद्ध ही है। इन्द्रियों की भी विचित्रता देखने को मिलती है। जैसे हाथियों की जिह्वा उलटी होती है, सर्प चक्षु की सहायता से सुनते हैं, उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता, बिल्ली की आँखें रात में खूब चमकती हैं, जब कि मनुष्यों को रात में नहीं दिखाई पड़ता। इसी तरह से विषयों की भी भिन्नता देखने में आती है। [1]चातक स्वाति नक्षत्र में गिरी वर्षा की बूँद को ही पीता है, हंस-भ्रमर आदि कमल के पराग-रस का ही पान करते हैं, पशु का आहार तृण है, देव अमृत का पान करते हैं, मनुष्य अन्न खाता है, मयूर-कुक्कुट आदि कचरा चुगते हैं।

दो[2] व्यक्ति एक साथ कृषि अथवा सेवा करते हैं। इनमें से एक को सफलता मिलती है, दूसरे को नहीं। ऐसा क्यों है? विचार करने पर यही निष्कर्ष निकला है कि मनुष्य का स्वोपार्जित धर्माधर्मात्मक कर्म ही इसमें कारण है। पौष्करागम में यही बताया गया है कि दो किसान समान रूप से खेती करते हैं, इनमें से एक को धान्य की प्राप्ति होती है, दूसरे को नहीं। इसमें कर्म की ही कारणता मानी जायगी।

मृगेन्द्रागम (वि. ८.३-४) में दृष्ट और अदृष्ट नामक द्विविध कर्म बताये गये हैं। जिसमें कार्य के पूरा होने के साथ ही फल की प्राप्ति हो जाती है, वह दृष्ट कर्म है और कर्म के नष्ट हो जाने के उपरान्त जब फल की प्राप्ति होती है, उसे अदृष्ट कर्म कहा जाता है, मतंगागम (वि. ७.६१-६२) में यही उनका लक्षण बताया गया हैं। इनमें अदृष्ट कर्म देह, इन्द्रिय, भुवन आदि का जनक, धारक

---

१. मृगेन्द्र-वृत्ति (वि.८.२) में यह विषय चर्चित है।

२. एक की फलसिद्धि और दूसरे की असिद्धि में पूरी तरह से अदृष्ट ही कारण है, या उसमें साधक-बाधक दृष्ट कारण भी विद्यमान हैं, इसकी परीक्षा अपेक्षित है।

और भोग्य कर्म अध्यात्म आदि का साधक माना गया है। यहाँ अध्यात्म शब्द से आन्तर इन्द्रियों के साहचर्य से आत्मा के साथ जुड़ी हुई मति (मन) का और आदि शब्द से वाणी और कर्म का ग्रहण किया जाता है। इस तरह से मन, वाणी और शरीर की क्रिया से यथाक्रम इष्टदेवता का ध्यान, नमस्कार, स्तोत्रपाठ, यजन आदि धर्मात्मक कर्म को तथा दूसरे के धन को हड़पने की इच्छा, परप्रवाद (निन्दा), चोट पहुँचाना जैसे मन, वाणी और शरीर से होने वाले अधर्मात्मक कृत्यों को करता है। "जायेते पुण्यपापौ" इस अचिन्त्यागम के वचन में मन, वाणी और शरीर से सम्पन्न होने वाले इन त्रिविध पापपुण्यात्मक कर्मों का ही वर्णन मिलता है।

अथवा मृगेन्द्रागम (वि. ८.४) के अनुसार अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत के कारण उत्पन्न होने वाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सुख-दु:खों की उत्पत्ति होती है। इस त्रिविध सुख-दु:ख का यह कर्म ही कारण है। कर्म के कारण ही मनुष्य के चित्त में प्रसन्नता अथवा उद्विग्नता के कारण आध्यात्मिक सुख-दु:ख उत्पन्न होते हैं। इसी तरह से अंगना-संभोग तथा गज-सिंहादि कृत अभिभव या हिंसा के कारण आधिभौतिक सुख-दु:ख की तथा अभिमत-अनभिमत वर्षा-आतप आदि आधिदैविक कारणों से सुख-दु:ख की अनुभूति होती है। शतरत्नसंग्रह (पृ. ५६) में उद्धृत सुप्रभेदागम में भी इस विषय की चर्चा हुई है।

यह कर्म सत्य और असत्य के आधार पर धर्माधर्मात्मक माना गया है। [१]स्वापावस्था में यह पकता है, सृष्टिकाल में भोगप्रदान करता है और संहार काल में माया में रहता है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. २२-२५) में भी यह कर्म प्रदर्शित है। अधर्म के भेदों का निरूपण शिवधर्म में मिलता है। रौरववार्त्तिक के एक वचन में बताया गलया है कि तीव्र पुण्य और पाप करने वाले व्यक्तियों को स्वर्ग और नरक की प्राप्ति शीघ्र होती है। स्वायम्भुवागम का कहना है कि कर्म के कारण ही जीवों को नाना प्रकार के शरीरों की प्राप्ति होती है। बिना भोग किये इनका नाश नहीं होता। पौष्करागम में यह बताया गया है कि करोड़ों कल्पों में भी बिना भोग के ये नष्ट नहीं होते। दीक्षा, प्रायश्चित्त[२] आदि की सहायता से इनके क्षय की बात शास्त्रों में अवश्य मानी गई है। मृगेन्द्र (वि. ८.६) में बताया गया हैं कि यह कर्म ही माया से कालाग्निभुवन पर्यन्त समस्त अध्वाओं को प्रवृत्त करता है।

---

१. "स्वापेऽप्यास्ते बोधयन् बोधयोग्यान्" (मृगेन्द्र-विद्या. ४.१५)।

२. लुप्ता., उपो. पृ. १४८ की तीसरी टिप्पणी देखिये।

तत्त्वप्रकाश (श्लो. १९) में कर्म को अनादि, धर्माधर्मात्मक एवं नाना विचित्रताओं से भरा हुआ माना गया है। टीकाकार कुमार ने धर्म और अधर्म का स्वरूप बताकर, प्रतिवादी-संमत लक्षण का खण्डन कर [1]नित्य, नैमित्तिक और काम्य के रूप में धर्म की त्रिविधता बताई है। [2]इष्ट और पूर्त के रूप में धर्म के दो भेद बताकर उन्होंने कहा है कि इनमें इष्ट वैदिक और पूर्त तान्त्रिक धर्म है। इसके बाद उन्होंने मतान्तर की चर्चा करते हुए अधर्म के भी तीन भेद दिखाये हैं। यह सब उनकी मन की कल्पना नहीं है, किन्तु इसके समर्थन में उन्होंने सिद्धान्तहृदय नामक ग्रन्थ के वचनों को उद्धृत किया है। लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और शैव नामक शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित कर्मों का वर्णन मृगेन्द्र के क्रियापाद (८.७८) में किया गया है और वृत्तिकार नारायणकण्ठ ने इनको विस्तार से समझाया है।

किरणागम (३.७) में कहा गया है कि मल के समान ही कर्म भी अनादि है। यदि वह अनादि न होता, तो उसमें विचित्रता कहाँ से आती। मृगेन्द्र (वि.८.३) में कर्म को ईश्वर और विद्या आदि की अपेक्षा होने से इसे सहकारी कारण कहा गया है और वहाँ इसकी नित्यता भी मान्य है। गमशास्त्र में कहा गया है कि अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण ज्ञानी मनुष्य भी मोह में पड़ जाते हैं। गमशास्त्र, तत्त्वगर्भ, मयसंग्रह जैसे ग्रन्थों में क्रिया शब्द कर्म के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

भट्टनायक के स्तोत्र में और कर्णिकाकार के वचन में परमेश्वर को समर्पित कर्मों को पवित्र माना गया है। स्पन्दशास्त्र की नवीं कारिका में बताया गया है कि अपनी स्वाभाविक अनादिकालीन अशुद्धि ही अविद्या, अर्थात् अविवेक के कारण भोगों के प्रति अभिलाषा को पैदा करती है। उससे जीव की शक्ति संकुचित हो जाती है और उससे उसके चित्त में क्षोभ, अर्थात् अशुद्धि से पैदा हुआ देह में आत्माभिमान उत्कट हो उठता है। इस क्षोभ को जब साधक अपने प्रयत्न से दबा देता है, तब वह स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अपनी इस व्याख्या के समर्थन में स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव धातुसमीक्षा, नारदसंग्रह और संवित्प्रकाश को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कर्मों की मोहकता शास्त्रों में मानी गई है, अतः वे संसार की ओर ही जीव को प्रवृत्त कराते हैं। इन कर्मों का नाश हो जाने

---

१. लुप्ता. उपो., पृ. १४९ की पहली टिप्पणी देखिये।

२. मतंग (वि. १७ २९-४८) में यमनियमात्मक द्विविध कर्म प्रतिपादित हैं।

पर इनसे मुक्त हुआ जीव स्वस्थ एवं परम शान्त स्थिति में पहुँच जाता है। जैसे ठीक तरह से भूँज दिया गया बीज पुनः अंकुरित नहीं होता, उसी तरह से विकल्पों से जिसका चित्त विमुक्त हो गया है, उस व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले कर्म फलोन्मुख नहीं होने पाते, वे संसृति के कारण नहीं बन सकते। "कर्मेदं मत्कृतमपि त्वन्मयं येन माधव" यह संवित्प्रकाश का वचन वास्तव में भगवद्गीता के सर्वकर्म-समर्पणभाव की याद दिलाता है।

सभी प्रकार के विकल्पों (शंकाओं) से मुक्त कौलिक मत के अनुयायी शैव, शाक्त और बौद्ध तान्त्रिक कर्मविषयक विचार के प्रसंग में बड़ी अव्यवस्था पैदा कर देते हैं। वे कालिकामत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जिन कर्मों को करने से साधारण मनुष्य को नरक-भोग करना पड़ता है, कौलिक साधक उन्हींके अनुष्ठान से उन्नति की और बढते हुए त्रिकालज्ञ हो जाते हैं। तन्त्रालोक (४.२४८,२५१) में सर्वज्ञानोत्तर को उद्धृत करते हुए वर्णाश्रम के आचारों का, लौकिक प्रायश्चित्तों का, देश-काल आदि में प्रसिद्ध आचारों का निषेध किया गया है, वह सब लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक और अतिमार्ग शास्त्र की अपेक्षा शैवशास्त्र द्वारा उपदिष्ट कर्मों की विशिष्टता के, उसकी प्रशंसा के सूचक हैं। शक्तिसंगमतन्त्र (२.४९.४२-४३) में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि त्रिकालज्ञ, त्रैलोक्य के आकर्षण में समर्थ योगी को मन से भी लौकिक आचार-विचार का त्याग नहीं करना चाहिये।

इस तरह से इस शैवशास्त्र में पाशपंचक के नाम से प्रसिद्ध पुरुषार्थ के प्रतिबन्धक मल, तिरोधानशक्ति, महामाया, माया और कर्म नामक पाँच पाशों का स्वरूप यहाँ बताया गया है। यथा—

मलः कर्म महामाया मायोत्थमखिलं जगत्।
तिरोधानकरी शक्तिः पाशत्वेनार्थपञ्चकम्।।

इनमें से महामाया को हटाकर चार ही पाश मृगेन्द्र आदि में निर्दिष्ट हैं। तिरोधान शक्ति की भी औपचारिक पाशता मानी जाती है। इस तरह से मल, कर्म और माया नामक तीन ही पाश रौरवागम और स्वायम्भुवागम में सूचित हैं। प्रयोगमंजरीकार ने भी तीन ही पाश माने हैं। मल पद से आणव मल का संग्रह कर और कर्म एवं माया पदों के साथ मल पद को संयुक्त कर [1]त्रिक आदि दर्शनों

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदय (पृ.६०) में कहा गया है कि इच्छा आदि तीन शक्तियाँ ही त्रिविध मल का रूप धारण कर लेती हैं। शि. सू. वि. (पृ. ५-७, ३६-३८) में इनके लक्षण देखिये।

में आणव, मायीय और कार्म नामक तीन ही मल स्वीकृत हैं। इस मत में भी केवल आणव मल से युक्त जीव विज्ञानाकल, आणव और कार्म मल से युक्त प्रलयाकल और तीनों मलों से युक्त जीव सकल—इस तरह से त्रिविध पशु प्रतिपादित हैं। वीरशैव मत और शाक्त दर्शन में भी त्रिविध मल और त्रिविध पशु वर्णित हैं। शाक्त दर्शन में [1]पाश शब्द का दूसरा अर्थ भी मिलता है। इस प्रकार पाशपंचक का प्रतिपादक यह प्रकरण अब पूरा होता है।

अवबोध-रूप ज्ञान

इस प्रकरण के प्रारंभ में ज्ञान और दीक्षा की चर्चा की गई थी और ज्ञान के पर और अपर भेद के रूप में अवबोध रूप एवं कामिकादि (आगम) शब्दरूप ज्ञान का उल्लेख कर उनका परिचय दिया गया है। बाद में इन आगमों में वर्णित [2]पति-पशु-पाश रूप तीन तत्त्वों का विस्तार से वर्णन किया गया है। उपर्युक्त पंचविध पाशों अथवा त्रिविध मलों को हटाने के लिये अवबोध रूप ज्ञान ही मुख्य सहायक है। वायव्य-वचन में अपर ज्ञान को त्रिविध वस्तु का विवेचक बताया गया है और स्वायम्भुव में कहा गया है कि पाश के एवं पशु के ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, वह तो पति के ज्ञान से ही मिल सकती है। पाशात्मक तथा शिवात्मक शब्दों की चर्चा आगे की जा रही है (पृ. ३५२-३५३)। अचिन्त्यागम में नाद से उत्पन्न समस्त शास्त्रों के ज्ञान को पाशज्ञान, ब्रह्मपर्यन्त ज्ञान को पशुज्ञान तथा शिवपरक ज्ञान को शिवज्ञान कहा गया है। शिवज्ञान से ही मन्त्रातीत, निरंजन, सर्वज्ञ, सर्वग, शान्त, सर्वात्मा, सर्वतोमुख, परमशिव का ज्ञान होता है। इसीको शास्त्रों में अवबोध रूप शिवज्ञान कहा गया है। इसी [3]अवबोध-रूप परज्ञान का स्वरूप यहाँ बताया जा रहा है।

---

१. कुलार्णव (१३.९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील का अष्टविध पाश के रूप में वर्णन है। तन्त्रा. (८.२९१-२९२) में ये आठ ग्रह बताये गये हैं।

२. "त्रिपदार्थं चतुष्पादम्" यह मृगेन्द्रागम का पक्ष है और "षट्पदार्थमयं ज्ञानम्" (वि. २६.६५) यह मतंगागम का। वहाँ विद्यापाद के पंचम पटल में शक्ति पदार्थ का तथा २६वें पटल में भोग और उपाय का निरूपण किया गया है। इस विषय की पहले (पृ. ३०९-३१०) चर्चा हो चुकी है।

३. स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ८५) में चित्, संवित्, ज्ञान और बोध शब्दों को पर्यायवाची माना गया है। इन शब्दों के विवेचन के लिये लुप्ता. उपो., पृ. १५१ की तीसरी टिप्पणी में निर्दिष्ट स्थलों से सहायता ली जा सकती है।

मृगेन्द्रागम (वि. ११.८) की पद्धति से [1]भाव और प्रत्यय सर्ग का जो ज्ञान बुद्धि में प्रकाशित होता है, उसे भी औपचारिक रूप से बोध कहा जाता है, क्योंकि बोध-रूपी शिवज्ञान की अभिव्यक्ति की भूमिका के रूप में इसका उपयोग किया जाता है।

व्यक्त और अव्यक्त पदार्थों का बुद्धि के द्वारा **बोध** (ज्ञान) होता है, वह बोध पुरुष को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी प्रकृति इन दोनों से बहुत भिन्न है। वह तो स्वयं अपने आप प्रकाशित होता है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (१.३) इस योगसूत्र में यही बात कही गई है। यह शिवस्वरूप पुरुष बुद्धि के द्वारा प्रकाशित हो भी नहीं सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसमें भोग्यता आदि वैषयिक दोषों की आपत्ति होने लगेगी। मोक्षकारिका (श्लो. १०१-१०६) में इस विषय की स्पष्ट चर्चा की गई है कि अन्तःकरण में परिगणित बुद्धि की [2]बोध नामक वृत्ति पाश में परिगणित है। पाश से निगड़ित होने से यह अपने स्वरूप में स्थित पतिस्वरूप शिव का साक्षात्कार करने में असमर्थ है। इसीलिये शिवदृष्टि (३. १०-१५) में कालपादा, स्वायम्भुवटीका, मतंगटीका, किरणागम आदि के प्रमाण से नादात्मक शब्दराशि से ही मन्त्रात्मक शिवस्वरूप के बोध की बात स्वीकार की गई है, पाशात्मक शब्द से नहीं। शिवदृष्टि की व्याख्या (पृ. १०४) में किसी आचार्य के वचन को उद्धृत करते हुए भट्ट उत्पल का कहना है कि प्रमाता की भूमि में स्थित मन्त्रों में और परभूमि में स्थित शब्दों में ही यह सामर्थ्य हो सकती है, वागिन्द्रिय में नहीं, क्योंकि वागिन्द्रिय की स्थिति तो माया के अन्तर्गत है। परनादमय शब्द की स्थिति परमव्योम में है। परमेश्वर का पंचब्रह्ममय स्वरूप इन्हीं से बनता है (पृ. १०४)। नादकारिका की व्याख्या में अघोरशिव का भी कहना है

---

१. "न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः" (का. ५२) इत्यादि सांख्यकारिका में द्विविध सर्ग सूचित है। यह भावप्रत्ययलक्षण द्विविध सर्ग "भावा बुद्धिगुणाः" (१०.२४) यहाँ से लेकर "इति बुद्धिप्रकाशोऽयम्" (११.८) यहाँ तक मृगेन्द्रागम विद्यापाद में तथा मतंग के विद्यापाद के बुद्धितत्त्वनिरूपक १७वें पटल में विवेचित है। यहाँ का "रूपैः सप्तभिरित्युक्ता" (१७.६४) यह श्लोक सांख्यकारिका (का.६३) का स्मरण दिलाता है। प. त्री. वि. (पृ. २०९-२१०) की टिप्पणी में भाव और प्रत्यय-सृष्टि चर्चित है। स्वच्छन्द. (११.१२६-१७२), भोगकारिका (श्लो. ५५-६४) और तत्त्वप्रकाश (श्लो. ६६) की कुमारदेव की टीका भी देखिये।

२. तन्त्रालोक (९.२२९) में इस मत की समालोचना की गई है।

कि स्थूल पाशस्वरूप मायीय सृष्टि का शब्द शिव आदि शुद्धसृष्टि का बोध नहीं करा सकता, अतः शुद्ध मन्त्र-तन्त्रात्मक शब्दों की जननी के रूप में भी महामाया को स्वीकार करना पड़ेगा। इसीलिये मतंग आदि शास्त्रों में बताया गया है कि अंगारस्थानीय इन तेजोमय शब्दों में अग्निस्थानीय सूक्ष्म मन्त्रमय शब्दों की अभिव्यक्ति होती है और तभी वे साधकों की अभीष्ट सिद्धि में सहायक बन पाते हैं (पृ. २२४)। अभिप्राय यह है कि जिस बोध से महेश्वर का स्वरूप प्रकाशित होता है, वह अन्तःकरण की वृत्ति से भिन्न संवित्स्वरूप ज्ञान है।

तन्त्रा. (८.१२) में निर्दिष्ट त्रिशिरःशासन में बताया गया है कि यह बोध (संवित्) ही छत्तीस तत्त्वों के रूप में उल्लसित हो उठता है। षाड्गुण्यविवेक का कहना है कि यह बोध (संवित्=विज्ञान) विचित्र वस्तुओं के निर्माण में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। यह तो संकल्पमात्र से सहस्रों रूप धारण कर लेता है। बोध के पर्याय के रूप में संवित् शब्द की व्याख्या नि. षो. के उपोद्घात (पृ. ८५) में भी की गई है।

यह बोध-रूप परज्ञान कालोत्तर में इस प्रकार से व्याख्यात है—"इस नाना नामरूपात्मक विश्व का एक शिवात्मक ज्ञान ही मूल कारण है। यह व्यापक, विमल और शान्त है। यह ज्ञान ही भुक्ति और मुक्ति का भी प्रदाता है। वस्तुतः शिव की निर्मल परा शक्ति शिव के साथ उसी तरह से अविनाभाव संबन्ध से रहती है, जैसे अग्नि की उष्णता उससे कभी जुदा नहीं होती। इनके इस अविभाज्य स्वरूप से ही पर और अपर नामक शिवज्ञान प्रकाशित होता है"। पौष्करागम के इस वचन में भी यही बात कही गई है—"शिव के साथ समवेत ज्ञानात्मक निर्मल शक्ति ही बोध कहलाती है। इस बोध का स्वरूप शास्त्रों की सहायता से ज्ञात होता है। यह शिवज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भिन्न प्रकार का है। यह अपने में ही सदा प्रकाशित होता रहता है। यह सभी पदार्थों का प्रकाशक है। मृगेन्द्रागम के इस वचन में यह वर्णित है—

नाध्यक्षं नापि तल्लैङ्गं न शब्दमपि शाङ्करम्।
ज्ञानमाभाति विमलं सर्वदा सर्ववस्तुषु ।।

(वि. ५.१६)

कालिकाक्रम, देविकाक्रम और आत्मसप्तति में बताया गया है—"बाहर और भीतर उस-उस रूप में ज्ञान ही प्रकाशित हो रहा है, ज्ञान के बिना अर्थ की कोई

पृथक् सत्ता नहीं है, अतः यह सारा जगत् ज्ञानरूप है। [1]ज्ञान के बिना कोई भी किसी भी वस्तु को जान नहीं सकता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान ही ज्ञेय का आकार धारण कर लेता है। संवित्प्रकाश का कहना है—"इसी तरह ज्ञान से समाविष्ट सभी वस्तुओं को ज्ञानरूप मानो"। कात्य भी कहते हैं कि यह विश्व ज्ञान से अभिन्न है। सारस्वतसूत्रसंग्रह में इस विश्व को चिन्मय आत्मतत्त्व से परिपूर्ण माना गया है। चन्द्रज्ञान का कहना है कि जिस प्रबुद्ध भाव से योगी स्वयं विषयों को भोगता हुआ भी पाशव भाव से निपतित नहीं होता, वही ज्ञानचन्द्र है। ज्ञानदीपिका में उद्धृत ज्ञानसम्बोध के अनुसार स्वभावतः एकात्मिका ज्ञान की शक्ति संकल्प के आधार पर नाना रूप धारण कर लेती है। ज्ञान की आकाश के समान कोई इयत्ता नहीं है और न वह विश्व के समान स्वल्प ही है। जैसे आकाश को कोई अन्य पदार्थ आवृत नहीं कर सकता, उसी तरह से ज्ञान की व्यापक शक्ति को भी कोई आवृत नहीं कर सकता। जिनकी बोध-शक्ति खुल गई है, उनकी स्वतन्त्रता विषम स्थितियों में भी नष्ट नहीं होती और मन्द बुद्धि का व्यक्ति साधारण विषयों में भी परतन्त्र दिखाई पड़ता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों रूपों में ज्ञान ही भासित होता है। तत्त्वविचार में भी कहा गया है कि अपने-अपने स्वभाव में स्थित भाव कभी-कभी भोक्ता एवं भोग्य के रूप में परस्पर संबद्ध हो जाते हैं। वस्तुतः द्रष्टा, अनुभविता, स्मर्ता, ग्राहक, भोक्ता, वेदक, कर्ता, उपलब्धा, संवेत्ता और ज्ञाता—ये सब ज्ञान के ही वाचक हैं।

स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत बौधायनसंहिता में क्षणभंगवाद-संमत ज्ञान की क्षणिकता का खण्डन कर कहा गया है कि ज्ञान एक और नित्य है, क्षणिक अनेक ज्ञानों की कोई सत्ता नहीं है। इससे नैयायिक मत का भी खण्डन हो जाता है। [2]निशाटनशास्त्र की पद्धति से इस ज्ञान की प्राप्ति तीन तरह से होती है—अपनी आत्मा, शास्त्र और गुरुमुख से। सिद्धामत में बताया गया है कि स्वप्रत्यय ज्ञान ही प्रातिभ ज्ञान कहलाता है। तन्त्रालोक (१३.१६७-२०३) में मालिनीमत, नन्दिशिखा, निशाटन जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति में [3]दीक्षा की कोई अपेक्षा नहीं मानी गई है। सिद्धामत का कथन है कि ज्ञान की सहायता से योगीश्वर

---

१. विष्णुपुराण (१.४.४०) से तुलना कीजिये। बौद्ध विज्ञानवाद भी विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य वस्तु की कोई सत्ता स्वीकार नहीं करता।

२. त्रिप्रत्यय ज्ञान की चर्चा यहाँ की गई है। बौद्ध-तन्त्र प्रकरण में चतुःप्रत्यय के रूप में इसकी चर्चा होगी। लुप्ता. उपो., पृ. १५३ की पहली टि. देखिये।

३. शक्तिपात के प्रसंग (पृ. ३६१-३६२) में इसकी चर्चा आवेगी।

महासिद्ध बन जाता है। पश्चिमशास्त्र में ज्ञान की महिमा को बताते हुए कहा गया है कि एक निर्विकल्पक ज्ञान और ग्रहात्मिका मुद्रा जिसमें उद्बुद्ध हो जाते हैं, उसी को सिद्धशासन में अन्वयी कहा जाता है। षाड्गुण्यविवेक में प्रदर्शित है कि प्रत्येक व्यक्ति में उसके शरीर की चेष्टाओं से ज्ञान की सत्ता ज्ञात होती है। ज्ञान के न रहने पर यह शरीर निर्जीव सा लुड़ख पड़ता है। ये सब वचन अद्वय दृष्टि से अवबोध-रूप ज्ञान की सत्ता को सिद्ध करते हैं।

तन्त्रालोक (१३.३२७) और उसकी विवेक टीका में श्रौत (श्रुत), चिन्तामय एवं भावनामय नामक [१]त्रिविध ज्ञानों में उत्तरोत्तर की श्रेष्ठता मानी गई है। विवेक में उद्धृत मालिनीविजय (४.२८-३२) के वचन में इनके नाम बताने के बाद उनके लक्षण भी दिये गये हैं। तदनुसार इधर-उधर विक्षिप्त (फैले हुए) ज्ञान को पूरी तरह से सुनना श्रुत ज्ञान और सुने हुए समस्त ज्ञान का यथास्थान विनियोग करना चिन्तामय ज्ञान कहलाता है। यह चिन्तामय ज्ञान द्विविध है—मन्द एवं स्वभ्यस्त। इनमें स्वभ्यस्त ज्ञान उत्तम है। स्वभ्यस्त ज्ञान की सहायता से ही भावनामय ज्ञान प्राप्त होता है। इसीकी सहायता से योगी योगाभ्यास में लग कर उसके फल का साक्षात्कार करता है। इस तरह से इन चार प्रकार के विज्ञानों के संयुक्त होने से ज्ञानी चार प्रकार के माने गये हैं। इस ज्ञानी की महिमा तन्त्रालोक (२८.६२-७१) में त्रिशिर:शास्त्र के प्रमाण से वर्णित है।

विभिन्न शास्त्रों में और उनका अनुसरण करने वाले दर्शनों में बोध, ज्ञान और संवित् ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। अद्वयसम्पत्तिवार्त्तिक का कहना है कि संवित्-स्वरूप परा शक्ति परमेश्वर से अभिन्न है। तन्त्रालोक (५.८६-८७) में उद्धृत त्रिशिरोभैरव में मन्त्रभूमि में प्रवेश की व्याख्या संवित् से अभिन्न परतत्त्व में अन्त:-प्रवेश के रूप में की गई है। संवित्सतत्त्व शब्द का अर्थ संवित् से अभिन्न किया जाता है। **सतत्त्व** शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अभिन्न तत्त्व के अर्थ में किया जाता है। जैसे संवित्सतत्त्व का अर्थ है संवित् और परमेश्वर की एकता, अर्थात् तत्त्व के रूप में इनमें कोई भेद नहीं है। अनेक ग्रन्थों में कल्लट-कृत तत्त्वार्थचिन्तामणि के नाम से उद्धृत सूत्र में बताया गया है कि संवित् ही प्रथमत: प्राण के स्पन्दन का रूप धारण करती है। कल्लट का ही कहना है कि चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है। स्तोत्रभट्टारक में चित् को ही संवित् कहा गया है। पर्यन्तपंचाशिका में कहा गया है कि जगत् की अनेकाकारता के होते हुए भी संवित्

---

१. जैन तन्त्रों की दृष्टि से इस विषय पर वहीं विचार किया जायगा।

एकाकार ही रहती है। संवित्प्रकाश में संविद्रूपी नींव पर वर्णरूपी स्तम्भों के सहारे ज्ञानरूपी सरस्वती का महल खड़ा होता है। यह पुण्यसलिला सरस्वती प्रथमत: अघोष और बाद में नाद के रूप में प्रवृत्त होती है। स्पष्ट है कि यहाँ अवबोध-रूप और शास्त्र-रूप द्विविध ज्ञान सूचित है। इसी स्थल पर संसार की असत्ता (असारता) और संवित् की सत्ता का स्वरूप वर्णित है। इस शुद्ध संवित् का स्वरूप तन्त्रालोक (४.९५-१२६) और उसकी विवेक टीका में विस्तार से वर्णित है।

"बोधस्वरूपवाची संवित् प्रोक्ता च देवता गुरुभि:" (प्र. सा. १०.३) [१]भुवनेश्वरीकल्प के इस वचन के प्रमाण से कुमार तत्त्वप्रकाश की व्याख्या में बोध के पर्याय संवित् शब्द को देवीदेवतात्मक मानते हैं। मोक्ष का स्वरूप सुखचिदात्मक है, अत: इसकी देवी-देवतात्मकता मानी जाती है। इसमें परमानन्द संवित् देवी और संविदानन्दमय देव है। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ. उ. ३.९.४) इस तरह की श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण हैं। लघुस्तव की [२]बृंहणी टीका में शिव को देव, शिवा को देवी और शिवब्रह्म को ज्योतिस्वरूप बता कर कहा है कि एक ही अलिंग तत्त्व लिंगभेद से त्रिविध रूप धारण कर लेता है। वीरावलीशास्त्र में माना गया है है कि संवित् के विकास से ही मोक्ष की अभिव्यक्ति होती है। मुकुटसंहिता ने संवित् के व्यापार से ही भोग और मोक्ष की अभिव्यक्ति मानी है। वामननाथ का कहना है कि इस संवित् का सहारा लेकर योगी संवित्स्वरूप हो जाता है।

त्रिकसार में विचित्राकार संवित्तियों की और नरेश्वरविवेक में भ्रान्त संवित् की चर्चा है। यहाँ संवित् शब्द का प्रयोग लौकिक ज्ञान के अर्थ में किया गया है। प्राभाकर दर्शन तथा मीमांसा, वेदान्त आदि के ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में संवित् शब्द का प्रयोग मिलता है।

"शरीर में स्थित कालानल के समान प्रकाशमान जिस चिति में सारे पदार्थ लीन हो जाते हैं और सारा तत्त्वसमूह जहाँ से प्रकट हो उठता है, उस तत्त्व को तुम जानो" वीरावली के इस वचन में, "पुरुष में कर्तृता और बुद्धि में चिदात्मकता आरोपित की जाती है" इस देवलाचार्य के वचन में, "स्वतन्त्र चिति-शक्ति से विश्व की सिद्धि होती है" इस प्रत्यभिज्ञाहृदय के प्रथम सूत्र में तथा शैव, शाक्त और

---

१. भुवनेश्वरीकल्प प्रपंचसार के दशम पटल का नाम है। लुप्ता. उपो., पृ. ५२ पर दिया गया परिचय अब पुराना पड़ गया है।

२. इस ग्रन्थ का परिचय लुप्ता. उपो., पृ. ५०-५१ पर दिया गया है।

वैष्णव आगम-ग्रन्थों में प्रयुक्त चित् और चिति शब्द संवित् के ही पर्याय हैं और वे प्रधानत: अवबोधात्मक परज्ञान का ही बोध कराते हैं।

वाजसनेयतन्त्र के वचन में बताया गया है कि गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान ही सही रूप में पशु के पाशों को काटने में समर्थ है। कामिकागम में गुरु को आदेश दिया गया है कि दीक्षा देते समय शिष्य के विषय में कुछ विचार करना जरूरी नहीं है, किन्तु ज्ञान का उपदेश करते समय उसकी योग्यता की परीक्षा अपेक्षित है। इस वचन के अनुसार गुरु यद्यपि इस अवबोध, रूप ज्ञान का उपदेश योग्य शिष्य को ही करता है, तो भी दीक्षा देते समय स्त्री, शूद्र, चाण्डाल आदि का विचार न कर सभी को समान रूप में दीक्षा देता है। अत: अब यहाँ प्रसंगप्राप्त शक्तिपात का, दीक्षा का और उस दीक्षा को देने वाले गुरु का स्वरूप बताया जा रहा है।

मलपरिपाक, कर्मसाम्य और शक्तिपात

इस प्रकार यहाँ अपर और पर, अर्थात् शब्दरूप और अवबोधरूप ज्ञान का परिचय दिया गया है। "ज्ञानदीक्षे प्रवक्ष्यामि" इस भगवद्वाक्य में शास्त्रों में ज्ञान के बाद दीक्षा का उपदेश किया जाता है। पशु-प्रकरण में [१]केवल, सकल और अमल नामक त्रिविध पशुओं का स्वरूप बताया गया है। इनमें केवलावस्थ पशु पूरी तरह से मोहग्रस्त होने से उसको कभी होश नहीं आता। सकलावस्थ जीव यह जानने लगता है कि मैं बद्ध हूँ और वह इस बन्धन से मुक्ति की चेष्टा करने लगता है। इस तरह से चेष्टाशील पशु पर शिव अनुग्रह करते हैं। मृगेन्द्रागम (वि.५.१) के अनुसार तिरोधान शक्ति के अधिकार के हट जाने पर उससे मुक्त हुए जीव पर समस्त प्राणियों के हितचिन्तक शिव अपनी दृक्क्रियात्मक[२] अनुग्रह शक्ति का जाल फैला देते हैं। शिव का यह अनुग्रह व्यापार ही शास्त्रों में शक्तिपात के नाम से जाना जाता है।

मृगेन्द्रागम के इस (वि. ५.१) श्लोक का भाव यह है—यहाँ तम और शक्ति ये दो शब्द हैं। तम का अर्थ मल और शक्ति का अर्थ भगवत्संबन्धी रोध शक्ति है। इन दोनों के अधिकार की निवृत्ति हो जाने पर पशु कैवल्य के प्रति उन्मुख हो उठता है। उस स्थिति में जगत् के उद्धार में समर्थ शिव अपनी दृक्शक्ति और

---

१. लुप्ता. उपो., पृ.१३४-१३५ की टिप्पणी देखिये। अघोरशिव के व्याख्यान की यहाँ संगति नहीं बैठती।

२. "जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदन:। सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चित:।।" (शान्ति. ३४८.७३) महाभारत के इस वचन में जायमान पुरुष के रूप में शक्तिपात-सम्पन्न ईश्वर के द्वारा अनुगृहीत व्यक्ति की ही चर्चा है।

क्रियाशक्ति की परिपूर्णता को अभिव्यक्त करते हैं। ये शक्तियाँ जीव में भी विद्यमान हैं, किन्तु मल से आवृत होने से इनकी अनन्तता छिपी रहती है। मल का परिपाक होने से आवरण के हट जाने पर ये प्रकट हो जाती हैं, नये सिरे से इनकी उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट होता है कि कर्म का नाश और मल का परिपाक हो जाने पर भगवान् की अनुग्राहिका शक्ति पशु पर निपतित होती है। पौष्करागम में यही बात कही गई है कि कर्म के नाश और मल का परिपाक हो जाने पर शिव की सहकारिणी अनुग्राहिका शक्ति पशु की ज्ञान और क्रियाशक्ति के उन्मीलन में प्रवृत्त हो उठती है। श्रीकण्ठीसंहिता में भी वर्णित है कि जिसके बिना शिव भी सर्वज्ञ नहीं कहला सकते, वह उनकी ज्ञानशक्ति ही है। यह शक्ति शिव से प्रेरित होकर पशुओं को पाशों से मुक्त कर देती है। तभी वह गुरु के अनुसन्धान में प्रवृत्त होता है।

शक्तिपात के होने पर जिन चिह्नों की अभिव्यक्ति होती है, उनका वर्णन मृगेन्द्रागम (वि.५.४) में मिलता है—जिन प्राणियों पर ईश्वर की कृपादृष्टि एक बार पड़ जाती है, वह उससे कभी दूर नहीं होती। ऐसी स्थिति में उस जीव में निम्न चिह्न प्रकट होते हैं—मुक्ति के प्रति उसकी उत्सुकता जाग उठती है, संसार के प्रति उसमें वैराग्य जाग जाता है, शिवभक्तों के प्रति अनुराग और शिवशास्त्र पर उसकी श्रद्धा जाग जाती है। शक्तिपात का प्रयोजन मतंगागम के चार श्लोकों (वि. ४.४५-४८) में वर्णित है—"शक्तिपात के कारण अज्ञ जीव में भी मुक्ति की अभिलाषा के जग जाने पर आत्मप्रवण विवेक की सहायता से उसमें सद्बुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसे विवेकी विरक्त पुरुष में जिज्ञासा जाग उठती है। उस जिज्ञासा के कारण उत्पन्न ज्ञान से वह पशु इस संसार के प्रति अनुराग को छोड़ कर प्रभु की प्रेरणा से भगवदुपासना में लग जाता है। गुरुप्रदत्त मन्त्र ही उपासक और उपास्य में भी प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार अनुग्राह्य (शिष्य) के विनय और अनुग्राहक (शिव) की करुणा से ही साधक शक्तिपात से सम्पन्न हो मुक्ति का अधिकारी बन पाता है। इस प्रकार का यह संयोग अत्यन्त ही दुर्लभ है"।

पौष्करागम में भी कहा गया है—"शक्तिपात से सम्पन्न व्यक्ति में इस दुःख के सागर संसार के प्रति शीघ्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उसमें भगवान् शिव के चरणों का दर्शन करने की इच्छा बार-बार होती है कि मैं भगवान् का दर्शन कब करूँगा, इस बन्धन से मैं कब मुक्त होऊँगा, मुझे कौन शंभु के दर्शन का मार्ग दिखायेगा। इस तरह की बुद्धि जिस साधक में जाग उठती है, ऐसे संसार से भयभीत व्यक्ति पर ईश्वर अनुग्रह करते हैं"। मालिनीविजय (१.४२-४४) में यह विषय इस तरह से वर्णित है—इस तरह से उपासना में निरत प्राणी में उचित

समय पर योग्यता के अनुरूप शान्त एवं मुक्तिप्रद शैवी शक्ति उद्बुद्ध हो उठती है। इस शक्तिपात से सम्पन्न साधक तत्काल संसार से विरक्त हो उठता है। तब उसका अज्ञान से साथ छूट जाता है। [1]रुद्रशक्ति से समाविष्ट वह साधक शिव की इच्छा से प्रेरित हो भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति की इच्छा से सद्गुरु की खोज में निकल पड़ता है''। स्वायम्भुववृत्ति में बताया गया है कि मल और माया से युक्त जीव पर भी शिव का अनुग्रह हो सकता है।

शक्तिपात के विषय में प्रश्न उठता है कि शिव की यह शक्ति तो व्यापक है, जो वस्तु सर्वत्र विद्यमान है, उसका पात कैसे हो सकता है? ऊपर से किसी वस्तु का पात (च्युति) ही तो निपात कहलाता है। यह शक्ति तो अग्नि की उष्णता के समान शिव से कभी जुदा (च्युत) नहीं होती। दूसरी बात यह है कि इस नित्य एवं व्यापक शक्ति का संबन्ध तो सदा-सर्वदा सभी पशु-स्वरूप आत्माओं से है ही। ऐसी स्थिति में सभी पशु एक साथ मुक्तिलाभ कर लेंगे। यह शक्ति किसी विशिष्ट काल में ही अनुग्रह करती है, ऐसा मानने पर तो काल की ही मोक्ष के प्रति कारणता माननी पड़ेगी, तब शिव की मोक्ष के प्रति क्या प्रयोजकता रह जायगी? अतः शक्तिपात की बात करना निरर्थक है।

इस आशंका का समाधान शास्त्रों में इस तरह से किया गया है—गौण और मुख्य के भेद से शब्द[2] की प्रवृत्ति दो तरह से होती है। यहाँ 'पात' शब्द की प्रवृत्ति गौण माननी चाहिये। लोक-व्यवहार में सुनने को मिलता है कि इस व्यक्ति की नजर उस कामिनी पर ठहर गई है। यहाँ उस व्यक्ति की दृष्टि उससे अलग होकर कामिनी पर नहीं ठहरती, किन्तु दृश्य (कामिनी) दर्शक (पुरुष) के रूप में आपस में टकराती है। उसी तरह से यहाँ साधक पुरुष अनुग्राह्य है और शक्ति अनुग्राहिका। इन दोनों का परस्पर संबद्ध होना ही औपचारिक रूप से शक्तिपात

---

१. शक्तिपात, रुद्रशक्तिसमावेश (मालिनी, पृ. ५.८,१४; तन्त्रा. १.१९२;१३.२१४) और शक्तिसमावेश शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं।

२. तन्त्रालोक (६.३१-३३) में **अध्व** पद का निर्वचन करते समय निशाचार के प्रमाण से पारिभाषिकी, नैमित्तिकी और प्रसिद्धा नामक तीन प्रकार की संज्ञाओं का प्रतिपादन किया है। इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए जयरथ कहते हैं कि यद्यपि शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान यौगिक, रूढ़ और योगरूढ़ पद्धति से किया जाता है, किन्तु इनमें यौगिक पद्धति ही प्रधान मानी जाती है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति निमित्त को देखकर ही होती है। इसीलिये अन्य दो प्रकार की संज्ञाओं का यथाकथंचित् इसीमें अन्तर्भाव किया जा सकता है, जिससे कि सर्वत्र अर्थ के अनुरूप ही शब्द की प्रवृत्ति हो (पृ. ३१-३२)। नैरुक्त एवं वैयाकरण इसीलिये सर्वत्र शब्दों की यौगिकता के ही पक्षपाती हैं।

कहलाता है, यह मुख्य प्रयोग नहीं है। अतः उक्त दोष की यहाँ प्रवृत्ति ही नहीं है। इस विषय की शतरत्नसंग्रह (पृ. ६८) में किरणागम और सिद्धान्तवचन की सहायता से विशेष चर्चा की गई है।

मोक्षकारिका की व्याख्या में रामकण्ठ [१]विद्याधिपति के इस वचन को उद्धृत करते हैं—"बिना किसी की अपेक्षा के शैव शक्तिपात स्वतन्त्र रूप से पशु की मुक्ति में सहायक बनता है। शक्तिपात में किसी की अपेक्षा मानने पर परमेश्वर को परतन्त्र मानना पड़ेगा"। इस प्रकार शक्तिपात में ईश्वर की स्वतन्त्रता के पोषक इस मत को उद्धृत कर बाद में उसका खण्डन करते हुए तथा शक्तिपात के प्रति [२]कर्मसाम्य की अपेक्षा वाले मत का भी निरास करते हुए वे बाद में मलपरिपाक की सापेक्षता के पक्ष का समर्थन करते हैं (श्लो. ६९-७०)। अद्वैतवादी शैव और शाक्त दार्शनिक शक्तिपात की निरपेक्षता के पक्षपाती हैं। शिवदृष्टि (४.४) के वचन की व्याख्या करते हुए उत्पल भट्ट कहते हैं कि द्वैत दर्शन में ईश्वर माया के सहारे सृष्टि में तथा कर्मसाम्य के सहारे अनुग्रह में प्रवृत्त होते हैं (पृ. १४७)। इनमें मलपरिपाक की सापेक्षता वाला पक्ष खेटपाल (सद्योज्योति शिवाचार्य) का तथा कर्मसाम्य की सापेक्षता वाला पक्ष किरणागम[३] के व्याख्याता किसी आचार्य का है, ऐसा स्वच्छन्दोद्योत के कर्ता क्षेमराज का कहना है (५.८८)। तन्त्रालोक के तेरहवें आह्निक में इन दोनों मतों का खण्डन करते हुए मतंग के व्याख्याता अनिरुद्धाचार्य और प्रमाणस्तुति के कर्ता विद्याधिपति के वचनों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अभिनवगुप्त ने यहाँ इन दोनों मतों का निरास कर और शक्तिपात की निरपेक्षता (स्वतन्त्रता) को स्थापित कर शम्भुनाथ द्वारा प्रदर्शित शक्तिपात के नौ भेदों का विवरण इस प्रकार दिया है—प्रथमतः तीव्र, मध्य और मन्द के भेद से शक्तिपात त्रिविध है। फिर इनमें से पुनः प्रत्येक के तीव्र, मध्य और मन्द भेद होते हैं। इस तरह से यह शक्तिपात नौ प्रकार का हो जाता है। (तन्त्रा. १३.२५४)। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने नन्दिशिखा, मालिनीमत जैसे शास्त्रों के अनेक

---

१. "स्वतन्त्रः शक्तिपातोऽसौ शैवः पशुविमोक्षकृत्। सापेक्षत्वे हि तस्य स्यादशक्तः परमेश्वरः।।" (अ. प्र., पृ. २५९)।

२. कर्मसाम्य का लक्षण अलग से भी बताया गया है। लुप्ता. उपो., पृ. १५६ की दूसरी टिप्पणी से भी यह विषय स्पष्ट होता है।

३. किरणागम के विद्यापाद पर नारायणकण्ठ-सुत रामकण्ठ द्वारा लिखी गई वृत्ति का कुछ अंश प्रकाशित हो चुका है। क्षेमराज ने क्या इसी कैरण वृत्ति की चर्चा की है, इस पर विचार अपेक्षित है।

वचनों को उपस्थापित किया है। इन सबका परिचय [1]स्वच्छन्दोद्योत, तन्त्रालोक और उसकी विवेक व्याख्या में देखा जा सकता है।

इस तरह से विविध शास्त्रों में शक्तिपात का स्वरूप विवेचित है। "योग्य गुरु और शिष्य का संयोग सुदुर्लभ है", "शिव की कृपा ही शिष्य को सद्‌गुरु के पास ले जाती है" इस तरह के शास्त्रवचनों के अनुसार शक्तिपात से पवित्र आत्मा सद्‌गुरु की खोज करता है और वह सद्‌गुरु उसकी परीक्षा कर दीक्षा देता है। कला आदि तत्त्वों एवं भुवनों से संबद्ध बद्ध आत्मा शिवस्वरूपिणी दीक्षा के बिना केवल ज्ञान की सहायता से मुक्त नहीं हो सकता। आणव मल से आवृत आत्मा की ज्ञान और क्रिया शक्ति भी ईश्वर की शक्ति से समान ही नित्य एवं व्यापक है, तो भी मल से आवृत होने के कारण वह सर्वत्र प्रकाशित नहीं होने पाती। इसीलिये आणव मल से आवृत जीव का ज्ञान संकुचित हो जाता है। मल से अवरुद्ध उसका चैतन्य (ज्ञान) कुटी में स्थित दीपक के समान स्वल्प स्थान में सिमट जाता है और विस्तृत स्थान में फैल जाता है। जीवात्मा की अपनी शक्ति जब अभिव्यक्त हो उठती है, तब वह विष से मूर्छित व्यक्ति की तरह चेष्टाहीन हो जाता है। गुरु जैसे अज्ञान के कारण संज्ञाहीन प्रसुप्त शिष्य को प्रबोधित करता है, इसी तरह शिव मोहनिद्रा में सोये हुए जीवों को अपनी शक्ति की सहायता से जगा देते हैं। जैसे दवा की सहायता से दुर्बल मनुष्य बलसम्पन्न हो जाता है, उसी तरह से शिव की शक्ति की सहायता से जीवों में उनकी दृक्क्रियात्मक शक्ति जाग उठती है। उसकी सहायता से मल का परिपाक हो जाने पर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसके अभाव में वह भोगों को भोगता रहता है। नित्य, व्यापक, चिच्छक्ति का स्वामी होते हुए भी यह जीव भोग और मोक्ष के लिये पाशव और शाम्भव बल की अपेक्षा रखता है। स्वच्छन्दसंग्रह में कहा गया है कि विज्ञानाकल जीवों पर सुतीव्र शक्तिपात के सहारे से वह शिव अनुग्रह करते हैं। ईश्वर के इस अनुग्रह की चर्चा सर्ववीरशास्त्र में भी है।

इस प्रकार मलपरिपाक, कर्मसाम्य, शक्तिपात—ये सब विषय परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अघोरशिव ने रत्नत्रय की वृत्ति (पृ. २००-२०१) में और मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका में कर्मसाम्य का जो स्वरूप बताया है, वह रुचिकर प्रतीत होता है। सिद्धान्तदर्शन में शक्तिपात के लिये कर्मसाम्य और मलपरिपाक की आवश्यकता मानी गई है। अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की तरह यहाँ स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष शक्तिपात मान्य नहीं है।

---

१. अद्वैतवादी शैवाचार्य मलपरिपाक एवं कर्मसाम्य से निरपेक्ष शक्तिपात की स्थापना करते हैं। स्तव. क्षेम. (पृ. १२४-१२५), त. सा. (पृ. ११५-११६), सा. प. टी. (पृ. ४१-४२) में यह विषय देखा जा सकता है। लुप्ता. उपो., पृ. १५७ की टिप्पणी में ज्ञान, भक्ति और प्रत्यभिज्ञा भी विवेचित है।

इस प्रकार शक्तिपात से सम्पन्न व्यक्ति को कैवल्य के अवरोधक इस विस्तृत बन्धजाल से [1]दीक्षा ही मुक्ति दिलाती है, शैवधाम को प्राप्त कराती है। रत्नत्रय की वृत्ति (श्लो. १२) में कहा गया है कि शक्तिपात के बाद दीक्षा से पवित्र हुआ साधक ही सिद्धान्तशास्त्र का सेवन करता है। नन्दिशिखाशास्त्र का भी कहना है कि साधक के हृदय में जब शिवत्व की प्राप्ति की इच्छा जगती है, तभी वह मुक्त हो जाता है, उसको गुरु की सहायता से दीक्षा प्राप्त हो जाती है। इस दीक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये अब आगे इसका विवेचन किया जा रहा है।

दीक्षा और अभिषेक

दीक्षा का महत्त्व

"शिवाज्ज्ञानं प्रवर्तते" इस स्वायम्भुव वचन में ज्ञान शब्द अवबोध-रूप और दीक्षा-रूप द्विविध ज्ञान का बोधक है, ऐसा शतरत्नसंग्रहकार (पृ. ५) का कहना है। प्रश्न उठता है कि दीक्षा को ज्ञान कैसे कह सकते हैं? वह तो क्रिया-रूप है? इसका उत्तर यह है कि जैसे सूर्य की किरणें अर्थ का प्रकाश करते हुए अपनी दाहक शक्ति का उपयोग करते समय प्रकाशकता का त्याग नहीं करतीं, क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ समान रूप से उसमें विद्यमान है, उसी तरह से ज्ञानदान और पाशक्षपण रूप दोनों शक्तियों से सम्पन्न दीक्षा अपनी ज्ञानरूपता का परित्याग नहीं करती। अतः दीक्षा का भी ज्ञान में ही अन्तर्भाव कर सकते हैं। चर्या आदि चारों पादों से दीक्षा का अधिकार जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से दीक्षा[2] की विशिष्ट महिमा इस शास्त्र में मानी गई है।

---

१. तन्त्रालोक के शक्तिपाताह्निक (१३.१६२-२५१) में नन्दिशिखा, किरण आदि के प्रमाण से दीक्षा अथवा प्रातिभ ज्ञान से मोक्षप्राप्ति की बात मानी गई है। स्वपरामर्श से प्राप्त प्रातिभ ज्ञान की महिमा ई. प्र. वि. वि., तन्त्रालोक आदि में वर्णित है। गुरु के अभाव में भी प्रातिभ-ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति को रक्ता देवी दीक्षा देती है, यह अभिनवगुप्त (तन्त्रा. ४.६०-६४) का कहना है। इस विषय में अन्य प्रमाण भी लुप्ता. उपो., पृ. १५८ की पहली टिप्पणी में देखे जा सकते हैं।

२. मतंग (क्रिया १.२) में दीक्षा का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जिन व्यक्तियों की प्रवृत्ति असामर्थ्य के कारण विद्या के प्रति नहीं है, उनके लिये सरल उपाय के रूप में दीक्षा का विधान शास्त्रों में है। मुद्रा, मण्डल, मन्त्र, क्षेत्र, द्रव्य और साधक—ये छः **दीक्षा** के अंग माने जाते हैं (म. क्रि. १.४)। वहाँ के पूरे प्रथम पटल में इनका विस्तार देखा जा सकता है। अन्य ग्रन्थों में वर्णित दीक्षाविषयक विविध विषयों की सूचना लुप्ता. उपो., पृ. १५८-१५९ *की टिप्पणी से मिल सकती है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. १४७-२५२) भी* देखिये।

इसीलिये स्वायम्भुवसूत्र में बताया गया है कि परम पद के अवरोधक इस विस्तृत संसार के बन्धन से दीक्षा ही मुक्ति दिलाकर शैव धाम की ओर ले जाती है। पराख्यसंहिता का भी कहना है कि ज्ञान आदि उपायों का मुख्य कारण दीक्षा ही है, अतः इन चारों की अंगता मानी गई है, वास्तव में ये दीक्षा के ही विभिन्न अंग हैं। वरुणपद्धति कहती है कि देही त्रिविध भवबन्धन से दीक्षा की सहायता से ही छुटकारा पा सकता है, "ज्ञान आदि की सहायता से मुक्ति नहीं मिलती। वस्तुतः दीक्षा ही मुक्ति दिलाती है", "दीक्षा से ही मुक्ति मिलती है", "दीक्षा के समान मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है", "दान, तप, यज्ञ आदि से मुक्ति नहीं मिलती", "नैष्ठिक दीक्षा के सहारे ही जीव विमुक्त हो सकता है" इस तरह के वचन दीक्षा के माहात्म्य के सूचक हैं। तीव्र शक्तिपात के बाद जब गुरु दीक्षा देते हैं, तो वह शिष्य तत्काल सर्वज्ञ शिव बन जाता है" (वि. १.२१) यह किरणागम का तथा "इन तत्त्वों से एवं इनके धर्मों से परिवृत बद्ध आत्मा शिवात्मक दीक्षा के सिवाय अन्य किसी उपाय से मुक्त नहीं हो सकता" यह सर्वज्ञानोत्तर का वचन भी दीक्षा की महिमा का उद्घोष करते हैं। स्पष्ट है कि मल का परिपाक हो जाने पर शक्तिपात के क्रम से दीक्षा प्राप्त कर जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। ज्ञान आदि का उपयोग दीक्षा के अंग के रूप में ही माना जाता है। शिवविषयक दीक्षा के बिना योग आदि की भी कोई उपयोगिता नहीं मानी जाती। मल को द्रव्य माना जाता है, अतः उसकी स्थिति मोतियाबिन्द को हटाने जैसी है। ज्ञानमात्र से इसकी निवृत्ति नहीं होती। जैसे मोतियाबिन्द को हटाने के लिये वैद्य के व्यापार (आपरेशन) की अपेक्षा है, उसी तरह से दीक्षारूपी ईश्वर-व्यापार से ही उस मल की निवृत्ति संभव है। इसीलिये पौष्करागम का कथन है कि दीक्षा ही पशु को पाशों से मुक्त कर शिवत्व प्रदान करती है। षट्सहस्रिका में भी कहा गया है कि चिति शक्ति को अभिव्यक्त कर दीक्षा ही मोक्ष प्रदान करती है। तन्त्रालोक (१५.१) में निर्दिष्ट है कि दीक्षा ही भोग और मोक्ष दोनों की उपलब्धि कराती है। यहाँ दीक्षा को ज्ञान से अभिन्न ही माना गया है। मालिनीविजय (४.६-७) में बताया गया है कि दीक्षा के बिना साधक शांकर योग का अधिकारी नहीं बन सकता और यह दीक्षा क्रिया और ज्ञान के भेद से दो तरह की मानी जाती है।

दीक्षा का लक्षण

दीक्षा के महत्त्व को बताने के साथ शास्त्रों में दीक्षा का लक्षण भी बताया गया है। मतंगपारमरेश्वर (वि. ४.५८-५९) में दीक्षा पद की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि शिव की ज्ञानक्रियात्मक सत्ता ही दान (करुणा) कहलाती है। यह स्वच्छ, निर्मल शक्ति जिस दीक्षा की सहायता से प्रकट होती है, उसीको पति का

दान कहा जाता है। यह पशु में स्वयं प्रकट नहीं होती। जिसकी सहायता से सम्यक् ज्ञान दिया जाता है और तीनों मलों का क्षय होता है, उसे दीक्षा कहते हैं। दीयते और क्षीयते, अर्थात् 'दा दाने' और 'क्षि क्षये' इन दो धातुओं से दीक्षा शब्द बनता है। इस अभिप्राय के बोधक दीक्षा पद की निरुक्ति करने वाले अनेक वचन शास्त्रों में मिलते हैं। मृगेन्द्रागम (क्रि. ८.१०१-१०२) के अनुसार दीक्षा, परमविश्लेष, पाशच्छेद, निरोधन, परा शुद्धि, बल, व्यक्ति, मुक्ति, परमनिष्कृति— शिवनिर्दिष्ट तन्त्रों में ये सब शब्द दीक्षा के पर्याय माने गये हैं। नेत्रतन्त्र (१९.१६१) में दान-क्षपण स्वरूप स्वातन्त्र्य शक्ति ही दीक्षा कही गई है। यह दीक्षा पौष्करागम की पद्धति से एक अथवा अनेक व्यक्तियों की एक साथ की जा सकती है। षट्साहस्रिका का कहना है कि लय और भोग अवस्थाओं को बिना जाने दीक्षा नहीं देनी चाहिये। त्रिशिरोमत में बताया गया है कि शिष्य का निरीक्षण मन्त्र से, प्रोक्षण अर्घ्य-जल से, ताडन अस्त्रराज से, आप्यायन नेत्र-मन्त्र से और गुण्ठन कवच-मन्त्र से करना चाहिये। दीक्षाविषयक यही मत पांचरात्र मत की सात्वतसंहिता (१९.३७) में भी प्रतिपादित है। भाष्यकार ने इस वचन की व्याख्या करते हुए बताया है कि नेत्र-मन्त्र से निरीक्षण, अस्त्र-मन्त्र से अभिमन्त्रित तिल एवं सरसों से ताडन, अस्त्राभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण एवं दर्भ से आलभन करना चाहिये (पृ. ३८२)।

मलक्षयकरी दीक्षा

"त्रिविध मलों में केवल एक कार्म मल ही संसार का मुख्य कारण है" (३.२.१०) इस प्रत्यभिज्ञाकारिका की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने "मल की निवृत्ति के लिये दीक्षा-सरीखा दूसरा कोई उपाय नहीं है" इस ललितागम के वचन को उद्धृत कर, गुरुओं के द्वारा उपदिष्ट इस वचन को याद किया है—"दीक्षा के बिना की गई कोई भी उपासना ऊषर भूमि में बोये गये बीज के समान कभी फलवती नहीं होती"। वे अवधूतसिद्ध के भक्तिस्तोत्र (श्लो. ३२) के इस वचन को भी उद्धृत करते हैं कि हे भगवन्! आपकी अव्याहत भक्ति का यह प्रभाव है कि दीक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त भक्त बिना ज्ञान के भी कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। स्वायम्भुवागम ने दीक्षा को धर्म और अधर्म का नाश करने वाली बताया है। किरणागम (६.१९) में निर्दिष्ट है कि अनेक जन्मों के कर्म दीक्षा के समय प्राप्त मन्त्र की शक्ति से नष्ट हो जाते हैं। दग्ध बीज के समान भविष्य में किये जाने वाले कर्म भी फलदान में असमर्थ रहते हैं। जिन कर्मों से यह वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, उनका नाश तो भोग से ही होता है। तन्त्रालोक (६.७४-७५) का कहना है कि दिन और रात्रि के समान धर्म और अधर्म की स्थिति

प्रकाश[1] और अन्धकार की जैसी छोटी अथवा बड़ी होती है। दीक्षा के उपरान्त ध्यान और योग की व्याप्ति से इनका नाश होता है। स्पष्ट है कि यहाँ भी दीक्षा से ही प्रधान रूप से कर्म का क्षय माना गया है। एक स्थान पर दीक्षारूपी अग्नि से भस्मीभूत मल वाले जीव की चर्चा मिलती है। अन्य वचन में बताया गया है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि में रुई के ढेर को डाल देने पर वह उसको जला कर अपने भी शान्त हो जाती है, फिर प्रज्वलित नहीं होती, उसी तरह से दीक्षा के समय मण्डल में मन्त्र को प्राप्त कर लेने के उपरान्त वह दीक्षित व्यक्ति (मनुजोत्तम) फिर जन्म ग्रहण नहीं करता। इन सब वचनों से स्पष्ट है कि मल का नाश करने की सामर्थ्य दीक्षा में ही है।

दीक्षा के अधिकारी

दीक्षा के प्रसंग में सद्योज्योति शिवाचार्य का मोक्षकारिका (श्लो. ८९) में कहना है कि दीक्षा में साधक के रूप में तो चारों वर्णों का अधिकार है, किन्तु गुरु के रूप में दीक्षा देने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। नरेश्वरपरीक्षा (३.७६) में उनका कहना है कि शैवमत में वेदोक्त धर्म को भी स्वीकार किया गया है। इसीलिये हमने वेदों के प्रामाण्य पर यहाँ विचार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में [2]वर्णाश्रम धर्मों की और वेदों की भी प्रामाणिकता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है।

---

१. प्राण और अपान की, श्वास और प्रश्वास की तुलना योगशास्त्र में दिन और रात से की गई है, जो प्रकाश और अन्धकार से युक्त हैं। इनका आकार घटता-बढता रहता है। शुक्ल और कृष्ण पक्ष के रूप में भी इनका ध्यान किया जाता है। अपोहन व्यापार से विकल्पात्मक स्थिति के क्षीण होने के साथ प्राणापान की भी विषम स्थिति धीरे-धीरे घटती चली जाती है और निर्विकल्पक स्थिति में परा संवित् का जब स्फुरण होता है, उस स्थिति में स्थिरचित्त शिष्य ध्यान और योग की सहायता से दीक्षा की योग्यता अर्जित करता है। ज्ञान, योग और क्रिया की समष्टिस्वरूप यह दीक्षा साधक को बिना किसी बाधा के मुक्ति दिलाने में समर्थ है। प्राण और अपान व्यापार योगशास्त्र में सोम-सूर्य, काम-विष और यमराज के श्वानों के रूप में भी वर्णित हैं। क्रमदर्शन की आद्यन्तकोटि का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाली मध्यनाडी वह्न्यात्मक मानी गई है। इन्हींकी सहायता से ईश्वर मातृमानमेयात्मक त्रिपुटी की सृष्टि करते हैं और फिर उन्हींमें उनको विलीन भी कर देते हैं। दीक्षा की यह आध्यात्मिक व्याख्या तन्त्रालोक (भा.३, पृ. १२५,३३२-३३४) में निर्दिष्ट है। प्राणापान और त्रिपुटी-विषयक इस प्रपंच को लुप्ता. उपो., पृ. १६० की टि. में निर्दिष्ट ग्रन्थों की सहायता से देखा जा सकता है।

२. यही कारण है कि सद्योज्योति शिवाचार्य के सिद्धान्त नारदपुराण में स्वीकृत हैं। क्षेमराज ने सिद्धान्तशास्त्र की लोकप्रियता को सूचित किया है। इससे प्रतीत होता है कि भैरवादि आगमों से लोग विरक्त हो गये थे। स्पष्ट है कि सिद्धान्तशास्त्र को लोक और वेद दोनों में समान मान्यता मिली है।

कुमारदेव तो वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, यह [1]बताया जा चुका है। परमोक्षनिरासकारिका में दीक्षा के प्रसंग में द्रव्यप्रियता की अपेक्षा गुणप्रियता पर विशेष जोर दिया है।

क्या मानव की मति कभी गुणप्रिय होगी?

तन्त्रालोक (२३.२०-२१) में ज्ञानोत्तर के प्रमाण से दीक्षा में मानवमात्र का अधिकार माना गया है। वहाँ कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, नपुंसक, स्त्री, शूद्र अथवा जो भी दीक्षा के अभिलाषी हैं, उनकी मीमांसा अर्थात् जाति, लिंग आदि का विचार दीक्षा देते समय नहीं किया जाता। वहीं (२८.६५) दीक्षोत्तर के प्रमाण से दीक्षा में स्पष्ट रूप से श्वपच (चाण्डाल) का भी अधिकार माना गया है—अन्न[2] ब्रह्मा का और रस हरि का स्वरूप है। भगवान् शिव इसके भोक्ता हैं। ऐसा मानकर ज्ञानी गुरु श्वपचों को भी दीक्षा देकर उनका उद्धार करे। इसीलिये नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.११) में कालोत्तर के प्रमाण से श्वपचों को भी दीक्षा देने की बात कही है। मालिनीवार्तिक (पृ. २०) में कालोत्तर को ही कालपादा के नाम से उद्धृत कर यही कहा गया है।

भैरवकुल के एक वचन में बताया गया है कि सिद्धान्त, वाम आदि के मार्गों में अभिषिक्त देशिक (आचार्य) को भी भैरव, कुल, कौल अथवा त्रिक मत में प्रवेश देते समय पुनः दीक्षित करना चाहिये, क्योंकि इन मतों में दीक्षा का एक नया भोगात्मक मार्ग उपदिष्ट होता है। यहाँ भैरव पद से कुल, कौल, क्रम और त्रिक मार्ग भी गृहीत होते हैं। नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१-१०) में दक्षिण स्रोत से आविर्भूत भैरवागमों में स्वच्छन्द, चण्ड, त्रिशिरोभैरव आदि का ग्रहण किया जाता है।

दीक्षा के भेद

स्वच्छन्दोद्योत (५.८८) में क्षेमराज दीक्षा के भेदों[3] का वर्णन इस प्रकार करते हैं—यहाँ चतुर्थ पटल में कला दीक्षा का और हमारी दिखाई पद्धति से एक-

---

१. अष्टप्रकरण उपोद्घात (पृ. १०) देखिये।

२. दीक्षोत्तरेऽपि च प्रोक्तमन्नं ब्रह्मा रसो हरिः।
भोक्ता शिव इति ज्ञानी श्वपचानप्यथोद्धरेत्।। (२८.६५)

३. शिवदृष्टि (२.९०) की व्याख्या में पंचतत्त्वदीक्षाविधि नामक दीक्षाशास्त्र का उल्लेख मिलता है। कालोत्तर के दो वचन (१.५,८.१-२) पंचतत्त्व दीक्षा के प्रकरण में तन्त्रालोक (११.१५-४०) में चर्चित हैं। "सर्वं सर्वात्मकम्" शिवदृष्टि में प्रतिपादित इस सिद्धान्त के अनुसार और "एको भावः सर्वभावस्वभावः" शम्भुभट्टारक के इस वचन के अनुसार एकतत्त्वदीक्षा का भी विधान है। कालोत्तर, स्वच्छन्द, तन्त्रालोक, सिद्धान्तसारावलि, शतरत्नसंग्रह आदि सभी ग्रन्थों में दीक्षा का विस्तार देखा जा सकता है।

तत्त्व दीक्षा का परिचय दिया गया है। पाचवें पटल में तीन, पाँच, नौ और छत्तीस तत्त्वों के भेद से चतुर्विध तत्त्वदीक्षा, नवतत्त्वदीक्षा से मिलती जुलती पददीक्षा, वर्ण, मन्त्र और भुवन नाम की तीन दीक्षाएँ कलादीक्षा के समान और दशम पटल में भुवनदीक्षा का विस्तार है। इस तरह से यहाँ अध्वभेद से ग्यारह प्रकार की दीक्षाएँ वर्णित हैं। [१]उद्घात की युक्ति से बारहवीं ज्ञानदीक्षा मानी गई है। इन बारह दीक्षाओं के सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाण के भेद से पुत्रक के विषय में छत्तीस भेद हो जाते हैं। आचार्य के विषय में सबीजदीक्षा के द्वादश भेद ही मान्य हैं। साधक के विषय में शिवधर्मी और लोकधर्मी के रूप में उक्त पद्धति से चौबीस भेद होंगे। समयी के विषय में अध्वन्यास का विधान न होने से ज्ञान और क्रिया की सहायता से हृदय-ग्रन्थि के भेदन के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं। इनको मिलाने से दीक्षा के ७४ भेद संक्षेप में हो जाते हैं। इसके बाद भी सकल, निष्कल, अघोरेश्वरी आदि अनुष्ठानों के भेद से, लोकधर्मी साधक के अवान्तर भेदवैचित्र्य से एवं आचार्य के भौतिक, नैष्ठिक आदि भेदों के कारण शास्त्रों में दीक्षा के अनेक प्रकार वर्णित हैं। क्षेमराज ने पंचम पटल के अन्त में दीक्षाविषयक[२] सौगत (बौद्ध) मत और सिद्धान्त मत की भी समीक्षा की है।

तन्त्रालोक (१६.१६२-१९३) में भी दीक्षा के बहुविध भेद वर्णित हैं। निम्न दो श्लोकों (१६.१८५-१८६) में उनकी संख्या इस प्रकार बताई गई है—यहाँ प्रथमतः दीक्षा के ८५४० भेद बताये गये हैं। उस संख्या को ७० संख्या से गुणित करने पर इनकी संख्या पाँच लाख सत्तानवे हजार आठ सौ (५९७८००) होगी। यह संख्या मालिनीतन्त्र में निर्दिष्ट है।

भैरवकुल के एक वचन के अनुसार सिद्धान्त मत में [३]हौत्री दीक्षा, क्रम आदि तन्त्रों में योजनिका, त्रिक मत में समावेशवती, कुल में स्तोभात्मिका और कौल में सामरस्यमयी—इस तरह पंचविध दीक्षा मानी जाती है। तन्त्रालोक (२२.४०-४२) में भी पंचविध दीक्षा का क्रम इस प्रकार दिखाया गया है—अट्ठाईस भेद वाले

---

१. स्वच्छन्द (७.३०१-३०२) में उद्घात का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि प्राण की गति को रोक देने पर वह मस्तक-पर्यन्त जाकर वापस आती है। इसीको उद्घात-काल कहा जाता है। मतंग (योग. ७.१-४) में और वहाँ की टिप्पणी में इसका विस्तार है।

२. षाण्मासिक पत्रिका 'धीः' में प्रकाशित निबन्ध की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं।

३. यह पंचविध दीक्षा तन्त्रालोक (१३.३०२) और विवेक में वर्णित है। त्रिशिरोमत में कौल दीक्षा को ज्ञानज्ञेयमय बताया गया है। वेध, क्षोभ, आवेश, सन्धान जैसे पदों का अर्थ तन्त्रालोक (२९.१९६-२११, २३७-२४७), नरेश्वरविवेक, शिवसूत्रविमर्शिनी आदि में देखा जा सकता है। तन्त्रालोक के २६वें आह्निक में भी दीक्षा का प्रपंच मिलता है।

सिद्धान्तशास्त्र में दीक्षित व्यक्ति को चौसठ भेद वाले भैरवागम में, भैरवागमों में दीक्षित को त्रिक शास्त्र में, उसको सिद्धवीरावलीसार में एवं उसको भैरवीय कुल में दीक्षा दे। यह पंचविध दीक्षा क्रमशः दी जाती है। अन्तिम दीक्षा ही अनुत्तर दीक्षा कहलाती है। लक्ष्मीकौलार्णव में संधान की महिमा इस प्रकार बताई गई है—दीक्षाविधि में स्तोभ आदि जिन प्रत्ययों का वर्णन किया गया है, वे सब **सन्धान** की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते। सन्धान के बिना न तो दीक्षा ही पूर्ण हो पाती है और न उससे सिद्धियाँ ही प्राप्त हो सकती हैं। मन्त्र, मन्त्रयुक्ति और योगाकर्षण की भी सिद्धि सन्धान के बिना नहीं हो सकती। सन्धान शब्द की प्रवृत्ति शुद्ध तत्त्व के दृढ़ विमर्श के लिये होती है।

अभिषेक

शिष्य की योग्यता के अनुसार समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य के रूप में दीक्षित व्यक्तियों के चार प्रकार होते हैं। [1]इनमें से सभी का अभिषेक किया जाता है, यह एक पक्ष है। आचार्य का ही अभिषेक होता है, यह दूसरा पक्ष है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक के २३वें और २९वें आह्निक में साधक और आचार्य का अभिषेक वर्णित है। २३ वें आह्निक में कामिक, सिद्धयोगीश्वरीमत, कचभार्गव, देव्यायामल, पूर्वशास्त्र, योगचार, ज्ञानोत्तर, सिद्धातन्त्र, ऊर्मिशासन, ब्रह्मयामल, मतंग, त्रिकसार जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से सामान्य अभिषेक का [2]स्वरूप बताया गया है। इस प्रसंग में देव्यायामल के प्रमाण से अभिषेक के अयोग्य व्यक्तियों की सूचना दी गई है कि इनका अभिषेक नहीं करना चाहिये। दीक्षा और अभिषेक में ज्ञानवान् गुरु को ही वरीयता दी गई है। ज्ञानवान् गुरु ही आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित किया जाता है। कौल मत के आचार्य के अभिषेक की विधि तन्त्रालोक (२९.२२५-२३५) में वर्णित है। यहाँ वीरावलीशास्त्र के प्रमाण से आन्तर अभिषेक का क्रम भी बताया गया है। वहीं १३वें आह्निक में अभिनवगुप्त ने आन्तर अभिषेक का क्रम वाजसनेयितन्त्र के प्रमाण से दिखाया है। साथ ही यह भी कहा है कि सर्ववीर, ब्रह्मयामल जैसे ग्रन्थों में भी इनका वर्णन मिलता है। नन्दिशिखाशास्त्र के अनुसार जीव दीक्षा के बिना केवल प्रातिभ ज्ञान की सहायता से भी मुक्त हो सकता है। आन्तर अभिषेक-विधि इसी मत की पुष्टि करती है। दीक्षित आचार्य अभिषेक के बाद ही गुरुपदवी पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

---

१. इस विषय पर पांचरात्र प्रकरण (पृ. १४९-१५०) में विचार किया गया है।

२. लुप्ता. उपो., पृ. १६२ की तीसरी टिप्पणी देखिये।

गुरु और शिष्य

गुरु पद की निरुक्ति बताते हुए कहा गया है कि सारे विश्व के व्यवहार के प्रकाशक, सब पर अनुग्रह करने वाले परमशिव भट्टारक ही मुख्य गुरु हैं। भगवान् शिव ही स्वात्मस्वरूप महान् प्रमाता के रूप में गुरु का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शिवसूत्र (२.६) में उपाय के रूप में इन्हींका वर्णन है। गुरु के चरण ज्ञान-क्रिया स्वरूप स्वातन्त्र्य की प्राप्ति में, उसके ज्ञान में सहायक होते हैं और ये विश्व-व्यापार को तिरोहित करने में भी समर्थ हैं। कुब्जिकामत में गुरु के इन्हीं चरणों की वन्दना की गई है। गुरु का तृतीय चरण भी वहां वर्णित है। यह साक्षात् गुरु का ही स्वरूप है। सित (शुक्ल) और अरुण (रक्त) स्वरूप गुरु के चरणों का और उनके स्वरूप का भी ध्यान कुब्जिकामत में ही मिलता है। गुरु का तुरीय चरण सकल-निष्कल स्वरूप समस्त विश्व का उपसंहार कर देने वाला निर्वाणमय है। लौकिक व्यवहार सकल और निष्कल इन दो चरणों से ही सम्पन्न होजाता है। महार्थमंजरीपरिमल (पृ. ४) में निर्दिष्ट लक्षण परमगुरु का है। उसके अनुसार शुक्ल और रक्त रूप में प्रविष्ट यह परमशिव ही समस्त विश्व की सृष्टि करते हैं।

"गुरु का लक्षण यही है कि वह [१]आदि और अन्त की योजना का प्रकार निर्दिष्ट करता है" इस श्रीकण्ठीसंहिता के वचन में, "जिससे दीक्षा, मन्त्र और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, वही गुरु है" इस आनन्दशासन के वचन में, "कौलदीक्षा, कौलशास्त्र और तत्त्वज्ञान का प्रकाशक गुरु कहलाता है" इस ऊर्मिकौलशास्त्र में और "सभी लक्षणों से रहित होते हुए भी [२]ज्ञानसंपन्न व्यक्ति गुरु है" इस कचभार्गव के वचन में मानव गुरु का लक्षण बताया गया है। देवीयामल में गुरु के लिये कहा गया है कि उसे चार पाद वाली पूरी संहिता का ज्ञान होना चाहिये। स्वायम्भुवशास्त्र का भी कहना है कि संहिता में पारंगत व्यक्ति का ही अभिषेक करना चाहिये। ये सारे वचन योग्य गुरु के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

---

१. सिद्धामत के प्रमाण से तन्त्रालोक और विवेक (३.२२३-२२५, ११.८१-८२) में यह विषय प्रपंचित है। वहाँ (तन्त्रा. २३.५) यह भी बताया है कि जो गुरु अध्वशुद्धि की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह शिष्य को मुक्ति नहीं दिला सकता।

२. दीक्षोत्तर में भी ज्ञानसम्पन्न गुरु को ही वरीयता दी गई है, क्योंकि उसके लिये सप्तसत्री का प्रवर्तन आवश्यक है। दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिवैकता और अन्नदान—ये सात सत्र माने गये हैं (तन्त्रा. २३.२२-२३)। मालिनीमत (३.५६) में रुद्र, रुद्रशक्ति और गुरु को समान माना गया है।

नि.षो. की अर्थरत्नावली टीका (पृ. ८१-८२) में उद्धृत मन्त्रराज के नौ श्लोकों में भैरवागम के गुरु का लक्षण बताया गया है।

मालिनीमत (२.१०) के वचन में मन्त्र के वीर्य के प्रकाशक गुरु को शिव के समान माना गया है। त्रिशिरोभैरव और स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में गुरु के मुख में विद्यमान शक्ति की महिमा गाई गई है। शतरत्नसंग्रह में शिव की अपेक्षा मानव गुरु में भक्ति रखने की, स्पन्दप्रदीपिका-स्थित नारदसंग्रह में गुरु को दक्षिणा देने की, परिमल-धृत हंसभेद और स्कन्दयामल में गुरु-सेवा की, तथा वारीवलीशास्त्र में गुरु ही पशु को पाशों से मुक्त कर सकता है, यह कहकर गुरु की महिमा का वर्णन किया गया है। सिद्धयोगीश्वरीमत के अनुसार दीक्षा के अवसर पर अध्वशोधन की प्रक्रिया को न जानने वाला गुरु शिष्य को पाशजाल से मुक्त नहीं कर सकता।

गुरुपादुका

चिद्विलासस्तव में गुरुपादुका की स्तुति के अवसर पर बताया गया है कि स्वयं प्रकाशमय शिव पहली और विमर्शस्वरूप शक्ति दूसरी पादुका है। इन दोनों का सामरस्यमय स्वरूप ही परमशिव स्वरूप परा पादुका है। पूर्वशास्त्र में पादुका की स्तुति में कहा गया है कि क्रमतत्त्व के संकोच और विकास में समर्थ इस गुरु-पादुका का ध्यान करते समय अपने आदिगुरु से लेकर दीक्षागुरु पर्यन्त पदक्रम का स्मरण करना चाहिये। [१]कुलार्णव (१२.३) में बताया गया है कि मछली पकड़ने के जाल की कड़ियों में जैसे सारी डोरियाँ बँधी हुई हैं, उसी तरह से कुलार्णव का सार-ज्ञान गुरु की पादुका में प्रतिष्ठित है। इस गुरुपादुका की स्तुति में पूरी तरह से समर्पित अपने पादुकोदय ग्रन्थ में महेश्वरानन्द ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। परिमल (पृ. ९६) में वर्णित परापरात्मक स्वात्माभिन्न, परानन्दमयी, अपने से भिन्न भावों की कलना में उद्युक्त परा शक्ति की ही गुरुपादुका के रूप में महिमा गाई गई है। इस तरह से वर्णित यह गुरुपादुका पूर्व वर्णित गुरुचरणों से अभिन्न ही है।

शिष्य

"अद्य संक्रमितः"[२] इत्यादि स्वायम्भुवशास्त्र के वचन में शिष्य के मुख्य कर्तव्यों को निर्दिष्ट किया गया है। "गुरु जो करते हैं, उसका अनुसरण न कर, वे

---

१. योगिनीहृदय में "वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः" (२.४७) इस तरह का वचन मिलता है। यही पाठ कुलार्णव (१२.३) में भी होना चाहिये।

२. गुरुशिष्यविषयक विविध विषयों की और उनके स्थलों की सूचना लुप्ता. उपो., पृ. १६४ की टिप्पणी में दी गई है।

जो कहते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करे'' इस वीरवलीशास्त्र के वचन में शिष्य को स्पष्ट आदेश दिया गया है। सिद्धयोगीश्वरीमत में कहा गया है कि दीक्षा और अभिषेक की सारी विधियों को पूरा कर लेने के उपरान्त दूसरे दिन गुरु की पूजा अवश्य करनी चाहिये। तन्त्रालोक (२९.२८४-२८५) में भी यही बात कही गई है कि दूसरे दिन गुरु की पूजा अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि उसके बिना कोई विधि पूरी नहीं होती। अत: प्रयत्नपूर्वक शिष्य को वह सब कुछ करना चाहिये, जिससे गुरु को पूर्ण संतोष प्राप्त हो। पुस्तक के सहारे ज्ञानार्जन करने वाले, दीक्षा से वर्जित शिष्य पर आने वाले दोषों का वर्णन सिद्धामत के प्रमाण से तन्त्रालोक (४,६६,२६-२३) में किया गया है। तन्त्रालोक (२२.४५-४६) में मतशास्त्र के प्रमाण से यह भी बताया गया है कि जैसे सुगन्ध का लोभी भ्रमर एक से दूसरे पुष्प पर जाकर पराग का संग्रह करता है, उसी तरह से विज्ञान का लोभी शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु के पास जा सकता है, किन्तु दूसरे गुरु के पास उसकी आज्ञा से ही जाय। वह पहले गुरु को कभी न छोड़े। प्रथम गुरु को छोड़ देने पर कोटिजाप भी निष्फल हो जाता है, ऐसा शास्त्रों में बताया गया है। तन्त्रालोककार (२२.४६-४७) का यह भी कहना है कि यदि किसी व्यक्ति के अनेक गुरु हैं, तो उनमें से उसी गुरु को श्रेष्ठ माना जायगा, जिससे श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त हुआ है, क्योंकि त्रिकशास्त्र में दीक्षा की अपेक्षा संवित्ति (ज्ञान) की श्रेष्ठता मानी गई है[१]।

भोग और मोक्ष

तन्त्रालोक (१५.१) में दीक्षा को ही भोग और मोक्ष का मुख्य साधन माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक स्थलों पर हुआ है। यहाँ दीक्षा का, दीक्षित व्यक्ति के अभिषेक का और अभिषिक्त व्यक्ति के ही गुरुत्व के साथ दीक्षा देने के अधिकार का वर्णन किया जा चुका है। अब भोग और मोक्ष के स्वरूप का शास्त्रोपदिष्ट परिचय दिया जा रहा है। सद्योज्योति शिवाचार्य ने भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका में इनका विस्तार से वर्णन किया है। अन्यत्र भी इनका विवरण मिलता है। इनमें से प्रथमत: यहाँ अपने साधनों के साथ भोग का स्वरूप बताया जा रहा है।

---

१. ''गुरूणां भूयसां मध्ये यतो विज्ञानमुत्तमम्। प्राप्तं सोऽस्य गुरुर्दीक्षा नात्र मुख्या हि संविदि।।'' (तन्त्रा. २२.४६-४७)।

भोग

"त्रिबन्धिचित्कलायोगभोगविश्लेशमोक्षदम्। सर्वकालकलार्थज्ञम्" (श्लो. १) भोगकारिका के इस मंगल-पद्य में भोग और मोक्ष के स्वरूप को सूचित किया गया है। मल, कर्म और माया नामक तीन बन्धनों (पाशों) से संवलित, सकल नामक चिदात्माओं के सूक्ष्म देह के आरम्भक, कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों से निर्मित, उन-उन भुवनों के अनुरूप शरीरों का मायीय अवयवों से संबन्ध बनने पर भोगों की निष्पत्ति होती है और इन भोगों से विरक्त व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति भी शिव के प्रसाद से ही होती है। तत्त्वसंग्रह (श्लो. ५०-५१) में भी यही विषय वर्णित है—भगवान् शिव गुरु की मूर्ति में अधिष्ठित होकर केवल परहित की कामना से मलशक्ति के कारण अवरुद्ध बल वाले, अत एव स्वतः असमर्थ पशुओं को भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। यहाँ बताया गया है कि रुरुसिद्धान्त(रौरवागम)संमत भोग-मोक्ष का यह विवेचन किया गया है।

शतरत्नसंग्रहधृत वचन में भोग के स्वरूप का और उसके कारण का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस अज्ञ पुरुष की सुख-दुःख की अनुभूति ही **भोग** कहलाती है और चेतन पुरुष अपने किये कर्मों के अनुसार ही इनको प्राप्त करता है। तदनुसार [1]भोग, वेदना, संवित्ति और अनुभव—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। पुरुष सुख-दुःख आदि के रूप में जो विविध अनुभव प्राप्त करता है, वही भोग है। यह भोग सुखवेदना, दुःखवेदना और मोहवेदना के रूप में तीन प्रकार का है। इस त्रिविध भोग-रूप वेदना को चैतन्य पुरुष कर्म के कारण प्राप्त करता है। कर्म के ही कारण स्थूलशरीर, शब्द आदि विषय और बुद्धि आदि करणों की उपलब्धि होती है। इन्हींकी सहायता से भोक्ता पुरुष भोगों के साधनों को ग्रहण करने में समर्थ होता है[१]। सर्वज्ञानोत्तर में बताया है कि कर्म के कारण ही विविध शरीरों की प्राप्ति होती है। तत्त्वसंग्रह (श्लो. १३) में भोग्य और भोग का स्वरूप बताया गया

---

१. मतंग विद्यापाद २६ वें पटल में भोग पदार्थ विस्तार से विवेचित है। भोगकारिका का भी प्रमुख विषय यही है। ई. प्र. वि. वि., भा. ३, (पृ. ३५९-३६९) में अद्वय दृष्टि से गोनास दृष्टान्त से भोग पदार्थ का विवेचन किया गया है।

२. तत्त्वप्रकाश की "पुरुषस्य भोगहेतोः" इस २४ वीं कारिका की टीका में कुमारदेव का कहना है कोई भी भोग भोगायतन पंचभूतात्मक शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय और भोग्य शब्द आदि विषयों के बिना संभव नहीं होता, अतः इन सबकी सृष्टि भोग के लिये ही होती है। इसी दृष्टि से पाँच महाभूतों, पंचतन्मात्राओं, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं त्रिविध अन्तःकरणों की भोगांगता का निरूपण भोगकारिका (श्लो. १३-७१) में विस्तार से किया गया है।

है कि सुखादिरूप विषयों में संसक्त बुद्धि ही **भोग्य** है। भोग्य वस्तुओं के साथ भोक्ता की तदाकार भासित हो रही चितिशक्ति **भोग** कहलाती है। भोगकारिका (श्लो. ७३) में भी भोग्य वस्तु की छाया से अनुरंजित भोक्ता की चितिशक्ति की अभिव्यक्ति को ही भोग बताया गया है। केवल भोग में आसक्त जीवात्मा माया से पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों, भूतों और आत्माओं की समष्टि से निर्मित इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ विविध भोगों का उपभोग करता है। यहाँ तत्त्व शब्द से उन-उन तत्त्वों में स्थित भुवनों का लक्षणा शक्ति से बोध किया जाता है। भूत शब्द से कला से लेकर क्षिति तत्त्व पर्यन्त स्थित भुवनों में उत्पन्न भोगसाधन और उन-उन भुवनों के योग्य शरीर गृहीत होते हैं। आत्म शब्द से आत्मा के साक्षात् उपकारक भाव और प्रत्ययों की सन्तति गृहीत होती है। इनमें धर्म आदि आठ भाव तथा सिद्धि आदि चार प्रत्यय के रूप में शास्त्रों में वर्णित हैं। यह सारा विषय तत्त्वसंग्रह की २४वीं कारिका में इस प्रकार निर्दिष्ट है—[1]पृथ्वी से लेकर कला पर्यन्त ३० तत्त्वों का समूह सूक्ष्मशरीर के रूप में प्रत्येक पुरुष के साथ अनादि काल से संयुक्त है। उसीके कारण नाना कर्मों से संयुक्त होकर नाना भुवनों में, विभिन्न शरीरों में यह घूमता रहता है। भोगकारिका (श्लो. १०५) में भी यही कहा गया है कि पृथ्वी से लेकर कला पर्यन्त तत्त्वसमूह से निर्मित सूक्ष्मशरीर भोगों के साधन के रूप में प्रत्येक आत्मा से जुड़ा हुआ है।

मलिन आत्मा में अधिकारावस्था में स्थित शिव के द्वारा प्रेरित अनन्त आदि के कारण भोग के लिये अभिमुखीकृत मल से आवृत होने से इस संसार में कर्म के संस्कार के अनुरूप भोग की लालसा उदित होती है। ईश्वर पद से यहाँ अनन्त गृहीत हैं क्योंकि माया का क्षोभक वही है। किरणागम (३.२७) में बताया गया है कि शुद्धाध्वा का कर्ता शिव और अशुद्धाध्वा का अनन्त है। उस अनन्त की इच्छा से क्षुब्ध माया-नामक जगत्कारण से उत्पन्न असाधारण सूक्ष्म देह रूप, साधारण भुवनादि रूप और साधारणासाधारण उन-उन भुवनों में उत्पन्न देह रूप साधनों से जिस भोग की अनुभूति की जाती है, उससे बुद्धि की वृत्ति का जो अनुरंजन होता है, उसीको **भोग** कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि सुख, दुःख, मोह का अनुभव करने वाली बुद्धि की वृत्ति के द्वारा आत्मचैतन्य का जो अनुरंजन होता है,

---

१. पृथिवी से लेकर कला पर्यन्त तत्त्वसमूह का वर्णन तत्त्वसंग्रह की २-२४ कारिकाओं में किया गया है। आगे षडध्वप्रकरण में तत्त्वाध्वा के विवेचन के समय इस पर विस्तार से विचार किया जायगा।

वही भोग कहलाता है। [1]सूक्ष्म देह को **आतिवाहिक** इस लिये कहते हैं कि यह जीवात्मा के संचित कर्मों के नाश के लिये एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता रहता है। उस सूक्ष्मशरीर में स्थित करण (इन्द्रिय-वर्ग) इसीसे प्रेरित होता है। अपनी अव्यापकता के कारण निराश्रय में चेष्टा की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः सूक्ष्म देह में स्थित तन्मात्राओं का आश्रय लेकर ही इन्द्रिय-वर्ग क्रियाशील होता है। अपि च, उस सूक्ष्म देह में करण-वर्ग पुरुषार्थ के संपादक कर्म की प्रेरणा से उसी पुरुष की भोग की सिद्धि के लिये एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण करता रहता है। यह आतिवाहिक देह योगी के प्रत्यक्ष का विषय है, भोगकारिका (श्लो. ७-८) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

मोक्ष

दीक्षारूपी अग्नि से जिस जीवात्मा का मल दग्ध हो जाता है, शिव की शक्ति के सम्पर्क से उसकी अपनी दृक्क्रिया शक्ति प्रकट हो जाती है, तब इसके बाद वह कभी निवृत्त नहीं होती, सदा बनी रहती है। जैसे पारद रस के सम्पर्क से ताम्र के सुवर्ण बन जाने पर वह पुनः ताम्र नहीं बनता, उसी तरह से आत्मा भी शिवभाव को प्राप्त कर लेने के बाद पुनः जीवभाव में निपतित नहीं होता। स्वच्छन्दतन्त्र में यही कहा गया है—रस और वह्नि के सम्पर्क के द्वारा कालिमा से युक्त ताम्र-धातु तत्त्वज्ञों के द्वारा विशोधित होकर सुवर्ण बन जाती है, फिर वह कभी अपने पुराने रूप में नहीं जाता; उसी तरह से तन्त्रशास्त्र में निपुण गुरु के द्वारा विशोधित जीवात्मा एक बार निर्मल हो जाने के उपरान्त पुनः मलिन नहीं होता, वह तो निर्मल शिवभाव को प्राप्त कर लेता है। स्वायम्भुवागम में भी यही बात इस तरह से कही गई है कि दीक्षा के सहारे क्रमशः केवलता (मोक्ष) को प्राप्त जीवात्मा अनादिकालीन मल के निवृत्त हो जाने के बाद भवान्तर को प्राप्त नहीं करता। इन वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुनः जन्मान्तर का न होना ही मोक्ष है। अवधूतसिद्ध का कहना है कि जैसे रसेन्द्र (पारद) के सम्पर्क से ताम्र धातु सुवर्ण का रूप धारण कर लेती है, उसी तरह से शैवमत में दीक्षित व्यक्ति पुनर्जन्म से मुक्ति पा जाता है। रौरवागम में प्रकारान्तर से यही विषय व्याख्यात है—"जैसे प्रदीप्त अग्नि में तूलराशि (रुई) को डाल देने पर वह उसको जलाकर स्वयं भी

---

१. सांख्यकारिका (श्लो. ४०) में महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पंचतन्मात्रा इन अठारह तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्मदेह का वर्णन मिलता है। शैवागम में इस आतिवाहिक देह की निर्मिति पृथ्वी से कला पर्यन्त तीस तत्त्वों से होती है। मृगेन्द्र (विद्या.१२.३२-३४) में इसका विवरण मिलता है।

शान्त हो जाती है, वह पुनः नया आकार नहीं ग्रहण करती, उसी तरह मण्डल में प्रविष्ट होकर दीक्षा और मन्त्र की प्राप्ति के बाद वह दीक्षित व्यक्ति [१]पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता। वर्तमान जीवन में प्राप्त इस अवस्था को शास्त्रों में **जीवन्मुक्ति** कहा गया है और मरणोपरान्त वह मनुजोत्तम मुक्तिलाभ करता है। अमलावस्थ जीव की ऊपर चर्चा हुई है। उसीका जीवन्मुक्त और मुक्त के नाम से शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

जीवन्मुक्त

निश्वासकारिका में जीवन्मुक्त का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस व्यक्ति के जाग्रत् अवस्था में भी सभी भाव सुषुप्ति दशा की तरह विलीन हो जाते हैं, समझ लेना चाहिये कि उसका ज्ञान पर्याप्त परिशुद्ध हो गया, उसने तीनों पदों पर विजय प्राप्त कर ली है। सर्वज्ञानोत्तर का भी यही कहना है कि जो व्यक्ति जाग्रदवस्था में अपनी समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर तुर्यावस्था में पहुँचा हुआ ईश्वर की भावना में लीन हो जाता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। देहपात के बाद वह संसार से मुक्त हो जाता है। एक अन्य वचन में भी यही बात कही गई—जो व्यक्ति उपकार से सन्तुष्ट और अपकार से दुःखी नहीं होता, जो सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखता है, वही [२]जीवन्मुक्त कहलाता है। "उपेक्षा भाव से, खेल-खेल में अथवा आदरपूर्वक जो तत्त्ववेत्ता जिस किसी व्यक्ति पर अपनी करुणा-दृष्टि डाल देता है, वह भी तत्क्षण मुक्त हो जाता है" श्रीकुल के इस वचन में, "ऐसा व्यक्ति स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, वह दूसरों को भी मुक्त कर देता है" निशाटन के इस वचन में और "वह मुक्त व्यक्ति सारी प्रजा को मुक्त करने में समर्थ है" कुलरत्नमाला के इस वचन में भी जीवन्मुक्त पुरुषश्रेष्ठ की महिमा बताई गई है।

---

१. यह स्थिति अपश्चिम जन्म के नाम से शास्त्रों में वर्णित है। शिवसूत्रविमर्शिनी में जल और हिम के दृष्टान्त से इसको स्पष्ट किया गया है। जैसे जल ही जम कर हिम हो जाता है, उसी तरह से शिवशक्तिस्वरूप जीवात्मा भी इसी दृष्टान्त के सहारे परम शाक्त ऊर्जा के स्फुरण के कारण जब आश्यान दशा में आ जाता है, तो फिर उसका जन्मान्तर नहीं होता। वह मुक्त हो जाता है। यहाँ **अपश्चिम** शब्द अपुनर्भव का पर्याय है। विशेष विवरण लुप्ता. उपो., पृ. १६७ की १ टिप्पणी में देखिये।

२. जीवन्मुक्त और जीवन्मुक्ति के लक्षण के विषय में लुप्ता. उपो., पृ. १६७ की दूसरी टिप्पणी में सूचित ग्रन्थ देखिये। लकुलीश पाशुपत मत में यह सिद्ध या युक्त के नाम से जाना जाता है (शै. बि., पृ. ५३)।

ऐसा जीवन्मुक्त व्यक्ति निश्वासकारिका[1] के अनुसार शिवरूपी सूर्य की शक्तिरूपी किरणों की सहायता से अपनी ज्ञानशक्ति के सामर्थ्य को जगा कर, सारे आवरणों से मुक्त होकर, समस्त शक्तियों से सम्पन्न भगवान् शिव का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। 'शक्त्यादि' यहाँ आदि पद से शिव की शक्ति से स्फुरित हो रहे चिदचिदात्मक समस्त जगत् का, भगवान् शिव के कृत्यपंचक का तथा इनकी सहायता से प्राप्य भोग और मोक्ष का भी ग्रहण होता है, अर्थात् जीवन्मुक्त जीव का इन सब पर अधिकार हो जाता है। शिव सामान्य बुद्धि का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि वह पाशातीत है। मोक्षकारिका में यही विषय इस तरह से वर्णित है—अन्त:करण की बुद्धि-नामक वृत्ति महेश्वर का साक्षात्कार करने में असमर्थ है, क्योंकि वह पाश में परिगणित है।

शिव का साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त शास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। इस विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है कि अंधेरे में किसी वस्तु को खोजने के लिये व्यक्ति उल्का (मसाल) को हाथ में लेकर जाता है और वस्तु के मिल जाने पर उसको छोड़ देता है, उसी तरह से ज्ञान की सहायता से ज्ञेय की उपलब्धि हो जाने पर फिर ज्ञान की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। निश्वासकारिका में भी बताया गया है कि जब [2]मन परतत्त्व का साक्षात्कार कर उसीमें लीन हो जाता है, तो उस जीवन्मुक्त दशा में अन्य समस्त बाह्य विज्ञान उसीमें विलीन हो जाता है।

---

१. यह श्लोक मोक्षकारिका में भी उपलब्ध है (श्लो. १११)। वहाँ (श्लो. १०१-१११) इस विषय पर विचार किया गया है कि सर्वेश्वर मानव बुद्धि का विषय होता है या नहीं? मतंग-योगपाद (६.६) में भी यही प्रश्न उठाया गया है।

२. "यदा मन: परे तत्त्वे" इस निश्वाससूत्र की व्याख्या के अवसर पर शतरत्नसंग्रहकार (पृ.८४) मन शब्द से चतुर्विध मन के बीच में स्वलीनावस्थ मन का ग्रहण करते हैं। बाद में स्वलीन, संश्लिष्ट, गतिरागति और विक्षिप्त नामक चतुर्विध मन का नि:श्वासकारिका के आधार पर ही स्वरूप बताते हैं। **स्वलीन** मन में मन, मन्तव्य और मन्ता की कोई स्थिति नहीं रह जाती। यह सुषुप्ति-अवस्था के समान विषयों से मुक्त होकर एकाकार हो जाता है। **संश्लिष्ट** मन विषयों का ग्रहण करते हुए स्वयं भी ज्ञेय बन जाता है। अपनी दुर्बलता के कारण जो मन अज्ञान से ज्ञान की ओर और पुन: अज्ञान की ओर दौड़ता रहता है, उसे **गतिरागति** कहा जाता है। सदा इन्द्रियार्थपरायण व्याकुल चित्त **विक्षिप्त** कहलाता है। इन में गुणातीत स्वलीन चित्त उत्तम, सात्त्विक संश्लिष्ट मन मध्यम, राजस गतिरागति अधम और चतुर्थ तामस विक्षिप्त मन अधमाधम कहलाता है। स्वलीन मन का सुख आत्मसाक्षिक माना गया है। शिवयोगी इसी को योग की श्रेष्ठ अवस्था मानते हैं। विज्ञानेन्दुकौमुदी का कहना है कि मन जहाँ विश्राम लेकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, इससे बढकर दूसरा शुभ क्षेत्र कौन सा हो सकता है? मन की महिमा मतंग (विद्या. २६.५१-५६) में भी बताई गई है।

ऐसी स्थिति में बाह्य शास्त्र की भी कोई स्थिति कहाँ रह जायगी। मन शब्द से यहाँ चतुर्विध मन में से स्वलीनावस्थ मन का ग्रहण किया जाता है।

स्पन्दकारिका (श्लो. ३०) में जीवन्मुक्त का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—यह सारा जगत् ईश्वर की लीलामात्र है, इस तरह की जिसकी संवित्ति सुदृढ़ हो गई है, ऐसा योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। तन्त्रालोक (१.४४) में भी यही कहा गया है कि बौद्ध ज्ञान की सहायता से जब बौद्ध अज्ञान का प्रभाव क्षीण हो जाता है, उस स्थिति में जीवन्मुक्ति तो हथेली पर रखी हुई मिल जाती है। निशाटन में भी वर्णित है कि विकल्पों के हट जाने से जिसका चित्त निर्मल हो गया है, भावों के परिशुद्ध हो जाने से वह व्यक्ति अपने में अव्यय शिवभाव के दर्शन करने लगता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी तरह से कालिकाक्रम के दो वचनों में भी प्रदर्शित है कि जो साधक सारे विश्व को परिशुद्ध, निरालम्ब, स्वप्रत्ययात्मक ज्ञान के रूप में देखता है, वह निःसन्देह जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। अच्छी-बुरी सभी बाह्य वृत्तियों को हटा कर, समस्त कल्पनाजाल को छोड़कर जो आन्तर पद में प्रतिष्ठित हो जाता है, अद्वैत भाव में प्रतिष्ठित होकर जो स्वात्माराम बन जाता है, काल का ग्रास बनने के लिये नित्य तत्पर रहता है, ऐसा कैवल्य-पदवी में प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा वाला योगी निर्वाण-पदवी को प्राप्त करता है। ई. प्र. वि. वि. में उद्धृत शिवसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मपद में स्थित कमल से निकल कर निर्मल शरीर को धारण करने वाला योगी सर्वत्र सदा विचरण करता रहता है। इन सभी अद्वैतवाद के प्रतिपादक शास्त्रवचनों में भी जीवन्मुक्त का स्वरूप निर्दिष्ट है।

ऐसे कृतकृत्य जीवन्मुक्त साधक के लिये नित्य, काम्य आदि कृत्यों की भी अपेक्षा नहीं रह जाती, देवीकालोत्तर के दो श्लोकों (१८,६२) में यह निरूपित है—यहाँ पूजा, नमस्कार, जप और ध्यान की भी अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञेय के नाम से जानने योग्य कोई भी वस्तु उसके लिये बची नहीं रहती। इसी तरह से उसके लिये ध्यान, जप, पूजा, होम जैसे साधनों की, अग्निकार्य के द्वारा दीक्षा का अधिकार प्राप्त करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्रभाकौलशास्त्र का भी कहना है कि जब तक उस परमशान्त पदवी को नहीं जान पाते, तभी तक पूजा, जप, ध्यान, होम, लिंगार्चन आदि की अपेक्षा रहती है। सर्वाकार, निरामय परमतत्त्व को जान लेने के उपरान्त पूजा, जप, होम, लिंग-परिग्रह आदि का कहाँ प्रयोजन रह जाता है। मालिनीविजय के अष्टादश पटल में शुद्धि और अशुद्धि की अपेक्षा न बताने वाले रहस्यशास्त्र के वचन उपलब्ध हैं। आनन्दभैरवशास्त्र में निर्दिष्ट है कि लौकिकाचार के प्रतिपादक वचनों का परित्याग कर केवल मुक्तिप्रद

मार्ग का अनुसरण करे। सभी देवताओं, वर्णाश्रम-धर्मों एवं सभी पदार्थों में समतादृष्टि वाला व्यक्ति सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यहाँ भी स्पष्ट ही बताया गया है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिये किसी कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं है। परमार्थसार (श्लो. ८३) में बताया गया है कि अपने प्रातिभ ज्ञान के स्फुरित हो जाने के बाद जीवन्मुक्त व्यक्ति की मृत्यु तीर्थ-स्थान में हो या चाण्डाल के घर में, उसकी स्मृति बची रहे या नष्ट हो जाय, सभी स्थितियों में वह भय-शोक आदि से मुक्त हो कैवल्य-पदवी को प्राप्त कर लेता है। निर्वाणयोगोत्तर में कहा गया है कि ऐसे शिवतत्त्व का साक्षात्कार कर चुके व्यक्ति की मृत्यु हिमालय में, गंगाद्वार में, वाराणसी में, कुरुक्षेत्र में अथवा प्रयाग में हो या चाण्डाल आदि के घर में, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, अर्थात् इनसे सद्गति अथवा असद्गति का कोई संबन्ध नहीं है। ऐसा कैसे होता है? इसका उत्तर भी परमार्थसार (श्लो. ८६) में ही दिया गया है— शास्त्रों में तीर्थसेवा पुण्य के अर्जन का तथा चाण्डाल आदि के घर में मृत्यु का होना निरय(नरक)प्राप्ति का हेतु माना जाता है, किन्तु जो जीवन्मुक्त पुरुष पुण्य और पाप रूपी पंक से ऊपर उठ गया है, उसके लिये पुण्य और पाप तक सीमित शास्त्रों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।

यह जीवन्मुक्त पुरुष अपनी पुरानी वासनाओं के आधार पर विषयों के ज्ञान से घिरा हुआ रहने पर भी शिव की शक्ति के प्रसाद से अपने स्वरूप-ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है। जैसा कि निश्वासकारिका में वर्णित है—अतितीव्र गति वाला पवन भी आकाश को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाता, उसी तरह से ज्ञेय परमतत्त्व में चित्त के स्थिर हो जाने पर वह भी विषयों से बाहर नहीं जा सकता। सामान्य देहधारियों का चित्त जैसे सदा विषयों की तरफ ही दौड़ता है, उसी तरह से जीवन्मुक्त का चित्त अतीन्द्रिय, निर्मल, आकारहीन पद की ओर आकृष्ट होता है। दूध के चुक जाने पर जैसे बछड़ा माता के स्तन से हट जाता है, उसी तरह से राग का क्षय हो जाने से जीवन्मुक्त का मन विषयों की तरफ से हट जाता है। "इस आत्मा का साक्षात्कार एक-वारगी हो जाता है" इस वचन के अनुसार गाय के दुहने जितने समय में अथवा छोड़े गये बाण के गिरने तक के समय में अथवा पलक झपकने जितने समय में एक बार भी परमपद का साक्षात्कार करने वाले जीवन्मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। निश्वासकारिका में वर्णित यह विषय निशाटनशास्त्र में भी मिलता है कि ऐसा मुक्त व्यक्ति अन्य प्राणियों को भी मुक्त करा सकता है। कुलरत्नमाला के वचन में भी बताया गया है कि गुरु दीक्षा देते समय मन्त्र के माध्यम से निर्विकल्प परमतत्त्व को जिस क्षण प्रकाशित कर देता है, उसी समय वह मुक्त हो जाता है। इसके बाद तो जीवात्मा की यन्त्र के समान स्थिति रहती है।

इस जीवन्मुक्तावस्था में [१]मल की स्थिति बनी रहती है, उसकी प्रतीति अनुमान प्रमाण से होती है, ऐसा किरणागम में बताया गया है—विष की शक्ति को जैसे मन्त्र की सहायता से निरुद्ध कर दिया जाता है, उस समय विष का नाश हो गया हो, ऐसी बात नहीं है; उसी तरह से जीवात्मा में मल की स्थिति रहती है। अर्थात् इस स्थिति में विष और मल प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। मल के क्षय के समान ही अनेक जन्मों के संचित कर्म का भी क्षय हो जाता है यही विषय "अनेकभविकं कर्म" (कि. वि. ६.१९)[२] इत्यादि श्लोक में प्रदर्शित है।

यहाँ एक शंका उठती है कि दीक्षा तो समस्त पाशों का नाश कर देती है। उस स्थिति में स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर तत्काल शरीर का पात हो जाना चाहिये। यही विषय "अशेषपाशविश्लेषः" (कि. वि. ६.१७) इससे ज्ञात होता है। इसका समाधान इस वचन में किया गया है—"घट के बन जाने के बाद भी जैसे कुलाल-चक्र घूमता रहता है, उसी तरह से पूर्वकृत कर्मों के संस्कार के कारण यह शरीर चलता रहता है" (कि. वि. ६.१८)। सुप्रभेदागम में भी प्रदर्शित है कि हींग के निकाल देने पर भी उस पात्र में उसकी गन्ध बनी रहती है, घट के बन जाने के बाद भी कुलाल का चक्र चलता रहता है, उसी तरह से दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति का शरीर भी कार्यरत रहता है। देवीमत में जीवन्मुक्त के देहावसान की स्थिति इस तरह से वर्णित है—घट के फूट जाने पर जैसे उसमें रखे दीपक का प्रकाश चारों तरफ फैल जाता है, उसी तरह से देह का पात हो जाने पर यह जीवात्मा सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। सुप्रभेदागम का भी कहना है कि घट में सुरक्षित दीप जैसे घट का नाश हो जाने पर प्रकाशित हो उठता है, उसी तरह घट के बाहर प्रकाशित हो रहे सूर्य के समान मुक्त जीव की भी स्थिति मानी गई है। अपने स्वरूप के ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही जीवन्मुक्त कहलाता है। देह का नाश होने से जीवात्मा की उसी तरह से परमतत्त्व के साथ संयुति हो जाती है, जैसी घट का नाश होने पर उसमें रखे दीपक की आकाश के साथ हो जाती है। त्रिशिरोमत में निर्दिष्ट है कि घट में स्थित आकाश के समान प्रधान-निर्मित शरीर में आत्मा की स्थिति मानी गई है। घट के नष्ट हो जाने पर जैसे आकाश नष्ट नहीं होता, उसी तरह से देह का पात हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो शिवस्वरूप है।

---

१. शतरत्नसंग्रह (पृ. ९०-९१) में अनेक विकल्पों की उद्भावना के साथ यह विषय निरूपित है। खेटपाल के अनुसार पाशों का कभी समूल नाश नहीं होता। अद्वैतमत के अनुसार मल का स्वरूप पहले (पृ. ३३३-३३४) बताया जा चुका है।

२. लुप्ता. उपो., पृ. १४८-१४९ की टिप्पणी में इसकी व्याख्या देखिये।

पौष्करागम का भी कहना है कि पशुभाव से संबन्ध रहने से जीवात्मा को पशु कहा जाता है। मुक्त पुरुष का पशुभाव नष्ट हो जाता है, अतः मुक्त पुरुष तो पति(शिव) भाव को प्राप्त कर लेता है।

मुक्त

शरीर का पात (मृत्यु) होने के साथ जीवन्मुक्त साधक मुक्त हो जाता है। यह अमलात्मा जीव मुक्त कहलाता है। निम्न वचन इसमें प्रमाण है—नाम-रहित, आलम्बन-रहित, इन्द्रिय आदि से अग्राह्य, प्रमाणों का अगोचर, निस्तत्त्व, अर्थात् परमशिव में योजित साधक मुक्त कहलाता है, ऐसा शास्त्रों का निश्चय है। शिवधर्मोत्तर में मुक्त का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—जगत् की वास्तविकता को जान लेने पर जीव का अज्ञान दूर हो जाता है, अज्ञान के हट जाने पर राग आदि दोष पैदा ही नहीं होते, इनका उपशम हो जाने पर जीवों के पुण्य-पाप क्षीण हो जाते हैं और इनके नष्ट हो जाने पर वह इसके बाद नये शरीर से संयुक्त नहीं होता। शरीर के न रहने से वह समस्त क्लेशों से दूर हो जाता है और यह क्लेशमुक्त साधक आनन्द में लीन हो जाता है। यही मुक्त[१] कहलाता है। जिसको स्वात्मस्वरूप की प्राप्ति हो गई है, इस तरह के जीव की स्थिति के विषय में स्वायम्भुवागम में बताया गया है कि भवोद्भव पद के ऊपर निष्कम्प ज्योति के समान स्थित इस कृतकृत्य जीव में मुक्तिदशा में शिवभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। भव का अर्थ संसार है, इसमें जिसका उद्भव होता है, जो जन्म लेता है, उसे भवोद्भव कहते हैं। अथवा भव का अर्थ सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल जीवों का पद और उद्भव का अर्थ अनन्त आदि का पद है। इन भव और उद्भव से जो अतीत है, वही भवोद्भव-पदातीत कहलाता है। अथवा अपर मोक्ष के छः पद माने गये हैं—भवोद्भव, शान्त्यतीत, शान्ति, नाद, ऐश और विद्या। इनमें से सबसे ऊपर के षष्ठ भवोद्भव पद के भी ऊपर मुक्त की स्थिति मानी जाती है, अतः उसे भवोद्भव-पदातीत कहा जाता है। शिवतत्त्वविलास में ये इस प्रकार परिगणित

---

१. परमशिव अनादि-सिद्ध है, मुक्तात्माओं को यह पद शिव के प्रसाद से मिलता है, अतः इन दोनों में भिन्नता है। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ६) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है। मुक्तात्माओं और विद्येश्वरों में भी यद्यपि शिवत्व विद्यमान है, तो भी ये सब परमेश्वर के अधीन हैं, अतः इनमें स्वतन्त्रता नहीं मानी जाती, यह सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ६६) में बताया गया है। मतंग (यो. ५.६२) में यह स्पष्ट कहा गया है कि सदाशिव के समान हो जाने पर भी मुक्त जीव कारणेश्वर नहीं बन सकते।

हैं—[1]पहला भवोद्भव पद, बाद में शान्त्यतीत और शान्ति तत्त्व और नाद एवं ऐश तत्त्व तथा विद्या तत्त्व—इस तरह से ये छः क्रमशः मुक्तों के पद माने गये हैं। यह क्रम विद्या से लेकर भवोद्भव पर्यन्त चलता है। अन्त में मुक्त भवोद्भव पद से भी ऊपर शिव पद में प्रतिष्ठित हो जाता है।

मुक्ति (मोक्ष)

यह अमलावस्थ मुक्त जीव शरीर के पतन के बाद [2]मुक्ति को प्राप्त करता है। द्वैतदर्शन में शिवभाव का सादृश्य प्राप्त कर लेना ही मुक्ति कहलाती है, अद्वैतदर्शन के अनुसार शिवैक्यभाव यहाँ मान्य नहीं है और न इन्द्र आदि की पदवी की प्राप्ति के लिये कहीं जाना ही पड़ता है। निम्न श्लोक में यही बात कही गई है—जीवात्मा पशुभाव को छोड़कर जब पतिभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो इस स्थिति में उसे कहीं जाना नहीं पड़ता। जिसकी सदा सर्वत्र व्याप्ति है, उसके कहीं जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। स्वायम्भुवागम में भी बताया गया है कि संसार के कारणीभूत मलरूपी बीजों के नष्ट हो जाने पर शिवभाव की अभिव्यक्ति ही **गति** मानी गई है। इस स्थिति में उसे किसी दूसरे देश में जाना नहीं पड़ता।

मुक्तिदशा में मुक्त जीव में भोक्तृत्व आदि की स्थिति का निषेध स्वायम्भुवागम में किया गया है—संसार दशा में भोगों के भोक्ता मुक्त जीव के शिवधाम में पहुँचने पर उसमें भोक्तृता, अधिकारिता और पति के समान पंचकृत्यकारिता नहीं रहती। यहाँ शिवधामार्पित का अर्थ है जिस जीव में शिवसमता की अभिव्यक्ति हो चुकी है, उस पशुदशा के भोगों के भोक्ता पुरुष में कभी भी सकल पशु में देखी गई भोग की अभिलाषा बची नहीं रहती। इसी तरह से प्रलयाकल में परिदृष्ट अधिकारिता, अर्थात् माया के गर्भ से निकली सृष्टि पर नियन्त्रण करने की अभिलाषा भी नहीं रहती। पतिकृत्यानुकारिता, अर्थात् पति की इच्छा के अनुसार सम्पन्न होने वाली पंचकृत्यकारिता भी, जो सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल नामक त्रिविध पशुओं में समान रूप से विद्यमान है, मुक्त जीव में नहीं रहती, अर्थात् इस मुक्त जीव के प्रति शिव का पंचकृत्यव्यापार समाप्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि मुक्त जीव अब स्वतन्त्र हो गया है, अतः अब उसको

---

१. इन सप्तविध पदों से मतंग वर्णित सप्तविध मोक्ष की तुलना की जा सकती है। ये मुक्ति के ही सात पद हैं।

२. मृगेन्द्र (विद्या. ५.६-७) में तीन प्रकार की साधिकार मुक्ति बताई गई है और वृत्तिकार ने यहाँ सूक्ष्मस्वायम्भुव के वचन को उद्धृत किया है।

किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती। सर्वज्ञानोत्तर में यही विषय वर्णित है—यह मुक्त जीव शिव के समान ही शाश्वत है, शुद्ध है। यह सृष्टि के सभी धर्मों से मुक्त हो गया है। यह सच है, सच है और पुनः सच है, इस तरह से मैं तीन बार सत्य की शपथ लेता हूँ। इससे बढ़कर जानने योग्य अन्य कोई वस्तु उसके लिये बची नहीं रहती।

यह मुक्त जीव शिवसायुज्य-स्वरूप मुक्ति को प्राप्त करता है, ऐसा रौरवागम का कहना है। सुप्रभेद का भी कहना है कि शिव में संयोजित रूप सायुज्य कहलाता है। यहाँ सायुज्य शब्द शिव के सादृश्य का बोधक है, तादात्म्य आदि का नहीं। किसी अभियुक्त के वचन में बताया गया है कि यहाँ (तन्त्रशास्त्र में) आत्मा के नाश को अपवर्ग नहीं माना गया है, पशु और शिव की एकता, अविद्या के चंगुल से छुटकारा, गुणों का विलय, पाषाणसदृश दुःखध्वंश रूप मुक्ति भी यहाँ मान्य नहीं है, किन्तु त्रिविध मल के हट जाने पर जो बोधानन्दमय स्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, उसे ही यहाँ सायुज्य कहा जाता है। इस स्थिति में मुक्त जीव में शिव के समान विभुता प्रकट हो जाती है। देवीकालोत्तर में मुक्ति दशा में मुक्त जीव के विज्ञान को मन की सभी अवस्थाओं से अतीत माना गया है। शैव मत के अनुसार यह मुक्ति एक ही जन्म में मिल सकती है। शिवधर्म में बताया गया है कि यहाँ एक ही जन्म में अनायास मुक्ति मिल सकती है, यह सिद्धान्त मान्य है। शिवधर्मोत्तर में भी कहा गया है कि शैव मत में एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त मान्य है, इसकी आप पहले परीक्षा कर लें। आपने तो अनेक जन्मों के उपरान्त मुक्ति की बात मानी है, उससे आपको कौन रोकता है। अवधूत-सिद्ध के भक्तिस्तोत्र (श्लो. ३०) में भी एकभविक मुक्ति का सिद्धान्त स्वीकृत है। विभिन्न शास्त्रों में कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग, मोक्ष आदि पदों से इसका वर्णन मिलता है। शैव शास्त्रों में प्रधानतः इसके लिये मोक्ष पद का प्रयोग होता है। आगे अपने साधनों के साथ इसीका विवेचन किया जा रहा है।

मुक्ति (मोक्ष) के साधन

मोक्षकारिका[१] (श्लो.४४-४५) में अपने साधनों के साथ मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—मल आदि पंचविध पाशों का विच्छेद और ज्ञान एवं क्रिया

१. मोक्ष की प्राप्ति यदि पाश से नहीं हो सकती, तो पाश में परिगणित शास्त्र से शिवज्ञान कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान मोक्षकारिका (श्लो. ११२-११७) में किया गया है। "नवशब्दान् परित्यज्य दशमो मोक्षदायकः" इस वचन में शब्द की मोक्षसाधनता मानी गई है। शिवदृष्टि में कालपादा के प्रमाण से पाशात्मक एवं उससे भिन्न इस प्रकार

शक्ति की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति ही मोक्ष कहलाती है। शम्भु के प्रसाद से इसकी प्राप्ति होती है, प्रभु की शक्ति इसमें सहायता करती है और पशुस्वरूप आत्मा पाशों से मुक्त होकर इसे प्राप्त करता है। दीक्षोत्तर में बताया गया है कि शिव के प्रसाद से ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है। पौष्करागम का भी कहना है कि पुरुष अपनी सामर्थ्य से कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त अकल्याणों को दूर करने वाले शिव का प्रसाद ही एकमात्र इसका उपाय है। स्वायम्भुवागम में कहा गया है कि पाशों के ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती और पशु का ज्ञान भी इसको देने में असमर्थ है। मुक्ति की प्राप्ति तो पूरी तरह से पतिज्ञान से ही हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति पतिज्ञान से ही होती है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मोक्षकारिका (श्लो. ४६-७२) में विस्तार से मिलता है। यहाँ मोक्षविषयक प्रसंग को उठाते हुए अन्त में कहा गया है कि भगवान् शिव शक्तिरूपी शूल की सहायता से अणु जीवात्मा के पाशजाल का भेदन कर उसकी ज्ञान और क्रिया शक्ति को सर्वात्मना प्रकाशित कर देते हैं।

भगवान् शिव सभी प्राणियों को स्वयं ही साक्षात् मोक्ष प्रदान करते हैं अथवा अवान्तर अधिकारी पुरुषों की भी भूमिका इसमें मानी गई है? इस प्रश्न का समाधान भी मोक्षकारिका (श्लो. ७३-९५) में ही दिया गया है—भगवान् शिव अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों, सप्तकोटि महामन्त्रों, शतरुद्रों एवं मण्डलाधिपतियों को साक्षात् ज्ञान और अधिकार प्रदान करते हैं और बाद में ये ही अधिकारी पुरुष अन्य जीवों को मोक्ष के लिये प्रेरित करते हैं। इस तरह से ये बीते हुए और आने वाले सर्गों में जीवात्माओं को मुक्त करा चुके हैं और मुक्त करायेंगे।

मोक्षावस्था में सिद्धान्तशैवों के अनुसार सर्वज्ञता आदि छः गुणों की अभिव्यक्ति के कारण परमेश्वर से समानता प्राप्त होती है। इस मत में समुत्पत्ति, संक्रान्ति और आवेश से शिवसमता की प्राप्ति का निषेध किया गया है। परमोक्षनिरासकारिका (श्लो. ७) में इन चारों पक्षों की चर्चा कर बुद्धि एवं वाणी के अगोचर अभिव्यक्ति पक्ष की श्रेष्ठता स्थापित की है। केवल शैव मत के

द्विविध शब्द बताया गया है। मतंग (विद्या. ४.५९) के अनुसार ईश्वर ही मोक्षदान में समर्थ है, स्वयं पुरुष के प्रयत्न से यह कभी नहीं मिल सकता। मतंग (विद्या. २६.६३) में ही बताया गया है कि ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या से अलग-अलग अथवा सामूहिक रूप में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। कर्मों की भी मोक्षसाधनता का निरूपण पांचरात्र प्रकरण में किया गया है। मोक्ष-विषयक परपक्ष का निरास परमोक्षनिरासकारिका और मृगेन्द्र-विद्यापाद के द्वितीय पटल में किया गया है।

अनुयायियों के ही नहीं, अन्य दार्शनिकों के भी मोक्षविषयक विचारों की यहाँ समीक्षा की गई है। वृत्तिकार रामकण्ठ ने सांख्य-योग, वेदान्त, पांचरात्र, पाशुपत एवं उनके विभिन्न सम्प्रदायों में निर्दिष्ट मोक्षविषयक सिद्धान्तों की चर्चा करने वाले रौरवागम के कुछ वचनों को उद्धृत करते हुए उनकी समीक्षा की है। ये सभी पक्ष मोक्षकारिका (श्लो. ११८-१४२) में भी चर्चित हैं। विस्तार के भय से उनको यहाँ नहीं दिखाया जा रहा है।

मोक्ष के भेद

वैष्णवागम और पुराण आदि में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक जिस चतुर्विध मोक्ष का वर्णन मिलता है, उसकी चर्चा सुप्रभेदागम में भी मिलती है। यहाँ चर्या, क्रिया, योग और विद्या तत्त्व के क्रम से आनुपूर्वी के अनुसार शिवसालोक्य-शिवसामीप्य-शिवसारूप्य-शिवसायुज्य प्रदता प्रतिपादित है। शिवज्ञानबोधसंग्रह में बताया गया है कि भगवान् शिव ने चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान पाद का क्रमशः उपदेश किया है। यह चतुर्विध मार्ग सालोक्य आदि चतुर्विध मोक्ष का प्रदायक है। सायुज्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि शिव में नियोजित चित्त ही सायुज्य कहलाता है। इस मत में शिवसायुज्य की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा गया है।

शतरत्नसंग्रह में उद्धृत मतंगपारमेश्वरागम में सात प्रकार के मोक्ष की चर्चा मिलती है। वहाँ प्रथमतः मोक्ष के पर और अपर नामक दो भेद बताये गये हैं। इनमें अपर मोक्ष के छः प्रकार हैं और पर मोक्ष सातवाँ है। मतंगपारमेश्वरागम अब पूरा प्रकाशित हो चुका है। वहाँ योगपाद[1] (५.६३-६९) में इनका विवरण देखा जा सकता है। सप्तविध मोक्ष की चर्चा शिवतत्त्वविलास के प्रमाण से अभी (पृ. १४७) की जा चुकी है।

मृगेन्द्रागम और उसकी वृत्ति (वि. २.९) में तो भोग और मोक्ष दोनों के ही पर और अपर नामक द्विविध भेद बता कर उनके अवान्तर अनेक भेदों की चर्चा की गई है। वृत्तिकार नारायणकण्ठ का यहाँ कहना है कि पर और अपर के भेद से विभक्त भुक्ति और मुक्ति के बाद में अनेक विभाग हो जाते हैं। इनमें कालाग्निभुवन से लेकर कला तत्त्व तक के समस्त भुवनों के विविध ऐश्वर्यों का आधिपत्य परा मुक्ति और इनमें निवास अपरा मुक्ति कहलाती है। इस तरह से पारमेश्वर-साम्य परा

---

१. मतंगपारमेश्वरागम अब सम्पूर्ण मुद्रित होगया है। उसके द्वितीय भाग में मुद्रित योगपाद (५.६३-६९) में यह विषय देखा जा सकता है। उस अंश की मतंगवृत्ति उपलब्ध नहीं है।

मुक्ति और मन्त्र-मन्त्रेश्वर के रूप में स्थिति अपरा मुक्ति कहलाती है। नारायणकण्ठ ने इनके विविध भेदों की सूचना दी है (पृ. ६०)।

अद्वयदृष्टि से भोग और मोक्ष

सिद्धान्तशैव मत के अनुसार ऊपर भोग और मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। [1]कुल, कौल, क्रम, त्रिक आदि मतों का अनुसरण करने वाले अद्वैतवादी दार्शनिक भोग और मोक्ष की भिन्न प्रकार की व्याख्या करते हैं। इन सब मतों के अनुयायी अशेषकुलवल्लरी के इस वचन के अनुसार—"जहाँ भोग का वर्णन किया जाता है, वहाँ मोक्ष की चर्चा नहीं मिलती और जहाँ मोक्ष की चर्चा मिलती है, वहां भोग का वर्णन नहीं किया जाता, किन्तु शिवा (शक्ति) के चरण-कमलों की उपासना में लगे साधकों के लिये भोग और मोक्ष दोनों सुलभ हैं"। इन मतों के अनुयायी अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार स्वात्मदेवता का भजन करते समय भोग और मोक्ष के विरोध को समाप्त कर देते हैं। ब्रह्मयामल में कहा गया है कि सुरा शिव का बाह्य स्वरूप है। इसके बिना भोग और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसकी निष्पत्ति पिष्ट, क्षौद्र और गुड के मिश्रण से होती है। विषयपंचिका में मुक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि मधुर सरस वीणा, वेणु (बाँसुरी), गीत, वाद्य आदि की ध्वनि को सुनने से एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। इनकी ध्वनियों के अनुरणन के साथ बाह्य अनुभवों पर विराम लग जाने से विशुद्ध बोध का जब उदय होता है, तो सारे संसार का वैभव उसके सामने तुच्छ हो जाता है। इसी स्थिति को यहाँ मुक्ति माना गया है। प्रबोध-पंचदशिका में भी भोग और मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि उस स्वतन्त्र भोक्त्री शक्ति का भोग्य पदार्थ के साथ जब एकीकार हो जाता है, तो इसी स्थिति को भोग और मोक्ष दोनों शब्दों से कहा जा सकता है।

सर्वज्ञभैरव के अनुसार मोक्ष के लिये किसी अन्य स्थान में जाना नहीं पड़ता, अज्ञान रूपी ग्रन्थि का भेदन ही तो मोक्ष है। धातुसमीक्षा का कथन है कि अविद्या से आवृत जीव बद्ध कहलाता है और अविद्या के क्षय के साथ वह मुक्त हो जाता है। स्वात्मसंबोध में भी मोक्ष का स्वरूप यही बताया गया है कि अज्ञानरूपी पंक के हट जाने पर जीवात्मा उचित समय पर कैवल्य प्राप्त कर लेता है। वीरयामल का कहना है कि तत्त्व तो प्रमाणातीत एवं शून्यसदृश है। इस स्थिति में

---

१. कुल, कौल, क्रम, मत सम्प्रदाय की पद्धति से बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को जानने के लिये लुप्ता. उपो., पृ. १७३, टि. २ में निर्दिष्ट स्थलों को देखिये।

किसकी [1]उत्क्रान्ति होगी और वह कहाँ जायगा? परमतत्त्व तो सर्वत्र विद्यमान है, ऐसी स्थिति में बताओ, वह कहाँ जायगा? ऊर्मिकौलशास्त्र में उत्क्रान्ति पक्ष को तमोमयी भ्रान्ति माना गया है। वीरावलीशास्त्र का कहना है कि मोक्ष के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। अज्ञानरूपी ग्रन्थि के कट जाने पर संवित् शक्ति का जो विकास होता है, उसीको मोक्षपदवी कहते हैं। परमार्थसार का वचन भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है—मोक्ष नाम का कोई धाम (दिव्य देश) नहीं है और न इसके लिये कहीं अन्यत्र जाना ही पड़ता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि का भेदन हो जाने पर अपनी शक्ति का विकास ही तो मोक्ष है (श्लो. ६०)।

अद्वयोल्लास के अनुसार भगवान् के सिवाय अन्य किसी की स्थिति नहीं है। इस तरह की निर्विकल्पक स्थिति का सातत्य ही मोक्ष माना गया है। योगसंचर का मोक्ष सर्वज्ञता का प्रकाशनमात्र है। संविदुल्लास में स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की शास्त्र और स्वस्वभाव में प्रतिष्ठा ही मोक्ष कहा गया है। सर्वविध शंका का निरास ही रात्रिकुल के अनुसार मोक्ष है। स्वस्वभावसंबोधन के अनुसार वीरजन बन्धन, बन्धनकर्ता और बध्य—इन तीनों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं मानते। अपने द्वारा कल्पित विकल्पों से ही इस संसार के प्राणी रात-दिन बन्धन में जकड़े रहते हैं। आत्मसप्तति के अनुसार वास्तव में जब बन्धन की ही कोई स्थिति नहीं है, तो उसके अभाव में उससे मुक्त होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? "जिन कारणों से सामान्य जन का पतन होता है, उन्हींकी सहायता से ज्ञानी का ऊर्ध्वारोहण होता है तथा अज्ञानी जन जिनके कारण पतन की ओर बढ़ते हैं, उन्हींकी सहायता से ज्ञानी जन मुक्त हो जाते हैं" कुलयुक्ति के इस वचन के अनुसार भोग और मोक्ष की अद्वयदर्शन की पद्धति से हम सम्यक् व्याख्या कर सकते हैं। तान्त्रिक संस्कृति का विवेचन करते समय हम इस विषय पर विशेष विचार करेंगे।

इस तरह से यहाँ सिद्धान्तशैव मत की द्वैतवादी तथा क्रम, कुल, त्रिक आदि मतों की अद्वयवादी दृष्टि से भोग और मोक्ष का स्वरूप विवेचित किया गया है। अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि क्रियात्मिका दीक्षा मोक्ष की प्राप्ति में कैसे सहायक हो सकती है? इसके लिये षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया का परिचय अपेक्षित है। उसीको आगे विस्तार से दिखाया जा रहा है।

---

१. "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (२.३.१९) इस ब्रह्मसूत्र में उत्क्रान्ति पक्ष का समर्थन किया गया है। शैवागम इसको स्वीकार नहीं करते। तन्त्रालोक (१४.३२-४५) में इसकी समालोचना देखी जा सकती है।

षडध्व-विवेचन

सिद्धान्तहृदय में तत्त्व, भुवन, कला, वर्ण, पद और मन्त्र नामक छ: अध्वाओं के नाम बताकर कहा है कि इन्हीं छ: अध्वाओं के कारण बद्ध पुरुष संसार में परिभ्रमण करता रहता है। वहीं [1]अध्वपंचक को पाश की संज्ञा दी गई है। [2]स्वायम्भुवागम में बताया गया है कि तत्त्वाध्वा, पदाध्वा, वर्णाध्वा, भुवनाध्वा, मन्त्राध्वा और कलाध्वा—ये सभी अध्वा एक मात्र परशिव में प्रविष्ट हो जाते हैं। [3]स्वच्छन्दतन्त्र में अध्व पद की निरुक्ति बताते हुए कहा गया है कि मुक्त जीवों को उनमें शिवता की अभिव्यक्ति का मार्ग यह विश्व ही दिखाता है और यह विश्व षडध्व-समुदायात्मक ही है। इस तरह कला आदि का उपयोग शिवभाव की अभिव्यक्ति के मार्ग के रूप में होने से ये सभी अध्वा कहलाते हैं। ये सब जीव के बन्धन में सहायक होते हैं। इन षडध्वाओं की व्याख्या पर्यन्तपंचाशिका, विरूपाक्षपंचाशिका, चिद्गगनचन्द्रिका, सौभाग्यहृदय, स्वच्छन्दतन्त्र, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से महार्थमंजरीकार (पृ. ६८-७१) महेश्वरानन्द ने की है। हमने भी विज्ञानभैरव-व्याख्यान (पृ. ६५-६९), तन्त्रयात्रा (पृ. १४-३४) आदि में उक्त ग्रन्थों और शिवपुराण एवं शैव-वैष्णव आदि आगमों के प्रमाण से इनके स्वरूप की स्पष्ट जानकारी देने का प्रयत्न किया है। इनमें वर्ण, पद और मन्त्र नामक तीन अध्वा शब्दात्मक तथा कला, तत्त्व और भुवन नामक तीन अध्वा अर्थात्मक माने गये हैं। तन्त्रालोक (६-१२ आ.) और तन्त्रसार (पृ. ४५-११३) में अभिनवगुप्त ने देशाध्वा और कालाध्वा नामक द्विविध विभाग के रूप में इनका विस्तार से परिचय दिया है। उसीको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कालाध्वा और देशाध्वा

तन्त्रा. (६.२१-२२) में प्रथमत: बताया गया है कि यह समस्त अध्वा प्रथमत: प्राण में प्रतिष्ठित है। क्रिया और मूर्ति के रूप में यह द्विधा विभक्त हो जाता है। यहाँ क्रिया से कालाध्वा का और मूर्ति से देशाध्वा का ग्रहण किया जाता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२.१.५) का कथन है कि भगवान् शिव मूर्तिवैचित्र्य के आधार पर देश-क्रम और क्रियावैचित्र्य से काल-क्रम को आभासित करते हैं। तन्त्रा.

---

१. अध्वपंचक अथवा अर्थपंचक (श्लो. ५) की व्याख्या करते समय तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव ने नाना ग्रन्थों के प्रमाण से षडध्व का विवेचन किया है।

२. स्वायम्भुवागम में निर्दिष्ट परशिव में षडध्व के विलय का प्रकार मृगेन्द्रागम क्रियापाद (पृ. १७९) में देखा जा सकता है।

३. स्वच्छन्द का यह वचन महार्थमंजरीपरिमल (पृ. ७०) में स्मृत है।

(६.३४-३५) में इस कारिका की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस मार्ग से क्रिया भासित होती है, उसे कालाध्वा कहते हैं। वर्ण, मन्त्र, और पद नामक तीन अध्वा इसमें समाविष्ट हैं। जिस मार्ग से मूर्ति भासित होती है, उसे देशाध्वा कहते हैं। इसमें कला, तत्त्व, और भुवन नामक तीन अध्वा परिगणित हैं। वहीं (तन्त्रा. ६.३६) इन द्विविध त्रिकों को स्थूल, सूक्ष्म और पर रूप माना गया है। इस तरह से षड्विध अध्वा का स्वरूप प्रदर्शित कर वहीं (६.२९-३०) अध्व पद की निरुक्ति भी बताई गई है। भगवान् शिव की संवित् नाम की शक्ति अमूर्त है, सर्वत्र विद्यमान रहने से यह निष्क्रिय भी है। इसीकी सहायता से शिव मूर्ति एवं क्रिया का आभासन कराते हैं और इसी मार्ग का सहारा लेकर वे जीव को प्राप्तव्य स्थल तक पहुंचाते हैं। अतः यह अध्वा के नाम से प्रसिद्ध है। पदों का निर्माण मन्त्रों से और मन्त्रों का वर्णों से होता है। वर्ण स्वयंप्रसूत हैं। इस तरह से [१]पद, मन्त्र और वर्णों की स्थूल-सूक्ष्म-परता मानी गई है। इसी पद्धति से स्वच्छन्दतन्त्र (४.९५-९७) में भुवन, तत्त्व और कलाओं की स्थूल-सूक्ष्म-परता का निर्देश कर निवृत्ति आदि का कला में परिगणन किया गया है। सर्वप्रथम यहाँ कालाध्वा का स्वरूप बताया जा रहा है।

(क) कालाध्वा

यहाँ कालाध्वा की स्थिति स्पष्ट रूप से प्राण में मानी गई है। यह काल कालतत्त्व के रूप में स्थित काल से भिन्न है। तन्त्रालोक (६.३८-३९) में बताया गया है कि यह काल भगवान् शिव की विश्व का आभासन कराने वाली क्रियाशक्ति है। [२]समस्त संसार की स्थिति अन्तिम रूप में इसीमें विद्यमान है। इसीलिये आगे विस्तार से प्राण, अपान आदि पाँच प्राणों में काल की स्थिति का वर्णन करते हुए यहाँ (६.२१६) कहा गया है कि इस प्राणचार में वर्ण, पद और मन्त्र का उदय होता रहता है। यत्नज और अयत्नज के रूप में यह प्राणचार स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से त्रिविध माना गया है। आगे छठे और सातवें आह्निक में वर्ण, मन्त्र और पदों के उदय की प्रक्रिया भेद-उपभेद के साथ बताई गई है। क्रमशः इनका वर्णन करते हुए यहाँ प्रथमतः वर्णाध्वा का स्वरूप बताया जा रहा है।

---

१. सिद्धान्तशैवागम में मन्त्र, पद, वर्ण—यह इनकी स्थूलता, सूक्ष्मता और परता का क्रम है।

२. कालाध्वा के विवेचक तन्त्रालोक के इस श्लोक की व्याख्या अभिनवगुप्त ने स्वयं अगले ३९-४५ श्लोकों में की है। कालाध्वा के पर, परापर, अपर नामक त्रिविध भेदों का स्वरूप स्वच्छन्द (४.३२९) में विवेचित है। वहाँ काल के सौर और आध्यात्मिक नामक भेद भी वर्णित हैं (७.२)।

१. वर्णाध्वा

तन्त्रालोक (६.२१७-२१८) में ही प्रथमतः सभी वर्णों की जहाँ अविभक्त रूप में स्थिति है, उस नादात्मक वर्ण को कभी अस्त न होने वाला अनाहत नाद बता कर उसीको भैरवसद्भाव, मातृसद्भाव, परा एकाक्षरा देवी कहा गया है और बताया गया है कि इसीमें सारा चराचर विश्व विलीन हो जाता है। इस तरह से पर वर्ण के स्वरूप को बताकर तीन ह्रस्व वर्णों की (६.२१९) तथा हृदय में प्राण रूप में स्थित जीवनात्मक सकार की; बिन्दु, प्रकाश और हकार की पूरणात्मक स्थिति मानते हुए पर वर्णोदय की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है (६.२२३)। हंसपारमेश्वर में शिव को हकार और अव्यय शक्ति को सकार बताया गया है। इसी अवस्था में प्रकाशात्मक स्वात्मस्वरूप की विश्रान्ति बताते हुए तन्त्रालोक (३.२०३-२०४) में कहा गया है कि अनुत्तर अकार शिव और विसर्गात्मक शक्ति के अद्वय-स्वरूप परामर्श में विभु की 'अहं' के रूप में स्थिति मानी गई। वहीं (६.२३८) हृदय में अकार की और द्वादशान्त में [1]हकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रकाशात्मक अद्वय 'अहं' तत्त्व यहीं विश्राम करता है। अजडप्रमातृसिद्धि (श्लो. २२) के अनुसार प्रकाशात्मक आत्मतत्त्व की विश्रान्ति को ही अहंभाव बताकर कहा गया है कि प्रकाशात्मक आत्मतत्त्व ही अहंतत्त्व है।

आगे (६.२२६-२२८) सूक्ष्म [2]वर्णोदय की प्रक्रिया को बताकर अभिनवगुप्त कहते हैं कि मतंगशास्त्र की टीका में हमारे गुरु का कहना है कि एकाशीति पदों की अर्धमात्राओं का यहाँ परिगणन किया गया है, जिसकी सहायता से भगवान् ने एकाशीति पद[3] वाले मन्त्र का उपदेश किया है। मतंगशास्त्र में इसे एकाशीति पदा

---

१. अकार और हकार का स्वरूप तन्त्रालोक तृतीयाह्निक (पृ. ७५-८३, ११५, २१०) में निर्दिष्ट है। इनके अनिच्छत्व और अनच्कत्व स्वरूप की भी वहाँ (पृ. १६७-१६९, २०७-२१०) विवेचना की गई है। कुलगह्वर, नवशतीशास्त्र आदि के प्रमाण से इनका विशद तथा संक्षिप्त स्वरूप आगे बताया जा रहा है।

२. सूक्ष्म वर्णोदय-प्रक्रिया के दिवारात्रि-क्रम के अन्तर्गत त्रैयम्बक-सन्तान गुरुपक्ष और श्रीसन्तान गुरुपक्ष का विवेचन तन्त्रालोक (६.८८-८९) में मिलता है। वर्णोदय-क्रम का संकेतपद्धति, तन्त्रसद्भाव, तन्त्रालोक (६.२२६-२५१) आदि ग्रन्थों की सहायता से अलग से विस्तार से विवेचन किया जायगा।

३. तन्त्रालोक (३.१९७) में अभिनवगुप्त एकाशीति (८१) पदों का वर्णों में ही अन्तर्भाव करते हैं। "एकाशीतिपदा देवी" (विद्या. ७.३१) मतंग में भी वर्णित है, किन्तु वहाँ क्रियापाद (१.५८-११७) में व्योमव्यापी आदि ८१ पदों का ही विवरण मिलता है और इस संस्करण के उपोद्घात (पृ. ८३-९१) में नाना आगमों के प्रमाण से इनका विवेचन किया गया है। अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि ने पद प्रकरण की जो व्याख्या की है, उसमें आगमों का संवाद अपेक्षित है।

देवी कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए जयरथ कहते हैं कि कादि तैंतीस वर्णों की ३३ अर्धमात्रा, ह्रस्व स्वरों की दस, दीर्घ स्वरों की ३२ और प्लुत वर्ण की ६, इस तरह से मिलाकर ८१ अर्धमात्राएँ बनती हैं। ....इस परा मन्त्र-माता में ८१ मात्राओं की स्थिति रहने से, ८१ संख्या के पदों से बनने से, इसको एकाशीतिपदक मन्त्र कहते हैं। तन्त्रालोक (६.२२९-२३०) में पुनः कहा गया है कि एक परामर्श की अनुस्यूति जहाँ तक चलती है, उसे यहाँ (इस शास्त्र में) पद कहा जाता है। यह पद सुप् तिङ् आदि के नियमों से नियन्त्रित नहीं है। ऐसा कह कर अभिनवगुप्त सिद्धान्तशैवागम में स्वीकृत ८१ संख्या के पदों की ओर संकेत करते हैं। इसके आगे (६.२३४-२३६) क्षकार की व्याख्या करके तदुपरान्त वर्णों की पचास संख्या को पूरा किया गया है। स्थूल वर्णोदय की प्रक्रिया को बताते समय भी (६.२४१-२४९) वर्गाष्टक और वर्गनवक के द्विविध पक्षों को दिखाकर पचास और उंचास वर्णों की संख्या को मानने वाले पक्षों को दिखाकर उन्होंने इस प्रकरण का उपसंहार किया है।

सहज चक्रोदयाह्निक में वे बीज, पिण्ड, पद और माला मन्त्रों एवं विद्याओं के उदय-क्रम को दिखाते हैं। यहाँ (७.३७-३८) भी ८१ पदों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि इस एकाशीतिपदा शक्ति का परामर्श करने से सारा [१]विकल्प-व्यापार भी शिवभाव की प्राप्ति में सहायक होता है। यहाँ भी एकाशीति (८१) पदों की चर्चा है, किन्तु वर्णों से जैसे मन्त्रों की निष्पत्ति होती है, उसी तरह से मन्त्रों से पदों की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी प्रक्रिया यहाँ देखने को नहीं मिलती। इसके विपरीत सूक्ष्म वर्णोदय के प्रकरण (६.२२६-२२७) में उन्होंने एकाशीतिपद मन्त्र की चर्चा कर तथा इसमें मतंगशास्त्र को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर पदों की ही मन्त्रजनकता का स्पष्ट उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में वर्ण और मन्त्र के बाद पदाध्वा का जो क्रम यहाँ बताया गया है, उसके कारण की खोज अभी हमें करनी होगी। हम तो आगे सिद्धान्तशैवशास्त्र की पद्धति से वर्णाध्वा का विवेचन करने के बाद पदाध्वा का ही स्वरूप बतायेंगे। इससे पहले अन्यत्र विवेचित वर्णाध्वा का स्वरूप दिखाया जा रहा है।

संकेतपद्धति जैसे अनेक ग्रन्थों के प्रमाण से नि. षो. के उपो. (पृ. ६२-६९) में मातृका के स्वरूप पर विचार किया गया है। प्रकाशविमर्शात्मक अकार और

१. दर्शनशास्त्र में विकल्प शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इस पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जायगा।

हकार के स्वरूप की भी चर्चा हो चुकी है। अब यहाँ अनुत्तर तत्त्व की व्याख्या करते हुए वर्णों के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

अनुत्तर तत्त्व

"अनुत्तरनाथ (अकार) के रश्मिचक्र के प्रति मैं सदा नमन करता हूँ। अनाहत, हत और उत्तीर्ण स्थितियों में वर्तमान, चितिशक्ति की विचित्र स्थितियों को दिखाने वाला, विभिन्न वर्णों[1] (वीरों) के संघट्टन के लिये उद्युक्त यह राव संविद् देवी का ही स्वरूप है" इस इचन में [2]अनुत्तरनाथ की स्तुति की गई है। भर्गशिखा के वचन में इस अनुत्तरनाथ को सत्, असत्, सदसत् और न सदसत्—इन चारों कोटियों से अतीत किसी अबूझ स्थिति में पहुँचा हुआ तत्त्व बताया गया है। परात्रीशिका की व्याख्या में इस अनुत्तर तत्त्व की विस्तार से अनेक प्रकार की व्याख्या की गई हैं। तन्त्रा. (३.२०४-२०५) के अनुसार इस अनुत्तर तत्त्व से ही अकारादि हकारान्त वर्णों की और इस सारे विश्व की उत्पत्ति बताई गई है और कहा गया है कि इस अनुत्तर तत्त्व में सब कुछ लीन हो जाता है। "यह परम शुद्ध ब्रह्म अकार का स्वरूप धारण करता है", इस आगम-वचन में वही बात कही गई है। विज्ञानभैरव में भी विसर्ग के साथ विद्यमान अकार वर्ण से सारे जगत् की उत्पत्ति बताई गई है। यह भी कहा गया है कि बिन्दुरहित और विसर्गसहित अकार का जप करने से सहसा परमेश्वर की ज्ञानशक्ति का प्रकाश चारों तरफ फैल जाता है। अद्वयसम्पत्तिवार्त्तिक में आद्य वर्ण (अनुत्तर) अकार को शिव का ही स्वरूप बताया गया है। वहाँ इसीकी शब्दब्रह्म के रूप में स्तुति की गई है। कालपरासंहिता में बताया गया है कि परम श्रेष्ठ अक्षर-रूपी वृक्ष से, विविध धातुरूपी शक्तियों की सहायता से विवर्तभाव को प्राप्त हुई शक्तियाँ ही वर्णों का रूप धारण कर वक्ता के मुख से स्फुट रूप में प्रस्फुटित होती हैं। मातृकाहृदय में भी ककारादि क्षकारान्त वर्णों को भगवान् शिव का ही स्वरूप बताया गया है।

---

१. वीर शब्द का प्रयोग यहाँ वर्ण के लिये किया गया है। म.म.प. (पृ. ६८) का कहना है कि नाना प्रकार से विश्ववैचित्र्य को प्रेरित करने वाले भगवान् शब्दराशि भट्टारक को ही यहाँ **वीर** कहा गया है। यो. हृ. दी. (पृ.७६) के अनुसार इदन्ता को अहन्ता में विलीन कर देने वाले वीर हैं। यहाँ यह व्युत्पत्ति परापंचाशिका के "अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः" (श्लो.५०) इस श्लोक के आधार पर दी गई है। बौद्ध तन्त्रों में भी यह शब्द प्रयुक्त है।

२. अनुत्तर पद के अर्थ और अनुत्तर तत्त्व के स्वरूप को जानने के लिये शैवदर्शनबिन्दु (पृ. १५०-१६१) देखिये। इसके लिये लुप्ता. उपो., पृ. १७८ की टिप्पणी में अन्य स्थलों का भी निर्देश किया गया है।

इस अनुत्तर अकार से ही समस्त वर्णों की उत्पत्ति होती है। इसकी प्रक्रिया तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में विस्तार से और तन्त्रसार में संक्षेप में दिखाई गई है।

विसर्ग त्रैध

तन्त्रालोक (३.२१५-२१९) में तत्त्वरक्षाविधान के प्रमाण से विसर्ग की चित्तविश्रान्ति, चित्तसंबोध और चित्तप्रलय स्वरूप त्रिविधता का विवरण दिया गया है। तन्त्रालोक में ही अन्यत्र (२९.१४०-१४२) भी इस विषय की चर्चा आई है। वहाँ विसर्ग के संघट्ट, प्रोदित और शान्त नामक तीन भेद बताये गये हैं। इसको विसर्ग इसलिये कहा जाता है कि इससे विचित्र सर्ग की सृष्टि होती है और इसीमें वह विलीन भी हो जाता है। तत्त्वरक्षाविधान, गमशास्त्र और त्रिशिरोमत में इसका विवेचन किया गया है। शक्ति कुण्डस्वरूप, शिव लिंगस्वरूप और इनका मेलन परमपद मय है। कुण्ड एवं लिंग के मेलक से सृष्टि और संहार होते रहते हैं। गमशास्त्र में यह विसर्ग त्रिविध माना गया है। इस तरह से वहाँ भी त्रिविध विसर्ग वर्णित है। यहाँ निगम और गम एक ही ग्रन्थ है। त्रिकहृदय में बताया गया है कि परमेश्वर अपनी शक्ति में सदा विसर्ग-व्यापार में निरत रहते हैं। वे सदा अनुग्रहशील रहते हैं और बिना किसी व्यवधान के निरन्तर सृष्टि और संहार करते रहते हैं। आनन्द शक्ति में विश्राम ले रहे अनुत्तर तत्त्व की चर्चा करते समय तन्त्रालोक (१.२४२) और उसकी विवेक-व्याख्या में सिद्धातन्त्र और मालिनीमत के प्रमाण से इस विसर्ग की व्याख्या की गई है। सिद्धातन्त्र में बताया गया है कि यह विसर्ग जहाँ विश्राम लेता है, वही गुरुवक्त्र है, वही शक्तिचक्र है। सभी मन्त्रों की उत्पत्ति का यही उत्तम स्थान है। तन्त्रालोक (३.१९५-१९६) में भी बताया गया है कि यह अनुत्तर तत्त्व अपने सीमातीत स्वाच्छन्द्य के आधार पर विसर्ग शक्ति से सम्पन्न हो विश्वमय बन जाता है।

काम, विष और निरंजन तत्त्व

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३.१४२-१४३) में विसर्ग की आश्यान दशा को ही हंस, प्राण, व्यंजन और स्पर्श बता कर कहा है कि यहाँ अनुत्तर परमधाम ही अकुल कहलाता है और विसर्ग उस अनुत्तरनाथ की कौलिकी शक्ति है। विसर्ग की आश्यान दशा ही हकार है। ऐसा बताने के बाद यहाँ (३.१४६) कहा गया है कि कुलगह्वर में यह अव्यक्त ह-कलात्मक विसर्ग ही कामतत्त्व कहलाता है। इस तरह से विसर्ग और हकार को कामतत्त्व बताने के बाद कुलगह्वर के प्रमाण से वहीं (३.१६९) काक की चंचु के समान आकार वाले, ध्यान और धारणा से वर्जित, अनच्क विषतत्त्व को प्रस्तुत किया है। यह अनच्क विषतत्त्व सकार के रूप में

स्थित है। जयरथ ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया है कि "अव्यक्त, अर्थात् नाद रूप में स्थित होने से जिसमें वर्ण-विभाग अभी स्पष्ट नहीं हुआ है, इस तरह की यह ह-कला, अर्थात् हकार का अर्धार्ध भाग ही विसर्ग कहलाता है। ...काम इच्छा को कहते हैं। यह विसर्ग ही काम का तत्त्व है, सर्वत्र अप्रतिहत स्वभाव वाला पूर्ण रूप है" (पृ. १४७-१४८)। इस तरह की व्याख्या करने के उपरान्त जयरथ नाद के स्वरूप के बोधक वचनों को उद्धृत करते हुए विसर्ग के स्थूल रूप हकार को कामतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

अभिनवगुप्त (३.१६५-१६७) विषतत्त्वात्मक सकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसीलिये इस सकार में यह सारा विश्व स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है। इसीको योगीजन अमृतात्मक परमधाम मानते हैं। क्षोभ दशा की आदि और अन्तिम अवस्था में इसी परमपद का आस्वाद सीत्कार सुख की उपस्थिति के रूप में समावेश समाधि में मिलता है। इसीको अविभक्त ब्रह्म की परम स्थिति माना जाता है। परात्रीशिका (श्लो. १०) में भी परा बीज का उद्धार करते समय सकार को ब्रह्मस्वरूप बताया है। इस तृतीय ब्रह्म सकार का वर्णन भगवद्गीता (१७.२३) में भी ॐ तत् और सत्—इन त्रिविध बीजों के रूप में ब्रह्म की त्रिविध सत्ता बताई गई है।

कुलगुह्वर में वर्णित काम और विष तत्त्व की अभिन्नता को स्पष्ट करते हुए तन्त्रालोक (३.१७०) में बताया गया है कि कामतत्त्व की पूर्णता संघट्ट दशा में स्पष्ट होती है और विषतत्त्व की स्पष्टता आणव आदि मलों से आवृत जीव की चेतनता के आच्छादन में। यहाँ जयरथ ने कामतत्त्व को प्राणरूप और विषतत्त्व को अपान-स्वरूप बता कर इनकी हकार-सकारात्मकता को स्पष्ट किया है (पृ. १६८-१६९)। कुलगुह्वर के दो वचनों को उद्धृत कर वे तन्त्रालोककार के मत को सहारा देते हैं। प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या करते हुए जयरथ कहते हैं—"काम और विष तत्त्व के रूप में इनकी परस्पर विशेषता रहने पर भी प्राणन रूप धर्म की दोनों में स्थिति रहने से इनकी एकता ही मानी गई है। इसीलिये कामतत्त्व को ही विषतत्त्व मान कर इनकी अभिन्नता को ही भगवत्स्वरूप माना गया है। अतः कामतत्त्व की पूर्णता को स्वात्मस्वरूप की विश्रान्ति से अभिन्न माना गया है। यही पारमार्थिक स्वरूप परस्पर सामरस्यात्मक संक्षोभ के अवसर पर सभी प्राणियों के अनुभव का विषय बनता है। विषतत्त्व का स्वरूप भी अणु, अर्थात् परिमित देह आदि को अपना स्वरूप मानने वाले जीव की स्वाभाविक ज्ञानक्रियात्मक शक्ति को आवृत कर, परिमित प्रमाता के रूप में स्थित आवरण के हट जाने पर, यह वेद्य है, यह वेदक है, इस तरह के विभाग के हट जाने पर पूर्ण स्वात्मस्वरूप प्रकट हो जाता

है। तब सत्य एवं अमृतमय विकास दशा को प्राप्त तत्त्व का साक्षात्कार होता है। यही प्रस्तुत प्रकरण का जयरथ की दृष्टि से तात्पर्य है (पृ. १६९-१७०)।

इस प्रकरण में अभिनवगुप्त ने काम और विष तत्त्व के अतिरिक्त निरंजन[१] तत्त्व का स्वरूप भी बताया है। वे कहते हैं—परमधाम (प्रकाश) ही निरंजन है, तत्त्वातीत है, उसका सांजन (साकार) स्वरूप ही तत्त्व के रूप में भासित होता है। इन तीन तत्त्वों में इच्छाशक्ति को काम, ज्ञानशक्ति को विष तथा क्रियाशक्ति को निरंजन माना गया है। इन तीनों स्वरूपों में समाविष्ट शिव ही भैरव कहलाते हैं'' (३.१७१-१७३)। स्पष्ट है कि यहां इच्छा आदि शक्तित्रय की विष आदि त्रितत्त्व-रूपता और इनकी समष्टि की भैरव-रूपता प्रतिपादित है। टीकाकार ने कुलगुह्वर के प्रमाण से इस प्रकरण की फलश्रुति भी दी है।

स्पन्दप्रदीपिका में स्मृत भोगमोक्षप्रदीपिका नामक ग्रन्थ में सूर्य-सोमात्मक, प्राण-अपान को ही काम और विष तथा प्राणापान की प्रशान्ति को ही निरंजन तत्त्व माना है। प्राणापान का उपशम हो जाने पर स्पन्दतत्त्व का उदय होता है। तभी सहज मन्त्रोदय की स्थिति आती है। यहाँ उद्धृत बौधायनसंहिता आदि के वचनों में मन्त्रोदय की स्पष्ट व्याख्या मिलती है। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द (पृ. १३८,२६२) ने कामराज, शक्ति और वाग्भव बीजों की काम, विष और मोक्ष तत्त्व के रूप में व्याख्या की है। अर्धरत्नावलीकार विद्यानन्द (पृ. १३९,२३१,२४६) ने उत्तरषट्क, मतोत्तर जैसे ग्रन्थों की सहायता से कामतत्त्व को शिव और शक्ति का समरस रूप माना है।

इस तरह से शास्त्रों में काम और विष तत्त्व की अनेक तरह की व्याख्याएँ मिलती हैं, तो भी योगशास्त्र के ग्रन्थों में हकार-सकार की प्राणापानरूपता को प्रधान रूप से मान्यता मिली है। "सहौ क्षपादिनामानौ", "प्राण एव शिखा", "आत्मा त्वादित्यहंसः", "शशिभास्करसंयोगात्"—कुलगुह्वर, त्रिशिरोमत, देवीसंस्थानागम, वीरावलीशास्त्र के इन सब वचनों में तथा तन्त्रालोक के भी अनेक स्थलों पर इनकी विशद व्याख्या मिलती है। तन्त्रराजभट्टारक में हंस, शून्य, प्राण जैसे शब्द हकार के पर्यायवाची माने गये हैं। हमने विज्ञानभैरव के भाषा-भाष्य में "व्रजेत् प्राणः" (श्लो. १५१) इस श्लोक की व्याख्या करते समय तथा उसी ग्रन्थ के उपोद्घात (पृ. २७-३०) में इन शब्दों पर विशद विचार किया है।

---

१. तन्त्रालोक में "निरञ्जनमिदं प्रोक्तम्" (३.१०५) यहाँ औकार को निरंजन कहा गया है और "भवेद् योगी निरञ्जनः" (३.१०८) यहाँ उसके ज्ञाता को। "बिन्दुनादात्मकैर्देहैः" त्रिकसार के इस वचन में बिन्दुनादात्मक शरीर से अतीत परमशिव को निरंजन तत्त्व माना गया है।

एकार

"अनुत्तर (अकार) और आनन्द (आकार) शक्ति को इच्छाशक्ति (इकार) के साथ संयोजित करने पर त्रिकोण (एकार) की निष्पत्ति होती है। यह त्रिकोण विसर्ग-रूपी आमोद का ही विलास है। इस तरह से तन्त्रालोक (३.९४-९५) में एकार की निष्पत्ति का प्रकार बताया गया है। अन्यत्र त्रिकोण, एकादश (स्वर), वह्निगृह, योनि, शृंगाट—इन सबको एकार का पर्याय बताया गया है। नि. षो. (४.१२) में शृंगाट के नाम से कुटिलाकारा कुण्डलिनी शक्ति वर्णित है। तन्त्रालोक के प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या करते हुए जयरथ जिन वचनों को उद्धृत करते हैं, उनके अनुसार त्रिकोण को ही भग कहा गया है। यह आकाश स्थित गुह्यमण्डल है, इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक तीन शक्तियाँ इसके कोण हैं और इसके बीच में चिञ्चिणी शक्ति का निवास है। एकार की सी आकृति वाला, मध्य में [1]षट्कार से भूषित यह स्थान सर्वविध सुखों का खजाना और बोध (ज्ञान) रूपी रत्नों की पिटारी है। इस तरह से इन सब वचनों में एकार का ही स्वरूप प्रदर्शित है।

बिन्दु

अभिनवगुप्त वर्णान्तर्गत बिन्दु के स्वरूप पर भी विशेष प्रकाश डालते हैं। तन्त्रालोक (३.११०-११४) में वे कहते हैं—यहाँ अनुत्तर शक्ति अपने स्वरूप को प्रकट करते समय ज्ञेय कला के कालुष्य के कारण संकुचित होकर बिन्दु का रूप ग्रहण कर लेती है। क्रियाशक्ति का उदय होते समय सोम, सूर्य और अग्नि का प्रकाश जब अविभक्त रूप में रहता है, तो उसे ही बिन्दु कहा जाता है। तत्त्व-रक्षाविधान में परमेश्वर ने कहा है कि हृदय-कमल स्थित मण्डल में तत्त्वत्रितयात्मक, नरशक्तिशिवात्मक विमल प्रकाश ही पुंजीभूत रूप में बिन्दु कहलाता है। सभी प्राणियों के हृदय में स्पन्दित हो रहा नादात्मक शब्द ही ऊपर और नीचे बिन्दु के रूप से ठहरा रहता है। इस तरह से बिन्दु के स्वरूप को बताते समय सोम-सूर्य-अग्नि रूप धामत्रय, प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृ रूप त्रिपुटी का भी निरूपण कर प्रकरण का उपसंहार करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—धामत्रय की जो प्रकाशमात्र-रूपता है, उसे ही शिवशास्त्र में बिन्दु कहा गया है। यही [2]शिवबिन्दु भी कहलाता है। मकार से बनने वाले बिन्दु से इसकी सत्ता भिन्न प्रकार की है (३.१३३-१३४)। आगे वहीं (तन्त्रा.३.३२२-३२३) बिन्दु के पांच प्रकारों का वर्णन किया गया है कि ककार से सकार पर्यन्त विसर्ग की सृष्टि में बिन्दु की पंचधा स्थिति मानी

---

१. बौद्ध तन्त्रों में "वंकारभूषितम्" यह पाठ मिलता है।

२. "वर्णस्य सविसर्गस्य" (श्लो. ८९) विज्ञानभैरव के इस श्लोक की व्याख्या में शिवोपाध्याय ने भी इस विषय की चर्चा की है।

गई—बाहर, भीतर, हृदय में, नाद में और परमपद में। इस बिन्दु की शरीर में हृदय से मस्तक पर्यन्त व्याप्ति मानी गई है। जयरथ ने सिद्धयोगीश्वरीमत को उद्धृत करते हुए पंचविध बिन्दु का स्वरूप इस प्रकार से बताया है—पहला बिन्दु बाह्यात्मा और दूसरा अन्तरात्मा है। तीसरा हृदयात्मा और चौथा नादात्मा है। पंचम बिन्दु परमात्मस्वरूप है। इस पंचविध बिन्दु की स्थिति हृदय, कण्ठ, ललाट, नासान्त और द्वादशान्त में मानी गई है। इसीलिये शास्त्रों में बिन्दु को व्यापक कहा गया है (पृ. २१०)।

वर्णाध्वा के प्रकरण को समाप्त करते हुए तन्त्रालोककार (३.२३२) कहते हैं कि इसीको शब्दराशि अथवा मातृका भी कहा जाता है। क्षोभ्य और क्षोभक का, स्वर और व्यंजन का जब परस्पर मिलन हो जाता है, तो इसी स्थिति को मालिनी कहा जाता है। नादि-फान्ता मालिनी का स्वरूप अन्यत्र बताया गया है।

२. पदाध्वा

तन्त्रालोक (३.१९७) में एकाशीतिपदा देवी का वर्णों में अन्तर्भाव बताया गया है। वहीं (६.२२६-२२७) भगवान् के इस एकाशीतिपद वाले स्वरूप को वर्णों की ८१ अर्धमात्राओं के रूप में विवेचित किया गया है, इस विषय की चर्चा[१] अभी हो चुकी है। तन्त्रालोक में ही अन्यत्र (११.४७) त्रिकशास्त्र के अनुसार मन्त्रों और पदों को अभिन्न-स्वरूप माना गया है। इसके विपरीत अभिनवगुप्त के द्वारा उद्धृत मतंग आदि सिद्धान्तशैवागमों में प्रणव[२], व्योमव्यापी आदि ८१ पदों की अलग से गणना की गई है। साथ ही वर्णों से पदों की और पदों से मन्त्रों की उत्पत्ति मानी गई है। कुमारदेव ने तत्त्वप्रकाश के "अध्वपञ्चकं पाशः" (श्लो. ५) इस श्लोक के पाठान्तर की व्याख्या करते हुए गुरुदेवपद्धति के प्रमाण से षडध्वों का विस्तृत परिचय दिया है। इस ग्रन्थ के तृतीय भाग (पृ. १४९-१७०) में षडध्वनिर्णय नाम का १७वाँ पटल है। यहाँ की सामग्री को कुमारदेव ने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। ८१ पदों की नामावली यहाँ नहीं मिलती। वह द्वितीय भाग में स्थित मन्त्रपाद (पृ. १७२-१७४) में दी गई है। कुमार ने यह नामावली किसी दूसरे ग्रन्थ से ली है। उन उन आगमों के दीक्षा प्रकरण में [३]षडध्वशुद्धि के प्रसंग में इन ८१ पदों के नाम गिनाये गये हैं। इन सब स्थलों के

---

१. ऊपर की पृ. ३८९ की ३री टिप्पणी देखिये।

२. एकाशीति पदों का अर्थ रौरव (भा.१, पृ. १८६) में देखिये।

३. सात्वत आदि पांचरात्र संहिताओं में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य नामक चार पद इस प्रसंग में विवेचित हैं। वैष्णवाधिकार (पृ. १२२) देखिये।

अनुशीलन के उपरान्त ही इनका स्पष्ट [१]परिचय दिया जा सकता है। सिद्धान्त-सारावलि के परिशिष्ट (पृ. ३७९-३८३) में ८१ पदों के अतिरिक्त ९४ पदों की नामावली भी दी गई है। उसे वहीं देखना चाहिये।

३. मन्त्राध्वा

मन्त्रों के स्वरूप पर हमने अन्यत्र पर्याप्त विचार किया है। कुछ नये विषयों पर यहाँ विचार किया जा रहा है। शास्त्रों में और संकेतपद्धति जैसे ग्रन्थों में मन्त्र पद की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि मन्त्र मनन करने वाले व्यक्ति की रक्षा करते हैं। शिवसूत्र (३.१) में चित्त के रूप में मन्त्र का आध्यात्मिक स्वरूप बताया गया है। इसी पद्धति से क्रमकेलि के और भूतिराज के वचन में संविद्देवी को ही मन्त्र बताया गया है। स्तोत्रभट्टारक में मन्त्र को चिदग्नि का संहारक स्वरूप माना गया है। इस मन्त्र की किरणें संवित् के विकल्पात्मक स्वरूपों का नाश कर देती हैं। इसी तरह से राजराजभट्टारक में मन्त्र को वर्णात्मक, दस भुजा वाला और पाँच मुखों वाला न मानकर संकल्प की पूर्वकोटि में उल्लसित होने वाले नाद को ही मन्त्र कहा गया है। नयसंगति में नाद को ही श्रेष्ठ मन्त्र माना गया है। महार्थमंजरी-परिमल (पृ. ९३) में पदार्थ के उदय के साथ अहमात्मक परामर्श को ही मन्त्र कहा है। गमशास्त्र के अनुसार महासंवित् के स्वरूप में समाविष्ट विमर्श-स्वभाव देवता ही मन्त्र है। मतंगशास्त्र की टीका में मन्त्रों को प्रमाता की भूमिका में प्रविष्ट, अर्थात् जप्य और जापक की एकता को ही मन्त्र माना गया है। संविदुल्लास में मन्त्र की महिमा को गाते हुए बताया गया है कि मन्त्र की शक्ति से जापक के चित्त में महान् शक्ति (देवता) जग उठती है। जयाख्यसंहिता का कहना है कि साक्षात् जगन्नाथ ही मन्त्रमय शरीर को धारण कर संसार-सागर में निमग्न जीवों का उद्धार करते हैं। रौरवागम में मन्त्रों को अग्निस्वरूप माना गया है और कहा गया है कि इनके स्वरूप की मीमांसा एक कठिन कार्य है। तन्त्रसद्भाव में तथा सर्ववीरशास्त्र में मन्त्रों को वर्णात्मक माना गया है। संकर्षणसूत्र में बताया गया है कि बाहर अथवा भीतर मन्त्रों का उच्चारण वर्णों के रूप में ही होता है। हंसपारमेश्वर का कहना है कि पशुभाव में स्थित मन्त्र स्थूल वर्णों तक ही सीमित हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप में सुषुम्ना पदवी में भावित ये मन्त्र शिवभाव को प्राप्त कर लेते हैं। स्पष्ट है कि इन सभी शास्त्रों में मन्त्र की अपार महिमा गाई गई है।

---

१. सिद्धान्तशैवागम के प्रसिद्ध विद्वान् श्री एन. आर. भट्ट ने मतंगपारमेश्वर के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ. ८३-९१) में नाना आगमों के प्रमाण से इस विषय का विवेचन किया है। एकाशीति पदों का एक दूसरा प्रस्तार स्वच्छन्दतन्त्र (५.१७-३५) में देखा जा सकता है।

तन्त्रालोक के चक्रोदय नामक सातवें आह्निक में मन्त्र के स्वरूप का विवेचन करते समय बताया गया है—"मन्त्र के बीज, पिण्ड आदि सभी भेद-प्रभेद संविद्देवी के स्पन्दनमात्र हैं। संविद्देवी का यह स्पन्दनव्यापार ही परा संवित् के स्वरूप का दर्शन कराने में समर्थ है। जप्य और जापक की एकता का अनुसन्धान हो जाने पर इसी की सामर्थ्य से साधक को दिनरात मन्त्रोदय की स्थिति का ज्ञान बना रहता है। इस अवस्था में मन्त्रदेवता प्रयत्नपूर्वक साधक में अभिन्न रूप से स्थित हो जाती है। मन्त्रदेवता के प्रसाद से साधक देवतामय हो जाता है" (७.२-५)। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने योगिनीकौल, सिद्धामत, विंशतिकत्रिक, स्वच्छन्दतन्त्र, मालिनीतन्त्र जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से मन्त्रोदय एवं चक्रोदय की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए विंशतिकत्रिक (७.५६) के प्रमाण से कहा है कि मन्त्रोदय, चक्रोदय और विद्याचक्रोदय की प्रक्रिया को जानने वाला व्यक्ति शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर लेता है। स्पष्ट है कि इन सब प्रक्रियाओं से मन्त्रों को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया जा सकता है।

मन्त्रवीर्य

यह मन्त्रवीर्य क्या है? संवित्स्तोत्र में इसके विषय में बताया गया है कि मन्त्र में स्थित आदि और अन्तिम वर्णों के रूप में समस्त वर्णसमुदाय का अहमात्मक स्वरूप में ज्ञान ही मन्त्रवीर्य है, अर्थात् मन्त्रदेवता के साथ अपनी अद्वयस्थिति का बोध ही मन्त्रवीर्य है। त्रिकसार में इसी पद्धति से मन्त्रवीर्य की व्याख्या की गई है—ग्राह्य और ग्राहक के रूप में मन्त्रार्थ की अभिन्नता का बोध ही मन्त्र की शक्ति के रूप में निरन्तर भासित होता रहता है। इस मन्त्रवीर्य के प्रबुद्ध हो जाने पर त्रिकसार की पद्धति से मन्त्र अपने अधिपतियों के साथ साधक के किंकर बन जाते हैं, वैहायसी संहिता के अनुसार उत्कृष्ट साधक को आहुति आदि क्रियाओं का बिना सहारा लिये ही अपने स्वरूप का साक्षात्कार करा देते हैं, अर्थात् ये मन्त्र साधक के वश में हो जाते हैं। इसीलिये सिद्धयोगीश्वरीमत के अनुसार मन्त्रवीर्य की रक्षा करना अति आवश्यक माना गया है। मन्त्रवीर्य की रक्षा के लिये ही ज्ञानोत्तर में बताया गया है कि रहस्यमय मन्त्र का प्रकाशन अयोग्य व्यक्ति के सामने कभी नहीं करना चाहिये और सिद्धामत के अनुसार विद्वान् साधक को प्रयत्नपूर्वक अपने मन्त्र की रक्षा करनी चाहिये। तन्त्रालोक (२३.३२-३९) में वीर्य और बल से सम्पन्न इस तरह के मन्त्रों को देव्यायामल के प्रमाण से महामन्त्र कहा गया है। मन्त्रवीर्य के प्रबुद्ध हो जाने पर श्रीकण्ठीसंहिता के अनुसार मन्त्र और मन्त्री की पृथक् स्थिति समाप्त हो जाती है, अर्थात् साधक और मन्त्र का भेद समाप्त हो जाता है, योगिनीहृदय की पद्धति से गुरु, देवता, मन्त्र और आत्मा (साधक) में ऐक्यभाव प्रकाशित हो उठता है।

सिद्धयोगीश्वरीमत, श्रीकण्ठीसंहिता आदि में बताया गया है कि आदिम और अन्त्य वर्णों से रहित मन्त्र सिद्धिदायक नहीं हो सकते। इसी तरह से सिद्धामत के प्रमाण से तन्त्रालोक (२६.२२-२४) में पुस्तक में पढ़े गये मन्त्रों को भी निष्फल कहा गया है। गुरुप्रदत्त मन्त्र ही सफल माने जाते हैं और गुरु ही आदिमान्त्य वर्णों का सही स्वरूप बताते हैं। सर्वज्ञानोत्तर में उच्चार्यमाण मन्त्रों की मन्त्रता को स्वीकार नहीं किया गया और संविदुल्लास के अनुसार ऐसे मन्त्रों को चूँसे हुए गन्ने की नीरस खुद्दी के समान निर्वीर्य बताया गया है। उत्कृष्ट कोटि के गन्ने (पुण्ड्रेक्षु) को चूँसने से उसके माधुर्य से सारा शरीर तृप्त हो जाता है, किन्तु मुँह में तो खुद्दी ही बची रहती है। यही स्थिति मुख द्वारा उच्चारित मन्त्र की है, वह सिद्धिप्रदान में असमर्थ है। अत: साधक को चाहिये कि योगसंचार की पद्धति से उनमें शिवत्व का आधान करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे। योगसंचार का कहना है मन्त्रों की पार्थिव तत्त्व में भावना करने पर वे पार्थिव तथा जलतत्त्व में भावना करने पर जल का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इसी तरह से यदि इनकी शिवतत्त्व के रूप में भावना की जायगी, तो ये शिवमय हो जावेंगे।

इस तरह के अपूर्व प्रभाव वाले इस मन्त्रतत्त्व की आराधना करने के लिये किरणागम की पद्धति से साधक को अपने मन्त्रमय शरीर में [1]अड़तीस कलाओं का न्यास करना चाहिये, भूतशुद्धि आदि की पद्धति से अपनी देह में दिव्यता का आधान करना चाहिये। त्रिक, कुल और क्रम मत में स्वीकृत मन्त्रों का स्वरूप तन्त्रालोक के सम्पूर्ण तीसवें आह्निक में त्रिशिरोमत, त्रिकशासन, सिद्धयोगीश्वरीमत, मालिनीमत, तन्त्रसद्भाव, देवीपंचशतिका, देव्यायामल, निश्वास, मुकुटोत्तर, सन्तानागम जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से दिखाया गया है। यहाँ लक्ष्मणगुप्त, भूतिराज, ओजराज, शम्भुनाथ जैसे आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया गया है। मन्त्रभूमि में प्रवेश जैसे विषयों का भी यहाँ (५.८६-१३६) त्रिशिरोमत[2] के आधार पर विवेचन किया गया है। पौष्करागम में प्रदर्शित मन्त्रों के उत्तम आदि भेदों का, हंसतन्त्र में वर्णित हुंफडन्त चण्ड आदि मन्त्रों का स्वरूप लुप्तागम में संगृहीत वचनों में देखा

---

१. अड़तीस कलाओं का विवरण रौरवागम (भा. १, पृ. १७९-१८०) में तथा सिद्धान्त-सारावलि (पृ. ११७-१२०) में देखिये।

२. तन्त्रालोक में बहुरूप मन्त्र (४.२२५), मन्त्रसन्निधि के ११ कारण (२१.१६-१७), परामर्शक मन्त्र लिपिबद्ध होने पर सिद्धि नहीं देते (२६.२१-२३), मन्त्र का माहात्म्य (३०.२-३), सप्तविध मन्त्रमूर्ति अथवा बिन्दुनादात्मक व्यक्ति (३०.१२-१४) जैसे विषय विभिन्न स्थानों पर बिखरे हुए मिलते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (६.३) में भी बहुरूप मन्त्र का स्वरूप देखा जा सकता है।

जा सकता है। स्वच्छन्दोद्योत (७.१३२-१३३) में नन्दिशिखा के प्रमाण से ज्ञानव्याप्ति और प्राणव्याप्ति के क्रम से आनन्द आदि रूपों में [1]मन्त्राराधन की पद्धति बताई गई है, जिससे साधक उन-उन रूपों की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है।

मन्त्रजप

तन्त्रालोक के चक्रोदय प्रकरण में ही सिद्धयोगीश्वरीमत और योगिनीकौल के प्रमाण से जपसंबन्धी विचार प्रस्तुत किया गया है (७.४०-४१) वहाँ बताया गया है कि प्राणापान की गति के साथ जप का तालमेल बैठाना चाहिये। इसी पद्धति से जपे गये मन्त्र शीघ्र सिद्धि प्रदान करते हैं। कहा गया है कि माला-मन्त्रों का जप मानस अथवा उपांशु विधि से करना चाहिये। विवेककार (७.४५) ने स्वच्छन्दतन्त्र के प्रमाण से शाब्द-जप का भी समावेश कर जप की त्रिविध पद्धति बताई है। वहीं (पृ. ४०) प्राणापान की गति से असंबद्ध जप को अधम कहा गया है। शाब्द जप को ही निगद अथवा वाचिक भी कहा जाता है, इस त्रिविध जप का विवेचन हमने अन्यत्र किया है। पांचरात्र मत के लक्ष्मीतन्त्र (३९.३५) में जप के चार भेद वर्णित हैं। इनमें क्षुद्र कर्मों के लिये वाचिक, सिद्धि-लाभ के लिये उपांशु, लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये मानस तथा ध्यानात्मा चौथे जप को सभी सिद्धियों का प्रदाता बताया गया है। शैव, शाक्त और वैष्णव मत में जप को योग का अंग माना गया है। इसकी सूचना हम दे चुके हैं (पृ. १९७)। लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित ध्यानात्मा जप को योग का ही अंग मानना चाहिये। लुप्ता. के द्वितीय भाग में संगृहीत पराख्य, पौष्कर जैसी संहिताओं के एवं सिद्धनाथपाद के वचनों में त्रिविध जप का और उनके उत्तम, मध्यम एवं अधम भेदों का स्वरूप बताया गया है। सुभगोदयवासना (श्लो. ५६) में जप शब्द की निरुक्ति तथा जयाख्यसंहिता (१४.६९) में जप का लक्षण बताया गया है कि बाहर-भीतर एक साथ उदित मन्त्रदेवता की एकता ही जप कहलाती है। तत्त्वरक्षाविधान के अनुसार मन्त्र-शक्ति में नियोजन ही जप की सफलता मानी जाती है और वैहायसीसंहिता में जप को विषुवत्-प्रक्रिया से संयोजित करने की बात कही गई है।

योगिनीहृदय, वरिवस्यारहस्य जैसे त्रिपुरा-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में हृल्लेखा में अवस्था, शून्य और विषुवत् की भावना के साथ जप के स्वरूप की आन्तर विधि बताई गई है। इसी तरह से स्वच्छन्दतन्त्र (४.२५५-२५६) में प्रणव की [2]पदैकादशिका का, अर्थात् अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका,

---

१. मन्त्राराधन-विषयक प्रपंच का स्थलनिर्देश लुप्ता. उपो., पृ. १८५ की दूसरी टिप्पणी में देखा जा सकता है। स्वच्छन्द का प्रथम और चतुर्थ-पंचम पटल भी देखिये।

२. पदैकादशिका का विवरण नेत्रतन्त्र (२१.५९-७०, २२.२१-४६) में भी दिया गया है।

नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना नामक एकादश कलाओं का और इन सबके ऊपर स्थित उन्मना नामक बारहवीं कला का उल्लेख कर इन सबसे अतीत निरामय परमपद की चर्चा की गई है। क्षेमराज ने इस प्रकरण की व्याख्या करते हुए कहा है कि हृदय से नाद पर्यन्त स्थानों में अपर तथा हृदय से उन्मना पर्यन्त स्थानों में पराख्य निष्कल मन्त्र का उच्चारण ही शैव क्रम कहलाता है। साथ ही यहाँ प्रशान्तविषुव, कालविषुव आदि की विशेषता पर भी अच्छा [१]प्रकाश डाला गया है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. ८९-११०) में नौ, बारह और षोडश कलाओं वाले प्रासाद मन्त्र के जप का विधान विस्तार से वर्णित है।

(ख) देशाध्वा

इस तरह से यहाँ क्रियाशक्ति से निःसृत कालाध्वा और उसके तीन भेदों का स्वरूप बता कर अब मूर्ति-वैचित्र्य से सम्पन्न देशाध्वा और उसके त्रिविध भेदों का स्वरूप बताया जा रहा है। मूर्ति-वैचित्र्य रूपी आभासन शक्ति से स्फुरित होने वाला यह समस्त देशाध्वा प्रथमतः संविच्छक्ति में ही छिपा रहता है। संविच्छक्ति से ही निकल कर वह शून्य, बुद्धि, प्राण, आन्तर नाडीचक्र और अनुचक्र तथा बाह्य शरीर में ही नहीं, लिंग, स्थण्डिल, प्रतिमा आदि में भी संक्रान्त होकर भासित होता है। तन्त्रालोक (८.७-८) में बताया गया है कि इस प्रकार सर्वत्र प्रसृत इस देशाध्वा के स्वरूप को भली-भाँति जानकर देह, प्राण, बुद्धि, चक्र आदि में स्थित उन-उन तत्त्वों के अधिपतियों में उसे विलीन कर देना चाहिये। इतना करने के उपरान्त धी, प्राण आदि को भी अपनी संवित्ति में विलीन कर लेना चाहिये। यह संवित्ति जब इन सभी आकारों से परिपूर्ण हो जाती है, उस अवस्था में इसकी उपासना करने पर वह इस संसार-सागर को सुखा देने के लिये प्रलयानल का कार्य करती है, अर्थात् समस्त द्वैताभास को भस्म कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देती है। साधक कैसे स्व-संविदाकार बन जाता है, इस प्रक्रिया का विवेचन विवेककार जयरथ ने दीक्षोत्तर, स्वच्छन्दशासन, त्रिशिरःशासन, देव्यायामल जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से किया है (८.९-१८)। इस देशाध्वा के भी स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से भुवन, तत्त्व और कला नामक तीन अध्वाओं का स्वरूप ऊपर (पृ. १५४) बताया गया है। तदनुसार ही तन्त्रालोक के चार (८-११) आह्निकों में इनका विवेचन अतिविस्तार से मिलता है। अन्य ग्रन्थों की सहायता से यहाँ इन त्रिविध पर-सूक्ष्म-स्थूलाकार कला-तत्त्व-भुवनात्मक अध्वाओं का स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. योगमार्गनिरूपक सततोदित मन्त्रजप, त्रिविध जप, षोढा जप, सप्तविध जप, जप और आमर्श, कथाजप—इस तरह के विषयों के लिये लुप्ता. उपो. पृ. १८६ की पहली टिप्पणी देखिये।

४. कलाध्वा

तत्त्वों के विभिन्न वर्गों में जिसका अनुवर्तन होता है, वह [१]कलाध्वा कहलाता है, क्योंकि विभिन्न तत्त्वों की कलना का एक ही प्रकार संभव नहीं है। जैसे पृथ्वी तत्त्व में निवृत्ति कला रहती है, क्योंकि इसके साथ ही तत्त्वों की सृष्टि पूरी हो जाती है। जल से प्रधानपर्यन्त तत्त्ववर्ग में प्रतिष्ठा कला स्थित है, क्योंकि इनमें परस्पर की कारणता रहने से ये अपने-अपने कार्य का आप्यायन और पूरण करती रहती हैं। पुरुष से मायापर्यन्त तत्त्वों में विद्या कला की स्थिति मानी गई है, क्योंकि यहां वेद्यभाव के तिरोहित हो जाने से संवित्स्वभाव का आधिक्य रहता है। शुद्धविद्या से शक्तिपर्यन्त तत्त्वों में शान्ता कला स्थित है, क्योंकि कंचुकों की तरंगें यहाँ तक आ नहीं पातीं। ये ही चार स्थितियाँ [२]अण्डचतुष्टय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम हैं—पार्थिव, प्राकृत, मायीय और शाक्त अण्ड। पृथिवी से लेकर शक्तितत्त्व पर्यन्त तत्त्वों की अपनी-अपनी विशेष स्थिति के रहने के साथ इनकी एक दूसरे से अनुस्यूतता भी रहती है। इस अनुस्यूतता के कारण इनमें संघर्ष की स्थिति भी आती है। अत: इनका कोई घेरा बने, यह जरूरी हो जाता है। शिवतत्त्व में ऐसी कोई स्थिति नहीं है, अत: इसकी स्थिति अण्ड-सृष्टि से बाहर मानी गई है। इस शिवतत्त्व में शान्त्यतीता कला स्थित है। इसका उपयोग उपदेश, भावना, उपासना आदि में किया जाता है। परम तत्त्व इन सबसे स्वतन्त्र है, यह अप्रमेय तत्त्व कला से अतीत है, यहाँ कला की कोई स्थिति नहीं मानी जाती। इस तरह से निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता—ये पाँच ही कलाएँ मानी गई हैं। ये सब कलाएँ और इनमें अन्तर्भूत विद्याकला तत्त्वों में परिगणित कला और विद्या तत्त्वों से भिन्न ही हैं, क्योंकि विद्याकला में पुरुष से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों का विलय माना गया है, स्पष्ट है कि विद्या और कला तत्त्वों की स्थिति विद्याकला में मानी जाती है। इन पाँच कलाओं से ही समस्त तत्त्वों एवं भुवनों की उत्पत्ति होती है और इन्हींमें इनका विलय भी हो जाता है। इसकी प्रक्रिया आगे (पृ. ४२६-४२७) बताई जायगी। रत्नत्रय (श्लो. ८५) के अनुसार निवृत्ति आदि पाँच कलाओं को बिन्दु की वृत्तियाँ माना जाता है, अर्थात् इनकी उत्पत्ति बिन्दु तत्त्व से मानी जाती है।

५. तत्त्वाध्वा

पति, पशु और पाश के भेद से त्रिविध तत्त्वों का स्वरूप यहाँ (पृ. ३०९-३५१) बताया जा चुका है। अब छत्तीस तत्त्वों के रूप में तत्त्वाध्वा के अन्तर्गत

---

१. कला पद की निरुक्ति के विविध पक्षों की चर्चा तन्त्रा. (११.४-७) में देखिये।

२. अण्डचतुष्टयात्मक सृष्टि का विवरण अलग से (पृ. ४२१) दिया जा रहा है।

इनका विवेचन किया जा रहा है। तन्त्रसार (पृ. ६९) में तत्त्व का लक्षण बताते हुए कहा गया है जिनमें परस्पर कुछ न कुछ भेद रहते हुए भी निरन्तरता रहती हैं, उन्हें **तत्त्व** कहते हैं। तन्त्रालोक (९.४-५) में इसकी विशद व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अपने कार्य में, अपने सदृश धर्मों के समुदाय में, अथवा अपने सदृश गुणों के समुदाय में जो सामान्य रूप से व्याप्त होकर विस्तार पाता है, उसीको **तत्त्व** कहा जाता है। पृथिवी से लेकर पुरुष, शिव आदि सबकी यह संज्ञा है। मतंगपारमेश्वर (५.३-४) में तत्त्व का लक्षण बताते हुए कहा गया है—वस्तु का वह रूप तत्त्व कहलाता है, जिससे उसका धर्म (स्वभाव) प्रकट होता हो, तत्त्व वस्तु का व्यक्त रूप है। शास्त्र से इसका स्पष्ट बोध होता है। जो अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता, जिस स्वभाव के वशीभूत यह सारा जगत् है, जो अन्य के वशीभूत नहीं है, उसीको **तत्त्व** कहा जाता है। अन्यत्र बताया गया है कि जो प्रलय पर्यन्त स्थायी रहता है, सभी प्राणियों के उपभोग का साधन है, उसी को शास्त्रज्ञ **तत्त्व** कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार शरीर, घट आदि को तत्त्व नहीं कहा जा सकता। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ७३) में भी अपने शब्दों में तत्त्व का यही लक्षण बताया गया है। परमार्थसार की टीका (पृ. ३१) में योगराज ने तत्त्व का यह लक्षण बताया है—**तत्त्व** वह है, जिसकी सहायता से शरीर आदि का निर्माण होता है, प्रलय पर्यन्त इसकी स्थिति रहती है अथवा तत्त्व वस्तु का अपना स्वभाव है। ऊपर बताये गये तत्त्व के सभी लक्षणों का यहाँ समावेश हो जाता है। गुरुदेवाचार्य ने भी इस विषय में यह कहा है—व्याप्ति और निरन्तरता जिसमें है, उसे **तत्त्व** कहते हैं। यहाँ व्याप्ति देशकृत और निरन्तरता कालकृत है। पृथिवी आदि तत्त्वों की लक्षादि योजन पर्यन्त व्याप्ति तो स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रलय पर्यन्त कालकृत निरन्तरता भी इनकी मान्य है। अन्यथा घट, कुंभ आदि में भी तत्त्व पद का प्रयोग होने लगेगा।

परतत्त्व

इस जगत् को छत्तीस तत्त्वों का समाहार-स्वरूप माना गया है। इसमें शिव-तत्त्व भी अन्तर्भूत है। इन सबसे अतीत है परतत्त्व। इस विषय में सभी आगम-सम्प्रदाय एकमत हैं। जैसा कि परमार्थसार (श्लो. १०-११) में बताया गया है—प्रकाश-स्वरूप, परिपूर्ण, अपने में विश्राम करने से महानन्द से ओतपोत, [1]इच्छा, संवित् (ज्ञान) और करण (क्रिया) शक्ति से परिपूर्ण, अनन्त शक्तियों से सम्पन्न, सभी प्रकार के विकल्पों से रहित, शुद्ध, शान्त, लय और उदय से रहित

१. परमार्थसार (श्लो. १०-११) में परतत्त्व को "इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितम्" बताया गया है। टीकाकार योगराज का कहना है कि यह परतत्त्व इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न है, शान्तब्रह्मवादी वेदान्तियों की तरह शक्तिहीन जड़कल्प नहीं।

परतत्त्व से ही यह सारा छत्तीस तत्त्वों वाला जगत् प्रकाशित होता है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो. ६) के अनुसार यह परतत्त्व ही अनाश्रित भुवन से पृथ्वी पर्यन्त सभी भूमिकाओं का निर्वाह करता है। शाम्भवदीपिका में बताया गया है कि यह छत्तीस तत्त्वों वाला सारा जगत् उस परतत्त्व के स्पन्दन का ही विलास है। यह परतत्त्व तत्त्वातीत, शून्य, अहम्, परशिव, निरंजन, भैरव जैसे नामों से विभिन्न शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

ज्ञानामृतरसायन में मात्रा और अर्धमात्रा से भी परे इसकी स्थिति मानी गई है। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ७४) में [१]तत्त्वातीत परतत्त्व का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—तत्त्वों की सृष्टि जिससे होती है, जो इनका कारण है, जो इनकी क्षति को पूरा करता रहता है और जिसके कारण समस्त तत्त्व व्यवस्थित रूप से क्रियाशील रहते हैं, वही **परतत्त्व** है। विमर्शदीपिका में स्वतन्त्र, परिपूर्ण, शून्यधाम शिव को ही परमतत्त्व माना गया है। इसी परमतत्त्व में अन्य सभी तत्त्व लीन हो जाते हैं और इसीमें से सबका उदय भी होता है। अनुत्तरभट्टारक के अनुसार निरालम्ब, निरुत्साह, [२]शून्यस्वरूप स्वयं शिव ही परमतत्त्व है। किरणागम (वि. ९.१-४) में शिवतत्त्व को शून्य कैसे कहा जा सकता है? ऐसा प्रश्न कर उसका समाधान किया गया है। वीरयामल में शिव को शून्यनिर्भास कहा है। संविदुल्लास में शाम्भव तत्त्व को अशून्य अथ च शून्यकल्प कहा है। विमर्शदीपिका में विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण, स्वतन्त्र, दिव्यस्वरूप [३]अहम् को ही उत्तम तत्त्व कहा है। वातुलोत्तर में परशिव को तत्त्वातीत बताया है। मतंगागम (३.३२) और स्वायम्भुवागम में [४]परशिव को

---

१. लुप्ता. उपो., पृ. १८८ की पहली टिप्पणी में विभिन्न ग्रन्थों में निर्दिष्ट विषयों की सूचना दी गई है। जैसे परतत्त्व के विषय में भावना, करण आदि का कोई अवकाश नहीं, रस की परब्रह्मरूपता, तत्त्वातीत तत्त्व का निरूपण, आरुरुक्षु की योग्यता को बढाना, तत्त्वातीत सप्तत्रिंश अथवा अष्टात्रिंश तत्त्व, कुलरत्नमाला प्रोक्त ३८ तत्त्व।

२. शून्यता-विषयक विचार यहाँ अलग से किया जा रहा है।

३. विरूपाक्षपंचाशिका आदि के आधार पर परिमिताहन्ता और विश्वाहन्ता के स्वरूप पर यथास्थान विचार किया गया है।

४. तन्त्रालोक (१.१०६) में अभिनवगुप्त ने स्वसंवित्, सत्तर्क, पतिशास्त्र, त्रिक और क्रमशास्त्र के आधार पर परशिव का स्वरूप बताया है। यहाँ स्वसंवित् का अर्थ है अपना अनुभव, सत्तर्क का युक्ति, पतिशास्त्र का भेदप्रधान द्वैत शैव मतंग आदि शास्त्र, त्रिक का परा आदि त्रिविध शक्तियों का विधायक शास्त्र (त्रिक शब्द के सभी अर्थों का यहाँ ग्रहण किया जा सकता है) और क्रम का अर्थ है चतुष्टय शास्त्र (जहाँ चार संख्या के तत्त्वों का निरूपण होता है)। इस परमशिव को व्यासाक्षिणी में उपरताधिकार हो जाने पर भी अनुपरताधिकार कहा गया है। अभिप्राय यह है कि शिव सिद्ध मुक्त-पुरुष के प्रति उपरताधिकार हो जाने पर भी अन्यों के प्रति अनुपरताधिकार रहता है। तन्त्रालोक (११.९) में परशिव को कलातीत बताया है। स्वच्छन्द

[१]शान्त्यतीत-स्वरूप माना गया है। (अ)चिन्त्यागम में परशिव को तत्त्वों से अतीत, मन्त्रातीत, निरंजन, सर्वज्ञ, सर्वग, शान्त, सर्वात्मा और सर्वतोमुख बताया है। त्रिकसार परशिव को ही निरंजन कहता है। स्वच्छन्द (११.१४) के अनुसार यह निरंजन परातीत है। अनुत्तरभट्टारक में [२]निरंजनदेव (शिव) की स्थिति जिज्ञासारहित स्थान में मानी गई है। इतिहासरहस्य में भगवान् [३]भैरव को ही परतत्त्व कहा गया है। यह परम ज्योतिस्वरूप भैरव ही सारे जगत् को प्रकाशित करते हैं और उन्हींमें यह लीन भी हो जाता है। लक्ष्मीकौलार्णव में अद्वयस्वरूप भगवान् भैरव ही परतत्त्व के रूप में मान्य हैं। क्रमकेलि में कुलेश्वर मन्थानभैरव तथा त्रिशिरोमत में त्रिशिरोभैरव परतत्त्व के रूप में स्वीकृत हैं।

नन्दिशिखा के अनुसार यह परतत्त्व अनिर्देश्य शिव और पंचरात्रश्रुति के अनुसार [४]भगवान् शास्ता माने गये हैं। महेश्वरानन्द के द्वारा अपनी व्याख्या में उद्धृत [५]पादुकोदय के एक लम्बे उद्धरण में विभिन्न मतों में स्वीकृत परमतत्त्व का स्वरूप निर्दिष्ट है। जाबालिसूत्र के अनुसार भगवान् वासुदेव ही परमतत्त्व हैं। मायावामनसंहिता का कहना है कि विष्णु, शिव, बुद्ध आदि के नामों से निर्दिष्ट भगवान् एक ही हैं। संकर्षणसूत्र में यह परतत्त्व विष्णु नाम से प्रत्यभिज्ञात है। तन्त्रालोक (१.८६-८८) की विवेक-व्याख्या में उद्धृत त्रिशिरोभैरव में भगवान् राम को ही सकल विश्व का आभास कराने की क्रीडा में निरत परमात्मा कहा गया है। यह परतत्त्व सच्चिदानन्द-स्वरूप है, इसका ज्ञान सिद्धसन्तान के एवं रसान्वय के निम्न वचनों से होता है—"सर्वत्र प्रकाशमान भासा नामक चितिशक्ति, समस्त विभूति (ऐश्वर्य=आनन्द) और सत्ता इसीके स्वरूप हैं", "इस परमतत्त्व में चित् को ही सत्ता और सत्ता को ही चित् माना गया है। जहाँ चित् और सत् की व्याप्ति रहती है, वहाँ आनन्द भी अवश्य विराजमान रहता है और जिस भाव में आनन्द उपस्थित रहता है, वहाँ चित् और सत् की स्थिति अनिवार्य है"।

(४.१९५) के अनुसार बिन्दु, नाद और शक्ति की स्थिति शिव में मानी गई है। तन्त्रालोक (१.६३) और स्वच्छन्द (४.२७०) में षड्विध शिव वर्णित है। तन्त्रालोक-विवेक (१.२७४) में उद्धृत रत्नमाला के अनुसार शान्त शिव और शक्ति ही प्रधान तत्त्व हैं।

१. इस पर विचार अपेक्षित है। परशिव को शान्त्यतीत कला से उत्तीर्ण माना जाना चाहिये।

२. निरंजन तत्त्व का स्वरूप पृ. ३९४ की टिप्पणी में बताया गया है।

३. भैरव पद का निर्वचन शिवतनुशास्त्र के प्रमाण से अन्यत्र किया गया है। लुप्ता. उपो., पृ. १९० की दूसरी टिप्पणी भी देखिये।

४. भगवान् पद की निरुक्ति बौद्ध तन्त्रों की दृष्टि से भी अन्यत्र दी गई है।

५. महार्थमंजरीपरिमल (पृ. ११) देखिये।

इसी परतत्त्व से [१]षट्त्रिंशत् तत्त्वों का समष्टि-स्वरूप यह जगत् भासित होता है। इनमें पाँच तत्त्व शुद्ध, सात शुद्धाशुद्ध एवं अवशिष्ट चौबीस तत्त्व अशुद्ध माने गये हैं। इसी विभाग का अनुसरण करते हुए यहाँ [२]शिव से पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों का स्वरूप बताया जा रहा है।

पाँच शुद्ध तत्त्व

तत्त्वप्रकाश (श्लो.२१) में पाँच शुद्ध तत्त्वों का प्रतिपादन इस तरह से किया गया है—[३]शुद्ध तत्त्व पाँच हैं। इनमें पहला शिवतत्त्व है। शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—ये बाकी के चार तत्त्व हैं। इनमें शिवतत्त्व-व्यापक, एक, नित्य, समस्त तत्त्वसमूह का कारण और ज्ञान-क्रिया स्वभाव है, ऐसा आचार्यों का कहना है (श्लो. २५) सृष्टि करने के लिये उद्यत इस शिवतत्त्व का चित् और अचित् जीवों पर अनुग्रह करने के लिये जो प्रथम उन्मेष होता है, उसी को शक्तितत्त्व कहा गया है, वह इस शिवतत्त्व का ही अविभक्त स्वरूप है (श्लो. २७) ज्ञान और क्रिया शक्ति के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के अभाव में, अर्थात् समरस रूप में जो विस्तार होता है, उसीको विद्वद्गण सदाशिवतत्त्व कहते हैं (श्लो. २८) ज्ञानशक्ति का अपकर्ष और क्रियाशक्ति का उत्कर्ष होने पर ईश्वर-तत्त्व की सृष्टि होती है, यह ईश्वरतत्त्व आगे की अशुद्ध सृष्टि का कर्ता है (श्लो. २९)। क्रियाशक्ति का अपकर्ष और ज्ञानशक्ति का उत्कर्ष होने पर [४]विद्यातत्त्व की सृष्टि होती है, ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होने के कारण यह प्रकाश-स्वरूप है (श्लो.३०)। इस तरह से तत्त्वप्रकाश में इन पाँचों शुद्ध तत्त्वों का स्वरूप बताया गया है। अध्वसिद्धि का कहना है कि शिवतत्त्व नाना प्रकार की हजारों शक्तियों से सम्पन्न है। इन्हीं शक्तियों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर एक ही शिव पंचधा विभक्त हो जाता है।

---

१. लुप्ता. उपो., पृ. १९१, टि.१ पर विभिन्न ग्रन्थों का स्थलनिर्देश करते हुए ३६ तत्त्वमय जगत्, शुद्ध और अशुद्ध के रूप में द्विधा विभक्त विश्व, संसारी जीव, स्वशक्तिप्रचयात्मक विश्व, नर-शक्ति-शिवात्मक विश्व, जगत्सृष्टि-वर्णन, रूपादि पंचवर्गात्मक विश्व जैसे विषयों की सूचना दी गई है।

२. स्वायम्भुवागम की पद्धति से तत्त्वसंग्रह में व्युत्क्रम (पृथिवी से शिव पर्यन्त) से तत्त्वों की सृष्टि बताई गई है। स्वायम्भुवागम का अनुसरण करके ही सद्योज्योति शिवाचार्य ने तत्त्वसंग्रह की रचना की है। भोगकारिका में भी उन्होंने इसी क्रम को स्वीकार किया है।

३. तन्त्रालोक (९.४९-६०) में भी पाँच शुद्ध तत्त्वों का स्वरूप बताया गया है।

४. इस प्रसंग में तत्त्वप्रकाश की दोनों टीकाओं को अवश्य देखना चाहिये।

कालोत्तर के अनुसार पचीस तत्त्वों की और शिवतनुशास्त्र के अनुसार पैंतीस तत्त्वों की सृष्टि भगवान् शिवनाथ की शक्ति का ही विस्तार है। श्रीकण्ठीसंहिता के अनुसार शिव से पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्व शिवमय हैं। किरणागम (वि.२.३) में शिव को अनादि मल से मुक्त, अत एव निर्मल माना गया है। रौरवागम के अनुसार शक्ति से समन्वित शिव सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं। विज्ञानेन्दुकौमुदी का कहना है कि शिवदशा सर्वत्र व्याप्त है, यह ज्ञत्व और कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न है। यह अपने प्रकाश से ही सारे चमत्कारों को प्रकाशित करती है। विवेकांजन शिव को प्रकाशात्मक बताता है। शिवधर्मोत्तर में कहा है कि शिवागमों के अनुसार शिव आदि-मध्य-अन्त से रहित, स्वभावत: निर्मल, सबका प्रभु, सर्वज्ञ और परिपूर्ण है। सिद्धान्तहृदय में शिवतत्त्व को पशुपति, कूटस्थ एवं अमृतस्वरूप ब्रह्म बताया गया है। ज्ञानोत्तर में मातृकाओं के मध्य में स्थित शिव यागप्रिय है और शिव की कृपा से ही आत्माओं को मुक्ति मिलती है। वृत्तिकार के अनुसार शिव की तथा अन्य आत्माओं की सत्ता भिन्न नहीं है।

तत्त्वप्रकाश (श्लो.३३) में बताया गया है कि शिव नामक तत्त्व तो वस्तुत: एक ही है, किन्तु यह नाना प्रकार की चित्र-विचित्र शक्तियों से सम्पन्न है। इन शक्तियों के विभिन्न व्यापारों के आधार पर ही शिव के ये पाँच भेद कल्पित कर लिये जाते हैं। वहाँ (श्लो. ३२) यह भी कहा गया है कि इन पाँचों स्वरूपों का कोई क्रम निश्चित नहीं है, क्योंकि यहाँ काल की कोई स्थिति नहीं मानी जाती। विभिन्न व्यापारों के आधार पर इनके नामों की कल्पना कर ली गई है। तदनुसार स्पष्ट है कि विभिन्न व्यापारों के आधार पर एक ही शिवतत्त्व पंचधा विभक्त हो जाता है। तत्त्वप्रकाश (श्लो.३१) के इसी प्रकरण में सदाशिवतत्त्व में बिन्दु और नाद का, ईश्वरतत्त्व में आठ विद्येश्वरों का और विद्यातत्त्व में मन्त्रों और विद्याओं का समावेश बताया गया है। चिदात्माओं पर अनुग्रह करने की दृष्टि से शिव इन स्वरूपों को धारण करते हैं। इसीलिये इनको सब पर अनुग्रह करने वाला (सर्वानुग्राहक) कहा गया है। यह सर्वानुग्राहक शिव अनादि काल से चली आ रही मल शक्ति के कारण अवरुद्ध शक्ति वाले जीवात्माओं को [१]भोग और मोक्ष के

---

१. किरणागम (वि. ३.२७) के अनुसार शुद्ध सृष्टि के कर्ता शिव और अशुद्ध सृष्टि के अनन्त हैं। तत्त्वप्रकाश (श्लो.४०) का कहना है कि शिव जीवों के कर्मों को देखकर और अपनी शक्तियों से माया को क्षुब्ध कर प्रत्येक पुरुष के भोग के लिये शरीर, इन्द्रिय आदि की सृष्टि करते हैं। तन्त्रालोक (९.६१) में बताया है कि अघोरेश ईश्वर की इच्छा के अनुसार भोगासक्त जीवों को विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग कराने के लिये अशुद्ध सृष्टि का निर्माण होता है। वहीं (तन्त्रा.९.१४८-१४९) यह भी कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा के अनुसार प्राणी में भोग की

उपभोग की सामर्थ्य देते हैं। चिदात्माओं पर वे जो अनुग्रह करते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि वे उन पशुओं पर अनुग्रह करके उनको शिव के समान बना देते हैं, उन्हें सायुज्यरूप मोक्ष प्रदान करते हैं। यह मोक्ष तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक अनादि काल से चले आ रहे कर्मों का भोग के द्वारा क्षय न हो जाय। अत: भोग की सिद्धि के लिये तनु (शरीर), करण (इन्द्रिय) और भुवनों की रचना करता है।

सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व

तत्त्वप्रकाश (श्लो.२२) में सात शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का परिगणन इस प्रकार किया गया है—पुरुष में अज्ञता और कर्तृता के अपादान के लिये माया से काल, नियति, कला, विद्या और रागात्मक नामक पाँच तत्त्वों (पंचकंचुक) की सृष्टि होती है। यहाँ मायारूपी कारण से कार्यभूत पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति होती है और इन सबसे उपहित पुरुष सातवाँ तत्त्व है। शैवरहस्य में इनकी गणना इस तरह से की गई है—माया, काल, नियति, कला, विद्या और राग तथा सातवाँ पुरुष—इस तरह ये सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व परिकल्पित हैं। इनमें मायातत्त्व पाश प्रकरण में बताई गई [१]**माया** ही है। यह नाना प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न माया सर्वप्रथम [२]काल

इच्छा जगती है। इस भोगेच्छु जीव के उपकार के लिये मन्त्रमहेश्वर माया को क्षुब्ध कर इस विचित्र विश्व का निर्माण करता है। इन सब वचनों से स्पष्ट है कि ईश्वर जीव की भोग की इच्छा को पूरा करने के लिये सृष्टि का निर्माण करता है।

१. अभी बताया गया है कि माया के सहारे अनन्तेश अशुद्ध सृष्टि का निर्माण करते हैं। मायातत्त्व से ही यह सारी सृष्टि हुई है, गह्वरशास्त्र में बताये गये इस सृष्टिक्रम को तन्त्रालोकविवेक (२८.२२४-२२६) में देखा जा सकता है। तन्त्रालोक (९.१४९-१६९) में और मतंग (विद्या. ८ पटल) में माया वर्णित है। ई. प्र. वि. वि. (भा.३, पृ. २९३) में मालिनीसार के प्रमाण से माया से कंचुक की उत्पत्ति बताई गई है। शिवतनुशास्त्र में गुहा (माया) से त्रिविध कंचुक की प्रवृत्ति सूचित है। म.म.प. (पृ.४८) में क्रमोदय के प्रमाण से पंचकंचुक की सृष्टि बताई गई है। स्वच्छन्द (२.४३) में माया से नियति पर्यन्त षट्कंचुक वर्णित हैं। ये ही षट्कंचुक परमार्थसार (श्लो. १७) और तन्त्रालोक (९.२०४) में भी स्वीकृत हैं। बृहस्पतिपाद, सद्योज्योति आदि ने भी माया के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला है। तन्त्रालोक (८.२९८-३२५) में **ग्रन्थि, तत्त्व** और **शक्ति** के रूप में माया का त्रिविध स्वरूप पृथक् पृथक् विस्पष्ट रूप में बताया गया है।

२. माया से प्रसूत तत्त्वों के क्रम में भिन्नता देखने को मिलती है। तन्त्रालोक (९.४५-४८) और उसकी विवेक टीका में प्रमाणपूर्वक इस क्रमभेद को बताया गया है और मालिनीविजय में वर्णित क्रम को स्वीकार किया गया है (९.४९)। हमने यहाँ तत्त्वप्रकाश के क्रम के अनुसार इनका वर्णन किया है। इसमें हमारा कोई आग्रह नहीं है। मृगेन्द्र विद्यापाद १०म पटल तथा मतंग विद्यापाद ९-१४ पटलों में कला, विद्या, राग, काल और नियति के क्रम से ये वर्णित हैं।

तत्त्व का सृजन करती है। यह काल भूत, वर्तमान और भविष्य काल में होने वाले पदार्थों की कलना करने के कारण [1]**काल** कहलाता है। टीकाकार कुमारदेव (श्लो.४१) ने शिव, शक्ति, कर्म और माया नामक चार तत्त्वों से काल की उत्पत्ति मानी है। इसके बाद माया से नियति उत्पन्न होती है। यह समस्त विश्व का नियमन करने वाला तत्त्व है इसलिये इसे [2]**नियति** कहते हैं। यह नियति पद की निरुक्ति वहीं (श्लो. ४१) बताई गई है। आगे माया से कला की निष्पत्ति मानी गई है। यह पशुओं के आणव मल को केवल प्रदेशविशेष (अपने-अपने शरीर) तक संकुचित कर उनमें कर्तृत्व शक्ति का उन्मेष करती है, अतः इसे [3]**कला** कहा जाता है। काल और नियति तत्त्व के साथ मिलकर यह कला पृथिवी पर्यन्त समस्त तत्त्वों का निर्माण करती है। यही कलाशक्ति पुरुष में कर्तृत्वशक्ति के अभिव्यक्त हो जाने पर उसे विषयों का अनुभव कराने वाली विद्या का सृजन करती है। यह [4]**विद्या** अपनी शक्ति (सामर्थ्य) से ज्ञानशक्ति के आवरण को हटाकर पुरुष को समस्त विषयों का ज्ञान कराती है, इसलिये यह विद्यातत्त्व ही संसार मार्ग में निपतित पशु (जीवात्मा) का सर्वोत्तम सहायक है। जब सत्त्व-रज-तम नामक त्रिविध गुणों वाली बुद्धि सुख-दुःख-मोह रूप में परिणत होकर भोक्ता आत्मा (पुरुष) के सामने भोग्य रूप में उपस्थित होती है, उस समय विद्यातत्त्व ही उसकी सहायता करता है। तत्त्वप्रकाश के ४८-४९ श्लोकों में राग और पुरुष तत्त्व का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—[5]**राग** बिना किसी विशेष विषय को आलम्बन बनाये सामान्य रूप से पुरुष में अभिलाष (अनुराग) को पैदा करता है। यह पुरुष को विषयों के प्रति प्रेरित करता है, किन्तु यह बुद्धि के सुख-दुःख-मोह से विलक्षण है। इन पंचविध तत्त्वों से आवृत पशु जब भोक्तृत्व दशा को प्राप्त कर लेता है, तब इसको **पुरुष** कहा जाता है और इसकी भी गणना तत्त्वों में होने लगती है। शैव शास्त्रों में ये ही सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का यह क्रम तत्त्वप्रकाश की पद्धति से बताया गया है।

शास्त्रों में बताया गया है कि बिना निजी प्रयोजन के एकमात्र परहित की कामना से भगवान् शिव पशुओं के लिये भोग और मोक्ष की व्यवस्था करते हैं। शास्त्रों में शिव को ही बन्ध और मोक्ष का कारण माना गया है। सद्योज्योति शिवाचार्य ने भोगकारिका में भोग का, मोक्षकारिका में मोक्ष का स्वरूप बताया है।

१-५. काल, नियति, कला, विद्या और राग—पंचकंचुक-स्वरूप इन पाँच तत्त्वों का लक्षण लुप्ता. उपो., पृ. १९३-१९४ की पाँच टिप्पणियों के आधार पर विभिन्न ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

परमोक्षनिरासकारिका में इन्होंने अन्य मतों में स्वीकृत मोक्ष के स्वरूप की समालोचना की है। इनके आधार पर भोग और मोक्ष के स्वरूप पर सिद्धान्तशैव दृष्टि से यहाँ विचार किया जा चुका है। भोग्य, भोग और भोगसाधन शब्दों का स्वरूप भी पहले (पृ. ३७२-३७३) बताया जा चुका है। भोग के लिये तनु, करण और भुवनों की अपेक्षा रहती है। महामाया के प्रसंग में शुद्ध और माया के प्रसंग में शुद्धाशुद्ध तनु, करण और भुवनों का परिचय दिया जा चुका है। अब यहाँ अवशिष्ट अशुद्ध तनु-करण-भुवनों का स्वरूप, जिनका समावेश सांख्यदर्शन की प्राकृत सृष्टि में भी माना गया है, परस्पर के मतभेदों को स्पष्ट करते हुए बताया जा रहा है।

चौबीस अशुद्ध तत्त्व

तत्त्वप्रकाश (श्लो. २३) में ही अशुद्ध तत्त्वों की गणना इस तरह से की गई है—माया से पहले अव्यक्त और गुणतत्त्व की तथा बाद में बुद्धि और अहंकार की सृष्टि होती है। इसके बाद चित्त (मन), पाँच बुद्धीन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत सृष्ट होते हैं। शैवरहस्य में भी इसी पद्धति से चौबीस अशुद्ध तत्त्वों की गणना की गई है। अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार और मन—ये चार, शब्द आदि तन्मात्रा, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय, वाक् आदि कर्मेन्द्रिय और वियत् आदि महाभूतों के पाँच-पाँच गण—कुल ये चौबीस तत्त्व त्रिगुणात्मक होने से अशुद्ध कहलाते हैं। "अव्यक्तं मायातः" तत्त्वप्रकाश की इस २३वीं कारिका में परिगणित गुणतत्त्व[1] की अव्यक्त से बहुत भिन्नता नहीं मानी जाती, अतः इसके कारण तत्त्वों की गणना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

तत्त्वप्रकाश (श्लो.५०-५१) में ही [2]अव्यक्त और गुणतत्त्व का स्वरूप इस तरह से बताया गया है—पुरुष के भोग की सिद्धि के लिये कला ही अव्यक्त को जन्म देती है। इस स्थिति में गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती, अतः इस अव्यक्त को अव्यपदेश्य माना गया है। इस अव्यक्त से प्रख्या (ज्ञान), व्यापार (क्रिया) और

---

१. भागवत (११.१९.१४) में २८ तत्त्वों की गणना करते समय तीन गुणों की अलग से गिनती की गई है। कुछ आचार्य तीन गुणों को एक ही तत्त्व बता कर अव्यक्त से इसे अभिन्न मानते हैं। सांख्यदर्शन में गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति या अव्यक्त कहा गया है और सत्त्व आदि इसीके त्रिविध गुण माने गये हैं। अधिकांश आचार्यों ने इसी मत को मान्यता दी है।

२. अव्यक्त और गुणतत्त्व के विषय में लुप्ता. उपो., पृ. १९४ की तीसरी टिप्पणी देखिये। तन्त्रालोक (८.२७३) में अव्यक्त के पर्याय निर्दिष्ट हैं।

नियमन शक्ति वाले सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों की अभिव्यक्ति होती है। सुख, दु:ख और मोह—क्रमश: इनके व्यापार हैं। अव्यक्त और गुणत्रय की सृष्टि को बताने के बाद वहाँ (श्लो. ५२) [1]बुद्धितत्त्व का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इन्हीं तीन गुणों से विषय का अध्यवसाय करने वाली बुद्धि की सृष्टि होती है। उक्त तीन गुणों के आधार पर इसके भी तीन भेद माने गये हैं। बुद्धि से अहंकार की सृष्टि की प्रक्रिया वहाँ (श्लो. ५३-५४) इस प्रकार बताई गई है—बुद्धितत्त्व से जीवन, संरम्भ और गर्व नामक त्रिविध वृत्ति वाले अहंकार की उत्पत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों के कारण पुरुष व्यावहारिक रूप में विषयों का उपभोग करता है। यह अहंकार भी सात्त्विक, राजस और तामस के भेद से त्रिधा विभक्त हो जाता है। वैकारिक, तैजस और भूतादि के नाम से इनको पहचाना जाता है। आगे (श्लो. ५५) तैजस अहंकार से मन की, वैकारिक से दशविध इन्द्रियों की तथा भूतादि अहंकार से पाँच तन्मात्राओं की सृष्टि बताई गई है। इस तरह से त्रिविध अहंकार से षोडश पदार्थों की सृष्टि होती है। इस [2]षोडशविध सर्ग का परिचय वहाँ (श्लो. ५६-६०) इस तरह से उपलब्ध होता है—मन इच्छास्वरूप है, संकल्प इसका व्यापार है। श्रोत्र, त्वक्, दृक्, जिह्वा और नासा—ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों का क्रमश: ग्रहण इनके व्यापार हैं। इसी तरह वाक्, पाणि, पाद पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द ये पाँच क्रमश: इन कर्मेन्द्रियों के व्यापार हैं। इनमें बुद्धि, अहंकार और मन को अन्त:करण तथा कर्मेन्द्रिय और बुद्धीन्द्रिय के भेद से बाह्य करण दशविध माने जाते हैं। अन्ततः पाँच तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी नामक पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। अहंकार से सृष्ट षोडश पदार्थों का परिचय देने के बाद तन्मात्राओं

---

१. बुद्धि, अहंकार और मन का स्वरूप लुप्ता. उपो., पृ. १९५ की पहली टिप्पणी के आधार पर विभिन्न ग्रन्थों में देखा जा सकता है। कहीं अहंकार, बुद्धि और मन तथा अन्यत्र मन, बुद्धि और अहंकार—इस तरह से इनके क्रम में भी भिन्नता मिलती है। बुद्धि के भाव-प्रत्यय सर्ग का तथा अहंकार की त्रिविध सृष्टि के अतिरिक्त पाँच प्राणवृत्तियों का इनकी सहायता से विस्तृत परिचय प्राप्त किया जा सकता है। बुद्धि के भाव-प्रत्यय सर्ग का सांख्य दर्शन की अपेक्षा शैवागमों में बहुत अधिक विस्तार है। इसके धर्म आदि आठ रूप भाव और सिद्धि आदि प्रत्यय कहलाते हैं। पृ. ३५२ की टिप्पणी भी देखिये।

२. षोडशक सर्ग का ढाँचा शैवागमों में भी सांख्यदर्शन के क्रम का ही अनुसरण करता है। इनके क्रम में कहीं-कहीं अन्तर अवश्य है। लुप्ता. उपो., पृ. १९५ की दूसरी टिप्पणी के आधार पर अनेक विषयों की स्थलनिर्देशपूर्वक सूचना प्राप्त की जा सकती है।

और महाभूतों के विषय में वहाँ (श्लो.६१-६२) कहा है कि तन्मात्राओं के शब्द आदि पाँच सामान्य विषय माने गये हैं। इनसे पाँच[१] महाभूतों की सृष्टि होती है। आकाश आदि पाँच महाभूतों में एक-एक गुण की वृद्धि के आधार पर शब्द आदि की विशेष स्थिति मानी गई है। इन आकाश आदि महाभूतों के क्रमश: अवकाशदान, व्यूहन, पाक, संग्रह और धारण—ये पाँच व्यापार माने गये हैं। यह २४ अशुद्ध तत्त्वों का परिचय यहाँ प्राय: सांख्यदर्शन की पद्धति से ही दिया गया है। इस विषय में शैवागमों की विशेषता पर आगे (पृ. ४१४-४१८) प्रकाश डाला जा रहा है।

ऊपर वर्णित तन्मात्रपंचक और महाभूतपंचक का समावेश [२]दशविध कार्य वर्ग में तथा बाह्य और आन्तर त्रयोदश इन्द्रियों की गणना करण वर्ग में की जाती है। इनका विनियोग तत्त्वप्रकाश (श्लो. ६३) में इस प्रकार प्रदर्शित है—यहाँ दशविध कार्य वर्ग की प्रतीति त्रयोदशविध करण वर्ग की सहायता से होती है। बिना आश्रय के करणों (इन्द्रियों) की प्रवृत्ति हो नहीं सकती, अत: सूक्ष्म और स्थूल शरीर का, कार्य वर्ग का आश्रय लेकर ही ये प्रवृत्त होती हैं।

इन सभी तत्त्वों के त्रिविध विभाग का आधार भी वहाँ (श्लो. ६४-६६) इस तरह से बताया गया है—आरंभ के पाँचों तत्त्वों का संबन्ध चिच्छक्ति के विभिन्न प्रकारों से जुड़ा हुआ है, अत: ये शुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। आगे के माया आदि सात तत्त्वों को चिदचिद्रूपता के आधार पर शुद्धाशुद्ध विभाग में रखा गया है। अव्यक्त आदि चौबीस तत्त्वों की गणना अशुद्ध विभाग में इसलिये की जाती है कि त्रिगुणों की सुख-दु:ख-मोहात्मकता के कारण ये सदा अशुद्ध स्थिति में रहते हैं। अन्तिम दस तत्त्वों की अपनी कुछ विशेषता है। तदनुसार तन्मात्राओं और महाभूतों में शब्द आदि गुणों की सूक्ष्म और स्थूल रूप में समान स्थिति है। अन्यत्र बिन्दु-माया आदि की कारण तथा अंगी के रूप में और शक्ति आदि की कार्य तथा अंग के रूप में स्थिति मानी जाती है। अभिप्राय यह है कि तन्मात्राओं में विद्यमान शब्द आदि गुण ही महाभूतों में समान रूप से अभिव्यक्त हो उठते हैं और बिन्दु माया

---

१. स्थूल पंचमहाभूतों के स्वरूप पर यहाँ लुप्ता. उपो., पृ. १९६ की पहली टिप्पणी में निर्दिष्ट तत्त्वसंग्रह, भोगकारिका, मृगेन्द्र, मतंग और तन्त्रालोक के आधार विचार किया जा सकता है। तन्त्रालोक (९.३०६-३१४) में शिव से धरणी पर्यन्त तत्त्वों के व्याप्यव्यापक भाव पर भी विचार किया गया है।

२. सांख्यदर्शन के समान शैवागमों में भी यह विषय चर्चित है। तत्त्वसंग्रह (श्लो. ४-६) में और इसी प्रसंग में अन्य ग्रन्थों में भी यह विषय देखा जा सकता है।

आदि में शक्ति-कला आदि की स्थिति अंगांगीभाव की, गुण-प्रधान भाव की होती है।

इस तरह से तत्त्वप्रकाश में [१]सृष्टिक्रम से सभी तत्त्वों की स्थिति बताई गई है। [२]संहारक्रम से तत्त्वों की स्थिति का वर्णन भी वहीं (श्लो. ६७-६८) इस तरह से मिलता है—प्रतिलोम क्रम में पृथ्वी से लेकर कला पर्यन्त समस्त तत्त्वों का लय माया में हो जाता है। माया से ऊपर के शुद्ध तत्त्वों का लय शक्ति में हो जाता है और यह शक्ति भी परमात्मा शिव में अविभाग दशा को प्राप्त कर लीन हो जाती है।

भाव-प्रत्यय सर्ग

अष्टप्रकरण के अन्य ग्रन्थों में अशुद्ध तत्त्वों का विशेष कर बुद्धिसर्ग, अहंकारसर्ग आदि का विशेष विवरण मिलता है। उसको भी यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। पहले (पृ. ३५२ टि.) भावों और प्रत्ययों की चर्चा हुई है। सांख्यकारिका (श्लो. ४३-५२) में भी बुद्धि के भाव और प्रत्यय नामक सर्ग की चर्चा मिलती है। धर्म आदि आठ भावों की गणना वहाँ २३वीं कारिका में की गई है। प्रत्यय सर्ग की चर्चा करते हुए वहाँ बताया गया है कि यह चार प्रकार का है—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि। बाद में बताया गया है कि इसके पचास भेद हो जाते हैं। इनका वर्णन करने के उपरान्त यह कारिका दी गई है—

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।।

यहाँ लिंग और भाव नामक द्विविध सृष्टि उपसंहृत है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि "एष प्रत्ययसर्गः" (का. ४६) कह कर सांख्यकारिकाकार ने भाव और प्रत्यय का बुद्धि की सृष्टि के रूप में और तन्मात्र-सर्ग का लिंग-सर्ग के रूप में वर्णन किया है। शैवागमों में भी भाव और प्रत्यय सर्ग के रूप में बुद्धि-सर्ग ही वर्णित हैं। धर्म आदि का भाव-सर्ग के रूप में और विपर्यय आदि का प्रत्यय-सर्ग के रूप में वहाँ स्पष्ट वर्णन मिलता है। भोगकारिका (श्लो. ६०) की व्याख्या में अघोरशिव

---

१. सृष्टिक्रम से तत्त्वविचार परापंचाशिका, सौभाग्यसुधोदय, योगिनीहृदय आदि में किया गया है। स्थलनिर्देश के साथ अन्य अनेक ग्रन्थों का उल्लेख लुप्ता. उपो., पृ. १९६ की तीसरी टिप्पणी में देखिये।

२. तत्त्वसंग्रह, भोगकारिका और विरूपाक्षपंचाशिका में संहारक्रम से तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ने पौष्करागम के प्रमाण से स्पष्ट किया है कि बुद्धि में वासना के रूप में स्थित धर्म आदि आठ भाव कहलाते हैं। ये भाव ही जब स्थूल रूप धारण कर जीव की भोग्य दशा में प्रविष्ट हो उसकी प्रतीति कराने में समर्थ हो जाते हैं, तो उनको प्रत्यय कहते हैं (पृ. २१७)। इन प्रत्ययों की संख्या शैवागमों में तीन सौ मानी गई है—

धर्मो दशभिर्भेदैर्ज्ञानमशीत्या शतेन वैराग्यम् ।
ऐश्वर्यं चतु:षष्ट्या दशभिरधर्मस्तदर्धतोऽज्ञानम् ।।

दशभिरवैराग्यं चानैश्वर्यं भिन्नमेकविंशत्या ।
भावप्रत्ययभेद: संक्षेपोक्त: शतत्रयेणायम् ।।

शैव एवं सांख्य दृष्टि में अन्तर

सांख्यदर्शन में महत् से लेकर सूक्ष्मतन्मात्रा पर्यन्त अठारह तत्त्वों से बने सूक्ष्मशरीर का लिंग-सर्ग में और धर्म आदि आठ भावों की सृष्टि का भाव या प्रत्यय सर्ग में समावेश माना गया है। ये धर्म आदि भाव सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृत भेद से त्रिविध माने गये हैं। वैकृत भावों को नैमित्तिक माना गया है। [१]धर्म आदि को सात्त्विक तथा अधर्म आदि को तामस कहा जाता है।

सिद्धान्तशैव दर्शन में कला से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त तीस तत्त्वों की सूक्ष्मशरीर में स्थिति मानी गई है। भोगकारिका (का. ५५) में अधर्म आदि तीन को तमोमय, राग को रजोमय और [२]धर्म आदि को सत्त्वमय माना गया है।

---

१. "धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्।।" (सां. का. २६)

२. तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमारदेव धर्म शब्द की व्याख्या इस तरह से करते हैं—"सुख का असाधारण कारण धर्म है ...ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है। मीमांसक विधिवाक्य को धर्म मानते हैं। ...अन्य आचार्यों के मत से धर्म पुरुष का ऐसा गुण है, जिससे कर्ता को प्रीति, कल्याण और मोक्ष की प्राप्ति होती है।... अन्य आचार्य अहिंसा को ही धर्म मानते हैं। बौद्धों के मत में चैत्यवन्दन आदि को ही धर्म माना गया है। कुछ आचार्य परोपकार को धर्म मानते हैं" (पृ. ३७)। इस तरह से छ: पक्षों को उपस्थापित कर कुमारदेव इनमें से अन्तिम तीन मतों को अस्वीकार करते हैं और उनका कारण भी बताते हैं। यहाँ हमें विचार करना है कि अहिंसा आदि को योगसूत्रकार पतंजलि (२.३१) ने सार्वभौम महाव्रत बताया है। परोपकार के विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है—"अठारह पुराणों में व्यास ने दो ही बातों पर जोर दिया है कि परोपकार से पुण्य और दूसरों को पीडा पहुँचाने से पाप होता है"। एक दूसरा वचन भी प्रसिद्ध है—"मैं पृथ्वी का राज्य, स्वर्ग या मोक्ष भी नहीं चाहता"। ऐसे वाक्यों के रहते भला हम अहिंसा और परोपकार को धर्म की परिधि से अलग कैसे कर सकते हैं?

सांसिद्धिक, वैनयिक और प्राकृत नामक त्रिविध भावों का वर्णन मृगेन्द्रागम के विद्यापाद (१०.२६-२८) में मिलता है। तदनुसार विशिष्ट धर्मों के संस्कार से निर्मल चित्तवाले सिद्धों का यह सांसिद्धिक गुण स्थूल देह के न रहने पर भी टिका रहता है। लोक-व्यवहार, गुरुजन अथवा शास्त्र की सहायता से वैनयिक गुण अर्जित किया जाता है और प्राकृत गुण की अभिव्यक्ति स्थूल देह का संयोग होने पर मन, वाणी अथवा शरीर की चेष्टा से होती है। वैकृत अथवा नैमित्तिक भावों को यहाँ वैनयिक नाम दिया गया है। भावसर्ग और प्रत्ययसर्ग का स्वरूप भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। तदनुसार बुद्धि में वासना के रूप में स्थित [1]धर्म आदि आठ भाव कहलाते हैं। इन्ही भावों का जब अधिक विकास होता है, तब ये स्थूल दशा को, भोग्य दशा को प्राप्त कर संसारी जीवों के प्रत्यय (ज्ञान) में वृद्धि कराते हैं। इनका क्रम यह है—राजस अवैराग्य के साथ धर्म आदि चार सात्त्विक भावों से सिद्धि की उत्पत्ति होती है। इससे व्यक्त गुण आदि की, अव्यक्त प्रधान की और ज्ञत्व स्वरूप पुरुष की प्रतीति स्पष्ट रूप से होने लगती है। यही ज्ञान प्रकर्ष अवस्था में पहुँच जाता है, तो उसे सिद्धि कहा गया है (मृ. वि. ११.२)।

त्रिगुण

सत्त्व आदि गुण तीन हैं, किन्तु इनकी गणना एक ही तत्त्व के रूप में की जाती है, यह बताया जा चुका है (पृ. १७६)। गुणत्रय से विषयों का निर्णय करने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है। इस बुद्धि में धर्म आदि गुण (भाव) स्थित हैं और सिद्धि आदि प्रत्ययों की भी स्थिति इसीमें मानी गई है। बुद्धितत्त्व से केवल अभिमानात्मक अहंकार ही नहीं, उसकी जीवन, संरम्भ और गर्व रूप वृत्तियाँ भी जन्म लेती हैं। सात्त्विक, राजस, तामस गुणों को यहाँ [2]वैकारिक, तैजस और

---

१. धर्म आदि आठ बुद्धि के गुणों को भाव और सिद्धि आदि चार को प्रत्यय कहा जाता है। धर्म आदि भाववर्ग तथा सिद्धि आदि प्रत्ययवर्ग, यह द्विविध सर्ग बुद्धि से ही संबद्ध है। सांख्यकारिका में भी इसी रूप में यह प्रतिपादित है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ प्रत्ययसर्ग के ५० ही भेद वर्णित हैं, जब कि सिद्धान्तागमों में इसके ३०० भेद बताये गये हैं। नैयायिक इनको आत्मा के गुण मानते हैं। सांख्यशास्त्र एवं आगमशास्त्र में इनको बुद्धि का गुण माना गया है।

२. कुमारदेव तत्त्वप्रकाश की व्याख्या में इसी क्रम को स्वीकार करते हैं। गुरुदेव सात्त्विक से तैजस, राजस से वैकारिक और तामस से भूतादि का ग्रहण कर तत्त्वप्रकाश के वचन को उद्धृत कर तदनुरूप ही उसकी व्याख्या करते हैं (गु. प. क्रि., पृ. १३)। आगमों में प्रधानत: इसी पक्ष को स्वीकार किया गया है, यह हम अनेक स्थलों पर बता चुके हैं। "तैजसानि शरीराणि" (३.२४७.१३) यह महाभारत का वचन तैजस शब्द से सात्त्विक गुण का ही बोध कराता है।

भूतादि नामों से जाना जाता है। सांख्यकारिका के इस पक्ष को तत्त्वप्रकाश टीकाकार कुमार भी मानते हैं। विपरीत क्रम की भी उन्होंने चर्चा की है। तदनुसार इनका क्रम है—तैजस, वैकारिक और भूतादि। अघोरशिव सर्वत्र इसी क्रम को स्वीकार करते हैं। भोगकारिका (का. ३५) में भी यही क्रम स्वीकृत है। योगिनीहृदय की दीपिका टीका में उद्धृत [१]स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में भी यही क्रम मिलता है।

प्राण आदि पाँच वायु

सांख्यदर्शन में तीनों [२]अन्तःकरणों की सामान्य वृत्ति के रूप में प्राण आदि पाँच वायु वर्णित हैं। इसके विपरीत शैवदर्शन में अहंकार की संरम्भ नामक वृत्ति से शरीर-स्थित पाँच अथवा दश प्राण स्पन्दित होते हैं। "पञ्चकर्मकृतः" (का. ३३) भोगकारिका के इस वचन की व्याख्या करते समय अघोरशिव का कहना है कि शरीर को धारण करने के लिये प्रणयन आदि पाँच व्यापारों को वृत्तिभेद से सम्पन्न करने वाले प्राण, अपान आदि संज्ञा वाले वायु का प्रवर्तक संरम्भ नामक प्रयत्न अहंकार की वृत्ति मानी जाती है। प्राण आदि पाँच वायु प्रधान हैं, अतः उनका ही निर्देश यहाँ किया गया है। उद्गार आदि भी वायु की ही वृत्तियाँ मानी जाती हैं, अतः उनका भी ग्रहण यहाँ करना चाहिये (पृ. २११)। अहंकार का करण-स्कन्ध पंचप्राणात्मक और प्रकृति-स्कन्ध सत्त्व, रज और तमोगुणमय है, ऐसा अभिनवगुप्त का भी कथन है (तन्त्रा. ९.२३१-२३३)।

आहंकारिक सृष्टि

आहंकारिक सृष्टि के प्रतिपादन में भी सिद्धान्तशास्त्र की अपनी विशेषता है। कुमारदेव के अनुसार तैजस (राजस) अहंकार से चल-स्वभाव मन की, वैकारिक (सात्त्विक) से प्रकाश एवं लाघव-स्वभाव दस इन्द्रियों की और भूतादि (तामस) से तमोमय तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। अन्य आचार्य तैजस (सात्त्विक) अहंकार से स्वच्छ एवं लघु स्वभाव मन की उत्पत्ति मानते हैं। सात्त्विक के साथ वैकारिक (राजस) अहंकार से ज्ञानसाधन बुद्धीन्द्रियों की और तामस के साथ वैकारिक (राजस) अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है। सांख्यदर्शन में सात्त्विक (वैकृत) अहंकार से एकादश इन्द्रियों की और तामस से तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानते हैं (पृ. ९१)। अघोरशिव के अनुसार तैजस (सात्त्विक) अहंकार से मन और

---

१. योगिनीहृदय के हमारे भाषा-भाष्य (पृ. १८८) में—"सोऽयं तैजसवैकारिभौतिकाख्यास्वरूपतः" स्वच्छन्दसंग्रह का यह वचन उद्धृत है।

२. "अन्येऽन्तःकरणं प्राणमिच्छन्ति व्यक्तचेतनम्" (का. ३०) भोगकारिका के इस वचन में सांख्यमत ही सूचित है। अघोरशिव के अनुसार यहाँ का व्यक्तचेतन पद चार्वाक मत का सूचक है।

बुद्धीन्द्रियों की, वैकारिक (राजस) से कर्मेन्द्रियों की और भूतादि (तामस) से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। वे कहते हैं कि तैजस से मन की और वैकारिक से उभयविध इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है (पृ.९२)। "उत्पत्तिरहङ्कारात्"(का.७) तत्त्वसंग्रह के इस वचन की व्याख्या करते समय अघोरशिव कहते हैं कि मन और बुद्धीन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक (तैजस) अहंकार स्कन्ध से, कर्मेन्द्रियों की राजस (वैकारिक) से और भूतयोनि तन्मात्राओं की उत्पत्ति तामस (भूतादि)—इस प्रकार त्रिविध अहंकार से होती है (पृ. १८८)। वे ही यह भी कहते हैं कि बुद्धीन्द्रियों की सहायता से तैजस (सात्त्विक) अहंकार से ज्ञानशक्ति का और कर्मेन्द्रियों की सहायता से राजस (वैकारिक) अहंकार से क्रियाशक्ति का उन्मीलन होता है (पृ. ११९)। उनका यह कथन भोगकारिका के अनुरूप है। जैसे कि—

समनोबुद्धिदेवानां गणो यस्मात् प्रकाशकः ।
तस्मात् स सात्त्विकाज्जातः स्वानुरूपादहङ्कृतः ।।
(श्लो. ३६)

राजसाद् वैकृताद् वर्गः कर्माक्षाणां तु कर्मकृत् ।
(श्लो. ४३)

मात्रासंघोऽप्यहङ्काराद् वर्गद्वयविलक्षणः ।
प्रकाश्यस्तामसस्तस्माज्जातो भूतादिसंज्ञकात् ।।
(श्लो. ४५)

तन्त्रालोक (९.२३४,२५३,२७२) में भी यही पक्ष स्वीकृत है। यहाँ अभिनवगुप्त "तैजसादुभयम्" (का. २५) इस सांख्यकारिका के पक्ष को भी प्रस्तुत करते हैं। मन की राजस अहंकार से उत्पत्ति, मन की सात्त्विक अहंकार से उत्पत्ति, बुद्धीन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की राजस अहंकार से उत्पत्ति और खेटपाल के कर्मेन्द्रियों की राजस अहंकार से उत्पत्ति के पक्ष को प्रस्तुत करने के बाद अभिनवगुप्त (९.२७६-२७७) पूर्वशास्त्र के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात् सात्त्विकात् पुनः ।
इन्द्रियाणि समस्तानि युक्तं चैतद् विभाति नः ।।

उनके इस मत की समीक्षा अपेक्षित है। मालिनीमत का श्लोक यह है—

तत् त्रिधा तैजसात् तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत ।
वैकारिकात् ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात् ।।
(१.३१)

सांख्यकारिका की पद्धति से तैजस पद को राजस का पर्याय मानकर अभिनवगुप्त का यह कथन है। [1]जयरथ यहाँ अभिनवगुप्त की व्याख्या का अनुसरण नहीं करते (९.२७४-२७५)। वस्तुतः मालिनीमत में यहाँ सिद्धान्त-शैवागमों का ही अनुसरण किया गया है, सांख्यकारिका का नहीं। तैजस, वैकारिक और भूतादि शब्द शैवागमों में क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस के अर्थ में प्रयुक्त हैं, जैसा अभी ऊपर बताया गया है।

अन्य मतों की समीक्षा

भाट्ट मत के अनुयायी मन को विभु मानते हैं। उस मत का खण्डन कर यहाँ मन की अणुता स्थापित की गई है। नैयायिक बुद्धीन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। उनके मत का निरास कर सांख्यदर्शन की पद्धति से उनकी आहंकारिकता मानी गई है। नैयायिक कर्मेन्द्रियों को नहीं मानते। उनके पक्ष की भी यहाँ समालोचना की गई है। भ्रूक्षेप आदि की भी कर्मेन्द्रियता सिद्ध करने वालों के पक्ष का भी यहाँ खण्डन किया गया है। भोगकारिका (का. २३) में कर्मेन्द्रियों की आनन्द आदि वृत्तियों के आधार पर उनकी संख्या निश्चित कर दी गई है। तदनुसार कर्मेन्द्रियों की अनन्त संख्या वाला पक्ष खण्डित हो जाता है। भोगकारिका (का.२६) में ही यह भी बताया गया है बुद्धीन्द्रियों की स्थिति उन-उन स्थानों में करण के रूप में मानी जाती है, अधिष्ठान के रूप में नहीं, क्योंकि अधिष्ठानों के रहते हुए भी करण के वैकल्य से श्रवण आदि की ज्ञप्ति नहीं होती। **तन्मात्र** शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि यहाँ पंचमहाभूत का संपर्क अथवा तद्रूप में इसका परिणाम नहीं होता। केवल सूक्ष्म रूप में स्थित शब्द आदि ही तन्मात्र कहलाते हैं (पृ. ९६)।

पांचभौतिक सृष्टि

"भूतानि पञ्च" (का. ६१) यहाँ भोजराज ने महाभूतों की उत्पत्ति बताई है। कुमारदेव मतभेद के उल्लेख के साथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि [2]शब्द

---

१. इसी प्रकरण में जयरथ आगमिक पक्ष के अतिरिक्त सांख्य पक्ष को भी प्रस्तुत करते हैं—"वैकारिकशब्दाभिधेयात् सात्त्विकादहङ्कारात्" (९.२७४-२७५)।

२. "पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि" (का. २२) इस कारिका की व्याख्या करते समय सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसी पक्ष को स्वीकार किया गया है। जैसे कि—शब्दतन्मात्रा से शब्द गुण वाला आकाश, शब्दतन्मात्रा के साथ स्पर्शतन्मात्रा से शब्द-स्पर्श गुण वाला वायु, शब्द-स्पर्श तन्मात्रा के साथ रूपतन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप गुण वाला तेज, शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्रा के साथ रसतन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुण वाला जल तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रसतन्मात्रा के साथ गन्धतन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुण वाली पृथिवी पैदा होती है। योगिनीहृदय (२.३०,३२) में इसी पक्ष को मान्यता मिली है। वहाँ सौभाग्यविद्या को भूतगुणात्मिका पंचदशाक्षरी माना गया है। यहाँ पाँचों भूतों के गुण मिलकर १५ होते हैं।

तन्मात्र से एकमात्र शब्द गुण वाले आकाश की उत्पत्ति होती है। शब्द-तन्मात्र के साथ स्पर्श-तन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुण वाले वायु की, उक्त दो तन्मात्राओं के साथ रूप-तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप-गुण वाले तेज की, उक्त तीन तन्मात्राओं के साथ रस-तन्मात्र से चार गुण वाले जल तत्त्व की और उक्त चार तन्मात्राओं के साथ गन्ध-तन्मात्र से पाँच गुण वाली पृथिवी की सृष्टि होती है। अन्य मत के अनुसार एक-एक तन्मात्रा से क्रमशः एक-एक भूत की सृष्टि मानी गई है। तीसरे मत के अनुसार शब्द-तन्मात्र से आकाश और स्पर्शतन्मात्रा की, स्पर्शतन्मात्रा से वायु और रूपतन्मात्रा की, रूपतन्मात्रा से तेज और रसतन्मात्रा की, रसतन्मात्रा से जल और गन्धतन्मात्रा की और गन्धतन्मात्रा से पृथिवी की उत्पत्ति मानी गई है। चौथे मत के अनुसार शब्दतन्मात्रा से आकाश, इन दोनों के साथ स्पर्शतन्मात्रा से वायु, इन तीनों के साथ रूपतन्मात्रा से तेज, इन चारों के साथ रसतन्मात्रा से जल, इन पाँचों के साथ गन्धतन्मात्रा के पृथिवी की उत्पत्ति मानी गई है। पाँचवें मत के अनुसार शब्दतन्मात्रा से आकाश, आकाश से स्पर्शतन्मात्रा, इससे वायु, वायु से रूपतन्मात्रा, उससे तेज, तेज से रसतन्मात्रा, उससे जल, जल से गन्धतन्मात्रा और उससे पृथिवी की उत्पत्ति होती है।

इस प्रसंग में अघोरशिव मृगेन्द्रागम के प्रमाण से आकाश में एकमात्र शब्द गुण, वायु में शब्द और स्पर्श, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द से गन्ध पर्यन्त पाँच गुण मानते हैं (पृ. ९७)। वैशेषिक मत में शब्द आकाश का विशेष गुण है। इस मत का खण्डन भी वे मृगेन्द्रागम के प्रमाण से ही करते हैं। तत्त्वसंग्रह और भोगकारिका की वृत्ति में भी अघोरशिव ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

ऊपर ३६ तत्त्वों का जो त्रिविध विभाग प्रदर्शित हैं, उसका परिचय शतरत्नसंग्रह में अचिन्त्यागम की पद्धति से भिन्न प्रकार से दिया है। तदनुसार चौबीस संख्या के अशुद्ध तत्त्वों का भोग्य-काण्ड में, आगे के सात शुद्धाशुद्ध (मिश्र) तत्त्वों का भोक्तृ-काण्ड में और शुद्ध पाँच तत्त्वों का प्रेरक-काण्ड में परिगणन किया गया है। प्रथम शुद्ध तत्त्वों की प्रेरकता इसलिये मानी गई है कि नाद आदि के रूप में ये वैखरी आदि वाणियों के प्रेरक हैं। साथ ही इनके शुद्ध भुवनों में रहने वाले अधिकारी वर्ग के प्राणी सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हैं एवं दुःख आदि से रहित हैं। भोक्तृ-काण्ड के जीव शुद्ध और अशुद्ध उभयरूप हैं, अर्थात् इनमें स्वल्प मात्रा में सर्वज्ञता के रहने से शुद्धता तथा स्वल्प मात्रा में ही दुःख आदि का संयोग रहने से अशुद्धता भी रहती है। भोग्य-काण्ड को अशुद्ध इसलिये

माना जाता है कि यहाँ रहने वाले जीव अल्पज्ञ एवं दुःखबहुल जीवन बिताते हैं। शतरत्नसंग्रह (पृ. ५३-५४) में इनका विवरण देखा जा सकता है।

तत्त्वत्रय

तन्त्रसमुच्चय में इस सारे विश्व का नर, शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्वों में समावेश किया गया है। विज्ञानभैरव की विवृति (पृ. ३) में भी इन्ही की चर्चा है। नरेश्वरपरीक्षा में सद्योज्योति शिवाचार्य ने इन तीन तत्त्वों की विशद व्याख्या की है। नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) में भी ये ही तीन तत्त्व स्वीकृत हैं। योगिनीहृदय की दीपिका टीका में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह और स्वच्छन्दतन्त्र (११.४८-५०) में आत्मा, विद्या और शिव के नाम से इन तीन तत्त्वों का वर्णन मिलता है और सौभाग्यसुधोदय (१.४९) में इनका परिचय दिया गया है। रौरवागम (१.१) में भी ये चर्चित हैं। मालिनीविजय (२.४७) में विज्ञानाकल पर्यन्त आत्मतत्त्व की, ईश्वर पर्यन्त विद्यातत्त्व की और शेष दो तत्त्वों की शिव-पद में गणना की गई है। मालिनीविजय (१.१४-१६) में तत्त्वों की हेयता और उपादेयता भी प्रदर्शित है। रत्नत्रय में बिन्दु, शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्वों (रत्नों) का विशद विवरण दिया गया है। इस [1]त्रितत्त्ववादी सिद्धान्त में अन्य तत्त्वों का इन्हींमें अन्तर्भाव कर लिया जाता है, जैसे कि पति, पशु, पाश नामक विभाग में इन तत्त्वों का। शैवदर्शनबिन्दु (पृ. १६-१७) में महामाया, पुरुष और शिव नामक तीन तत्त्वों को मान्यता दी गई है और समस्त छत्तीस तत्त्वों का इनमें अन्तर्भाव प्रदर्शित है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. ३५५-३७२) में त्रितत्त्व-न्यास के रूप में इनकी व्याप्ति का प्रकार प्रदर्शित है।

६. भुवनाध्वा

जहाँ सब कुछ पैदा होता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर भुवन शब्द जगत् का पर्याय है। शैवागमों में २२४ भुवन परिगणित हैं। ये भुवन पृथिवी से लेकर शिव[2]

---

१. यहाँ निर्दिष्ट तीन तत्त्वों की प्रक्रिया के अतिरिक्त दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि के अवसरों पर **पंचतत्त्व दीक्षा** का प्रसंग तन्त्रालोक (११.३४-४२) में तथा प्रतिष्ठा आदि के अवसरों पर संपाद्य त्रिमूर्ति, पंचमूर्ति, अष्टमूर्ति आदि न्यासों का विवरण सिद्धान्तसारावलि (पृ. ३४८-३६१) में देखा जा सकता है।

२. इसीलिये मतंग के विद्यापाद में शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों के स्वरूप के निरूपक उन उन पटलों में शिव से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के भुवनों का भी निरूपण मिलता है। पृथ्वीतत्त्व के निरूपक २३वें पटल में शतरुद्रों, सात संख्या के लोकों, द्वीपों, समुद्रों और पातालों, नरकों एवं कालाग्निभुवन का भी वर्णन है। अध्वसंख्या-निरूपक २४वें पटल में

पर्यन्त तत्त्वों में स्थित हैं। इनका प्रमाण [1]तन्त्रसार में संक्षेप में इस तरह से वर्णित है—"इनमें पृथिवी तत्त्व शतकोटि योजन विस्तीर्ण है। इसीको **ब्रह्माण्ड** गोलक कहा जाता है। इसके भीतर कालाग्नि, नरक, पाताल, पृथिवी और ब्रह्मलोक पर्यन्त स्वर्ग स्थित है। ब्रह्माण्ड के बाहर शतरुद्रों की स्थिति है। इन ब्रह्माण्डों की कोई गणना नहीं है। इसके बाद धरातत्त्व से दशगुणित जलतत्त्व स्थित है। आगे अहङ्कार पर्यन्त तत्त्वों का परिमाण उत्तरोत्तर दशगुणित होता जाता है। जैसे—जल, तेज, वायु, आकाश, पंचतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और अहंकार—ये क्रमशः दशगुणित होते जाते हैं। इसके आगे बुद्धितत्त्व का परिमाण अहंकार से सौ गुना अधिक और प्रकृतितत्त्व का परिमाण बुद्धितत्त्व से हजार गुना अधिक है। यहाँ तक के भुवन **प्रकृत्यण्ड** की परिधि में आते हैं। ब्रह्माण्ड के समान प्रकृत्यण्ड भी असंख्य हैं।

प्रकृति तत्त्व की अपेक्षा पुरुष तत्त्व का परिमाण दस हजार गुना अधिक है। पुरुष से नियति का परिमाण एक लाख गुना अधिक है। नियति से कला पर्यन्त तत्त्वों का परिमाण दस लाख गुना अधिक माना गया है। इनका क्रम यह है—नियति, राग, अशुद्धविद्या, काल और कला। कलातत्त्व से कोटिधा मायातत्त्व का विस्तार है। यहाँ तक **मायाण्ड** की स्थिति है। मायातत्त्व से शुद्धविद्या का परिमाण दस करोड़ गुना अधिक है। विद्यातत्त्व से ईश्वरतत्त्व सौ करोड़ गुना, ईश्वर से सादाख्य हजार करोड़ गुना और सादाख्य से शक्तितत्त्व एक वृन्द गुना अधिक परिमाण माना गया है। यहां तक **शक्त्यण्ड (महामायाण्ड)** की व्याप्ति है। यह शक्ति सारे विश्व को बाहर-भीतर से व्याप्त कर रहती है, इसके लिये इसे **व्यापिनी** कहा जाता है। इस तरह से यहाँ वर्णित उत्तरोत्तर तत्त्व पूर्व-पूर्व के तत्त्वों को आवृत कर

देश-परिमाण की परिभाषा और भुवनों के परिमाण को बताकर सकलाध्वसंहार नामक २५वें पटल में कालपरिमाण की परिभाषा को दिखाकर समय के अनुसार होने वाले समस्त अध्वाओं के उपसंहार को भी बताया गया है। भारत के पवित्र तीर्थों के नाम वहीं (१९.३४-३९) मिलते हैं। जपसिद्धि के योग्य क्षेत्रों की नामावली स्वच्छन्द (९.३६-३८) में दी गई है। क्षेमराज ने यहाँ (पृ. ८६) **संबाध** का अर्थ संकट, अर्थात् दो नदियों के जल का एक साथ बहने वाला प्रवाह किया है। आजकल के प्रचलित शब्दों में इसे संगम कहेंगे। सरस्वती और चर्मण्वती नदियों के बीच का प्रदेश **ब्रह्मावर्त** और गंगा-यमुना के प्रवाह के मध्य का भाग **अन्तर्वेदी** है। रौरवागम के विद्यापाद के अध्वविधि-पटल में कालाग्नि से आरंभ कर भुवन वर्णित हैं। यहाँ की संपादकीय टिप्पणियाँ विशेष महत्त्व की हैं। लुप्ता. उपो., पृ. १९८ की चालू टिप्पणी भी देखिये।

१. तन्त्रसार (पृ. ६३-६८) और मालिनीविजय के पंचम अधिकार में भुवनाध्वा पर विचार किया गया है। तन्त्रसार के समान मतंग (२४.१-४५) और सिद्धान्तसारावलि (पृ. ६१-६३) में भी भुवनों का देश-परिमाण वर्णित है।

स्थित हैं, अत: उत्तरोत्तर तत्त्व व्यापक तथा पूर्व-पूर्व तत्त्व व्याप्य कहलाते हैं। अब तक प्रदर्शित यह पृथ्वी से लेकर शक्तितत्त्व पर्यन्त समस्त अध्वा शिवतत्त्व से व्याप्त है। इस शिवतत्त्व के प्रमाण की कोई इयत्ता न रहने से यह अप्रमेय, सभी अध्वाओं से ऊपर और समस्त अध्वाओं को अपने में समेटे हुए है'' (पृ. ६४-६५)। सिद्धान्तसारावलि (१.२१) में भी यह विषय चर्चित है। वहाँ (१.२५) एक से परार्ध पर्यन्त संख्या भी परिभाषित है।

इनमें से पृथिवीतत्त्व में वर्तमान १०८ भुवनों के नाम गुरुदेवपद्धति के प्रमाण से कुमारदेव ने तत्त्वप्रकाश (का. ५) की टीका में गिनाये हैं। बचे हुए जल-तत्त्व से शिवतत्त्व तक के भुवनों की नामावली हमने [1]तन्त्रयात्रा (पृ. २६-२७) में तालिका के रूप में प्रस्तुत की है। शैव सिद्धान्तागमों में भुवनाध्वा के स्वरूप पर विस्तार से विचार मिलता है। इनमें परस्पर भिन्नता देखने को मिलती है। किरणागम विद्यापाद के आठवें भुवन पटल में, [2]स्वच्छन्दतन्त्र के दसवें पटल में, [3]तन्त्रालोक के अष्टम आह्निक में और स्वच्छन्दोद्योत तथा तन्त्रालोकविवेक में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचनों का उद्धरण देते हुए भुवनाध्वा पर विस्तार से विचार किया गया है। यह एक स्वतन्त्र अनुशीलन का विषय है।

षडध्वशुद्धि

"दीक्षित व्यक्ति जब अपने शरीर की शुद्धि करता है, तो इस षड्विध अध्वा की भी शुद्धि हो जाती है'' (११.८३) ऐसा कहते हुए तन्त्रालोककार ने इस प्रकरण को प्रारंभ किया है। यह शुद्धि क्या है? इसके उत्तर में वहाँ (११.८५-८६) बताया गया है कि इस शुद्धि के अनेक प्रकार हैं—उन-उन भोगों की प्राप्ति से, एकतानता से, ग्रहण अथवा त्याग की पद्धति से, अपनी शिवात्मता के ज्ञान से, तन्मय हो जाने से अथवा उसका निरसन कर देने से षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। अपनी योग्यता के अनुसार क्रम अथवा अक्रम से इन उपायों का सहारा लिया जा सकता है। [4]स्वच्छन्दतन्त्र के प्रमाण से विवेककार जयरथ ने इस

---

१. तन्त्रयात्रा (पृ. २१) में शिवपुराण के प्रमाण पर आधार से उन्मनान्त ६० भुवन सूचित हैं। इसका कोई विवरण वहाँ नहीं दिया गया।

२. लुप्ता. उपो., पृ. १९८ की तीसरी टिप्पणी में स्वच्छन्दतन्त्र के दशम पटल में वर्णित विषयों की सूची और उन ग्रन्थों की नामावली दी गई है, जिनके आधार पर क्षेमराज ने इन विषयों का विश्लेषण किया है।

३. स्वच्छन्दतन्त्र के समान तन्त्रालोक एवं विवेक के अष्टम आह्निक में भी विभिन्न ग्रन्थों की सहायता से भुवनाध्वा एवं अन्य महत्त्व के विषय चर्चित हैं। जयरथ यहाँ क्षेमराज की समालोचना भी करते हैं।

४. लुप्ता. उपो., पृ. १९९ की दूसरी टिप्पणी अवश्य देखिये।

उद्धरण की स्पष्ट व्याख्या की है। यहाँ सिद्धान्त, वाम, दक्षिण, सिद्धा, [१]नामक, मालिनी आदि शास्त्रों में वर्णित मन्त्रों की शोधकता और षडध्वों की शोध्यता को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि सर्वत्र शिवाद्वैत के रहते हुए भी अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे यह शोध्यशोधकभाव प्रतिबिम्ब के रूप में परमेश्वर में प्रतिभासित होता है। बाह्य रूप में इसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। इस तरह से यह समस्त अध्वा संवित् का ही गहरा जमा हुआ स्वरूप है, इस तरह की भावना को ही यहाँ शुद्धि बताया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे बहने वाला जल जमकर बर्फ के रूप में कड़ा हो जाता है, वैसे ही संवित् का प्रवाह षडध्वात्मक जगत् का रूप धारण कर लेता है, वास्तव में संवित् के अतिरिक्त इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस तरह की अनुभूति ही षडध्वशुद्धि का मुख्य प्रयोजन है।

यह समस्त अध्वा जैसे संवित् में स्थित हैं, उसी तरह से संवित् की सहायता से यह शून्य, बुद्धि, प्राण, नाडीचक्र, अनुचक्र आदि आन्तर स्थानों में तथा लिंग, मूर्ति, अग्नि, स्थण्डिल आदि बाह्य स्थानों में भी समस्त अथवा व्यस्त रूपों में, क्रम और अक्रम की पद्धति से विद्यमान है। इस विषय का वर्णन तन्त्रालोक के [२]बारहवें आह्निक में मिलता है। इस विषय की सूचना पहले (तन्त्रा. ८.३-४) भी दी गई है कि यह समस्त अध्वा केवल चिच्छक्ति में प्रतिष्ठित है। जिस वस्तु की स्थिति चिच्छक्ति में नहीं है, उसकी वास्तव में आकाशकुसुम के समान कोई सत्ता नहीं है। संवित् के माध्यम से ही यह संवित् के द्वारा निर्मित शून्य, बुद्धि, प्राण, नाडीचक्र और अनुचक्र में तथा बाह्य देह आदि में फैल पाती है। संवित् तत्त्व से लेकर विभिन्न बाह्य स्थानों तक यह जो अध्वाओं का विस्तार है, वह अपने-अपने उचित स्थानों में आकर तदनुरूप अपने स्वतन्त्र रूपों को भासित कर देता है। इस स्थिति में साधक को समस्त षडध्वात्मक जगत् के रूप में, देश और काल के स्पन्दन के रूप में अपने शरीर को देखना चाहिये। इस तरह से घट, पट, लिंग, स्थण्डिल आदि में भी सर्वत्र तन्मयता की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार की भावना ही यहाँ **षडध्वविलापन** अथवा **षडध्वशुद्धि** कही गई है।

---

१. नामक के स्थान पर वामक पाठ का हमने सुझाव दिया था। यहाँ वाम-तन्त्र का अलग से भी उल्लेख है। इस स्थिति में यहाँ वामक से वामकेश्वर तन्त्र का ग्रहण करना उचित होगा।

२. तन्त्रालोक के ११-१२ आह्निकों में कलाध्वा में अन्य पाँच अध्वाओं का उपसंहार बताया गया है। वर्णाध्वविचार, षडध्वशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, आन्तर भावना जैसे विषय भी यहाँ वर्णित हैं। इनको वहीं देखा जा सकता है।

इसकी प्रक्रिया तन्त्रालोक (८.७-८) में इस तरह से प्रदर्शित है—समस्त अध्वाओं के स्वरूप को जान लेने के बाद अपने-अपने अधिपतियों में उनका विलय कर देना चाहिये। फिर उन सबका विलय देह, प्राण, बुद्धि आदि में कर लेना चाहिये। अन्ततः इन सबका विलय संवित्ति में किया जाता है। समस्त जागतिक व्यापार को अपने में समेटे हुए यह संवित् अपनी उपासना करने वाले साधक के संसार-सागर के लिये प्रलयाग्नि के समान है, अर्थात् उसके सारे सांसारिक विकल्पों को भस्म कर देती है। वहीं[1] (८.१५-१७) यह भी बताया गया है कि ऐसा साधक अपनी संवित् के साथ भूतों, भावों और भुवनों की एकात्मता को स्थापित कर इस संवित्ति से अभिन्न अपने पारमेश्वर भैरव स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। देवीयामल के अनुसार छत्तीस तत्त्वों से सुशोभित इस षड्विध अध्वा का ध्यान कर साधक तत्काल शिवस्वरूप हो जाता है।

तन्त्रालोक में प्रदर्शित शोध्यशोधकभाव की प्रक्रिया को क्षेमराज ने स्वच्छन्दोद्योत (४.९७) में इस तरह से दिखाया है—चिदानन्दघन स्वतन्त्रभट्टारक परमेश्वर अपनी उन्मना नामक स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे शून्य से लेकर पृथिवी पर्यन्त अनन्त वाच्यवाचकरूप षडध्वा को स्वात्मभित्ति में अपने से अतिरिक्त न होने पर भी अतिरिक्त रूप में भासित हो रहे जगत् को एक साथ प्रकाशित कर देता है। इनमें ग्राहक भाग में विद्यमान वाचकाध्वा पर-सूक्ष्म-स्थूल के भेद से वर्ण-मन्त्र-पदात्मक त्रिविध रूप धारण कर लेता है। इसी तरह से ग्राह्य भाग में विद्यमान वाच्य भाग भी कला-तत्त्व-भुवनात्मक त्रिविध रूप में विभक्त हो जाता है। इसमें से वर्णों में अभेद-विमर्श की प्रधानता रहने पर भी जब ये कुछ स्थूल आकार ग्रहण करते हैं, तो उस भेदाभेद-विमर्श की स्थिति में ये मन्त्रों का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इसके आगे की विकासावस्था में ये स्थूल भेदात्मक पदों के रूप में भासित हो उठते हैं। इसी तरह से वाच्यरूपा पारमेश्वरी कला नामक शक्ति अपनी उत्तरोत्तर विशिष्टता के आधार पर तत्त्वों एवं भुवनों का आकार ग्रहण करती है। वास्तव में इस पारमेश्वरी शक्ति में कोई क्रम नहीं है, तो भी अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के आधार पर दर्पणनगर-न्याय से क्रम को भी दिखाती है। ऐसा करते समय पूर्व-पूर्व अध्वा उत्तर-उत्तर अध्वा में व्यापक रूप में विद्यमान रहता है, जैसे घट आदि में मृत्तिका की व्याप्ति है। उत्तर-उत्तर अध्वा की पूर्व-पूर्व अध्वा में शक्ति के रूप में स्थिति उसी तरह से रहती है, जैसे वृक्ष की अपने बीज में। इस तरह विचार करने पर

---

१. यह सारा विषय तन्त्रालोक (८.३-१९) में स्पन्दशास्त्र, स्वच्छन्द, दीक्षोत्तर, त्रिशिरोमत और देवीयामल के प्रमाण से वर्णित है।

"सर्वं सर्वात्मकम्"[१] इस सिद्धान्त को मान्यता मिल जाती है। इसी लिये पंचतत्त्व दीक्षा में अनाश्रिततत्त्व पर्यन्त भूत-व्याप्ति दिखाई गई है।

इस तरह से प्रत्येक प्रमाता अथवा भाव वास्तव में षडध्व के विस्तार के रूप में पारमेश्वर शक्तिस्वरूप अकारादि हकारान्त परामर्श की सारभूत अहन्ता में विश्रान्त तत्त्व के जैसे ही परभैरव-स्वरूप है। इस वास्तविकता को न जानने के कारण उस पर मायाशक्ति की छाया पड़ जाने से वह अपने को अपूर्ण मानने लगता है। उसके सामने शब्दराशि की कलाओं का वैभव भी विलुप्त हो जाता है और इसीलिये वर्ण आदि का तथा कला आदि का तात्त्विक स्वरूप उसके सामने स्पष्ट नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में बाह्य प्रत्ययों की प्रतीति के अनुसार देह आदि में आत्माभिमान और विषयों के प्रति भोक्तृता-अभिमान के जाग उठने से खेचरी आदि शक्तिचक्र-चतुष्टय का दास यह बद्ध आत्मा **पशु** बन जाता है। उसके इस पशुभाव को हटाने के लिये यह पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति शिव से अभिन्न दीक्षागुरु के हृदय में अपने पारमार्थिक स्वरूप में स्फुरित होकर शिष्य के समस्त अध्वा के संकोच का प्रशमन कर अपनी शक्ति के सम्पूर्ण स्वरूप का विस्तार करती हुई दीक्षा और ज्ञान की सहायता से इसके समस्त कालुष्य का शोधन कर देती है। इसीलिये दीक्षागुरु की अनुग्राहिका शक्ति के रूप में प्रकट हुए मन्त्र शोधक के रूप में शोध्य पशु की आत्मा में प्रविष्ट हो समस्त मलों का शोधन कर देते हैं। इस तरह से अद्वयदृष्टि में भी इस [२]शोध्यशोधकभाव की प्रक्रिया सम्पन्न हो सकती है।

---

१. "सर्वं सर्वात्मकम्" शिवदृष्टि आदि में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का स्वरूप संक्षेप में लुप्ता. उपो., पृ. १६१ की पहली टिप्पणी में देखा जा सकता है।

२. यहाँ तन्त्रसार (पृ. १४८-१४९) में वर्णित पद्धति का अनुशीलन आवश्यक है। वहाँ बताया गया है कि परमेश्वर की पूजा करके अपने सामने स्थित शिष्य के शरीर में **प्राण-मार्ग** से प्रविष्ट होकर हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त नामक छः स्थानों में कारणषट्क का स्पर्श कर प्रत्येक स्थान पर आठ संस्कारों की भावना करता हुआ शिष्य के प्राण को द्वादशान्त स्थान में थोड़ी देर विश्राम करने दे। फिर इसी क्रम से वह नीचे उतर आवे। इस तरह से शिष्य के **४८ संस्कारों** के सम्पन्न हो जाने पर शिष्य का शरीर रुद्रांश से आपूरित हो जाता है, उसकी समयदीक्षा सम्पन्न हो जाती है। ४८ संस्कारों का स्वरूप तन्त्रसार की ही एक लम्बी टिप्पणी (पृ. १४८-१५४) में बताया गया है। मृगेन्द्र (क्रिया. ८.१५९-१६१) और उसकी वृत्ति में तथा स्वच्छन्द (१०.३८६-४१२) में भी यह विषय चर्चित है। विद्या, माया, नियति आदि का शोधन प्रयत्नपूर्वक होना चाहिये, ऐसा अभिनवगुप्त ने परा. अभि. में त्रिकसार के प्रमाण से कहा है। इस प्रसंग में विज्ञानभैरवोद्योत (श्लो. ५७) में उद्धृत कर्मकाण्डक्रमावली के "त्रयीसप्त" इत्यादि श्लोक का व्याख्यान भी देखना चाहिये। यह श्लोक क. क्र. में उपलब्ध नहीं होता।

सिद्धान्तागम में अंगीकृत षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया को महेश्वरानन्द ने इस तरह से दिखाया है—आगमों में षडध्व प्रसिद्ध हैं। इनके नाम—वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन हैं। इनमें पचास वर्ण लोक में प्रसिद्ध हैं। पदों की अनन्तता के रहने पर भी व्योमव्यापी आदि के रूप में इनकी संख्या ८१ मानी गई है। इसी तरह से मन्त्रों की संख्या के अनन्त होने पर भी ब्रह्मपंचक और अंगषट्क के रूप में इनकी संख्या ११ मानी गई है। निवृत्ति आदि कलाएँ पाँच, तत्त्व छत्तीस और कालाग्निरुद्र से अनाश्रित पर्यन्त भुवनों की संख्या २२४ मानी गई है।

कलाध्वा में बाकी सभी अध्वाओं के समावेश का क्रम इस प्रकार है—निवृत्ति कला में एक क्षकार वर्ण, २८ पद, हृदय और सद्योजात नामक दो मन्त्र, एक पृथ्वीतत्त्व तथा कालाग्निरुद्र से भद्रकाली पर्यन्त १०८ भुवन समाविष्ट हैं। प्रतिष्ठा कला में हकार से टकार पर्यन्त २३ वर्ण, २१ पद, शिरस् और वामदेव नामक दो मन्त्र, जल से लेकर प्रकृति पर्यन्त २३ तत्त्व तथा अमरेश से लेकर श्रीकण्ठ पर्यन्त ५६ भुवन स्थित हैं। विद्या कला में अकार से छकार पर्यन्त सात वर्ण, २० पद, शिखा और अघोर नामक दो मन्त्र, पुरुष से माया पर्यन्त सात तत्त्व तथा भीम में लेकर अंगुष्ठमात्र पर्यन्त २७ भुवन विद्यमान है। शान्ति कला में ग ख क ये तीन वर्ण, एकादश पद, कवच और तत्पुरुष नामक दो मन्त्र, शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव नामक तीन तत्त्व तथा वाम से सदाशिव पर्यन्त १८ भुवनों की स्थिति है। अन्तिम शान्त्यतीत कला में वर्णों के रूप में सोलह स्वर, एक पद, ईशान, नेत्र और अस्त्र नामक तीन मन्त्र, एक शिवस्वभाव शिवतत्त्व तथा निवृत्ति से अनाश्रित पर्यन्त १५ भुवन स्थित हैं। यह विषय सिद्धान्तागमों में विस्तार से वर्णित है (पृ. ६९)। सिद्धान्तसारावलि (पृ. २१५-२२७) में षडध्वविलापन की विधि भिन्न प्रकार से वर्णित है। वहाँ निवृत्ति आदि ५ कलाओं में तत्त्व, भुवन आदि १२ पदार्थों का विलय प्रदर्शित है।

पांचरात्र वैष्णव आगमों में वर्णित षडध्वशोधन-प्रक्रिया सात्वतसंहिता के हमारे उपोद्घात (पृ. ३८-४०) में देखी जा सकती है। यहाँ वर्णित छः अध्वाओं में भुवनाध्वा की तथा पदाध्वा में स्थित सुषुप्ति आदि तीन पदों की हेयता तथा तुर्य पद की एवं मन्त्र आदि चार अध्वाओं की उपादेयता मान्य है। यह उपादेयता और हेयता अपेक्षाकृत मानी गई है, क्योंकि मुमुक्षु की उपादेय शुद्धाध्वा के प्रति भी अनपेक्षा (वैराग्य) हो जाने पर ये हेय हो जाते हैं।

तत्त्वप्रकाश के "अध्वपञ्चकं पाशः" (का. ५) इस पाठान्तर की व्याख्या करते हुए कुमारदेव ने कलाध्वा की उपादेयता तथा अन्य पाँच अध्वाओं की हेयता

का उपपादन महेश्वरानन्द की पद्धति से ही किया है। षडध्व का शब्दात्मक-त्रिक और अर्थात्मक-त्रिक विभाग कर अन्य आचार्य भुवनाध्वा का तत्त्वाध्वा में और तत्त्वाध्वा का कलाध्वा में विलय करते हैं। इसी तरह मन्त्राध्वा का पदाध्वा में और पदाध्वा का वर्णाध्वा में विलय करने के उपरान्त [1]कुछ आचार्य समस्त वर्णों का पाँच कलाओं में तथा [2]अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द कलाओं का वर्णों में अन्तर्भाव मानते हैं (पृ. २०८-२०९)। अन्ततः वर्णों की श्रेष्ठता मानने वाले आचार्यों के मत में अनुत्तर अकार की तथा कलाओं को वरीयता देने वालों के मत में शान्त्यतीत कला की परशिव में विलय की भावना की जाती है।।

❋ ❋ ❋

---

१. स्वच्छन्द और तन्त्रालोक में अन्य पाँच अध्वाओं का कलाध्वा में उपसंहार बताया गया है। इस प्रसंग में लुप्ता. उपो., पृ.१९९ की १-२ टि. दर्शनार्ह हैं।

२. मालिनीविजय (४.१०) में वर्णात्मिका मालिनी में अन्य पाँच अध्वाओं का उपसंहार प्रदर्शित है। यहाँ सर्वाध्वशुद्धि नामक नवम अधिकार (पृ. ५७-६७) में और षडध्वस्वरूप नामक द्वितीय अधिकार (पृ. १२-१३) में यह विषय प्रदर्शित है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र एवं दर्शन

आगममीमांसा में हमने वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों का परिचय दिया था। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की चर्चा वहाँ शाक्त विभाग में की गई थी। इससे यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि हमने उसका शाक्त विभाग में समावेश किया है। वस्तुतः ऐसा है नहीं, शिवपारम्यवादी होने से उसका समावेश शैवागमों में ही होगा। उस पर कौल-क्रम-मत आदि के प्रभाव को दिखाने के लिये वहाँ ऐसा किया गया था। यहाँ यथास्थान उसको प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्पन्दशास्त्र, प्रत्यभिज्ञा अथवा त्रिकशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर सायण-माधव बन्धुओं ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में संक्षिप्त चर्चा की है। आधुनिक दृष्टि से भी डॉ. जगदीश चटर्जी से लेकर डॉ. बलजिन्नाथ पंडित जैसे विद्वानों ने इस शास्त्र की अन्तरंग-बहिरंग परीक्षा की है, जिनमें डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी का विशेष स्थान है। अतः इस विषय में हम अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। पहले इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. स्पन्दशास्त्र

आचार्य [१]वसुगुप्त को सिद्धादेश से शिवसूत्रों की प्राप्ति हुई और उन्होंने ही स्पन्दकारिका की रचना की, ऐसा एक मत है। अन्य मत के अनुसार स्पन्दकारिका के रचयिता [२]भट्ट कल्लट माने जाते हैं। संक्षिप्त [३]स्पन्दवृत्ति के रचयिता भी भट्ट कल्लट ही हैं। भट्ट कल्लट ने शिवसूत्र के प्रथम तीन खण्डों पर मधुवाहिनी और अन्तिम चौथे खण्ड पर [४]तत्त्वचिन्तामणि टीका की रचना की। शिवसूत्र का चतुर्थ

---

१. इस मत के समर्थक अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज आदि हैं।

२. शिवसूत्रवार्त्तिककार भट्ट भास्कर, स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव आदि इस मत के समर्थक हैं।

३. इस वृत्ति के रचयिता भट्ट कल्लट हैं, इस पर सभी विद्वान् एकमत हैं। मधुवाहिनी इसीका नाम है। इसके संबन्ध में अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

४. "शिवसूत्रवृत्त्योर्मधुवाहिनीतत्त्वार्थचिन्तामण्योर्भट्टश्रीकल्लटपादैः" (ई. प्र. वि. वि., भा.२, पृ. ३०) अभिनवगुप्त का यह वचन इसमें प्रमाण है।

खण्ड और इन पर लिखी भट्ट कल्लट की दोनों टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं, तो भी शिवसूत्र और स्पन्दकारिका के ऊपर लिखे गये समस्त साहित्य का हम स्पन्दशास्त्र में समावेश कर सकते हैं।

२. प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

शिवसूत्र और सोमानन्द की शिवदृष्टि की पृष्ठभूमि में भट्ट उत्पल ने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका की रचना की। उन्होंने इस पर वृत्ति एवं विवृतिविमर्शिनी नामक व्याख्याओं की भी रचना की। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का पूरा महल इन पाँच स्तम्भों पर आधृत है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने शैवदर्शनबिन्दु के परिवर्धित संस्करण (पृ. ७७) में यह श्लोक उद्धृत किया है—

सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः ।।

सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ७३) में भी यह श्लोक उद्धृत है। क्षेमराज की कृति प्रत्यभिज्ञाहृदय इस शास्त्र से संबद्ध न होकर क्रम दर्शन का ग्रन्थ है।

३. त्रिकशास्त्र

सिद्धा, वामक और मालिनी नामक तीन आगम त्रिक शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। डॉ. बलजिन्नाथ पंडित ने [1]त्रिक पद का अर्थ तीन का समूह किया है (पृ. २४५)। ऐसा कहकर उन्होंने यहाँ सात प्रकार के त्रिकों का उल्लेख करते समय सर्वप्रथम इन तीन आगमों की ही चर्चा की है। हम इनके साथ स्मृति-ज्ञान-अपोहन नामक त्रिक का तथा क्रम-कुल-मत नामक त्रिक का भी समावेश कर सकते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने परा-परापरा-अपरा नामक शक्ति-त्रिक का तन्त्रालोक के मंगल प्रकरण में नमन किया है (१.५)। इनका भी यहाँ समावेश होगा। स्पष्ट है कि इन सभी त्रिकों के स्वरूप को बताने वाले शास्त्र को यहाँ त्रिक शास्त्र कहा गया है और इनमें सिद्धा, मालिनी और वामक आगमों का विशेष स्थान है।

उक्त तीन आगमों में से मालिनीमत प्रकाशित हो चुका है और सिद्धामत की मातृका नेपाल में उपलब्ध है। तन्त्रालोक, उसकी टीका विवेक एवं अन्य ग्रन्थों में इसके अनेक वचन उद्धृत हैं और उन सबका संग्रह लुप्ता. के दोनों भागों में कर दिया गया है। इनके आधार पर इस ग्रन्थ का परिष्कृत संस्करण तैयार किया जा सकता है।

---

१. बृहदितिहास (खण्ड. ११, पृ. २४५) में सात प्रकार के त्रिकों की चर्चा की गई है।

तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने (१.१८; पृ. ४९) त्रिकशास्त्र को सिद्धा, नामक और मालिनी नाम के तीन खण्डों में विभक्त किया है। इनमें क्रिया-प्रधान तन्त्र को सिद्धा और ज्ञान-प्रधान तन्त्र को नामक बताया गया है। मालिनी मत में क्रिया और ज्ञान दोनों प्रतिपादित हैं। अभिनवगुप्त ने स्वयं "तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्" (१.१८) ऐसा कह कर इनमें मालिनीमत को प्रधानता दी है। क्षेमराज अपने विज्ञानोद्योत (पृ. ४) में सिद्धा, मालिनी और उत्तर यह क्रम देकर इनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष बताते हैं। जयरथ द्वारा चर्चित नामक नाम का कोई तन्त्र हमारी दृष्टि में अभी तक नहीं आया है। क्षेमराज के इस उत्तर नाम को देखकर ऐसी कल्पना करने की इच्छा होती है कि जयरथ के ग्रन्थ में नामक के स्थान पर वामक पाठ होना चाहिये। वामतन्त्र शिव के उत्तर मुख से उद्भूत माने जाते हैं। हम वामक नाम से वामकेश्वरतन्त्र का ग्रहण कर सकते हैं। डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित भी इस विषय में अपनी सहमति-सी प्रकट करते हैं। वे कहते हैं—"परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसका नाम वामक-तन्त्र रहा होगा। कश्मीर की शारदा लिपि में न और व में इतना थोड़ा अन्तर है कि उनमें परस्पर भ्रम हो जाना कोई बड़ी बात नहीं हैं (पृ. २१८)।

वामकेश्वरतन्त्र त्रिपुरा सम्प्रदाय का ग्रन्थ माना जाता है। इस शास्त्र के मध्य में शिवानन्द के अनुसार नित्याषोडशिकार्णव स्थित है। तदनुसार इसके अन्त में योगिनीहृदय की स्थिति मानी जा सकती है, किन्तु नि. षो. के पहले विद्यमान इस तन्त्र का क्या स्वरूप था, इसको जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। इतना स्पष्ट है कि त्रिपुरा सम्प्रदाय में भी त्रिपुरा पद के निर्वचन के प्रसंग में अनेक त्रिकों का उल्लेख मिलता है। उनमें से वामा-ज्येष्ठा-रौद्री, इच्छा-ज्ञाना-क्रिया जैसे त्रिकों की स्थिति यहाँ भी देखने को मिलती है। इतना सब होते हुए भी अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वामक पद वामकेश्वर शास्त्र का ही बोधक है।

इस विवरण के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि स्पन्दशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और त्रिकशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध शास्त्रों का पुंजीभूत स्वरूप ही आज कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही अभी जिन क्रम-कुल-मत नामक त्रिकों की चर्चा हुई है, उनका भी समावेश इसमें मान लिया गया है। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द अपनी परिमल व्याख्या में [१]क्रम और त्रिक दर्शन में बहुत भेद नहीं मानते (पृ. ९२)। कौल दर्शन के विषय में भी उनका यही

---

१. "महार्थत्रिकदर्शनयोर्नात्यन्तं भेदप्रथा" (पृ. ९२), "अस्यामर्थस्थितिः सैव या सर्वत्र कुलागमे। किन्तु शब्दस्य शय्यान्या नात्यन्तं सा विभिद्यते।।" (पृ. १९२)

कहना है (पृ. १९२)। क्रम और कुल मतों की यहाँ अलग से चर्चा की गई है। मत विभाग की यद्यपि यहाँ कोई चर्चा नहीं है, किन्तु महेश्वरानन्द के परमगुरु शिवानन्द ने मतेश के नाम से प्रसिद्ध शम्भुनिर्णय पर अपनी व्याख्या लिखी है। मतशास्त्र, कुब्जिकामत, मतोत्तर जैसे ग्रन्थ उद्धृत हैं अथवा मुद्रित भी हो चुके हैं। श्रीकण्ठीसंहिता में आठ मत-तन्त्रों की तथा नि. षो. की सूची में अन्य मत-तन्त्रों की नामावली उपलब्ध है। अभिनवगुप्त के द्वारा परात्रीशिकाव्याख्या (पृ. ९२) में उद्धृत श्लोक के अनुसार क्रम और कुल तन्त्रों के बीच में मत-तन्त्रों की स्थिति मानी गई है। हम इन सबका समावेश अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन[1] में कर सकते हैं। इसका अभिप्राय इतना ही लिया जा सकता है कि इन सब पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन की छाप है। [2]उपासना-पद्धति में अवश्य ही भेद भी देखने को मिलता है।

त्रिक पद की ऊपर व्याख्या हो चुकी है। उसी पद्धति से स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा पदों के अभिप्राय को भी समझ लेना जरूरी है। "स्पदि किञ्चिच्चलने" इस धातु से स्पन्द शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है थोड़ा सा चलन। बीजांकुर-न्याय से इसको समझा जा सकता है। बीज से जैसे अंकुर स्फुरित होता है, उसी तरह से शिव से यह सारा जगत् निकलता है। मिट्टी-पानी आदि सहकारी कारणों का संयोग होने पर ही बीज प्रस्फुटित होता है, अर्थात् सहकारी कारणों के संपर्क में आने के साथ बीज में स्पन्दन होने लगता है और वह अंकुर के रूप में परिणत हो जाता है, किन्तु शिव को किसी सहकारी कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वेच्छा से ही जब उसमें स्पन्दन होने लगता है, तो वह अपनी इस स्पन्द शक्ति के माध्यम से जगत् के रूप में भासित हो उठता है। इसी व्यापार को स्फुरत्ता कहा जाता है। यह स्फुरत्ता जैसे शिव को परिमित प्रमाता बना देती है, उसी तरह से स्वात्म-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा भी इस स्फुरत्ता शक्ति से ही निष्पन्न होती है। "सा स्फुरत्ता महासत्ता (१.५.४) प्रत्यभिज्ञाकारिका के इस वचन में स्फुरत्ता को ही महासत्ता, स्पन्दतत्त्व आदि नामों से जाना जाता है। स्पन्दकारिका, योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। डॉ. बलजिन्नाथ पंडित ने अपने उक्त निबन्ध (पृ. २२२-२२८) में सार रूप में स्पन्दसिद्धान्त को समझाने का प्रयत्न किया है।

---

१. इस सम्बन्ध में डॉ. बलजिन्नाथ पंडित जी के विचारों को जानने के लिये उक्त निबन्ध के "कुछ आवश्यक तथ्य" (पृ. २४५-२४९) शीर्षक को देखिये।

२. "यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया" (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. १००) वराहमिहिर का यह वचन इसको स्पष्ट करता है।

अभिनवगुप्त ने ई. प्र. वि. (भा.१, पृ. ३६-३८) में तथा सायण-माधव ने सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ७४) में प्रत्यभिज्ञा पद के अर्थ को स्पष्ट किया है। डॉ. बलजिन्नाथ पंडित के शब्दों में उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—"प्रत्येक प्राणी अपने आप ही ज्ञान-शक्तिमान् और क्रिया-शक्तिमान् होता हुआ वस्तुतः ईश्वर ही है। समस्या केवल एक है कि मायाकृत आवरण के कारण वह अपनी परिपूर्ण ईश्वरता को भूल गया है। अतः शास्त्र का केवल यह प्रयोजन है कि उस माया के आवरण को हटा कर आत्मा की परिपूर्ण ईश्वरता को पहचान लिया जाय। उस पहचान लेने की क्रिया को ही 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं" (पृ. २३१)। ज्ञान, क्रिया और अपोहन शक्तियों की सहायता से यह कार्य सम्पन्न होता है। यद्यपि इन शक्तियों की चर्चा भगवद्गीता (१५.१५) में भी हुई है, किन्तु इनकी विशद व्याख्या ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के प्रथम ज्ञानाधिकार के ४-६ आह्निकों में देखी जा सकती है। इनका संक्षिप्त स्वरूप महेश्वरानन्द की परिमलव्याख्या (पृ. १३५-१३६) में तथा डॉ. बलजिन्नाथ पंडित जी के उक्त निबन्ध (पृ. २३१-२३२) में भी दिया गया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञाशास्त्र पर स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, परात्रीशिका, विज्ञानभैरव को रुद्रयामल तन्त्र से संबद्ध माना जाता है। अतः हम यामल और भैरव तन्त्रों को भी इस शास्त्र से संबद्ध मान सकते हैं। इस पूरे साहित्य का परिचय भी विभिन्न ग्रन्थों में मिल जाता है। अतः यहाँ केवल उन्हीं ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की चर्चा की जायगी, जिनके विषय में हमें भी कुछ लिखना है।

ऐतिहासिक विवेचन

प्रायः सभी ऐतिहासिकों का मानना है कि प्रागैतिहासिक युग के भग्नावशेषों से यह बात सिद्ध होती है कि शैव धर्म और शैवी योग-साधना का प्रचार सिन्धु घाटी में पर्याप्त मात्रा में हुआ था। यहाँ के प्राचीन निवासी शिव की, मातृदेवी की, शिवलिंग की, योनिमूर्ति की, तान्त्रिक यन्त्रों आदि की पूजा किया करते थे और योग-साधना का अभ्यास भी करते थे। इस प्रकार की शैवी साधना और शाम्भवी योगविद्या की चर्चा कर डॉ. बलजिन्नाथ पंडित जी ने आचार्य भर्तृहरि, बौद्धवाद एवं शांकर अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि में विकसित हुए काश्मीरी अद्वयवाद और शैवी दर्शनविद्या के स्वरूप को बताते समय सर्वप्रथम आचार्य सोमानन्द के द्वारा शिवदृष्टि के अन्त में प्रदर्शित इस शास्त्र के इतिहास को स्पष्ट रूप से बताया है।

तदनुसार श्रीकण्ठनाथ शिव ने महान् मुनि दुर्वासा को इस शास्त्र की परम्परा को पुनः प्रवृत्त करने का आदेश दिया। तब महामुनि ने त्र्यम्बकादित्य नामक

मानसपुत्र की सृष्टि कर उनमें सारे ज्ञान-विज्ञान को संक्रान्त कर उनको इसके प्रचार का काम सौंपा। १४ पीढियों तक यह त्र्यम्बक ज्ञान की परम्परा इसी तरह से चलती रही। १५वीं पीढ़ी के त्र्यम्बकादित्य लोक-सम्पर्क में आकर बहिर्मुख हो गये और उन्होंने शास्त्रीय विधि से विवाह कर लिया। उनके जो पुत्र हुआ, उसका नाम संगमादित्य रखा गया। ये संगमादित्य घूमते-घूमते कश्मीर आकर यहीं बस गये और यह स्थान **तेरम्बा** मठिका के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस समय भी त्र्यम्बि उपनाम के लोग कश्मीर में बसते हैं। संगमादित्य की वंश-परम्परा में क्रम से वर्षादित्य, अरुणादित्य, आनन्द और सोमानन्द हुए। इस मठिका के अगले अधिपति आचार्य उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त और अभिनवगुप्त श्रीनगर में रहते रहे। एक अन्य परम्परा के अनुसार सोमानन्द को सिंहपुर (साम्पोर) का निवासी बताया गया है। आचार्य सोमानन्द का महत्त्व इसीसे आँका जा सकता है कि परवर्ती आचार्य अपने को 'सोमानन्दपुत्रकाः' कहने में गौरव का अनुभव करते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में डॉ. बलजिन्नाथ पंडित जी ने महामुनि दुर्वासा, आचार्य शंभुनाथ, [१]मठिकाओं की स्थिति, छः कश्मीरागम, तीन स्तरों के आगम, अन्य आगम ग्रन्थ आदि का कुछ आचार्यों, ग्रन्थों एवं स्पन्द जैसे पारिभाषिक शब्दों का तथा नाथ एवं सिद्ध सम्प्रदाय का अपनी पद्धति से परिचय दिया है। इन सब पर हम नयी उपलब्ध सामग्री के आधार पर विचार करना चाहेंगे। इस प्रसंग में प्रथमतः हम कुछ आगमों का अकारादि क्रम से एवं ग्रन्थ-ग्रन्थकारों का परिचय कालक्रम से प्रस्तुत कर रहे हैं।

आगम-ग्रन्थ

तन्त्रसद्भाव

तन्त्रालोक (३०.९९,२१४) के प्रमाण से डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय (पृ. ५८३) ने तन्त्रसद्भाव को शंभुनाथ की कृति माना है, किन्तु तन्त्रालोक, शिवसूत्रविमर्शिनी, चिद्वल्ली आदि ग्रन्थों में उद्धृत वचनों में "परमेशिना, वरारोहे, प्रिये, देवि, उमे, सुरनायिके" जैसे पदों की उपलब्धि से ज्ञात होता है कि यह आगमशास्त्र का ग्रन्थ है। चिद्वल्ली (पृ. ३५) में आगमशास्त्र के रूप में ही यह उद्धृत है। यह शंभुनाथ की रचना है या आगम-ग्रन्थ, इस संशय का समाधान दो तरह से किया जा सकता है। एक तो यह कि शंभुनाथ शब्द से भगवान् शिव का ग्रहण किया जाय। अन्य मार्ग डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थ (पृ. १९-२८) में बताया है। शक्ति

---

१. सिद्धान्तशैव प्रकरण में भी यह विषय चर्चित है (पृ. २४५-२४७)।

संगम तन्त्र के चतुर्थ भाग के उपोद्घात (पृ. ८-९) में हमने भी इसकी चर्चा की है। तन्त्रसद्भाव, क्रमसद्भाव जैसे शास्त्रों का प्राकट्य इसी पद्धति से हुआ होगा। तन्त्रालोक और उसकी विवेकटीका में तथा अन्यत्र भी तन्त्रसद्भाव अथवा सद्भावशासन के वचन उपलब्ध होते हैं। उन सबका संग्रह लुप्ता. के दोनों भागों में कर दिया गया है। इसकी परीक्षा अपेक्षित है कि यह तन्त्रसद्भाव से अभिन्न है या नहीं? इसकी मातृका उपलब्ध हो गई है। डॉ. मार्क डिच्कोफस्की का कहना है कि तन्त्रसद्भाव के नाम से उद्धृत वचन इस मातृका में उपलब्ध हो जाते हैं। न्यू. कैट. (भा. ८, पृ. ९७) में भी इसका विवरण मिलता है।

त्रिशिरोभैरव

त्रिशिरःशास्त्र, त्रिशिरोभैरव, त्रिशिरोमत इत्यादि नामों से यह तन्त्र प्रसिद्ध है। तन्त्रालोक, तन्त्रा. विवेक, क्षेमराज आदि के ग्रन्थों में बहुत आदर के साथ इसको उद्धृत किया गया है। श्रीकण्ठीसंहिता के ६४ तन्त्रों में यद्यपि इसका नाम नहीं है, किन्तु प्र.ल.सा. में वर्णित ३२ तन्त्रों में यह नाम उपलब्ध है (२.११८)। स्वच्छन्दोद्योत (२.२५) में भी इसे भैरवतन्त्र माना गया है। त्रिशरीरभैरव (ता. सा., पृ. २७९) इसी ग्रन्थ का नाम होना चाहिये। इसी तरह से त्रिशिरोभैरव और त्रिशिरोमत भिन्न ग्रन्थ नहीं हैं।

लुप्तागमसंग्रह के दोनों भागों में इसके वचन संगृहीत हैं। प्रथम भाग में संगृहीत प्रथम चार उद्धरणों की पुनः परीक्षा अपेक्षित है। ये चारों उद्धरण त्रिशिरोभैरव के प्रतीत नहीं होते, क्योंकि ये विज्ञानभैरव और स्वच्छन्दतन्त्र में उपलब्ध होते हैं। साहचर्य के कारण इनका यहाँ समावेश हो गया लगता है। तन्त्रा. वि. (१.११२) में जयरथ ने सहस्रार का अर्थ त्रिशिरोभैरव का प्रथम पटल बताकर कहा है कि त्रिशिरोभैरव के प्रथम पटल से व्यक्ति स्वयं ही इस विषय को जान सकता है कि चिन्तामणि[1] के समान ईश्वर तन्मय हो जाता है (१.११५)। इससे इस ग्रन्थ के प्रथम पटल की विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है। आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, अतः इस ग्रन्थ की विशिष्टता को स्वयं जान लेने में हम असमर्थ हैं। लुप्ता. के उपो. (पृ. ४०) की टिप्पणी में तन्त्रालोक के उन अन्य स्थलों को सूचित किया गया है, जहाँ यह ग्रन्थ उद्धृत है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

---

१. सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन ।
तं तं भावं भूत्वा चिन्तामणिवत् समभ्येति ।।

वैष्णव परमार्थसार (श्लो. ६६) के इस वचन में भी यही विषय प्रतिपादित है। चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि का उदाहरण बौद्ध तन्त्रों में भी प्रायः मिलता है।

विज्ञानभैरव के प्रारंभ में देवी भगवान् शिव के सामने आठ विकल्प उपस्थित करती हैं और पूछती हैं कि इनमें से विज्ञानभैरव का वास्तविक स्वरूप क्या है? यहाँ तीसरा प्रश्न त्रिशिरोभैरव से संबद्ध है। स्पष्ट है कि उस समय त्रिशिरोभैरव की उपासना को परम आदर प्राप्त था। अब तक उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु पर प्रकाश डाला जा सकता है।

नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक)

नेत्रतन्त्र के नाम से क्षेमराज की नेत्रतन्त्रोद्योत टीका के साथ कश्मीर ग्रन्थमाला में प्रकाशित यह ग्रन्थ प्राचीन साहित्य में [१]मृत्यंजयभट्टारक अथवा मृत्युजिद्भट्टारक के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। अमृतेशभट्टारक के नाम से भी इसकी मातृकाएँ[२] मिलती हैं। नेत्र, मृत्युजित् और अमृतेश—इन तीनों नामों की व्युत्पत्ति भी इसी ग्रन्थ (९.१२-१३) में मिलती है, अतः इस आगम के ये तीनों ही नाम अन्वर्थक हैं। शिव, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, काल, नियति, प्रकृति और पुरुष नामक नौ तत्त्वों का इसमें समावेश होने से (द्रष्टव्य—नेत्रतन्त्रोद्योत, पृ. ३९) इसे नवात्म मन्त्रराज कहते हैं। विज्ञानभैरव (पृ. १०) में इसीके संबन्ध में प्रश्न किया गया है कि क्या नेत्रतन्त्र में प्रतिपादित यह नवात्मक मन्त्रराज ही परमतत्त्व का प्रतीक है? नवात्मक मन्त्रराज की षडध्वात्मकता का भी प्रतिपादन वहाँ मिलता है। पुष्पिका-वाक्यों में इसे सर्वस्रोतःसंग्रहसार कहा गया है। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने [३]मायावामन- संहिता के प्रमाण से कहा है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में सर्वत्र एक ही भगवान् विराजमान हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के ९-१३ अधिकारों में भी इसी सिद्धान्त के दर्शन होते हैं। यहाँ विभिन्न आगमों में निरूपित परमतत्त्व का स्वरूप बताया गया है। [४]योगवासिष्ठ की तरह यहाँ भी सिद्धान्त, वाम और दक्षिण स्रोत के प्रवर्तक सदाशिव, तुम्बुरु और

---

१. तन्त्रालोक (१६.५९,२२५; २१.११) में मृत्यंजय और शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ. ३,१४,१८-१९,४०-४१,४५-४६,४८-५०,५७,६६ द्वितीय संस्क.) में मृत्युंजयभट्टारक अथवा मृत्युजिद्भट्टारक के नाम से उद्धृत है।

२. नेपाल राजकीय वीर पुस्तकालय के तन्त्रविषयक बृहत्सूचीपत्र का प्रथम खण्ड (पृ. ५-६) देखिये।

३. "तथा च मायावामनसंहितायां विष्णु-शिव-सूर्य-बुद्धादिरूपतया तत्तच्छक्तिवक्त्रपरिवारयुतस्तत्कारणं भगवानेक एव ध्यानभेदेनोपास्यत्वेनाभिहितः" (पृ. ९२)।

४. निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध (१९.२४-२६) द्रष्टव्य।

भैरव रूपधारी शिव का (पृ. ७६) तथा वाम स्रोत में पूजित [1]जया आदि देवियों का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ क्रम, मत अथवा षडर्धशास्त्र की कहीं भी चर्चा नहीं आई है। हाँ, त्रिक (१३.३९) का उल्लेख अवश्य हुआ है।

तन्त्र-ग्रन्थों में प्रधान रूप से पटल विभाग मान्य है, किन्तु मालिनीविजय-तन्त्र के समान यह तन्त्र भी विभिन्न २२ अधिकारों में विभक्त है। पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता परिच्छेदों में तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र, पाद्मतन्त्र आदि अध्यायों में विभक्त हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि तन्त्रागमों का पटल विभाग सार्वत्रिक नहीं है।

नित्याषोडशिकार्णव की तरह इस तन्त्र के प्रारंभ में भी मंगलाचरण है। नित्याषोडशिकार्णव में ६४ तन्त्रों का उल्लेख है और यहाँ भी अनेक तन्त्र उद्धृत हैं। इस तन्त्र की प्रवृत्ति देवी (पार्वती) और भगवान् (परमेश्वर) के परिसंवाद के रूप में हुई है। [2]यहाँ अन्य तन्त्रों के प्रश्नकर्ता के रूप में कार्तिकेय और गरुड का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि कार्तिकेय-शिव अथवा गरुड-शिव के परिसंवाद के रूप में भी इससे पहले तन्त्रों की अवतारणा हो चुकी थी। "विस्तरोऽन्यतः" (४.१०) और "विस्तरोऽन्यत्र वर्णितः" (१९.१५२) इन दो वाक्यों की व्याख्या करते हुए क्षेमराज प्रथम स्थल पर स्वच्छन्दतन्त्र का और दूसरी जगह [3]तोतुल, क्रियाकालगुणोत्तर आदि तन्त्रों का उल्लेख करते हैं। "नोर्ध्वे ध्यानम्" (८.४१-४४) इत्यादि श्लोकों पर विज्ञानभैरव का प्रभाव परिलक्षित होता है। भैरवागम (पृ. ८०), कुलाम्नाय (पृ. ९१), गारुडतन्त्र, भूततन्त्र आदि विविध तन्त्रों का (१३.३८-४२), एकवीर, वाम, दक्षिण, सिद्धान्त और वैष्णव तन्त्रों का (पृ. १८९), गारुड आदि षड्विध तन्त्रों का (पृ. १२५), तुम्बुरु (पृ. ७६.९०), [4]भैरव (पृ. ८०,९१) तथा सात मातृकाओं (पृ. १६६) का और पाँच स्रोतों का यहाँ (पृ. १६२) उल्लेख हुआ है। क्षेमराज के अनुसार (पृ. ९५-९६) यहाँ १३वें अधिकार में विविध पूजाविधियों का वर्णन जया, मायावामनिका और सौरसंहिता के आधार पर किया गया है।

---

१. वहीं (१९.२०-२१) देखिये। वामनपुराण (४.३-४) में भी ये नाम मिलते हैं। कौलज्ञाननिर्णय में प्रकाशित ज्ञानकारिका (३.१७-१८) में चत्वर-पूजा के प्रसंग में इन्हीं चार मातृकाओं का उल्लेख हुआ है।

२-३. वीर पुस्तकालय की उक्त सूची (भा.१, पृ. ९६-९८) में क्रियाकालगुणोत्तर की मातृका का विवरण दिया गया है। यह तन्त्र शिव के द्वारा कार्तिकेय को उपदिष्ट है। तोतुल की गणना गारुड तन्त्रों में की जाती है। क्रियाकालगुणोत्तर का २८ गारुड तन्त्रों में उल्लेख नहीं है। उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि इस तन्त्र में गारुड और भूत दोनों प्रकार के तन्त्रों के विषय वर्णित हैं।

४. दक्षिण स्रोत में पूजित भैरव से कुलाम्नाय-पूजित भैरव का भेद करने के लिये क्षेमराज ने उन्हें **कुलेश्वर** नाम दिया है (पृ. ७३)।

भगवान् नारायण के साथ यहाँ ऊर्ध्वलिंगी विश्वरूप की ध्यानविधि भी वर्णित है (१३.१०-११)।

पाँच स्रोतों से विनिर्गत, प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.११६-१२०) में निर्दिष्ट ३२ भैरवागमों की अथवा श्रीकण्ठीसंहिता में वर्णित ६४ भैरवागमों की सूची में नेत्रतन्त्र का नाम नहीं मिलता और यह तन्त्र "सर्वस्रोत:संग्रहसार" माना गया है। इन सबसे स्पष्ट हो जाता है कि इस तन्त्र का प्रादुर्भाव-काल उक्त सभी तन्त्रों के प्रादुर्भाव के बाद का है। ऐसा होने पर भी इसकी गणना [1]प्राचीन तन्त्रों में ही की जायगी। इसका आविर्भाव काल ९-१०वी शताब्दी माना जा सकता है।

नेत्रतन्त्रोद्योत के—"यत्तत् कुर्वाणा उपहास्या:" (पृ. २) इस वचन से ज्ञात होता है कि इस तन्त्र पर अन्य किसी आचार्य ने भी व्याख्या लिखी थी।

इस ग्रन्थ के दिल्ली संस्करण के उपोद्घात (पृ. ४२-४८) में हमने नेत्रतन्त्र-संमत तत्त्वत्रय (शिव, शक्ति और आत्मा) का, मलत्रय (आणव, कार्म और मायीय) का, बन्ध और मोक्ष का, त्रिविध मन्त्रों का और शिवाद्वयवाद का स्वरूप बताया है। उसे वहीं देखना चाहिये। वहाँ का उपसंहार भी इसलिये अवलोकनीय है कि इस तन्त्र ने नेत्रनाथ के दरबार में कलियुग आदि की उपस्थिति को अस्वीकार कर दिया है।

परात्रीशिका

जयरथ (तन्त्रा. वि.१२.१५) को त्रिकसूत्र पद से परात्रीशिकाशास्त्र अभिप्रेत है। अभिनवगुप्त की विवृति के साथ यह ग्रन्थ कश्मीर ग्रन्थावलि में [2]परात्रिंशिका के नाम से प्रकाशित हो चुका है। तन्त्रालोक (१३.१४९) से ही ज्ञात होता है कि सोमानन्द, कल्याण, भवभूति जैसे आचार्यों ने भी इस पर व्याख्याएँ लिखी थी। इससे इस ग्रन्थ की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। तन्त्रालोक (१३.१४९) के 'पुरोगमा:' शब्द से प्रतीत होता है कि अन्य आचार्यों ने भी इस पर व्याख्याएँ लिखी थीं। धनेश्वर शर्मा उनमें से एक हो सकते हैं। त्रीशिकाशास्त्र त्रिकसार (परा. अभि., पृ. १७) में स्मृत है। "कौलिकसिद्धिदम्" ग्रन्थारम्भ के इस वचन से ज्ञात होता है कि यह कौलशास्त्र का ग्रन्थ है। ग्रन्थ की समाप्ति में इसे रुद्रयामल का सार बताया गया है।

---

१. तन्त्रों के प्राचीन-अर्वाचीन विभाग की चर्चा हम शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के उपोद्घात (पृ. २०-२१) में कर चुके हैं। यहाँ भी उपक्रमाधिकार (पृ. ३५-३७) देखिये।

२. अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में इस ग्रन्थ का नाम त्रीशिका दिया है (पृ. १६)। डॉ. बलजिन्नाथ पंडित इसी नाम को सही मानते हैं। तदनुसार हमने भी ग्रन्थ का विवरण इसी नाम से दिया है।

परापंचाशिका

इस ग्रन्थ का प्रकाशन अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका के नाम से कश्मीर ग्रन्थमाला, ग्रन्थसंख्या १३ के ग्रन्थ षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह के साथ हुआ था। इस लघुग्रन्थ के महत्त्व को देखते हुए इसके परिष्कृत संस्करण की अपेक्षा थी। अब योगिनीहृदय एवं दीपिका के भाषा-भाष्य वाले संस्करण के परिशिष्ट (पृ. ३९५-४००) में इसको परिष्कृत कर प्रकाशित कराया जा चुका है। इसके लिये उपयुक्त सामग्री का परिचय वहीं उपोद्घात (पृ. ४-५) में दिया गया है। योगिनीहृदयदीपिका (अनेक स्थलों पर) और कामकलाविलास की चिद्वल्ली (पृ .३ एवं ५) टीका में परापंचाशिका के नाम से यह उद्धृत है, अतः यहाँ इसे यही नाम दिया गया है। इसके १८-२५ श्लोक शिवपुराण की कैलाशसंहिता के (१६.७०-८४) श्लोकों से बहुत मिलते-जुलते हैं। हम [1]अन्यत्र बता चुके हैं कि शिवपुराण में शिवसूत्र (६.१६.४४ तथा ४६), शिवसूत्रवार्त्तिक (६.१६.४६) तथा विरूपाक्षपंचाशिका (६.१९.४४) उद्धृत हैं। दो स्थलों पर (३.४.११; ३.१२.१८) पुष्पदन्त रचित शिवमहिम्नस्तोत्र भी स्मृत है। यह ध्यान देने की बात है कि परापंचाशिका से संबद्ध सामग्री भी उसी अध्याय में है, जहाँ शिवसूत्र और शिवसूत्रवार्त्तिक उद्धृत हैं। परापंचाशिका के १५ से १८ तक के श्लोकों की छः पक्तियों की तथा ३८-४० श्लोकों की तुलना परात्रीशिका के ६-९ श्लोकों से भी की जा सकती है। इसी तरह से ३२-३७ श्लोकों की विषय-वस्तु अभिनवगुप्त के तन्त्रसार (पृ. १२-१५) से मिलती-जुलती है। यह छोटा-सा ग्रन्थ अपने आप में परिपूर्ण है। दीपिका (पृ. ३३३) में उद्धृत वचन इसका मंगलश्लोक लगता है, किन्तु यह अभी तक किसी भी मातृका में उपलब्ध नहीं हुआ है।

यहाँ प्रारंभ में प्रकाश और विमर्श स्वरूप शिव और शक्ति की तथा उनसे जगत् की भी अभिन्नता युक्तियों के सहारे सिद्ध की गई है। यहाँ बताया गया है कि भेद और जड़ता, ये दोनों अतात्त्विक हैं। यह सारा जगत् चिदेकमात्रसार है। प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं। जैसे सूर्य को प्रकाशित करने के लिये दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी तरह से इस प्रकाश की भी सत्ता और स्फुरत्ता को प्रकाशित करने के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। निर्मल दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है, उसी तरह से यह सारा विश्व इसी प्रकाश रूपी दर्पण में प्रतिभासित होता है।

इस भूमिका-बन्ध के साथ यहाँ पहले [2]आदि-क्षान्त वर्णमाला की तथा शिवादि क्षित्यन्त तत्त्वों की सृष्टि का क्रम वर्णित है। इसके बाद यहाँ अनुत्तर से

---

१. शिवपुराण का परिचय (पृ. २५०-२५२) पर देखिये।

२. इसी प्रकरण में आगे (पृ. ४६७-४६९) "वर्णों और तत्त्वों की उत्पत्ति" शीर्षक से इस विषय का विस्तार से परिचय दिया गया है।

विसर्ग पर्यन्त स्वरों की सृष्टि का क्रम बता कर स्वरों को 'बीज' तथा व्यंजनों को 'योनि' कहा गया है। यहाँ बताया गया है कि वट के बीज में जैसे हरा-भरा विशाल वृक्ष छिपा हुआ है, उसी तरह से शृंगाट में स्थित (अकार-हकार सामरस्यमय) [1]बिन्दु में वर्णात्मक एवं तत्त्वात्मक, शब्दमय एवं अर्थमय यह सारा षडध्वात्मक संसार छिपा हुआ है। इसीसे उसका उद्भव होता है और इसीमें यह लीन भी हो जाता है, अन्त में यहाँ विलय की प्रक्रिया को बताते हुए कहा गया है कि इदन्ता को अहन्ता में विलीन कर देने वाला **वीर** साधक ही समस्त अकल्याण का नाश करने वाले शिवपद को प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है।

इस श्लोक को (अहमि प्रलयं कुर्वन्) दीपिकाकार ने तीन बार उद्धृत किया है। लखनऊ की मातृका परापंचाशिका को रुद्रयामल का अंश मानती है। विज्ञानभैरव को रुद्रयामलसार कहा जाता है। परात्रीशिका और उत्तरषट्क को भी रुद्रयामल का ही सार या भाग माना जाता है। रुद्रयामल की विशिष्टता की [2]हमने कई बार चर्चा की है। डॉ. तून गान्द्रियान ने भी इस ग्रन्थ के विषय में अनेक सूचनाएँ दी हैं। इस ग्रन्थ के भी परिष्कृत संस्करण की अतीव आवश्यकता है। तभी इन सब ग्रन्थों की तुलनात्मक समीक्षा सही रूप में हो सकती है।

आद्यनाथ इस ग्रन्थ के उपदेष्टा माने गये हैं। यो. हृ. दी. (पृ. २०५) में इस ग्रन्थ के ११-१२ श्लोक अभियुक्त-वचन कह कर उद्धृत किये गये हैं। इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि परापंचाशिका किसी व्यक्ति की रचना है। अतः कश्मीर ग्रन्थमाला से प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रारंभ में दिया गया नाम (आद्यनाथ) भगवान् शंकर का वाचक न होकर किसी आचार्य का सूचक होना चाहिये, अथवा तन्त्रसद्भाव (पृ. ७) की पद्धति से ही इसका भी समाधान किया जाना चाहिये।

योगवासिष्ठ (मोक्षोपाय)

भारतीय वाङ्मय में योगवासिष्ठ का विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ पर डॉ. भीखनलाल आत्रेय ने प्रशंसनीय कार्य किया है। उनका कहना है कि ई. सप्तम शताब्दी के आरंभ से पूर्व योगवासिष्ठ अवश्य ही वर्तमान रहा होगा। डॉ. एम. एन. दासगुप्त ने भी अपने भारतीय दर्शन के इतिहास के द्वितीय खण्ड में योगवासिष्ठ के संबन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका लिखना है कि

---

१. "सत्तावाचिनि बीजेऽस्मिन् सादिमायान्तिमं जगत्" (श्लो. ४४)।

२. विज्ञानभैरव, उपोद्घात (पृ. १, टि.४) तथा नि.षो. उपोद्घात (पृ. ४४-४५) देखिये।

योगवासिष्ठ के लेखक संभवत: गौडपाद अथवा शंकर के समकालीन ८०० ई. के आस-पास अथवा उनके एक शतक पूर्व विद्यमान थे। प्राय: सभी आधुनिक और प्राचीन विद्वानों ने योगवासिष्ठ को वेदान्त का ग्रन्थ माना है। डॉ. दासगुप्त इस पर बौद्ध विज्ञानवाद का प्रभाव तो मानते हैं, किन्तु शैवदर्शन की स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा शाखा से इसके संबन्ध की कोई चर्चा नहीं करते। प्राण के प्रसंग में शिवसूत्र-विमर्शिनी और विज्ञानभैरवविवृति को उन्होंने अवश्य उद्धृत किया है।

योगवासिष्ठ का दूसरा नाम मोक्षोपाय है। विज्ञानभैरव के समान ही योगवासिष्ठ में भी बन्ध और मोक्ष की परमार्थ सत्ता नहीं मानी गई है। वस्तुत: इस ग्रन्थ पर मालिनीविजय (जो अभिनवगुप्त के अनुसार त्रिक या प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आधार ग्रन्थ है), विज्ञानभैरव, स्पन्दकारिका जैसे ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव है। स्पन्दकारिका के प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति की इस ग्रन्थ में अनेक बार आवृत्ति हुई है। इस ग्रन्थ के उपशम-प्रकरण पर विज्ञानभैरव का प्रभाव है, इसको वहाँ के हमारे उपोद्घात (पृ. ३६) में दी गई पहली टिप्पणी से जाना जा सकता है। नेत्रतन्त्र के १०वें और ११वें अधिकार में दक्षिण एवं वाम स्रोत के भैरव एवं तुम्बुरु नामक देवताओं एवं उनकी शक्तियों का पूजाविधान वर्णित है। योगवासिष्ठ (नि. पू. १९.२०-२१) में भी आठ मातृ-देवियों के नाम मिलते हैं और वहीं (नि. पू.१९.२३) भैरव और तुम्बुरु नामक देवताओं का एक साथ उल्लेख हुआ है। स्पन्द, समता, पौरुष प्रयत्न (ज्ञान या शक्ति), बन्ध-मोक्ष, प्रबुद्ध, संप्रबुद्ध, अप्रतिबुद्ध, कलंकांक, सत्तासामान्य, उच्छून, चिदग्नि, चिदर्क, महासत्ता, भरितावस्था, शक्तिपात, ब्रह्मसत्ता, जीवन्मुक्ति, पुर्यष्टक जैसे शब्दों की व्याख्या पूरी तरह से उक्त शास्त्रों की परिभाषाओं का अनुसरण करती है। अनुपाय प्रक्रिया (सहज योग) का वर्णन भी [1]यहाँ देखने को मिलता है। तन्त्रशास्त्र में [2]शास्त्र, गुरु और स्वयं अपनी प्रतिभा से ज्ञान की प्राप्ति की बात कही गई है। योगवासिष्ठ का कहना है कि [3]शास्त्र या गुरु के वचन से आत्मा का बोध (ज्ञान) नहीं होता, इसका ज्ञान तो स्वयं अपने बोध से ही होता है। इसी तरह से सत्तर्क को यहाँ सर्वोपरि स्थान दिया

---

१. विज्ञानभैरव, उपोद्घात, पृ.३६, टि.१-२ देखिये।

२. "त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानम्, गुरुत: शास्त्रत: स्वत:" इत्यादि वचन देखिये।

३. "शास्त्रार्थैर्बुद्ध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च। बुद्ध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशत: स्वत:।।" (नि. पू. ४१.१५)

गया है। विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने आठ प्रकार के प्राणायामों का विस्तृत परिचय योगवासिष्ठ[1] (मोक्षोपाय) की सहायता से ही किया है।

योगवासिष्ठ के विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है। अभिनन्द पंडित ने अपने लघुयोगवासिष्ठ में निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्ध पर्यन्त ग्रन्थ का ही संक्षेप प्रस्तुत किया है। मूल ग्रन्थ में भी यहाँ ग्रन्थ-समाप्ति के सभी चिह्न उपलब्ध हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्ध बाद में जोड़ा गया होगा।

रुद्रयामल

रुद्रयामल (उत्तरतन्त्र) के कलकत्ता से जीवानन्द विद्यासागर के एकाधिक संस्करण हो चुके हैं। बंग लिपि में १८९५ ई. में प्रकाशित संस्करण की सूचना डॉ. [2]तून गान्द्रियान के ग्रन्थ से मिलती है। वहाँ (पृ. ४७-४८) इस ग्रन्थ का तथा इसके अनुत्तरतन्त्र नामक अंशविशेष का भी परिचय दिया गया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतन्त्र ग्रन्थमाला से भी इसका प्रकाशन हुआ है और स्वल्प काल में ही उसका दूसरा संस्करण हो चुका है। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता स्पष्ट होती है।

अभिनवगुप्त ने ई. प्र. वि. वि. (भा. ३, पृ. २८५) में रुद्रयामलसार के वचन को उद्धृत किया है। यह श्लोकार्ध विज्ञानभैरव (श्लोक ९३) में मिलता है। वि. भै. के प्रथम श्लोक में रुद्रयामल शब्द आया है और ग्रन्थ के अन्त (श्लो. १६०) में देवी कहती है कि आज मैंने रुद्रयामलतन्त्र के सार को समझ लिया है। इसीलिये इस ग्रन्थ को 'रुद्रयामलसार' नाम दे दिया गया, ऐसा प्रतीत होता है। परात्रीशिका के अन्त में भी रुद्रयामल शब्द आया है, उत्तरषट्क को भी रुद्रयामलसार से संबद्ध माना जाता है, किन्तु वहाँ यह वचन उपलब्ध नहीं होता। अतः हमें रुद्रयामलसार के रूप में विज्ञानभैरव का ही ग्रहण करना होगा। इस तन्त्र का नाम नि. षो. (४.५९) में स्पष्ट उल्लिखित है। टीकाकारों के अनुसार १.१५ और ४.६२ में भी इसी ग्रन्थ का उल्लेख है। ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. ४०, १६१, १७८) में भी यह चर्चित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राचीन तान्त्रिक ग्रन्थ है। ऊपर के ग्रन्थों में वर्णित विषय अथवा वचन सम्प्रति मुद्रित ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि कुलार्णव और

---

१. विज्ञानभैरव, उपोद्घात, पृ. २८ की पहली टिप्पणी तथा मूल ग्रन्थ, पृ. २९-३० देखिये।

२. हिन्दु तान्त्रिक लिटरेचर इन संस्कृत, पृ. ४७ की ६२ संख्या की टिप्पणी देखिये।

तन्त्रराजतन्त्र (कादिमत) के समान इस तन्त्र के भी दो संस्करण हो गये हों। रुद्रयामलतन्त्र से संबद्ध विशाल सामग्री आज भी मातृकाओं के रूप में सुरक्षित है। स्वयं इस ग्रन्थ की भी विभिन्न ग्रन्थालयों में अनेकविध मातृकाएँ उपलब्ध हैं। प्राचीन मातृकाओं के आधार पर इसके समालोचनात्मक संस्करण की आवश्यकता है। तभी परात्रीशिका, विज्ञानभैरव, उत्तरषट्क, नि. षो. जैसे प्राचीन ग्रन्थों का सही रूप में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। सं.सं.वि.वि. के योगतन्त्र विभाग में इससे संबद्ध सामग्री का संकलन किया गया था। अब उसकी चर्चा न की जाय, यही ठीक होगा।

विज्ञानभैरव

भगवती भैरवी और भगवान् भैरव के प्रश्न-प्रतिवचन के रूप में अवतरित यह ग्रन्थ [१]कश्मीर के शैवागम से संबद्ध है। ग्रन्थ के प्रारंभ और अन्त में रुद्रयामलतन्त्र की चर्चा है कि उसका सार भाग यहाँ संगृहीत है। अभिनवगुप्त ने इसको [२]आगम, [३]शिवविज्ञानोपनिषद् और [४]रुद्रयामलसार के नाम से उद्धृत किया है। परमार्थसार के टीकाकार [५]योगराज इसे शैवोपनिषद् कहते हैं। [६]अमृतानन्द योगी विज्ञानभैरवभट्टारक और [७]महेश्वरानन्द विज्ञानभट्टारक के नाम से इसे स्मरण करते हैं। अद्वयसम्पत्तिकार वामननाथ, स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव, अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र आदि ग्रन्थों के टीकाकार क्षेमराज जैसे विद्वानों ने बड़े आदर के साथ प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में इसे उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ योगशास्त्र एवं आगमशास्त्र का एक उज्ज्वल रत्न है।

दो टीकाओं के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन संवत् १९७५ में श्रीनगर से हुआ था। इनमें से पहली टीका (विवृति) शिवोपाध्याय की और दूसरी (विज्ञानेन्दुकौमुदी) भट्ट आनन्द की है। क्षेमराज ने भी विज्ञानोद्योत नाम की व्याख्या लिखी थी।

---

१. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की मातृकाओं (पृ. २२०,७६६) में सिद्ध योगीश्वर इस ग्रन्थ के प्रवक्ता माने गये हैं।

२. ई. प्र. वि. वि., भा. १, पृ. २८७; भा. २, पृ. २१४, ४२७ देखिये।

३. वहीं, भा. २, पृ. ४०५ देखिये।

४. वहीं, भा. ३, पृ. २८५ देखिये।

५. परमार्थसारटीका, पृ. १४८ एवं १५१ देखिये।

६. योगिनीहृदयदीपिका में अनेक स्थलों पर।

७. महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या में अनेक स्थलों पर।

महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी की अपनी परिमल टीका (पृ.१४६-१४७) में इसका उल्लेख किया है, किन्तु आज यह उपलब्ध नहीं है। शिवोपाध्याय की विवृति के अन्तिम [1]श्लोकों से मालूम होता है कि उनके समय में १-२४ श्लोक तक की क्षेमराज की व्याख्या उपलब्ध थी। इसके आगे के ग्रन्थ की कागज या भूर्जपत्र पर लिखी हुई कोई पुस्तक नहीं मिली। कालरूपी घुन ने उसे चाट लिया अथवा वह अग्नि को समर्पित कर दी गई, इस बात को तो भगवान् ही जानते हैं। विज्ञानोद्योत के इस उपलब्ध अंश को शिवोपाध्याय की व्याख्या में सम्मिलित कर लिया गया है।

शिवोपाध्याय की टीका के अनुसार इस ग्रन्थ में १६३ और भट्ट आनन्द की टीका के अनुसार १६१ श्लोक हैं। भट्ट आनन्द की टीका में ७७ संख्या के बाद के श्लोक में ७९ संख्या लगा दी गई है। इस तरह से भट्ट आनन्द ने वस्तुतः १६० श्लोकों की ही व्याख्या की है। शिवोपाध्याय के ४४वें श्लोक के उत्तरार्ध और ४५ वें श्लोक के पूर्वार्ध की तथा ८४वें और ११४ वें श्लोक की व्याख्या भट्ट आनन्द ने नहीं की। यह उचित भी है, क्योंकि "निस्तरङ्गोप" (श्लो. १३६) आदि श्लोक में धारणाओं की संख्या ११२ बताई गई है। यह संख्या भट्ट आनन्द की टीका के अनुसार ही ठीक बैठती है। शिवोपाध्याय की व्याख्या में यह बढ गई है, अतः इन तीनों श्लोकों का समावेश भाषा-भाष्य वाले संस्करण में नहीं किया गया है। मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित इस संस्करण में एक पंक्ति अधिक है। इसका कारण यह है कि १५३ वें श्लोक में 'सकारेण' इस पंक्ति का समावेश क्षेमराज द्वारा शिवसूत्रविमर्शिनी में उद्धृत वचन के अनुसार किया गया है। पंक्तियों का क्रम भी उस उद्धरण के अनुसार ही रखा गया है। अतः इस संस्करण में श्लोक संख्या सार्ध १६० है।

विज्ञानभैरव के उपोद्घात (पृ. ४) में प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर ई. आठवीं शताब्दी के अन्त तक विज्ञानभैरव का प्रादुर्भाव हो चुका था, ऐसा मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। आधुनिक इतिहास कश्मीर के आगम-ग्रन्थों के आविर्भाव का काल ई. सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही मानते हैं।

व्याख्याकार

व्याख्याकारों में से क्षेमराज के संबन्ध में हम आगे (पृ. २८) लिख रहे हैं। भट्ट आनन्द और शिवोपाध्याय भी कश्मीर के ही निवासी हैं। भट्ट आनन्द ने

---

१. "श्रुतं देव मयेत्यादिप्रश्नग्रन्थार्थबन्धनम्। ऊर्ध्वे प्राणादिपद्यान्तं क्षेमराजकृतं शुभम्।। ततः परमुपाध्यायकुशकाशावलम्बनम्। यद्वृत्तिग्रन्थकाकलपुस्तकं हस्तगोचरम्।। भूर्जात्मकं वा नायातं जग्धं कालघुणेन तत्। दग्धं वा वह्निना च्छिन्नमत्र साक्षी महेश्वरः।।" (पृ. १४३)

अपनी टीका के [१]अन्त में ग्रन्थ की समाप्ति का काल कलिसंवत् ४७७४ की चैत्र प्रतिपदा बताया है। तदनुसार भट्ट आनन्द ने वि.१७३० में अपनी टीका समाप्त की थी। इस तरह से ई. १७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में उनकी स्थिति माननी चाहिये। शिवोपाध्याय की स्थिति अठारहवीं [२]शताब्दी में मानी गई है। ये कौशिक गोत्र के थे और [३]सुन्दरकण्ठ के शिष्य थे। [४]कश्मीर के राजा सुखजीवन के राज्यकाल में इन्होंने इस व्याख्या को पूरा किया था। इसके अतिरिक्त इनके निम्न ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं—परमार्थसारसंग्रहटीका, बहुरूपगर्भ(स्तोत्र)टीका, उपनयनतन्त्र, विद्यामन्त्रप्रकरण, पंचायतनपद्धति, कूष्माण्डभाष्य, उचिवाहविधितन्त्र। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हस्तलेख सूचियों में ये नाम उपलब्ध हैं। इनकी परीक्षा अपेक्षित है।

उक्त तीन संस्कृत ठीकाओं के अतिरिक्त इन पंक्तियों के लेखक ने भी अन्वयार्था नाम की संस्कृत टीका लिखी है, प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी भाषा-भाष्य के साथ यह छपी है। पद्मभूषण ठाकुर जयदेवसिंह एवं गणेशपुरी के स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज के अलग-अलग अंग्रेजी अनुवाद एवं आचार्य रजनीश द्वारा इस ग्रन्थ पर अंग्रेजी भाषा में दिये गये प्रवचनों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ का डॉ. लिलिन सिलवर्न का किया गया फ्रेंच अनुवाद सन् १९६१ में पेरिस में प्रकाशित हुआ था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में संगृहीत मातृकाओं (पृ. २२०,७६६) में सिद्ध योगीश्वर को विज्ञानभैरव का कर्ता बताया गया है। अद्वयवज्रसंग्रह (बौद्ध तन्त्र, पृ. १६) में यहाँ का वचन उद्धृत है। अमृतानन्द (पृ. २२८) ने "विज्ञानभैरवभट्टारकैः" इस तृतीयान्त पद का प्रयोग किया है, "भट्टारके" इस सप्तम्यन्त पद का नहीं। इससे ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में विज्ञानभैरवभट्टारक इस नाम के ग्रन्थ के रचयिता हैं। 'भट्टारक' एक आदरसूचक शब्द है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार दोनों के साथ इस पद का प्रयोग मिलता है। 'भट्टारक' पद जैन मत में आचार्य के लिये प्रयुक्त है।

---

१. "वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमधुपक्षतौ। विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दो व्यकासयत्।।" (पृ. ६३)

२. श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी कृत "काश्मीर शैविज्म", पृ. ३८, सन् १९६२ का संस्करण द्रष्टव्य।

३. शिवोपाध्याय-कृत विवृति, पृ. १४३-१४४ द्रष्टव्य।

४. "सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीरमण्डले नृपतौ। अगमन्निःशेषत्वं विज्ञानोद्योतसंग्रहः सुगमः।।" (पृ. १४४)

विज्ञानभैरव के उपोद्घात में हमने परमतत्त्व विषयक प्रश्नों का खुलासा करने के बाद परमतत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मध्यविकास, द्वादश आधार, द्वादशान्त, प्राण और अपान, प्राणायाम, क्षोभ, विकल्प, अपोहन, विज्ञान, शून्य, शून्यषट्क, विज्ञानभैरव का मुख्य तात्पर्य जैसे विषयों पर प्रकाश डाल कर अन्त में योगशास्त्र के भविष्य एवं भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर विचार किया है। इन सब विषयों का अवलोकन वहीं करना चाहिये।

सर्वमङ्गलाशास्त्र

शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ. ४२), परमार्थसार-योगराजवृत्ति (पृ. १०) स्पन्दकारिका-रामकण्ठवृत्ति, (पृ. ९), नेत्रतन्त्रोद्योत (२१.३१), तन्त्रालोकविवेक (५.४०) जैसे ग्रन्थों में यह शास्त्र उद्धृत है। श्रीकण्ठीसंहिता में पठित ६४ भैरवागमों में इसका नाम उपलब्ध है। तन्त्रालोक (५.४०) में मंगलशास्त्र के रूप में इसकी चर्चा हुई है। श्रीकण्ठ शब्द से यहाँ भगवान् शिव गृहीत हैं। मंगलाशास्त्र के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। उपर्युक्त स्थलों पर सर्वत्र इसका एक ही श्लोक उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है—

> शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
> शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।।

योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ३९०) में इस श्लोक का उत्तरार्ध तन्त्रान्तर के नाम से उद्धृत है। यहाँ स्पष्ट रूप से द्वैतवाद प्रतिपादित है। ऊपर के सभी आचार्यों ने अद्वयतन्त्र के रूप में ही इसको उद्धृत किया है। स्पन्दप्रदीपिकाकार ने इसको रहस्यशास्त्र का वचन माना है। रहस्यशास्त्र तन्त्रशास्त्र की ही विशेष शाखा का नाम है। यह किसी ग्रन्थ विशेष का नाम नहीं है।

सर्ववीरभट्टारक

यहाँ का "अज्ञानात्" इत्यादि श्लोक महार्थमंजरीपरिमल और प्रत्यभिज्ञाहृदय में सर्ववीरभट्टारक के नाम से और शिवसूत्रविमर्शिनी एवं परात्रीशिका-व्याख्या में सर्वाचारहृदय के नाम से उद्धृत है। "कदाचित्" इत्यादि श्लोक ई. प्र. वि. वि. (भा. ३, पृ. ३११) में सर्ववीरमत के नाम से और शिवस्तोत्रविवृति (पृ. १४०) एवं तन्त्रालोकविवेक में श्रीवीर के नाम से स्मृत है। इसी तरह से "पेयापेयम्" इत्यादि अनेक श्लोक कहीं सर्ववीर के नाम से तो अन्यत्र सर्वाचार के नाम से उद्धृत हैं। यहाँ के कुछ श्लोक विज्ञानभैरवोद्योत (पृ. १०५) में भी उद्धृत हैं। इनको वहाँ मालिनीविजय के १८वें पटल का बताया गया है और वे वहाँ

उपलब्ध भी होते हैं। तन्त्रालोक में ४.५४ पर वीरशब्द से १२.२३-२४ पर सर्वाचार पद से और १३.१४५ पर सर्ववीर शब्द से तथा स्व. उ. (१.३१), शि. वि. (१.४) में मातृका-प्रस्तार के प्रसंग में भी इसी नाम से यह तन्त्र स्मृत है। ने. उ. (१६.२५) में सर्वाचारभट्टारक के नाम से यह उद्धृत है। इस तरह से इन सभी वचनों को देखते हुए ऐसा लगता है कि ये सभी नाम एक ही ग्रन्थ के हैं। सर्ववीरमत नि. षो. और कुलचूडामणि के ६४ तन्त्रों की नामावली में भी उपलब्ध है।

स्वच्छन्दतन्त्र

स्वच्छन्दतन्त्र के नाम से क्षेमराज की उद्योत टीका के साथ कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर से प्रकाशित यह ग्रन्थ अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में अघोरेशतन्त्र के नाम से भी स्मृत है—"उक्तं तन्त्रेऽप्यघोरेशे स्वच्छन्दे विभुना स्वयम्" (२७.५८)। शिव के अघोर नाम के दक्षिण मुख से निःसृत ६४ भैरव तन्त्रों की श्रीकण्ठीसंहिता में दी गई नामावली में पहला नाम इस तन्त्र का है, अतः इसे अघोरेशतन्त्र कहा जाय, यह उचित ही है। यद्यपि भैरव तन्त्रों में इसका परिगणन किया गया है, किन्तु किसी भुल्लक नाम के आचार्य ने इसकी सिद्धान्तशैव के द्वैतवाद के अनुसार व्याख्या की है। क्षेमराज ने अनेक स्थलों पर बिना नाम लिये तथा अन्यत्र नामोल्लेखपूर्वक भुल्लक के मत का खण्डन किया है। लुप्ता. उपो. (पृ. १४-१५) की टिप्पणी में इन स्थलों का उल्लेख किया गया है। क्षेमराज यह लिखना भी नहीं भूले हैं कि प्रायः लोकमानस का सिद्धान्तशास्त्र के प्रति अधिक झुकाव है (२.२५)।

कश्मीरी शैवदर्शन का यह विशिष्ट आगम-ग्रन्थ है। दीक्षा, षडध्वशुद्धि, पदैकादशिका जैसे विषयों का यहाँ विस्तार से वर्णन किया गया है। षडध्व का परिगणन क्षेमराज ने अभिनवगुप्त की पद्धति से ही किया है। क्षेमराज ने दीक्षा के प्रसंग में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के और द्वैतवादी आचार्य खेटपाल के मत की तथा किरणागम के व्याख्याता के मत की भी समीक्षा की है। सौर और आध्यात्मिक काल, प्राणचार, अंशकापादन, तन्त्रावतार जैसे विषयों के साथ भुवनाध्वा का यहाँ अतिविस्तार से परिचय दिया गया है। इसी प्रसंग में दशधा विभक्त गंगा का, ४८ संस्कारों का (४० संस्कार एवं अष्टविध आत्मगुण), २८ सिद्धान्तागमों के उपदेशक १० शिवभेद और १८ रुद्रभेदों का भी वर्णन यहाँ किया गया है। नवविध नाद, लौकिक आदि पंचविध शास्त्र, विभिन्न मतों के परमपद, देश और काल की परिभाषा, पृथिव्यादि शिवान्त तत्त्वविज्ञान जैसे विषय भी यहाँ प्रदर्शित

हैं। इस तन्त्र के १०-१२ पटल भूगोलविज्ञान एवं तत्त्वविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अन्तिम दो पटलों में (१४-१५) विविध मुद्राओं और छुम्मकाओं का परिचय दिया गया है। छुम्मकाओं का विवरण बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है।

शिवसूत्र

शिवसूत्रवार्त्तिककार भट्ट भास्कर के अनुसार सिद्धादेश से वसुगुप्त को शिवसूत्रों की प्राप्ति हुई। शिवसूत्रविमर्शिनी में क्षेमराज ने और तदनुवर्ती शिवसूत्रवार्त्तिककार वरदराज ने बताया है कि महागिरि के एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण शिवसूत्रों को वसुगुप्त ने प्राप्त किया था। आज शिवसूत्र के तीन ही खण्ड उपलब्ध हैं और ऊपर निर्दिष्ट तीनों ग्रन्थ उन्हीं की व्याख्या करते हैं। ये सभी कश्मीर से प्रकाशित भी हो चुके हैं। शिवसूत्र की कल्लट-कृत एक संक्षिप्त वृत्ति भी इन्हीं ग्रन्थों के साथ मुद्रित हुई है। ई. प्र. वि. वि. (भा. २, पृ. ३०१) में जो शिवसूत्र[1] उद्धृत है, वह मुद्रित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। वार्त्तिककार भास्कर भट्ट का ही कहना है कि वसुगुप्त ने अपने शिष्य भट्ट कल्लट को शिवसूत्रों का उपदेश चार खण्डों में किया था। उनमें से प्रथम तीन खण्डों की व्याख्या कल्लट ने स्पन्दसूत्रों के माध्यम से की तथा चतुर्थ खण्ड पर तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक व्याख्या लिखी। उस अन्तिम खण्ड का ही यह सूत्र हो सकता है। अभिनवगुप्त ने ई. प्र. वि. वि. (भा.२, पृ. ३०) में बताया है कि भट्ट कल्लट ने प्रथम तीन खण्डों पर मधुवाहिनी और चतुर्थ खण्ड पर तत्त्वार्थचिन्तामणि व्याख्या लिखी। ये दोनों व्याख्याएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। यह ऊपर बताया जा चुका है कि कल्लट की संक्षिप्त शिवसूत्रवृत्ति प्रकाशित हो चुकी हैं। इसका कोई नाम वहाँ नहीं दिया गया है।

कल्लट

स्पन्दकारिका और उसकी वृत्ति की रचना के द्वारा स्पन्द सम्प्रदाय के प्रवर्तक, शिवसूत्र की [2]मधुवाहिनी और तत्त्वार्थचिन्तामणिवृत्ति के लेखक भट्ट कल्लट के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। ये अभिधावृत्तिमातृका के कर्ता भट्ट मुकुल के पिता, वसुगुप्त के शिष्य और भट्ट प्रद्युम्न के ममेरे भाई (मातुलेय) एवं गुरु थे। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा ने ८५४ ई. में इनका सत्कार किया था।

---

१. स्पन्दसन्दोह में इस तरह के अन्य दो सूत्र भी उद्धृत हैं। उनका संग्रह डॉ. रस्तोगी के ग्रन्थ (पृ. ११०) में किया गया है। ये सूत्र स्पन्दसन्दोह में पृ. २५ पर मिलते हैं। अभिनवगुप्त ई. प्र. वि. वि. (भा. ३, पृ. २३) में इनको सारस्वतसूत्रसंग्रह के नाम से उपन्यस्त करते हैं। अतः लुप्ता. में हमने इसी नाम से इनका समावेश किया है।

२. ऊपर पृ. ४२८ की ४थी टिप्पणी देखिये।

तत्त्वार्थचिन्तामणि शिवसूत्र के चतुर्थ खण्ड की टीका थी और मधुवाहिनी वृत्ति शिवसूत्र के प्रथम तीन खण्डों पर लिखी गई थी। कल्लट की ये दोनों टीकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं और शिवसूत्र का चतुर्थ खण्ड भी। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव "अयम्, ग्रन्थकृत्, कर्ता, संग्रहकृत्" जैसे शब्दों से कल्लट को ही उद्धृत करते हैं। पृ. १०१ पर इनकी प्राकृत गाथा को और पृ. ८८ पर इनके स्वस्वभावसंबोधन ग्रन्थ को इन्होंने उद्धृत किया है। उत्पल वैष्णव के मत से स्पन्दकारिका के कर्ता कल्लट ही हैं। कश्मीर में शिवपारम्यवादी और शक्तिपारम्यवादी दो सम्प्रदाय प्रचलित थे। शिवपारम्यवादी स्पन्दकारिका को शैवशास्त्र मानते हैं और वसुगुप्त को इसका कर्ता। शक्तिपारम्यवादी स्पन्दकारिका को शक्तिपारम्य का प्रतिपादक शास्त्र मान कर कल्लट को इसका कर्ता मानते हैं। क्षेमराज प्रथम पक्ष के और उत्पल वैष्णव द्वितीय पक्ष के प्रबल समर्थक हैं। शक्तिपारम्य पक्ष का सोमानन्द और उसके वृत्तिकार उत्पल भट्ट खण्डन करते हैं यह मत क्रमदर्शन को मान्य है और स्पन्दकारिका इस मत का आद्य ग्रन्थ माना जाता है। डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने इस विषय पर विस्तार से लिखा है (पृ. ११०-१२०)। वे इनके तत्त्व-विचार नामक ग्रन्थ की भी सूचना देते हैं। सुभाषितावलि में भी इनके सुभाषित संगृहीत हैं। शिवसूत्रवार्त्तिककार भट्ट भास्कर भट्ट प्रद्युम्न को कल्लट का शिष्य बताते हैं। ये शक्तिपारम्यवाद के पक्षपाती थे, इसकी सूचना सोमानन्द एवं उत्पल भट्ट के ग्रन्थों से मिलती है। स्पन्द शब्द विमर्श का पर्याय माना जाता है और विमर्श पद से शैव-शाक्त तन्त्रों में शक्ति का ही बोध होता है। इस पूरे प्रकरण को देखने से ऐसा लगता है कि स्पन्दकारिका को कल्लट की कृति मानने वाला पक्ष ही सही है।

नेत्रतन्त्र (२०.२८) की अपनी व्याख्या (पृ. १९९) में क्षेमराज योगमार्ग शब्द की व्याख्या करते समय कल्लट की तत्त्वार्थचिन्तामणि को उद्धृत कर बताते हैं कि आगमशास्त्र में वर्णित गोलक विधि के अभ्यास से योगी परशरीर में प्रवेश कर उसका सारा रस खींच लेते हैं। उस स्थिति में वह प्राणी अपने शरीर के संचालन में भी असमर्थ हो जाता है और योगी के द्वारा की गई आकर्षण और विकर्षण की क्रिया के कारण जब उसकी प्राणशक्ति पादतल या ब्रह्मरन्ध्र में सिमट जाती है, तो किसी एक मार्ग का सहारा लेकर गोलक विधि से ही उस प्राणी के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है और इस स्थिति में वह तदाकार बन जाता है।

सूक्ष्मागम के उत्तरभाग के परिशिष्ट (पृ. १५५) में गोलक न्यास वर्णित है। ऊपर वर्णित गोलक विधि से उसकी तुलना की जा सकती है। शिष्य की दीक्षा के प्रसंग में गुरु उसके शरीर में इसी विधि से प्रवेश करता है। इसकी प्रक्रिया

सिद्धान्तसारावलि (पृ. २२९) में वर्णित है। यहाँ बताया गया है कि इस विधि से शिष्य के पुर्यष्टक के साथ गुरु के पुर्यष्टक का अभेद स्थापित हो जाता है। इन सभी स्थलों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के आधार पर परकाय-प्रवेश की प्राचीन पद्धति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। [१]"योग और परकाय प्रवेश" शीर्षक निबन्ध में श्रद्धेय कविराज जी ने इस विषय पर विचार किया है।

स्पन्दकारिका

भट्ट कल्लट स्पष्ट ही स्पन्द(शक्ति) की प्रधानता के पक्षपाती थे। इन्हींको यदि स्पन्दकारिका का कर्ता माना जायगा, तो स्पन्दकारिका से शैव पारम्यवाद का प्रतिपादन संभव न हो सकेगा, ऐसा मानकर सोमानन्द के अनुयायियों ने वसुगुप्त को ही स्पन्दकारिका का कर्ता माना है। भट्ट लोल्लट आदि ने कल्लट-कृत स्पन्दवृत्ति की पद्धति से ही स्पन्दकारिका की व्याख्या की थी, किन्तु क्षेमराज ने ऐसा नहीं किया, स्वयं उनका ही यह कहना है[२]। उनका यह भी कहना है कि स्पन्दकारिका की अनेक आचार्यों ने मनमानी व्याख्या की है। उन सबसे अपनी असहमति जताने के लिये ही हमारे गुरु (अभिनवगुप्त) ने इस पर कोई व्याख्या नहीं लिखी[३]। उनका यह भी कहना है कि अन्य आचार्यों ने स्पन्दकारिका की जो व्याख्या की है, उन सबसे विलक्षण हमारी व्याख्या है[४]। इस ग्रन्थ के विषय में अभी कल्लट के प्रसंग में हम पर्याप्त लिख चुके हैं।

प्रद्युम्न भट्ट

यह प्रद्युम्न भट्ट कल्लट के ममेरे भाई और शिष्य थे, इसकी सूचना भट्ट भास्कर ने अपने शिवसूत्रवार्त्तिक के प्रारंभ में दी है। यहाँ उन्होंने वसुगुप्त से लेकर अपने तक आई स्पन्दशास्त्र की परम्परा को भी दिखाया है। भट्ट प्रद्युम्न ने तत्त्वगर्भस्तोत्र की रचना की थी, इसकी सूचना उत्पल भट्ट की शिवदृष्टिवृत्ति

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भा. २, पृ. २५-३२ द्रष्टव्य।

२. "भट्टलोल्लटेनापि तदाद्यन्त इत्येवमेव व्याख्यायि स्ववृत्तौ। भट्टश्रीकल्लटवृत्त्यक्षराण्यपेक्ष्य वयमपि तद्वृत्त्यक्षरानुरोधेन सौत्रमर्थमतिविमलमपि क्लिष्टकल्पनया व्याकर्तुमशिक्षिताः" (स्पन्दनिर्णय, पृ. ३४)

३. "अनन्तापरटीकाकृन्मध्ये स्थितिममृष्यता। विवृतं स्पन्दशास्त्रं नो गुरुणा नो, मयास्य तु।।" (स्प. नि., पृ. ७७)।

४. "श्रीस्पन्दसूत्रेषु यदन्यैः सर्वैर्विवृतिकृद्भिर्व्याख्यायि, यच्चास्माभिः किञ्चिद् व्याक्रियते, तत्रान्तरममत्सरा अनवलिप्ताश्च स्वयमेव विचिन्वन्तु सचेतसः, न तु तदस्माभिरुद्घाट्य प्रतिपदं प्रदर्श्यते" (स्प. नि., पृ. १३)।

(पृ. १६) से मिलती है। राजानक रामकण्ठ ने अपनी स्पन्दकारिकाविवृति (पृ. १२९) में—"यस्या निरुपधि०" इस श्लोक को तत्त्वगर्भस्तोत्र का बताया है। स्पष्ट है कि भट्ट प्रद्युम्न शक्तिपारम्यवाद के आचार्य थे। सोमानन्द ने इनको महान् आचार्य माना है (१.१६) और तृतीय आह्निक के प्रारंभ में इन्हींके मत का खण्डन किया है। उत्पल भट्ट ने यहाँ ऊपर उद्धृत श्लोक को ही शक्तिपारम्यवाद के पक्ष में उद्धृत किया है। स्पष्ट है कि भट्ट प्रद्युम्न सोमानन्द और उत्पल भट्ट से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। भट्ट प्रद्युम्न और उनके इस स्तोत्र के विषय में डॉ. रस्तोगी का ग्रन्थ (पृ.१२२-१२८) देखना चाहिये। वहाँ इनका समय (८५०-९००ई.) माना गया है। रामकण्ठ की स्पन्द विवृति में तत्त्वगर्भ के अन्य वचन भी उद्धृत हैं।

सोमानन्द

भट्ट कल्लट के समान शिवदृष्टिकार सोमानन्द भी वसुगुप्त के शिष्य हैं और ये दोनों समसामयिक हैं, ऐसा माना जाता है, किन्तु यह ठीक नहीं लगता। शिवदृष्टि (१.१६) में किसी महान् आचार्य का उल्लेख मिलता है। इसकी वृत्ति में भट्ट उत्पल का कहना है कि यहां भट्ट प्रद्युम्न के [1]तत्त्वगर्भस्तोत्र की चर्चा है। भट्ट प्रद्युम्न भट्ट कल्लट के शिष्य और मातुलेय हैं, इसकी सूचना भट्ट भास्कर ने अपने शिवसूत्रवार्त्तिक[2] में दी है। वहाँ वसुगुप्त से लेकर [3]भट्ट भास्कर पर्यन्त स्पन्ददर्शन के आचार्यों की परम्परा भी बताई गई है। सोमानन्द का नाम वहाँ नहीं है। शिवदृष्टि की समाप्ति में सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यों की परम्परा बताई है। इसमें स्पन्ददर्शन के आचार्यों की नामावली नहीं है। स्पष्ट है कि स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा की परम्परा एक दूसरे से भिन्न है। भट्ट कल्लट के शिष्य भट्ट प्रद्युम्न को शिवदृष्टि के ऊपर के उद्धरण में महान् आचार्य बताया गया है। व्याजस्तुति के रूप में भी उसको लिया जा सकता है। शिवदृष्टि के तृतीय आह्निक के प्रारंभ में भट्ट प्रद्युम्न के मत का खण्डन किया गया है। स्पष्ट है कि सोमानन्द भट्ट प्रद्युम्न के पश्चाद्वर्ती आचार्य हैं। इस स्थिति में इनको वसुगुप्त अथवा कल्लट का समसामयिक मानने वाले पक्ष की पुनः परीक्षा अपेक्षित है।

सोमानन्द ने परात्रीशिका नामक कौल दर्शन के ग्रन्थ की त्रिक दर्शन के अनुसार व्याख्या की थी। इनका समय नवीं शताब्दी माना जाता है।

---

१. "भट्टप्रद्युम्नेन तत्त्वगर्भे" (पृ. १६)।

२. "मातुलेयाय चावदत्। श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय" (श्लो. ६)।

३. वसुगुप्त, कल्लट, प्रद्युम्न भट्ट, प्रज्ञार्जुन, महादेव, श्रीकण्ठ, और भास्कर (दैवाकरि=दिवाकर-वत्स)—यह वहाँ (श्लो. ३-९) का क्रम है।

उत्पल भट्ट

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के पुरोधा उत्पल भट्ट के विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है। अभी (सन् १९९७) लखनऊ के उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान से "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" नामक ग्रन्थ के एकादश (तन्त्रागम) खण्ड में प्रकाशित डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित के "काश्मीर शैव दर्शन" शीर्षक निबन्ध (पृ. २३०-२३३) में इनके विषय में पर्याप्त विचार किया गया है। वहीं (पृ. २५२-२५३) बताया गया है कि आचार्य उत्पलदेव की माता का नाम वागीश्वरी देवी था। उनके पिता का नाम उदयाकर था। विभ्रमाकर उनका पुत्र था और पद्मानन्द उनका एक सहपाठी था। आचार्य मूलतः लाट देश, अर्थात् गुजरात के निवासी थे। श्रीनगर में वृद्ध विद्वानों में प्रचलित परम्परा के अनुसार उनका निवास-स्थान श्रीनगर के उत्तरी छोर पर उस भाग में था, जिसे जोतपुर (गुप्तपुर) कहते हैं।

जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता ।।

इस प्रत्यभिज्ञाकारिका की विवृतिविमर्शिनी (भा. ३, पृ. ४०४) में लाट पद मिलता है। इसके आधार पर डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित जी ने बताया है कि उत्पल भट्ट लाट देश (गुजरात) के निवासी थे। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के शिवगुप्त बालार्जुन के सेनकपाट शिलालेख में आमर्दक तपोवन के सदाशिवाचार्य का उल्लेख है। लाट देश के नृपति के बुलावे पर ये गुजरात गये थे। इससे प्रतीत होता है कि शैवागम की परम्परा लाट देश में प्राचीन काल से प्रचलित थी। लकुलीश पाशुपत मत के प्रवर्तक आचार्य लकुलीश की जन्मस्थली कायावरोहण लाट देश के अन्तर्गत ही है। लकुलीश के प्रसंग में इस पर विचार किया गया है। उत्पल भट्ट का समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।

शिवस्तोत्रावली

"यत्र यत्र मिलिताः" यह श्लोक यो. हृ. दीपिका में एक स्थान (पृ. २११) पर प्रामाणिक वचन तथा दूसरे स्थल पर (पृ. ३३३) स्तोत्रावली के नाम से उद्धृत है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रतिष्ठापक उत्पल भट्ट की शिवस्तोत्रावली में यह श्लोक उपलब्ध नहीं होता। इनके नाम से उद्धृत कुछ अन्य वचन भी वहाँ नहीं मिलते। क्षेमराज ने शिवस्तोत्रावली के उस स्वरूप की व्याख्या की है, जो श्रीराम, आदित्यराज और विश्वावर्त के द्वारा निर्धारित किया गया था। इस ग्रन्थ के प्राप्त सभी हस्तलेखों के आधार पर इसका परिष्कृत संस्करण होना चाहिये।

शम्भुनाथ

तन्त्रसद्भाव का परिचय देते समय शम्भुनाथ के विषय में बताया जा चुका है। तन्त्रालोक में अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि आचार्य शंभुनाथ ने अभिनवगुप्त को कौल सम्प्रदाय की दीक्षा दी थी। जयरथ (तन्त्रा. वि.१.२१३) सुमति को अतिमार्ग (कौलमार्ग) का विशिष्ट आचार्य मानते हैं। यहाँ के एक उद्धरण में जालन्धर पीठ के शंभुनाथ को इनका शिष्य बताया गया है और दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि सुमति के सोमदेव और सोमदेव के शिष्य शंभुनाथ हैं। इनको यहां जालन्धर पीठ और दक्षिणभूमि का निवासी बताया गया है। कश्मीर की दृष्टि से जालन्धर पीठ की स्थिति दक्षिण दिशा में है और जालन्धर पीठ की देवी वज्रेश्वरी देवी का मन्दिर नगरकोट (कांगड़ा) में स्थित है। पंडित बलजिन्नाथ जी ने इसकी सही स्थिति का आकलन किया है (पृ. २१६)। बौद्ध सिद्ध कृष्णपाद की उपासना-स्थली भी यही जालन्धर पीठ रहा है। ऐसा लगता है कि उस समय जालन्धर पीठ कौल सम्प्रदाय का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। ऐसी स्थिति में सुमति, सोमदेव, शंभुनाथ आदि का दक्षिणभारत से कोई संबन्ध मानना सही नहीं है।

स्तोत्रभट्टारक अथवा क्रमस्तोत्र के रचयिता सिद्धनाथ शंभुनाथ से अभिन्न हो सकते हैं। इस स्तोत्र पर अभिनवगुप्त ने क्रमकेलि नाम की टीका लिखी थी। इस विषय पर हमने लुप्ता. उपो. (पृ. ३१ एवं ८१) में विचार किया है। ग्रन्थ की उपलब्धि के बाद ही कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस नाम के दो स्तोत्र हैं या एक तथा सिद्धनाथ एवं शंभुनाथ एक ही आचार्य हैं या दो।

भास्कर भट्ट

भट्ट दिवाकर के पुत्र भट्ट भास्कर द्वारा रचित शिवसूत्रवार्त्तिक कश्मीर ग्रन्थावली में सन् १९१६ में प्रकाशित हो चुका है। ग्रन्थ के प्रारंभ में भट्ट भास्कर ने बताया है कि वसुगुप्त गुरु के समक्ष सिद्धादेश से प्रादुर्भूत शिवसूत्रों का उन्होंने भट्ट कल्लट को सर्वप्रथम उपदेश किया। कल्लट ने उनको चार खण्डों में विभक्त कर तीन खण्डों का स्पन्दसूत्रों के माध्यम से और चतुर्थ खण्ड पर तत्त्वार्थचिन्तामणि व्याख्या लिखकर उनको प्रचारित किया। भट्ट कल्लट ने यह सब अपने मातुलेय भट्ट प्रद्युम्न को दे दिया। भट्ट प्रद्युम्न ने अपने पुत्र प्रज्ञार्जुन को और प्रज्ञार्जुन ने अपने शिष्य महादेव भट्ट को यह ज्ञान दिया। महादेव भट्ट ने अपने पुत्र श्रीकण्ठ भट्ट को यह दिया। श्रीकण्ठ भट्ट से यह ज्ञान दिवाकर के पुत्र मुझ भास्कर को प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार ने यहाँ अपने को दैवाकरि कहा है और यहाँ के पुष्पिका-

वाक्यों में इनको स्पष्ट रूप से दिवाकरात्मज कहा गया है। स्वाभाविक है कि दिवाकर वत्स के नाम से इन्हीं का ग्रहण किया जाय। उद्धरणों के माध्यम से इनके विवेकांजन और कक्ष्यास्तोत्र की सूचना मिलती है। डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने इनका समय ९२५-९७५ निर्धारित किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि यहाँ स्पन्दकारिका की परम्परा भट्ट कल्लट से मानी गई है। इस विषय पर अन्यत्र (पृ. ४४७-४४८) लिखा जा चुका है।

स्पन्दप्रदीपिका

उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका के एकाधिक संस्करण हो चुके हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि इससे अनेक ऐसे ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की सूचना मिलती है, जो अब नामशेष हो चुके हैं। उत्पल भट्ट की प्रत्यभिज्ञाकारिका को ये उद्धृत करते हैं। अतः ये उनके परवर्ती हैं। उत्पल भट्ट से इनकी भिन्नता को दिखाने के लिये इनको उत्पल वैष्णव कहा जाता है। इनकी स्पन्दप्रदीपिका पर यद्यपि स्पष्टतः वैष्णव प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु इन्होंने यहाँ अनेक वैष्णव ग्रन्थों को उद्धृत किया है। कश्मीर में अद्वयवादी वैष्णव मत की परम्परा रही है। उसीसे जुड़े हुए ये आचार्य हैं। अतः इनको वैष्णव कहना उचित ही है। लुप्ता. उपो. (पृ. ११) में बताया गया है कि कालपरा, चिच्छक्तिसंस्तुति, जयाख्यसंहिता, जाबालिसूत्र, ज्ञानसंबोध, नारदसंग्रह, पंचरात्रश्रुति, पंचरात्रोपनिषद्, बौधायनसंहिता, मायावामनसंहिता, मायावैभवागम, लक्ष्मीसंहिता, विश्वसंहिता, विष्णुयामल, वैहायसीसंहिता, षाड्गुण्यविवेक, संकर्षणसूत्र और सात्वतसंहिता—उत्पल वैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत ये सभी ग्रन्थ पांचरात्र वैष्णवागम के हैं। वहाँ इनका यथास्थान परिचय भी दिया गया है। वामनदत्त के संवित्प्रकाश का भी यहाँ समावेश करना होगा, क्योंकि वैष्णव परमार्थसार के समान यह भी अद्वयवादी वैष्णव मत का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इस प्रसंग में नेत्रतन्त्र के त्रयोदश अधिकार की भी चर्चा आवश्यक है। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ९२) में सूचित विष्णु, शिव, बुद्ध, सूर्य आदि देवताओं की उपासना यहाँ वर्णित है।

भट्टोत्पल का समय दसवीं शताब्दी में कहीं माना जाता है। तदनुसार ही उनके बाद इनका समय माना जा सकता है। अपना परिचय देते हुए वे कहते हैं कि कश्मीर में नारायण स्थान के निवासी त्रिविक्रम इनके पिता थे (पृ. ८३)। अन्यत्र (पृ. ८४) वे बताते हैं कि इनके पिता के मातामह का नाम महाबल था। डॉ. रस्तोगी ने महाबल को अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त का परमेष्ठी गुरु बताया है। इसकी परीक्षा अपेक्षित है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ही नहीं, सम्पूर्ण तन्त्रागमशास्त्र के महनीय विद्वान् हैं। इनका समय ई. ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। इनके व्यक्तिगत जीवन और ग्रन्थों के विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, मालिनीवार्त्तिक एवं परात्रीशिकाविवरण इनके प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के महनीय ग्रन्थ हैं। इनकी यशस्विता को प्रकट करने वाला एक ही ग्रन्थ पर्याप्त है—तन्त्रालोक। यहाँ अनुपाय, शांभवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय प्रक्रिया को स्पष्ट करते समय समस्त अद्वयवादी शास्त्रों (क्रम, कुल, मत, त्रिक) के साथ वाम, दक्षिण और सिद्धान्त तन्त्रों का समग्र परिचय दिया गया है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ आह्निक में क्रमदर्शन का और २८-२९ आह्निकों में कुलदर्शन का अतिविस्तार से परिचय मिलता है। इनका क्रमकेलि नाम का ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। तन्त्रसार में इन्होंने तन्त्रालोक के समग्र विषय को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है। स्थूल और सूक्ष्म योगप्रक्रिया, षडध्वविवेचन, शक्तिपात, वामपूजा, दीक्षा, मुद्रा, मण्डल, कौलिक यागविधि जैसे विषय भी यहाँ विस्तार से वर्णित हैं। अपने ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि के साथ इन्होंने सामाजिक पक्ष को भी उजागर किया है। अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन जैसे ग्रन्थों के माध्यम से इन्होंने संगीतशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र को भी अपनी अभिनव देन दी है। इसी पृष्ठभूमि में हमारा यह कहना है कि इस देश के पुनर्जागरण के लिये हमें अभिनवगुप्त की दृष्टि को आगे बढ़ाना चाहिये।

विश्वावर्त

जयरथ ने वामकेश्वरीमतविवरण (पृ. ४८) में कश्मीर में त्रिपुरादर्शन के अवतारक के रूप में ईश्वरशिव और विश्वावर्त के नाम लिये हैं। वहीं अन्यत्र (पृ. १२५) विश्वावर्त को ही इस दर्शन का महान् प्रवर्तक माना है। इसके विपरीत वहीं (पृ. ४८) ईश्वरशिव को वरीयता देते हैं और कहते हैं कि ईश्वरशिव ही रसमहोदधि के रचयिता एवं शूरमठ के अधिपति हैं। नवम शताब्दी के कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई.) के मन्त्री शूर इस मठ के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। ये विश्वावर्त उत्पल भट्ट की शिवस्तोत्रावली को २० स्तोत्रों में बाँधकर और उनको अपने मन के माफिक शीर्षक देकर इस नाम से प्रसिद्ध किया, ऐसा इसके व्याख्याता क्षेमराज का कथन है।

क्षेमराज

राजानक क्षेमराज और उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय न्यू. (भा.५, पृ. १६३-१६४) में संक्षेप में और डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ. नवजीवन रस्तोगी

आदि के ग्रन्थों में विस्तार से दिया गया है। इसमें अवधेय विषय यह है कि षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर अमृतानन्द-कृत सौभाग्यसुधोदय का एक अंश है। डॉ. जगदीशचन्द्र चटर्जी के "काश्मीर शैविज्म" (पृ. ३५) में जिस तत्त्वसन्दोह की चर्चा है, वह भी इससे अभिन्न ही है। अतः स्पष्ट है कि यह क्षेमराज का ग्रन्थ नहीं है। प्रत्यभिज्ञाहृदय शक्तिसूत्र के नाम से नि. षो. सेतुबन्ध में स्मृत हैं, योगिनीहृदयदीपिका में नहीं। हृदयसूत्र आदि का उल्लेख कामकलाविलास की टीका चिद्वल्ली में मिलता है, कामकलाविलास में नहीं। महार्थमंजरी और उसकी वृत्ति स्वयं क्षेमराज की कृति है और वह महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी से भिन्न है। इस पर महेश्वरानन्द की व्याख्या है। इसकी मातृका हिन्दू विश्वविद्यालय (पृ. ७६०) में (सी.४०४४) मिलती है। सी. ४३२६ और ४५९७ संख्या की मातृकाओं की भी परीक्षा होनी चाहिये। तदुपरान्त ही इनके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। ये स्तवचिन्तामणि-कार के प्रशिष्य नहीं हैं, किन्तु स्तुतिसूक्तिकार (उत्पल भट्ट) के प्रशिष्य अभिनवगुप्त के शिष्य हैं।

विज्ञानभैरव की विवृति के रचयिता शिवोपाध्याय के कथन से ज्ञात होता है कि क्षेमराज द्वारा लिखित विज्ञानोद्योत पूरी तरह से नष्ट हो गया था। उसके प्रारंभ का कुछ अंश ही बचा रह गया था, किन्तु पूरे विवृति-ग्रन्थ की भाषा को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शिवोपाध्याय के सामने उक्त ग्रन्थ के अन्य अंश भी अवश्य विद्यमान थे। यहाँ के अनेक स्थलों की भाषा हमें क्षेमराज की शैली की याद दिला देती है। ऐसे दो उद्धरणों को हमने शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात (पृ. ८९, टि.१०५) में संगृहीत किया है।

लुप्ता. उपो. (पृ. ६३ एवं २१९) में हमने रामकण्ठ को क्षेमराज का पूर्ववर्ती सिद्ध करने वाला जो वचन उद्धृत किया था, वह रामकण्ठ का न होकर सद्योज्योति शिवाचार्य का है। अतः उसके आधार पर रामकण्ठ को क्षेमराज का पूर्ववर्ती नहीं सिद्ध किया जा सकता, किन्तु किरणागम की वृत्ति को लेकर हमने जो विचार प्रकट किये हैं (पृ. २६१-२६३ सिद्धान्त) उनकी परीक्षा अभी अपेक्षित है।

जयरथ

वामकेश्वरीमत (वामकेश्वरतन्त्र) नित्याषोडशिकार्णव का ही दूसरा नाम है। इस पर विवरण नामक टीका के लेखक वही जयरथ हैं, जिन्होंने अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक पर विवेक नामक महनीय टीका लिखी है। यह ग्रन्थ मूलतः पाँच पटल का ही है, किन्तु इस ग्रन्थ के सम्पादक ने वामकेश्वर तन्त्र को आठ पटल का माना है। इस स्थापना का हम सप्रमाण[१] खण्डन कर चुके हैं। दीपिकाचार्य अथवा

---

१. त्रिपुरा-सम्प्रदाय के प्रकरण में हमने नित्याषोडशिकार्णव एवं योगिनीहृदय की भिन्नशास्त्रता सप्रमाण स्थापित की है।

दीपकनाथ इस तन्त्र के प्रथम व्याख्याता हैं। जयरथ ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में इन्हींका स्मरण किया है, योगिनीहृदय की दीपिका व्याख्या के रचयिता अमृतानन्द का नहीं। ये तो परवर्ती आचार्य हैं। जयरथ ने अपने विवरण में त्रिपुरा सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों और उनकी कृतियों को उद्धृत किया है। उन सबका परिचय यहाँ यथास्थान दिया गया है। वामकेश्वरतन्त्र की उपलब्ध टीकाओं में यह सबसे प्राचीन है। इस तन्त्र के पहले टीकाकार दीपकनाथ थे, इसकी जानकारी भी हमें जयरथ द्वारा उद्धृत श्लोक (पृ. ११५) से ही मिलती है। दीपकनाथ का त्रिपुरसुन्दरीदण्डक नामक लघुग्रन्थ नि. षो. के परिशिष्ट (पृ. २७९-२८३) में प्रकाशित हो चुका है।

विमर्शदीपिका

तान्त्रिक साहित्य (पृ. ५९६) में शिवोपाध्याय-कृत विज्ञानभैरव की टीका का नाम विमर्शदीपिका बताया गया है। शिवोपाध्याय ने विज्ञानभैरव की अपनी टीका (पृ. ११०-१११) में विमर्शदीपिका का नाम देकर कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं, अतः विमर्शदीपिका इससे भिन्न किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का नाम है।

भास्करकण्ठ

काश्मीरी विद्वान् राजानक भास्करकण्ठ की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की भास्करी टीका सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, वाराणसी से दो भागों में सन् १९३८ एवं १९५० में प्रकाशित हो चुकी है। इसका सम्पादन तन्त्रशास्त्र के महनीय विद्वान् डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने किया था। अपने "अभिनवगुप्त०" ग्रन्थ में इन्होंने इनके लल्लावाक्, योगवासिष्ठ और हंसेश्वरस्तव नामक ग्रन्थों के नाम दिये हैं। इनके चित्तानुबोधशास्त्र को वाराणसी की तारा बुक एजेंसी ने सन् १९९० में प्रकाशित किया है। डॉ. सुषमा पाण्डे ने इसका सम्पादन किया था। इनकी योगवासिष्ठ की टीका भी प्रकाशनाधीन है। इनका समय १८वीं शताब्दी का मध्य अथवा उत्तरार्ध माना जाता है। चित्तानुबोधशास्त्र में इन्होंने अपना परिचय दिया है। तदनुसार ये माधवकण्ठ के प्रपौत्र, वैडूर्यकण्ठ के पौत्र और अवतारकण्ठ के पुत्र थे। अपने पितामह के शिष्य रत्नकण्ठ से इन्होंने विद्याध्ययन किया और नरोत्तम कौल से दीक्षा ग्रहण की। इनके पुत्र का नाम जगन्नाथ कण्ठ था। "अभिनवगुप्त०" (पृ. २६५) में इनकी उत्तर-सन्तति की नामावली इस तरह से दी गई है—१. भास्कर-कण्ठ के पुत्र २. जगन्नाथकण्ठ के बाद ३. मणिकण्ठ, ४. सोमानन्द, ५. गणकण्ठ, ६. महानन्द और ७. विश्वेश्वर। इस प्रकार भास्करकण्ठ के पूर्व की तीन पीढियों और उत्तर की छः पीढियों के साथ उनका समावेश करने पर दस पीढियों की नामावली उपलब्ध होती है।

शंकरनन्दन

शंकरनन्दन और उनके ग्रन्थ प्रज्ञालंकार को अभिनवगुप्त ने बहुत आदर के साथ उद्धृत किया है। काश्मीरी दर्शन के ये महनीय प्राचीन आचार्य हैं। अत: इस प्रकरण के अन्त में इनके परिचय देने के लोभ का संवरण हम नहीं कर पा रहे हैं। तिब्बती संस्थान, सारनाथ में सन् १९८८ में "सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" विषय पर सम्पन्न हुई गोष्ठी में जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना से आये डॉ. जगदीश्वर पाण्डेय ने शंकरनन्दन के बौद्ध न्याय के दस निबन्ध-ग्रन्थों की और उनमें से कुछ के नामों की सूचना दी थी, जिनमें एक प्रज्ञालंकार भी है (पृ. ८०)। शंकरनन्दन के प्रज्ञालंकार को [1]अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है। वे इसे भाट्टदर्शन[2] (मीमांसा) का ग्रन्थ मानते हैं। वे यह भी बताते हैं कि शंकरनन्दन ने धर्मोत्तर के मत का खण्डन किया है। यह तो हम लोग जानते ही है कि धर्मोत्तर धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु के व्याख्याकार हैं। शंकरनन्दन की प्रशंसा में अभिनवगुप्त कहते हैं कि इन्होंने प्राक्तन कुशल कर्मों के परिपाक-स्वरूप अद्भुत प्रतिभा प्राप्त की थी। वे एक स्थान पर इनका [3]गुरु के रूप में भी स्मरण करते हैं। नरेश्वरपरीक्षा के टीकाकार भट्ट [4]रामकण्ठ ने भी धर्मोत्तर की समालोचना के प्रसंग में अलंकारकार को दो बार उद्धृत किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हस्तलेखों के संग्रह में शंकरनन्दन का ईश्वरापाकरणसंक्षेप नाम का मीमांसा-ग्रन्थ उपलब्ध है। हमें इस ग्रन्थ की और तिब्बत से प्राप्त उन सभी ग्रन्थों की इस दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिये कि

---

१. लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, संस्कृत उपोद्घात (पृ. ४९-५०) देखिये।

२. ई. प्र. वि. वि. (भा. २, पृ. १४४) में अभिनवगुप्त ने "प्रज्ञालङ्कारादिषु भाट्टदर्शनेषु" लिखा है। अपनी निबन्धावली (पृ. २२) में ज्ञानश्रीमित्र शंकरनन्दन को नैयायिकप्रवर कहते हैं। इस ग्रन्थ के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ५४) में इनको "आक्षपादीयन्यायवेदिकास्तम्भ" जिस प्रमाण के आधार पर कहा है, वहाँ का पाठ—"दुर्विनीताश्रमवेदिकादृढतरस्तम्भान्" (पृ. १५९) है। ज्ञानश्रीमित्र शंकरनन्दन, भूषणकार (भासर्वज्ञ), त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्र को वर्णाश्रम-रूपी वेदिका के दृढ स्तम्भ मानते हैं और उन सबके मत को उद्धृत कर पदे-पदे उनका खण्डन करते हैं। शंकरनन्दन के **स्थिरसिद्धि** नामक ग्रन्थ को भी ये उद्धृत करते हैं (पृ. २३)। इस ग्रन्थ का नाम डॉ. जगदीश्वर पाण्डेय की सूची में नहीं है। इस पृष्ठभूमि में शंकरनन्दन के इन ग्रन्थों का महत्त्व बढ़ जाता है। उन सबको देखकर ही हम इनके विषय में किसी सही निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं।

३. अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों को, जिनके ग्रन्थों से उन्हें अपने ग्रन्थों के निर्माण में महनीय सहायता मिली है, गुरु के रूप में स्मरण किया है। अत: यह आवश्यक नहीं है कि शंकरनन्दन उनके साक्षात् गुरु ही हों।

४. नरेश्वरपरीक्षाप्रकाश (पृ. ५२-५३) द्रष्टव्य।

प्रज्ञालंकारकार और शंकरनन्दन एक ही व्यक्ति हैं या दो अलग-अलग व्यक्तित्व। स्मरण रखने की बात यह है कि डॉ. जगदीश्वर पाण्डेय कहते हैं कि इनका भोट अनुवाद नहीं हुआ है और इनकी दी गई नामावली में अपोहसिद्धि भी एक ग्रन्थ है।

आलोकमाला

आलोकमाला का संक्षिप्त परिचय लुप्ता. के उपो. (पृ. २०-२१) में दिया गया था। वहाँ हमने लिखा था कि यह वैष्णव सम्प्रदाय का ग्रन्थ हो सकता है। कम्बलपाद विरचित इस ग्रन्थ का अब सन् १९८५ में कोपनहेगेन से प्रकाशन रोमन लिपि में हो चुका है। हमारे द्वारा संगृहीत आलोकमाला के सभी वचन यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। स्पष्ट है कि बौद्ध सिद्ध कम्बलपाद की यह कृति है। डॉ. सी. लिण्डनर ने तिब्बती अनुवाद के साथ संपादित कर इस ग्रन्थ को "इंडिके स्टडीअर, भा. ५, मिसलीनिया बुद्धिका" में छपवाया है। इसमें कुल २८२ श्लोक हैं। कुछ श्लोकों का मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं हुआ, किन्तु सौभाग्य से भोट अनुवाद पूरा उपलब्ध है।

इसके चौथे श्लोक को योगाचार मत के प्रसंग में जयरथ ने तन्त्रालोकविवेक (१.३३) में उद्धृत किया है। यहां 'मलिनम्' के स्थान पर 'कलुषम्' पाठ है। जयरथ ने अन्य दो स्थलों पर (१.२४, ४.६) इसके छठे श्लोक को उद्धृत किया है। यहाँ के ११०वें श्लोक में वाक्यपदीय के "ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्" (१.३०) इस श्लोक की समीक्षा की गई है। १४१-१४२ श्लोकों की तीन पंक्तियाँ उत्पल वैष्णव, क्षेमराज तथा शिवोपाध्याय जैसे कश्मीरी शैव विद्वानों के द्वारा भी स्मृत हैं।

दोहाकोश की व्याख्या (पृ. १००) में भी "तथा चोक्तम्" कह कर यह वचन उद्धृत किया गया है। इसके बाद वहाँ दो श्लोक और उद्धृत हैं। ये दोनों श्लोक और दोहाकोशव्याख्या (पृ. १२६) में ही कम्बलाचार्य के नाम से संगृहीत पाँच श्लोक भी आलोकमाला (श्लो. १४३-१४४, १५१-१५५) के ही हैं। सेकोद्देशटीका (पृ. ४८) में दो और सुभाषितसंग्रह (पृ. १७,४०-४१) में कम्बलाम्बरपाद के नाम से संगृहीत पाँच श्लोक भी क्रमशः यहाँ (श्लो. २३५, २५२, ६-७, २०६.११७-११८) मिल जाते हैं। १७६, २०६,२३५,२५२,२८० संख्या के श्लोक भी दोहाकोश आदि की टीकाओं में तथा अन्यत्र भी उद्धृत हैं। वसन्ततिलका की टीका (पृ. ९) में यहाँ के ११८ वे श्लोक के "मण्डूकोऽपि" के स्थान पर "मञ्जुकोऽपि" पाठ है, किन्तु भोट अनुवाद से मण्डूक को ही समर्थन मिलता है। 'धी:' के छठे अंक (पृ. ८८-८९, ९७-१०४) में इस विवरण के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ की श्लोकार्धानुक्रमणी भी दी गई है।

कम्बलपाद के समय आदि के विषय में भी यहाँ (पृ. ९१-९२) विविध सूचनाएँ दी गई हैं। इनकी नवश्लोकी का प्रकाशन प्रो. जी. टुच्ची ने "माइनर बुद्धिस्ट टेक्स्ट" (पृ. २१६-२१७) में किया है। आलोकमाला के सम्पादक द्वारा निर्धारित इनके काल की पुन: परीक्षा करनी होगी। लुप्त बौद्ध वचन संग्रह, भा. १ के उपो. (पृ. १४) में भी इनका विवरण देखिये। यह बौद्ध मत का ग्रन्थ है। प्रसंगवश इसकी चर्चा यहाँ हो गई है।

दार्शनिक विवेचन

शैव एवं शाक्त अद्वयवादी आगमों में प्रकाश शब्द शिव का और विमर्श शब्द शक्ति का वाचक है। शिवपारम्यवादी शैव और शक्तिपारम्यवादी शाक्त कहलाते हैं। शैव सम्प्रदाय में षडध्व में समाविष्ट समस्त विश्व परमशिव-स्वरूप एव शाक्त मत में शुद्धसंवित्स्वरूप है। वेदान्त की शब्दावली में ये शिव एवं शक्ति परब्रह्मस्वरूप हैं। भट्ट प्रद्युम्न ने अपने तत्त्वगर्भस्तोत्र में शक्तिपारम्यवाद की स्थापना की है और सोमानन्द ने शिवदृष्टि के तृतीय आह्निक के प्रारंभ में इस वाद की समालोचना करते हुए शिवपारम्यवाद को स्थापित किया है। अभिनवगुप्त की ई. प्र. वि. वि. (भा. १, पृ. ४-६) को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रकाश और विमर्श की अन्योन्यसापेक्षता के पक्षपाती हैं। कुल, क्रम और मत सिद्धान्तों के आधार पर विकसित त्रिक सिद्धान्त के लिये यह स्वाभाविक भी है। त्रिपुरा-सिद्धान्त में तथा सौन्दर्यलहरी जैसे ग्रन्थों में इनकी अन्योन्यसापेक्षता देखी भी जा सकती है। तो भी शिवपारम्यवादी शैव तथा शक्तिपारम्यवादी शाक्त कहलाते हैं, भावनाप्रवण चित्त की दृष्टि से इसको मान्यता दी ही जा सकती है और सर्वागमप्रामाण्यवादी आचार्यों ने इसको मान्यता दी भी है।

पति, पशु और पाश नामक तत्त्वों का तथा शब्द से उद्भूत वर्ण-पद-मन्त्र नामक एवं अर्थ से उद्भूत कला-तत्त्व-भुवन नामक षडध्वात्मक जगत् का विवेचन द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन के प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। अभी हाल में भाषा-भाष्य के साथ प्रकाशित सिद्धान्तसारावलि की प्रस्तावना में भी हमने इन सब विषयों पर विचार किया है। अभिनवगुप्त का कहना है आगमों में द्वैतवाद को हटा कर, अर्थात् उनकी अद्वैतपरक व्याख्या कर, शांकर मायावाद को शक्तिवाद का स्वरूप देकर और बौद्ध क्षणिक विज्ञानवाद को नित्य आत्मेश्वरवाद का रूप देकर इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की स्थापना की गई है। ऊपर चर्चित पति, पशु और पाश नामक तीन तत्त्वों का और षडध्वात्मक जगत् का स्वरूप यहाँ इसी दृष्टि से विवेचित हैं। पाशों के रूप में यहाँ (आणव) मल, माया और कर्म

नामक तीन पाश ही स्वीकृत हैं, पाँच नहीं। ३६ तत्त्वों की विवेचना शुद्ध और अशुद्ध विभाग में न होकर शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध नामक त्रिविध विभाग के अन्तर्गत की गई है। शुद्धाशुद्ध विभाग में पंचकंचुकों के स्थान पर माया का भी इनमें समावेश कर यहां षट्कंचुकों की सत्ता मानी गई है। शिव और शक्ति के समान षट्कंचुकों से आवृत पुरुष की भी सत्ता तत्त्वों के अन्तर्गत ही मानी गई है और इसीलिये त्रिगुणों को अलग तत्त्व न मानकर उनका सांख्यदर्शन की पद्धति से प्रकृति में ही समावेश किया गया है। इतना अवश्य है कि षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया में पुरुष तत्त्व की शुद्धि यहाँ भी रागतत्त्व में ही मानी गई है।

षडध्व क्रम में भी थोड़ा अन्तर है। यहाँ वर्ण-पद-मन्त्र के स्थान पर वर्ण-मन्त्र-पद यह क्रम दिया गया है। सिद्धान्तशैवागम में पदों की ८१ तथा मन्त्रों की संख्या ११ मानी गई है। इसको यहाँ मान्यता नहीं दी गई। एकाशीतिपदिका यहाँ विचित्र ढंग से विवेचित है, जो सरलता से बोधगम्य नहीं होने पाती। भुवनों की संख्या साधारणतः शैवागमों में २२४ मानी गई है। इस पक्ष को यहाँ भी स्वीकार किया गया है। चतुर्विध अण्ड-सृष्टि का विकास प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अधिक स्पष्ट रूप से हुआ, ऐसा माना जा सकता है। भाव, भुवन, तत्त्व, भूत और प्रत्यय रूप पंचविध सर्ग का विवेचन द्वैतवादी सिद्धान्तशास्त्र की ही देन है। इसकी वहीं चर्चा की जा चुकी है। द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन की अपेक्षा काश्मीर के अद्वयवादी दर्शन में दिखाई पड़ने वाले अन्तर की सूचना हमने उन-उन प्रकरणों की टिप्पणियों में स्पष्ट रूप से दी है और स्वतन्त्र शक्तिपात, बन्ध-मोक्ष व्यवस्था जैसे प्रमुख विषयों पर अलग से भी विचार किया है। सात्त्विक, राजस और तामस शब्दों के रूप में प्रधानतः यहाँ तैजस और वैकृत और भूतादि शब्दों का ही प्रयोग किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं सांख्यकारिका का क्रम भी अंगीकृत हुआ है और उसीके प्रभाव से सद्योज्योति शिवाचार्य के मत का भी बिना समझे प्रतिवाद कर दिया गया है।

मल के अद्वयवादी स्वरूप का विवेचन सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. ३३३-३३४) में किया गया है। वहीं (पृ. ३४५) माया का अद्वयवादी स्वरूप विवेचित है। अवबोध (पौंस्न) रूपी ज्ञान में अद्वयभाव की स्थिति का पृ. ३५३ पर, स्वतन्त्र शक्तिपात की अद्वयवादी दृष्टि का एवं दीक्षा के अधिकार का विवेचन पृ. ३६० पर देखा जा सकता है। त्रिकशास्त्र में दीक्षा की अपेक्षा स्वसंवित्ति को वरीयता दी गई है (पृ. ३६२) तथा वर्णप्रक्रिया की विवेचना विवर्तवाद के आधार पर की गई है (पृ. ३८९)। इसी तरह से अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज के ग्रन्थों में पदाध्वा का विवेचन पूरी तरह से भिन्न पद्धति से किया गया है (पृ. ३९६)। इसके आधार की

खोज अपेक्षित है। सद्योज्योति शिवाचार्य के मत की अभिनवगुप्त द्वारा की गई समीक्षा के विषय में भी हम बता चुके हैं (पृ. ४१७)।

अब हम यहाँ सर्वप्रथम अण्डचतुष्टयात्मिका सृष्टि के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र-संमत स्वरूप का परिचय देने जा रहे हैं।

अण्डचतुष्टयात्मिका सृष्टि

सिद्धान्तशैवशास्त्र में २२४ भुवनों की सृष्टि मानी गई है और इनका अण्डचतुष्टयात्मक सृष्टि में अन्तर्भाव किया जाता है। काश्मीर शैवागम के ग्रन्थ परमार्थसार (श्लो. ४) में बताया गया है कि भगवान् शिव अपनी शक्तियों की सहायता से शक्ति, माया, प्रकृति और पृथ्वी नामक चार अण्डों की सृष्टि करते हैं। व्याख्याकार योगराज ने इस पद्य का विस्तृत विवेचन किया है। तदनुसार शक्ति शब्द से महामाया का ग्रहण किया जाता है। **पृथिव्यण्ड** में १०८ भुवनों की स्थिति को शास्त्रों में विस्तार से बताया गया है। गुणतत्त्व और प्रकृति की स्थिति द्वैतवादी शैवागमों में अलग-अलग मानी गई है। प्रकृत्यण्ड पर विचार करते समय इस विषय को ध्यान में रखना पड़ेगा। वहाँ "अव्यक्ताद् गुणतत्त्वम्, त्रय एव गुणाः, महतश्च गुणत्रयात्" इस तरह के वचनों में अव्यक्त से गुणत्रय की और गुणत्रय से महत्तत्त्व की सृष्टि मानी गई है। सांख्यमत में प्रधान (प्रकृति) में ही त्रिगुणों की नित्य स्थिति मानी गई है। इस मत का यहाँ खण्डन किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि गुण तीन हैं, किन्तु तत्त्व एक ही है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रकृति से गुणत्रय की और गुणत्रय से महत् की उत्पत्ति मानने पर [1]तत्त्वों की संख्या में वृद्धि हो जायगी। इसका समाधान सद्योज्योति शिवाचार्य ने कर दिया है। अघोरशिव ने उनके वचन की व्याख्या करते हुए बताया है कि पृथिवी आदि के घट आदि रूपों की स्थिति जैसे उनके आधारभूत पृथिवी आदि से भिन्न नहीं मानी जाती, इसी तरह से सत्त्व आदि गुणों की भी किसी आधार में स्थिति मानी जायगी। इन गुणों का आधार अव्यक्त है, अतः इस अव्यक्त में ही अविनाभाव से इन तीनों गुणों की स्थिति माननी होगी

१. "नवैकादश" (११.१२.१) इत्यादि भागवत पद्य में तीन गुणों की पृथक् गणना कर २८ तत्त्व माने गये हैं। कुछ आचार्य पुरुष की तत्त्वों में गणना नहीं करते तथा "त्रयो गुणास्तथाप्येकं तत्त्वम्" (मृ. वि.१०.२१) इस मृगेन्द्र वचन के अनुसार त्रिगुण की एक ही तत्त्व के रूप में गणना करते हैं। इस तरह से यहाँ तत्त्वों की संख्या में वृद्धि नहीं होने पाती। "शास्त्रेऽस्मिन् गुणास्तत्त्वान्तरं विदुः" (तन्त्रा. ९.२२४) यह अभिनवगुप्त का भी कहना है।

(पृ. ४१०)। स्पष्ट है कि अव्यक्त में ही स्थिति माने जाने से गुणों की पृथक् तत्त्व के रूप में गणना नहीं की जाती, अर्थात् एक ही तत्त्व गुणों की अभिव्यक्ति न होने तक अव्यक्त के नाम से और उनके अभिव्यक्त हो उठने पर गुणत्रय के नाम से जाना जाता है। इस तरह से तत्त्वों की संख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। इसीलिये तत्त्वप्रकाश में कहा गया है—"यस्मात् प्रकृतिगुणानां नात्यन्तं वस्तुतो भेदः" (श्लो. २४)।

हमें यहाँ यह स्मरण रखना है कि शैवमत में प्रकृति को सांख्यदर्शन के अनुसार नित्य नहीं माना गया है, किन्तु माया या कला से उसकी उत्पत्ति मानी गई है। इसीलिये कुमारदेव ने स्पष्ट कहा है कि अव्यक्त और गुणतत्त्व में आत्यन्तिक भेद के न होने से तत्त्वों की संख्या में वृद्धि का कोई प्रसंग नहीं है (पृ. ४६)। इस तरह से **प्रकृत्यण्ड** की प्रवृत्ति जल तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व पर्यन्त मानी जायगी।

इस प्रकृत्यण्ड के ऊपर नियतितत्त्व से लेकर माया तत्त्व पर्यन्त **मायाण्ड** की स्थिति है। यह माया वस्तुरूप है, नित्य है और इस जगत् का मूल कारण है। माया में कला आदि तत्त्व अभी मिले हुए हैं, सूक्ष्म रूप में ये अभी अपने उपादान कारण माया में छिपे हुए हैं। यह एक है, सारी सृष्टि में व्याप्त है, अनादि है, मृत्यु से अतीत है। प्रथमतः यह शिव में रहती है तथा सृष्टि के उपरान्त भी इसकी नित्यता, विभुता तथा एकता बनी रहती है। यह अचेतन है। सर्ग, स्थिति और लय का आधार यही है और यही सारे जगत् का कारण है। मायातत्त्व चिच्छक्ति से रहित है। यह मायातत्त्व जगत् का बीज है, नित्य है, विकार से रहित है। इस तरह से अष्टप्रकरण के ग्रन्थों में माया का लक्षण बताया गया है। यह माया पुरुष की ज्ञत्व एवं कर्तृत्व शक्ति के विकास के लिये पाँच तत्त्वों को जन्म देती है। माया से ही [1]अव्यक्त की भी उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न यह माया प्रथमतः कालतत्त्व को पैदा करती है, माया से नियति और कला की उत्पत्ति होती है। काल और नियति की भी उत्पत्ति माया से ही मानी गई है। इस तरह से माया को ही कला, काल, नियति, अव्यक्त आदि का कारण माना गया है। यह माया अनन्तनाथ द्वारा प्रेरित होकर कला से लेकर क्षिति पर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि करती है। यह माया क्षीर-दधि न्याय से सर्वात्मना परिणत नहीं होती, किन्तु घृत-

---

१. "मायातोऽव्यक्तकलयोरिति रौरवसंग्रहे। श्रीपूर्वे तु कलातत्त्वादव्यक्तमिति कथ्यते।।" (तन्त्रा. ९.४०-४१)। यह अभिनवगुप्त का कथन है। जयरथ ने इनकी सप्रमाण व्याख्या वहीं प्रस्तुत की है (पृ. ४१,१७४)।

कीट न्याय से किसी एक अंश में परिणत होती है। माया, पुरुष और शिव—ये तीन तत्त्व संहार काल में भी बचे रहते हैं। "शम्भुः पुरुषो माया" (त.त्र.नि.४) यहां इनका वैधर्म्य प्रतिपादित है। इनका व्यापार-भेद भी यहाँ प्रदर्शित है कि शिव सृष्टि की रचना के साथ आत्मा के लिये उसके उपभोग के साधनों की भी सृष्टि करते हैं। माया भोग के साधन कला आदि की सृष्टि के साथ उनका पोषण भी करती रहती है। पशु (आत्मा) भोग्य वस्तु का उपभोग करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन तीनों की प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं।

शुद्ध और अशुद्ध के भेद से मल और कर्म द्विविध माने गये हैं। तदनुरूप ही माया के भी दो भेद हैं। इनमें अशुद्ध माया का ऊपर वर्णन किया गया है। इससे भिन्न शुद्धमाया महामाया कहलाती है। इस महामाया-रूप अण्ड में पाँच शुद्ध तत्त्वों का निवास माना गया है। इसीको परमार्थसार में **शक्त्यण्ड** के नाम से कहा गया है। रत्नत्रय (श्लो. ११५-१५८) में महामाया के स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक तीन भेद वर्णित हैं। इनमें त्रिगुणात्मिका, बुद्धि आदि भोगसाधनों की जननी स्थूल महामाया है। यही पुरुष के साथ जुड़ी हुई प्रकृति कहलाती है। अघोरशिव ने स्पष्ट ही प्रकृति को महामाया की स्थूल अवस्था माना है। इसका सूक्ष्म रूप कला आदि तत्त्वों की अविभाग अवस्था है। इसका नाम माया है। जननी और मोहिनी स्वरूपा यह माया सभी अशुद्ध तत्त्वों की उत्पत्ति में कारण है। इससे ऊपर मन्त्रों की जननी परमाया कुण्डलिनी नाम से जानी जाती है। विद्या, विद्येश्वर आदि के शरीर इसीसे निर्मित हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध तत्त्वों की उपादान महामाया, शुद्धाशुद्ध तत्त्वों की माया और अशुद्ध तत्त्वों की उपादान प्रकृति है। इस तरह से एक ही तत्त्व आधार के भेद से पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप में भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेता है। अचेतनता के साथ उपादानता इनका सामान्य लक्षण है। इसके कारण इनमें औपचारिक एकता मानी जा सकती है, किन्तु अनित्यता, नित्यता और प्रवर्तकता के आधार पर सिद्धान्त दर्शन में इन तीनों की भिन्नता ही मान्य है। बिन्दु अथवा परनाद स्वरूपा महामाया का स्वरूप रत्नत्रय और नादकारिका में विवेचित है[१]।

---

१. अण्डचतुष्टय का विवरण वि.प. (श्लो. १९-२१), प. सा. (पृ. ९), त. सा. (पृ. ६४), मालिनी (पृ. १२), ई. प्र. वि. वि. (भा. ३, पृ. ३१६) इन सब ग्रन्थों में देखा जा सकता है। तन्त्रालोक में अण्ड का यह लक्षण दिया गया है—"अण्डं नाम भुवनविभागस्थिति-कारणम्। प्राहुरावरणं तच्च शक्त्यन्तं यावदस्ति हि।।" (११.१२-१३)।

महामाया कुण्डलिनी

महामाया कुण्डलिनी एवं उसकी चतुर्विध वाग्वृत्तियों का परिचय सिद्धान्त-शैव प्रकरण (पृ. ३३६-३४१) में दिया जा चुका है। अब यहाँ प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और मृगेन्द्रागम की पद्धति से उसका स्वरूप बताया जा रहा है। नन्दिशिखा के प्रमाण से तन्त्रालोक (८.३९४-३९६) में बताया गया है कि ब्रह्मबिल में पंचमुख, त्रिशूलधारी, शशिशेखर भगवान् शिव विद्यमान हैं। उनकी गोद में परादेवी ब्रह्माणी विराजमान हैं, जो मोक्षमार्ग को रोककर बैठी हुई हैं। वही मोक्ष को देनेवाली भी हैं। इनके ऊपर प्रसुप्त नागिनी के समान, ऊन के धागे के जैसे सूक्ष्म आकार वाली, सभी तत्त्वों और भुवनों की आधारभूता ऊर्ध्व कुण्डलिनी विराजमान है। इस समस्त विश्व का उन्मेष न होने की स्थिति में वह उसे अपने भीतर समेटे रहती है और विश्व का उन्मेष करते समय भित्ति पर चित्र के समान अपने में से ही उसे निकालती है। इस तरह से इन दोनों ही स्थितियों में वह इस विश्व का आधार मानी जाती है। वहाँ बताया गया है कि नन्दिशिखाशास्त्र में इसी को शक्तितत्त्व कहा गया है।

इस तरह से महामाया कुण्डलिनी के विविध स्वरूपों की चर्चा शास्त्रों में मिलती है। नादकारिका में नाद को महामाया का पर्याय माना गया है और रत्नत्रयकार बिन्दु को महामाया मानते हैं। श्रीकण्ठ और रामकण्ठ दोनों ही परनाद, सुमंगला, मालिनी, महामाया, समना, अनाहत बिन्दु, अघोषा वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्यातत्त्व, शब्दतत्त्व, अनाहत व्योम—इन सब शब्दों को पर्यायवाची, अर्थात् एक ही अर्थ के बोधक मानते हैं। ये सभी शब्द विभिन्न आगम-सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि इनके माध्यम से शब्द और अर्थ उभयरूप सृष्टि का प्रतिपादन इनमें किया गया है।

निष्कल शिव से अवबोध रूप ज्ञान प्रथमतः नाद के रूप में ही प्रसृत होता है, ऐसा पौष्कर, स्वच्छन्द आदि आगमों में वर्णित है। हंसनिर्णय में नौ नाद और स्वच्छन्दोद्योत में धर्मशिव के वचन के आधार पर अष्टविध नाद निर्दिष्ट हैं। तन्त्रालोक (५.९७) में ब्रह्मयामल के प्रमाण से दशविध राव का वर्णन किया गया है। यहाँ प्रयुक्त हुए नाद और राव शब्द मध्यमा वाक् के निदर्शक हैं। योगशास्त्र में निर्दिष्ट नादानुसन्धान प्रक्रिया इस मध्यमा वाणी पर ही आधृत है।

मातृका के स्वरविभाग में परिगणित बिन्दु के [१]पाँच स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है। मन्त्रवीर्य-स्वरूप[२] चतुष्कल बिन्दु शिवसूत्रविमर्शिनी (२.३) में तन्त्रसद्भाव के

---

१. तन्त्रालोक (३.२२२-२२३) द्रष्टव्य।

२. "चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेरुदरगः प्रभुः" (पृ. २६)

प्रमाण से व्याख्यात है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में भी बिन्दु और बैन्दव चक्र का विवरण मिलता है।

नाद और बिन्दु शब्द अपने अपने मत के अनुसार वाणी की परा और पश्यन्ती अवस्थाओं के बोधक भी माने गये हैं। शुद्ध तत्त्व और शुद्ध भुवनों के रूप में भी इनका वर्णन मिलता है। जप के प्रकरण में पदैकादशिका के अन्तर्गत भी स्वच्छन्दतन्त्र, योगिनीहृदय आदि में ये वर्णित हैं।

तन्त्रालोक एवं उसकी विवेक-व्याख्या (१.७५-७७) में किरणशास्त्र के प्रमाण से शिव की शून्यता को सिद्ध कर उसमें बिन्दु, नाद और शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया गया है और शिवत्व की प्राप्ति के लिये शक्ति के साथ बिन्दु और नाद की भी उपयोगिता स्थापित की गई है। तन्त्रालोक (३०.१२-१४) में त्रिशिरोमत के प्रमाण से बिन्दुनादात्मिका व्याप्ति वर्णित है। तदनुसार क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध, दीपन, स्थापन, संवित्ति, और संविदापत्ति नामक सात मूर्तियों के रूप में इनका विस्तार होता है। विवेककार ने इन सात मूर्तियों का स्वरूप बताते हुए कहा है कि क्षेप शब्द से बिन्दु का, आक्रान्ति से नाद का, चिदुद्बोध से परावस्था का, दीपन से शक्ति का, स्थापन से व्यापिनी का, संवित्ति से समना का, संविदापत्ति से उन्मना का बोध होता है। इन शब्दों से अन्यत्र जपप्रकरण में निर्दिष्ट पदैकादशिका की ही विभिन्न स्थितियों को मन्त्रमूर्ति का स्वरूप दिया गया है।

वागीश्वरी महामाया की शुद्धाध्वा की उपादानकारणता और शिव की निमित्त-कारणता की स्थापना किरणागम के "शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता" (वि.३.२७) जैसे वचनों से स्थापित की गई है। वहीं अशुद्ध अध्वा के प्रति अनन्त की निमित्तता और माया की उपादानता स्वीकृत है। अनन्त को ही माया का विक्षोभक माना गया है। इस अशुद्ध अध्वा में पराशक्ति, नाद, बिन्दु, सदाशिव और विद्या नामक पंचस्कन्ध शुद्धाध्वा की व्याप्ति मानी गई है। जैसे परमकारण महामाया रूप सूक्ष्म नाद की व्याप्ति कला तत्त्व में, इन्धिका आदि पाँच कलाओं से युक्त स्थूल नाद की व्याप्ति काल, नियति, विद्या, राग और पुरुष तत्त्व पर्यन्त मानी गई है। निवृत्ति आदि चार कलाओं से युक्त बिन्दु की व्याप्ति चतुर्ग्रन्थि-स्वरूप प्रधान, गुण, बुद्धि और अहंकार पर्यन्त मानी गई है। इन चार में से अन्तिम अहंकार की व्याप्ति मन के साथ ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय पर्यन्त एकादश करणों तक है। बिन्दु के अन्तर्गत ऊपर प्रदर्शित बुद्धितत्त्व की व्याप्ति धर्म-अधर्म आदि भावों और उन भावों के जनक प्रत्ययों तक है। सदाशिवनाथ पृथिवी आदि पाँच तन्मात्राओं के अधिष्ठाता सद्योजात आदि मन्त्रों से अपने शरीर का निर्माण कर इनमें व्याप्त हो जाते हैं। मन्त्रेश सूक्ष्मदेह के आरम्भक भूतों को और मन्त्र स्थूल पृथिवी आदि को व्याप्त कर

रहते हैं। इस तरह से विद्या और ईश्वर से प्रथम विद्यास्कन्ध, सदाशिव से द्वितीय, बिन्दु से तृतीय, नाद से चतुर्थ और कारण से पंचम—यह पंचस्कन्ध शुद्धाध्वा शास्त्रों में वर्णित है।

मृगेन्द्रागम विद्यापाद के १३वें पटल में पंचस्कन्धों, भावों और प्रत्ययों के विषय में प्रश्न उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि सूक्ष्म नाद कला को और स्थूल नाद काल, नियति, विद्या, राग और पुरुष को व्याप्त कर स्थित है। चतुष्कल बिन्दु की व्याप्ति प्रधान, गुण, बुद्धि और अहंकार पर्यन्त है। अहंकार की व्याप्ति मन सहित एकादश इन्द्रिय पर्यन्त है। भाव आदि में बुद्धि की व्याप्ति है। पंचमन्त्रतनु सदाशिव की तन्मात्रपंचक में, सूक्ष्म भूतों में मन्त्रेश की तथा स्थूल में मन्त्रों की व्याप्ति है (१३.१९५-१९८)। शुद्ध सृष्टि के प्रसंग में भी वहीं बताया गया है कि समस्त जीवों का कल्याण करने वाले सदाशिव का बिन्दु तत्त्व में, निवृत्ति आदि कलाओं के साथ बिन्दु तत्त्व का नाद में, ध्वनि के अधिपति नाद का शक्ति में, शक्ति का शिव में और शिव का भी परशिव में लय हो जाता है (१३.१६०-१६२)। भूमि, प्रधान (प्रकृति), ग्रन्थि (माया), विद्या, बिन्दु, कला तथा इनकी दस कलाएँ—ये सब नाद के नीचे अवस्थित हैं (१३.१७७)। इसी तरह से मन्त्रेश आदि के उपसंहार के क्रम में विद्या का सदाशिव में, सदाशिव का बिन्दु में, बिन्दु का ध्वनि (नाद) में, नाद का पराशक्ति में और इस पराशक्ति का स्वयं शिव में लय हो जाता है (१३.१९१-१९२)।

इस प्रसंग में मृगेन्द्रागम विद्यापाद का यह पटल विशेष रूप से पठनीय है। नारायणकण्ठ की वृत्ति और अघोरशिव की वृत्तिदीपिका की सहायता से ही यह विषय बोधगम्य हो पाता है। त्रिकसार का एक वचन भी इस प्रसंग में अवधेय है कि शिव से उद्भूत बिन्दु-नादात्मक सृष्टि और उसमें शान्त रूप से अवस्थित सृष्टि से भी परे निरंजन परशिव की स्थिति मानी गई है।

इस तरह से हम देखते हैं कि शास्त्रों में महामाया, कुण्डलिनी, नाद, बिन्दु—इन शब्दों का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। कहीं वे आपस में पर्याय के रूप में व्यवहृत हैं, अन्यत्र इनका परस्पर कार्यकारणभाव और अन्य स्थानों में इनमें से प्रत्येक की स्वतन्त्र सर्वोपादानता प्रतिपादित है। मातृकाओं का विवरण देते समय, जपविधि को और नादानुसन्धान की प्रक्रिया को समझाते समय अथवा षडध्व के अन्तर्वर्ती भुवनों का परिचय देते समय नाद और बिन्दु शब्द की विविध व्याख्याएँ देखने को मिलती हैं। उसमें से बहुत थोड़ा अंश ही यहाँ प्रस्तुत किया जा सका है। विभिन्न शास्त्रों में इनका विस्तार देखा जा सकता है।

वर्णों और तत्त्वों की उत्पत्ति

तन्त्रसार (पृ. १२-१५) में अभिनवगुप्त ने इस विषय को संक्षेप में इस तरह से प्रस्तुत किया है—परमेश्वर की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं। ये हैं—अनुत्तर (अकार), इच्छा (इकार) और उन्मेष (उकार)। अनुत्तर की आनन्द (आकार) में, इच्छा की ईशन (ईकार) में और उन्मेष की विश्रान्ति ऊर्मि (ऊकार) में होती है। यहाँ प्रथम त्रिक प्रकाशस्वभाव होने से सूर्यात्मक तथा द्वितीय त्रिक विश्रान्तिस्वभाव आह्लाद प्रधान होने से सोमात्मक है। यहां तक क्रियाशक्ति का प्रवेश नहीं होता। ऊर्मि (ऊकार) से ही क्रियाशक्ति की प्रवृत्ति होती है। जब इच्छा या ईशन में क्रियाशक्ति प्रविष्ट होती है, तो इसके दो भेद हो जाते हैं। प्रकाश के अंश से ऋश्रुति और विश्रान्ति के अंश से लृश्रुति प्रस्फुरित होती है। इसका उच्चारण अभी अस्फुट रहता है, अतः व्यंजन के समान इनकी स्थिति नहीं रहती। इनमें स्वर और व्यंजन दोनों के धर्मों के रहने से इनको नपुंसक (षण्ढ) कहा जाता है। अनुत्तर और आनन्द का जब इच्छा और उन्मेष में प्रसार होता है, तो **ए** और **ओ** इन दो स्वरों की तथा ए और ओ से अनुत्तर और आनन्द का संघट्ट होने पर **ऐ** और **औ** की निष्पत्ति होती है। यहाँ तक क्रियाशक्ति का व्यापार चलता है। इसके बाद सारा कार्य-जगत् पुनः अनुत्तर में प्रविष्ट होना चाहेगा, किन्तु ज्ञानशक्ति की सहायता से पहले वह वेदनरूप बिन्दु में तथा उसके बाद विसर्ग के रूप में परिणत हो जाता है। ये सोलह परामर्श [1]**बीजस्वरूप** हैं और व्यंजनों को **योनि** कहा जाता है।

व्यंजनों की उत्पत्ति की प्रक्रिया तन्त्रसार (पृ. १५-१६) में ही इस तरह से बताई गई है—अनुत्तर से कवर्ग की, श्रद्धात्मक इच्छा से चवर्ग की, सकर्मक इच्छा से टवर्ग और तवर्ग की तथा उन्मेष से पवर्ग की निष्पत्ति होती है। त्रिविध इच्छा से य र ल की तथा उन्मेष से वकार की, पुनः त्रिविध इच्छा से श ष स की तथा विसर्ग से हकार की निष्पत्ति मानी गई है। क्षकार योनि (व्यंजन) के संघट्ट से बनता है।

भगवान् अनुत्तर (अकार) ही इस स्वर-व्यंजनात्मक कुल के स्वामी (कुलेश्वर) हैं और विसर्ग उनकी शक्ति है। इसका नाम कौलिकी है। इसकी सहायता से

---

१. "द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ।
बीजयोन्यात्मकाद् भेदाद् द्विधा, बीजं स्वरा मताः ।।
कादिभिश्च स्मृता योनिः, नवधा वर्गभेदतः।
बीजमत्र शिवः, शक्तिर्योनिः" (मालिनीविजय, ३.१०-१२)।

आनन्द से लेकर हकार पर्यन्त यह वर्णात्मक सृष्टि होती है। वर्गों में विभक्त ये वर्ण ही तत्त्वों का रूप धारण कर लेते हैं। विसर्गशक्ति आणव, शाक्त और शांभव के भेद से तीन प्रकार की है। आणवशक्ति चित्तविश्रान्ति-रूप, शाक्त चित्तसंबोध-रूप और शांभवशक्ति चित्तप्रलय-रूप मानी जाती है। इस त्रिविध विसर्गशक्ति की सहायता से भगवान् कुलेश्वर विश्वव्यापार में प्रवृत्त होते हैं। निर्विभाग रूप में परामर्श करने पर ये अकेले हैं। [1]बीज और योनि के रूप में विभक्त होने पर ये शक्ति और शक्तिमान् के रूप में द्विविध भासित होते हैं। अकार और अन्य आठ वर्गों के साथ मिलकर ये नववर्गात्मक हो जाते हैं। मातृका का रूप धारण करने पर ये पचास प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार तन्त्रसार में अतिसंक्षेप में बताई गई इस वर्णसृष्टि का अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३।१६७-२१९) में विस्तार से वर्णन किया है।

परात्रीशिका के ६-९ श्लोकों की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने वर्णों से तत्त्वों की उत्पत्ति का संक्षेप में उल्लेख किया है। [2]वे कहते हैं कि अकार से विसर्ग पर्यन्त शिवतत्त्व की व्याप्ति है। कवर्ग से पाँच महाभूत, चवर्ग से पाँच तन्मात्रा, टवर्ग से पाँच कर्मेन्द्रिय, तवर्ग से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पवर्ग से मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष नामक पांच तत्त्व, यकार से वकारपर्यन्त चार वर्णों से क्रमशः राग-नियति, विद्या, कला-काल और मायातत्त्व की सृष्टि होती है।शकार से क्षकार पर्यन्त पाँच वर्णों से ब्रह्मपंचक, अर्थात् महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति नामक तत्त्वों की सृष्टि होती है। यह आदि-क्षान्ता वर्णमाला ही सभी मन्त्रों और [3]विद्याओं की जननी है। परापंचाशिका के (१४-१८) श्लोकों में भी तत्त्वों की वर्णात्मकता का यही क्रम वर्णित है।

शिव पंचमन्त्रतनु हैं। पाशुपत मत के अनुसार वामदेव आदि पाँच मन्त्रों से ही पाँच तत्त्वों के रूप में पंचमहाभूतों की उत्पत्ति मानी जाती है। इनका स्वरूप अन्य दर्शनों में प्रतिपादित स्वरूप से भिन्न है। दीपिकाकार अमृतानन्द ने स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से बताया है कि जल से प्रकृति पर्यन्त भावों से जलतत्त्व

---

१. ऊपर की टिप्पणी देखिये।

२. इस प्रसंग को आचार्य नीलकण्ठ गुरुटू ने परात्रीशिका के अपने भाषानुवाद की टिप्पणियों (पृ. १५१-१५४) में स्पष्ट किया है।

३. परात्रीशिका के इस वचन से भी स्पष्ट है कि पुरुष और स्त्री देवताओं के मनुओं के लिये मन्त्र और विद्या शब्द का पृथक्-पृथक् प्रयोग होता रहा है।

की, पुरुष से मायान्त भावों से तेजस्तत्त्व की, विद्या-ईश्वर-सदाशिव में वायुतत्त्व की तथा शक्ति और शिव में व्योमतत्त्व की व्याप्ति है। पंचतत्त्वदीक्षा के प्रसंग में स्वच्छन्दतन्त्र (५.१३) में इन पाँच तत्त्वों की व्याप्ति निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि कलाओं की व्याप्ति के अनुसार बताई गई है। प्रायः सभी शैवागमों में दीक्षा के प्रसंग में यह विषय चर्चित है। तदनुसार दीक्षा-प्राप्त सकल जीव प्रकृत्यण्ड का और प्रलयाकल मायाण्ड का अधिपति बन जाता है। विज्ञानकेवल महामाया के साम्राज्य में पहुँच जाता है।

वर्णोदय

वर्णों और तत्त्वों की उत्पत्ति की प्रक्रिया अभी बताई गई है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में वर्णोदय, कालोदय, चक्रोदय आदि की चर्चा मिलती है। उसी विषय को अब यहाँ तन्त्रालोक के ६-७ आह्निकों के आधार पर स्पष्ट किया जा रहा है।

सिद्धयोगीश्वरीमत में कुण्डलिनी शक्ति से वर्णोदय की [1]प्रक्रिया का स्पष्ट विवेचन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि संविन्मात्र-स्वरूपिणी विसर्गशक्ति ही अपने भीतर समस्त विश्व को समेटे रहने के कारण कुण्डलिनी कहलाती है। [2]अनच्ककला-स्वरूपिणी समस्त जगत् की कारणस्वरूपा और योनिस्वरूपा, अर्थात् [3]बीज-योनि स्वरूप समस्त वर्णों को अपने में धारण करने वाली, इनके माध्यम से समस्त वाग्-व्यवहार का संचालन करने वाली यह कुण्डलिनी शक्ति ही है। "या सा कुण्डलिनी" इत्यादि श्लोकों में वहाँ बताया गया कि यह जगत् की योनि है, तुटिरूपा है, सारे जगत् को जीवन देने वाली है। यह बीजरूपा और चिद्रूपा भी है। इसी कुण्डलिनी से अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष नामक तीन वर्ण तथा बाद में इन्हीं तीन वर्णों से अन्य समस्त वर्णों का उदय होता है। "शक्तित्रयसमुद्भूतिस्ततो वर्णसमुद्भवः" इस वचन में शक्तित्रय शब्द इन्हीं तीन वर्णों का ग्राहक है और फिर इन्हींसे समस्त वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है।

---

१. तन्त्रालोक (३.२२०-२२३) और शिवसूत्रविमर्शिनी (२.७) में विशेष रूप से यह विषय वर्णित है।

२. अनच्क हकार-स्वरूप प्राणकुण्डलिनी विज्ञानभैरव, नेत्रतन्त्र, स्पन्दकारिका, अद्वयसम्पत्तिवार्त्तिक आदि में व्याख्यात है। तन्त्रागमीय ज्ञानकोश में भी इस शब्द का विवरण देखिये।

३. "बीजयोन्यात्मकाद् भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मताः।। कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः। प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला।। बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते।" (मालिनीमत, ३.१०-१२)।

त्रिशिरोमत में [१]अमाख्य कला के स्वरूप-विस्तार के सिद्धान्त को समझाते हुए बताया गया है कि [२]अन्त:करण आदि षोडश कलाओं का आप्यायन करने वाली नित्योदित स्वरूपा होने से कभी अस्त न होने वाली, अमृतस्वरूपिणी, चिन्मात्रसारा, ईकार के अर्धार्ध में व्यक्त होने वाली यह अमा नाम की कला सत्रहवीं कला के रूप में शास्त्रों में मान्य है। यह कला परस्वरूप आनन्दात्मक विसर्ग, अपरस्वरूप हकार और परापरस्वरूप विसर्ग के स्वरूप में स्थित स्वात्मस्वरूप, विसर्जनीय पद-वाच्य दो बिन्दुओं के स्वरूप को बताने के लिये जब उच्छलित होती है, तो इसीमें से प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयात्मक समस्त जातिक व्यवहार प्रकाशित हो उठता है। वही अमा कला जब उपसंहार वेला में बहिर्भाव की अपनी उन्मुखता को समेट लेती है, तब सोई हुई नागिन के समान सब कुछ अपने में समेट कर अपने में ही विश्राम कर लेती है, तो शक्तिकुण्डलिनी; विसर्ग की बहिर्भावोन्मुख आदिकोटि के पास [३]प्राणकुण्डलिनी तथा उपसंहार क्रम में अन्तर्भावोन्मुख आदिकोटि का निभालन करते समय पराकुण्डलिनी के रूप में स्वात्मस्वरूप में विश्रान्त परासंविन्मात्र में इसकी प्रतीति होती है। यह संविन्मात्र-स्वरूपा सत्रहवीं कला ही शिवव्योम, परमब्रह्म और शुद्धात्मस्थान कहलाती है। तन्त्रालोक (३.१३७-१४०) में यह त्रिविध कुण्डलिनी के रूप में वर्णित है।

सिद्धयोगीश्वरीमत और योगिनीकौल के प्रमाण से तन्त्रालोक (७.४०-४१) में बताया गया है कि पिण्ड आदि के भेद से संपन्न मन्त्र आदि के रूप में बाहर उल्लसित हो रही वर्णकुण्डलिनी नाम की पारमेश्वरी शक्ति यदि प्राणव्यापार के साथ उदित होती है, तो उस समय उन्मना शक्ति शिव के साथ ऐकात्म्यलाभ कर लेती है। इसी स्थिति को वर्णकुण्डलिनी कहा जाता है। सिद्धामत में चर्चित कुण्डला

---

१. सोम की १६वीं कला **अमा** कहलाती है। इसका विवरण शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत स्कन्दपुराण और रघुनन्दन के वचनों में दिया गया है। "भारतीय वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" (पृ. ३०९), "भारतीय संस्कृति और साधना" (भा. १, पृ. ३१६), श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६.४७) जैसे ग्रन्थ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं।

२. शैवागमों में कर्म, बुद्धि, मन, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, विद्या और वाक् नामक सोलह कलाएँ मानी गई हैं। "स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवीन्द्रियं मन:। अन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्रा: कर्म लोका लोकेषु च नाम च।।" प्रश्नोपनिषत् के इस वचन में पुरुष की सोलह कलाएँ निर्दिष्ट हैं। तन्त्रालोक (३.१३७-१४०) भी द्रष्टव्य।

३. अकुलकुण्डलिनी, कुण्डलिनी, कुलकुण्डलिनी और प्राणकुण्डलिनी का विवरण तन्त्रागमीय ज्ञानकोश में देखिये।

शक्ति नि. षो.[1] में भी व्याख्यात है। [2]मतोत्तर में पिण्ड को कुण्डलिनी शक्ति, भैरव को बिन्दु और शक्ति को नाद कुण्डलिनी बताया गया है।

तन्त्रसार और तन्त्रालोक के छठे आह्निक में वर्णोदय की प्रक्रिया इस प्रकार वर्णित है—प्राणचार में वर्ण, पद और मन्त्र का उदय प्रथमत: यत्नज और अयत्नज के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से अयत्नज प्राणचार पर, सूक्ष्म और स्थूल के भेद से त्रिविध है। इनमें भी पर वर्णोदय तरतमभाव से द्विविध माना गया है। नादात्मक वर्ण ही पर अथवा अनाहत नाद कहलाता है। इसको भैरवसद्भाव, मातृसद्भाव आदि नामों से भी जाना जाता है। जिसमें समस्त चराचरात्मक जगत् लीन रहता है, उसी अनाहत नाद से समस्त स्वर-व्यंजनात्मक मातृकाचक्र की उत्पत्ति होती है। इसकी प्रक्रिया अन्य अनेक ग्रन्थों की तरह यहाँ (६.२१९-२४९) भी वर्णित है। आगे परापर नामक द्विविध वर्णों के उदय की प्रक्रिया को बताकर सूक्ष्म एवं स्थूल वर्णों और उनके मात्राकाल आदि को भी दिखाया गया है। वर्णोदय की यह सारी प्रक्रिया ऊपर प्रदर्शित ३६ अंगुल-प्रमाण प्राणचार में ही सम्पन्न होती है। वर्णोदय की प्रक्रिया के साथ यहाँ नववर्गात्मिका मातृका का भी परिचय दिया गया है और इसीके साथ पचास मातृका-वर्णों का मतभेद प्रदर्शन-पूर्वक विवरण दिया गया है। वर्णोदय की यह प्रक्रिया शांभवोपाय का निरूपण करते समय तन्त्रसार एवं तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में अधिक स्पष्ट रूप से वर्णित है। सिद्धान्तशैवागम प्रकरण में इसका संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है।

कालोदय

बौद्ध कालचक्रतन्त्र का और उसकी विमलप्रभा टीका का जो परिचय प्रस्तुत किया गया था, उससे ऐसा प्रतीत होता था कि बाह्य और आन्तर कालचक्र का इनमें विशद वर्णन किया गया है। ये दोनों ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुके हैं और इन दोनों ग्रन्थों का संक्षिप्त स्वरूप भी हम प्रदर्शित कर चुके हैं।उससे हमें ऐसा लगता है कि यह विषय वहाँ उस रूप में प्रस्तुत न हो सका, जैसा कि उसका स्वरूप अभिनवगुप्त के तन्त्रसार एवं तन्त्रालोक में संक्षेप अथवा विस्तार से देखने को मिलता है। यह विषय स्वच्छन्दतन्त्र के सातवें पटल में भी वर्णित है। इस मत की समीक्षा के लिये हम यहाँ कालचक्र के बाह्य और आन्तर स्वरूप को तथा उनमें होने वाली वर्णोदय एवं चक्रोदय की प्रक्रिया को उक्त दोनों ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

---

१. काशी संस्करण, पृ. ३०, २५५-२५६ द्रष्टव्य।

२. वहीं, पृ. २४, १३९ द्रष्टव्य।

आणव उपाय के प्रसंग में उच्चार, करण, ध्यान और वर्ण का स्वरूप बताने के बाद स्थान-प्रकल्पन शब्द की व्याख्या करते हुए इस विषय की चर्चा तन्त्रसार के छठे आह्निक में और तन्त्रालोक के ६-७ आह्निकों में की गई है। भगवदाराधना के तीन स्थानों की यहाँ चर्चा की गई है—प्राण, शरीर और बाह्य स्थान। इनमें कालाध्वा की स्थिति प्राण में मानी गई है, अर्थात् काल की उपासना प्राण में की जाती है। इसकी प्रवृत्ति क्रम और अक्रम से होती है। स्वयं परमेश्वर ही इस रूप में भासित होते हैं। कालस्वरूप भगवान् की शक्ति ही काली कहलाती है। इनका बाह्य रूप में आभासन ही प्राणवृत्ति कहलाती है। "प्राक् संवित् प्राणे परिणता" यह कल्लट का कहना है। तदनुसार जब यह संवित् प्रमेय के रूप में अवतरित होने लगती है, तो प्रथमतः शून्य का स्वरूप धारण कर बाद में क्रियाशक्तिप्रधान प्राण का रूप धारण करती है और प्राण, अपान आदि पाँच वृत्तियों से जब देह को पूरित कर देती है, तो शरीर में चैतन्य की अभिव्यक्ति हो उठती है।

षडध्वात्मक जगत् की चर्चा हो चुकी है। प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों में प्रथमतः कालाध्वा और देशाध्वा के रूप में इनका वर्णन मिलता है। कालाध्वा में वर्ण-मन्त्र-पद[1] की तथा देशाध्वा में तत्त्व-पुर-कला की स्थिति मानी गई है। यद्यपि देह में बाहर-भीतर सर्वत्र प्राण की स्थिति विद्यमान है, तो भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हृदय में होती है। प्रभु की शक्ति, आत्मा की शक्ति और पुरुष के प्रयत्न से प्राण की प्रवृत्ति होती है। हृदय से द्वादशान्त तक प्रत्येक प्राणी का प्राण अपनी अंगुली के प्रमाण से ३६ अंगुलिपर्यन्त बाहर-भीतर अपने प्रयत्न के अनुसार चलता रहता है। घटिका, तिथि, मास, वर्ष आदि समस्त बाह्य काल-व्यवहार प्राण के माध्यम से भीतर भी चलता रहता है। चषक का प्रमाण $१\frac{१}{५}$ अंगुल माना गया है और ६० चषक प्रमाण, अर्थात् ७२अंगुल पर्यन्त प्राणचार से घटिका का उदय होता है। यह घटिकोदय काल कहलाता है। इसी तरह से $२\frac{१}{४}$ अंगुल का तुटि काल माना जाता है। इस तरह की चार तुटियों से चार प्रहर, आधी-आधी तुटि से दो सन्ध्याएँ, इस तरह दस तुटियों के निर्गम का काल दिन और प्रवेश का काल रात्रि कहलाता है। प्राणचार में तिथ्युदय की यही स्थिति है।

मासोदय की प्रवृत्ति इस तरह से होती है—यहाँ कृष्ण पक्ष दिन और शुक्ल पक्ष रात्रि मानी गई है। इनमें प्रथम और अन्तिम तुट्यर्ध विश्रान्ति कही गई है, अतः ये काल की कलना से ऊपर हैं। मध्य की १५ तुटियाँ ही तिथियाँ मानी

---

१. सिद्धान्तशैवागमों में वर्ण, पद, मन्त्र—यह क्रम सर्वत्र मान्य है। अभिनवगुप्त ने पदाध्वा को तृतीय स्थान देकर उसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या की है।

जाती हैं। यहाँ प्रकाश दिन और विश्रान्ति रात्रि कहलाती है, अर्थात् दिन में वेद्यमयता प्रकाशित होती है और रात्रि में वेद्य विषय का वेदक (विचारक) में विलय हो जाता है। ये प्रकाश और विश्रान्ति चिर और अचिर काल की अपेक्षा से अनेक नाम धारण कर लेते हैं और दिन एवं रात्रि का समय जब बराबर हो जाता है, तब वह विषुव काल कहलाता है। मेष और तुला संक्रान्ति में सूर्य के आने पर दिन और रात्रि का काल बराबर रहता है। इसी काल को विषुव काल कहा जाता है। विषुव काल में प्राण की भी स्थिति इसी प्रकार की हो जाती है।

कृष्ण पक्ष में प्राणरूपी सूर्य में अपानरूपी चन्द्रमा अपनी एक-एक आप्यायिका कला को देता रहता है। अमावस्या पर्यन्त यह क्रम चलता है। अन्त में पंचदशी तुटि में द्वादशान्त के समीप सारी कलाओं का क्षय हो जाने पर चन्द्रमा प्राणसूर्य में विलीन हो जाता है। इसके बाद आधी तुटि का काल पक्ष की सन्धि माना जाता है। इस तुट्यर्ध का पहला आधा भाग अमावस्या का और दूसरा आधा भाग प्रतिपदा का माना जाता है। यहाँ अमावस्या का आधा भाग जब प्रतिपदा के आधे भाग में प्रयत्नज [1]कास, अवधान आदि की सहायता से तिथिच्छेद (क्षय) की स्थिति में प्रवेश करता है, तब (सूर्य)ग्रहण की स्थिति आती है। यहां वेद्य-रूप सोम के साथ मायाप्रमाता नामक राहु अपने स्वभाव से ही विलयन प्रक्रिया में असमर्थ होकर केवल अपनी आच्छादान शक्ति से सूर्यगत चन्द्रमा के अमृत का पान करता है। इसी स्थिति में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय नामक विभागों का विलय हो जाने से यह पुण्य काल पारलौकिक फल को देता है। जब प्राण चिदर्क में प्रवेश कर एक-एक कला से अपानरूपी चन्द्रमा का पूरण करता है, तब पंचदशी त्रुटि पूर्णिमा कहलाती है। इसके बाद पुनः पूर्व पद्धति से पक्षसन्धि, (चन्द्र)ग्रहण की स्थिति सम्पन्न होती है। इस पुण्य काल का उपयोग ऐहिक भोगों की प्राप्ति के लिये किया जाता है। मासोदय की यही प्रक्रिया है।

वर्षोदय की प्रक्रिया इस प्रकार सम्पन्न होती है—प्राणचार की इस प्रक्रिया में वर्षोदय के समय कृष्ण पक्ष में ही उत्तरायण वेला में मकर से मिथुन पर्यन्त छः संक्रान्तियों की स्थिति छः छः अंगुल पर्यन्त मानी गई है, अर्थात् ३६ अंगुल के प्राणचार में उत्तरायण की छः संक्रान्तियाँ समाहित हो जाती हैं। यहाँ प्रत्येक अंगुल में पाँच-पाँच तिथियाँ और उनके दिन-रात्रि विभाग की भावना की जाती है। इसी

---

१. "तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत्। ऋणं चैव भवेत् कासो निःश्वासो धनमिष्यते।।" (७.६५-६६) स्वच्छन्दतन्त्र के इस वचन के अनुसार प्राणापान-प्रक्रिया में तिथिक्षयप्रयुक्त कालाल्पता को कास कहा गया है।

तरह से प्राण के प्रवेश के समय दक्षिणायन की छः संक्रान्तियों का क्रम भी बनता है। इनमें गर्भत्व, उद्भवेच्छा, उद्बुभूषता, उद्भविष्यत्व, उद्भवारम्भ, उद्भवत्ता के तथा [१]जन्म आदि छः भावविकारों के रूप में उत्तरायण एवं दक्षिणायन की छः छः संक्रान्तियाँ प्रविष्ट होती हैं। इसी पद्धति से इनकी उपासना की जाती है और उससे फल की प्राप्ति भी होती है। इन बारह मासों के अधिपति [२]दक्ष से लेकर पितामह पर्यन्त बारह देवता, रुद्रगण एवं उनकी शक्तियाँ हैं। प्राणचार में वर्षोदय की प्रक्रिया इसी पद्धति से सम्पन्न होती है।

द्वादशाब्दोदय, षष्टिवर्षोदय आदि की दृष्टि से भी प्राणचार की यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। अनाश्रित पद पर्यन्त काल की उपासना इसी प्राणचार की पद्धति से की जाती है। अनाश्रित सामनस पद ही सामरस्य अथवा साम्य-स्वरूप ब्रह्म है। इसी सामनस अकलनीय काल से निमेषोन्मेष रूप लौकिक काल का उदय होता है। एक, दस आदि की गुणनपद्धति के आधार पर परार्ध पर्यन्त संख्या की स्थिति गणितशास्त्र में वर्णित है। सिद्धान्तसारावलि (१.२५) में भी यह प्रदर्शित है। इस प्रकार महासृष्टिस्वरूप एक ही काल में प्राण के निमेष-उन्मेष व्यापार के समान असंख्य सृष्टि-प्रलयों का उन्मेष-निमेष होता रहता है। प्राणशक्ति में कालोदय की प्रक्रिया का यही स्वरूप है।

प्राण में जैसे कालोदय की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उसी तरह से अपान में भी हृदय से मूल पीठ पर्यन्त इसकी उपासना की जाती है। जैसे हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त स्थानों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित नामक छः कारणेश्वर स्थित हैं, इसी तरह से अपान में भी हृदय, कन्द, आनन्द, संकोच, विकास और द्वादशान्त में बाल्य, यौवन, वार्धक्य, निधन, पुनर्भव और मुक्ति के अधिपति के रूप में ये छः कारणेश्वर विद्यमान हैं।

इसी पद्धति से समान आदि में भी कालोदय की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। समान वायु शरीर-स्थित दस मुख्य नाड़ियों के माध्यम से संचरण करता हुआ समस्त देह में रस आदि को समान रूप से प्रवाहित करता रहता है। उदान में स्पन्दनात्मक काल की गति (चार) द्वादशान्त पर्यन्त प्रवाहित होती है। व्यान वायु

---

१. "जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति" (१.१.३) निरुक्त के इस वचन में छः भावविकार सूचित हैं।

२. "दक्षश्चण्डो हरश्चण्डी प्रमथो भीममन्मथौ। शकुनिः सुमतिर्नन्दगोपालकपितामहाः।।" तन्त्रसार (पृ. ५३ की ३३वीं टि.) में उद्धृत इस श्लोक में ये नाम गिनाये गये हैं।

तो सर्वत्र व्याप्त है। इसमें क्रम की कोई प्रतीति नहीं होती, तो भी सूक्ष्म उच्छलत्ता के रूप में यहाँ भी काल की उपासना की जाती है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि कालोदय की पूरी प्रक्रिया प्राण के समान अपान आदि में भी सम्पन्न होती है।

चक्रोदय

तन्त्रालोक के सातवें आह्निक में चक्रोदय की प्रक्रिया प्रदर्शित है। वहाँ बताया गया है कि यह भी कालतत्त्व से ही संबद्ध है। वर्णोदय की प्रक्रिया में अयत्नज पर, सूक्ष्म और स्थूल वर्णों की प्राणचार में उपासनाविधि ऊपर बताई गई है। प्रस्तुत स्थल पर मन्त्र-पदात्मक चक्रों के उदय का स्वरूप निर्दिष्ट है। ये सभी संवित् के ही स्पन्दन हैं, अतः परा संवित् की अभिव्यक्ति में इनका भी उपाय के रूप में ग्रहण किया जाता है। जैसे घटीयन्त्र (अरहट्ट=रहट) को चलाने से उससे अनुस्यूत घटिकाएँ अपने आप चलने लगती हैं और उनके चलने से यन्त्रचालक को कूपगत जल की निरन्तर प्राप्ति होने लगती है, उसी तरह से साधक के मन्त्रोदय-विषयक एक ही अनुसन्धान से मन्त्रगत देवता का निरन्तर साक्षात्कार होने लगता है। इसके लिये साधक को यत्नशील होना पड़ता है, अतः यत्नज विभाग में इसका समावेश किया जाता है। पिण्ड मन्त्रों और माला मन्त्रों के लिये भी इसी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है। टीकाकार ने योगिनीकौल जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। यहाँ बौद्ध दृष्टि की भी समालोचना की गई है कि उनकी दृष्टि के सहारे चक्रोदय की यह प्रक्रिया संभव नहीं हो सकती। अपनी मानस वृत्तियों का निरोध कर किसी भी एक चक्र में विश्राम से व्युत्थान अथवा व्युत्थान से विश्राम तक मन्त्र की मध्यधाम में स्थिति ही चारोदय, प्राणोदय अथवा मन्त्रोदय के नाम से भी जानी जाती है।

अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीवात्मा

अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में अज्ञान को ही मल माना गया है, जो संसाररूपी अंकुर का कारण है। अर्थात् इस अज्ञान के ही कारण आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मल की सृष्टि होती है। अद्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार मल द्रव्यात्मक न होकर भगवान् की [1]स्वातन्त्र्य शक्ति का विलासमात्र है। भ्रमरकीट जैसे अपने आप कोश में बँध जाता है, उसी तरह शिव भी स्वेच्छा से मात्र क्रीडा करने के

---

१. परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥ (परमार्थसार, श्लो. १५)।

निमित्त अज्ञान से आवृत हो जाता है। पौरुष और बौद्ध के भेद से यह अज्ञान दो प्रकार का माना गया है। पौरुष (आत्मगत) अज्ञान के कारण उसका ज्ञान सीमित हो जाता है। इसीको यहाँ आणव मल कहा गया है। इस आणव मल के कारण बोध (ज्ञान) का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है और फिर अपनी स्वतन्त्रता का बोध भी नहीं रहने पाता। यह आणव मल ही मायीय और कार्म मल का भी कारण है, जिनके कारण इस संसार की कल्पना साकार होती है और निरन्तर चलती रहती है।

भगवान् शिव अनादिबोध, सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यपरिपूर्णतृप्तता, नित्यता और स्वतन्त्रता नामक छः गुणों (शक्तियों) से सम्पन्न हैं। जब अपनी इच्छा से ये अपने बोध को संकुचित कर लेते हैं, तब आणव मल से आवृत हो जाते हैं। उस समय इनकी माया नाम की शक्ति प्रकट होती है और इनके अनादिबोध पर परदा पड़ जाता है। शिव की सर्वकर्तृता नामक शक्ति के संकोच से कलातत्त्व की, सर्वज्ञता के संकोच से विद्यातत्त्व की, नित्यपरिपूर्णतृप्तता के संकोच से रागतत्त्व की, नित्थता के संकोच से कालतत्त्व की और स्वतन्त्रता के संकोच से नियतितत्त्व की सृष्टि होती है। इस तरह अपनी छः शक्तियों को संकुचित कर शिव ही जीव बन जाता है। माया से नियति तक ये छः तत्त्व षट्कंचुक[१] के नाम से प्रसिद्ध हैं।

द्विविध ज्ञान और अज्ञान[२]

इस चोंगे को धारण कर लेने पर शिव ही जीव (पुरुष=पशु) दिखाई देने लगता है। इस दशा में वह अपने इस स्वरूप को भूल बैठता है। इसीको पौरुष अज्ञान कहते हैं। षट्कंचुक से आवृत पशु जब परिमित प्रमाता के रूप में "मैं इस तरह से इसको जानता हूँ" इस तरह का अध्यवसाय करता है, अहन्ता से इदन्ता की यात्रा पर चल पड़ता है, तो बौद्ध (बुद्धिगत) अज्ञान कहलाता है। पाशव संस्कार के हट जाने पर पुरुष पुनः अपने शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पौरुष ज्ञान कहलाता है। अपनी परिपूर्णता का विकास हो जाने पर "यह सब कुछ मेरा ही वैभव है" इस तरह की बुद्धि में जब सर्वत्र अहन्तात्मक अध्यवसाय उदित होता है, इदन्ता का लोप हो जाता है, तो इसी को बौद्ध ज्ञान कहते हैं। पौरुष अज्ञान की निवृत्ति यद्यपि दीक्षा के द्वारा हो जाती है, तो भी पौरुष ज्ञान की उत्पत्ति वर्तमान शरीर के परित्याग के पहले नहीं होती, क्योंकि इस शरीर का

---

१. स्वातन्त्र्य शक्ति माया का इसमें समावेश न करने पर इनकी संख्या पाँच रह जाती है। द्वैतवादी शैवशास्त्र पंचकंचुकवादी है।

२. पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप जानने के लिये तन्त्रालोक और इसकी व्याख्या (१.२२-५०) देखिये।

आरम्भक कार्म मल तब तक बना रहता है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति तो शरीर के रहते हुए भी हो जाती है। शास्त्रों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से बुद्धिगत अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। दीक्षा के द्वारा पहले बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति होती है। अत: मुक्ति के लिये बौद्ध ज्ञान ही प्रधान माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि दीक्षा के द्वारा पहले बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति होती है और शास्त्र-श्रवण आदि के द्वारा साधक जीवन्मुक्ति दशा तक पहुँच जाता है। इसके बाद पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होती है। साधक अपनी शिवस्वरूपता को पहचान लेता है। इसीको प्रत्यभिज्ञा दृष्टि का उन्मीलन कहते हैं। तब वह इस शरीर के परित्याग के साथ ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, अपने जीवभाव को छोड़ कर शिवभाव को प्राप्त कर लेता है।

बन्ध और मोक्ष

इस दर्शन में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। पौरुष और बौद्ध अज्ञान से आवृत पशु अपने को बद्ध मानने लगता है और पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान का आविर्भाव होने पर वह अपने को सांसारिक बन्धनों से मुक्त मान लेता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि से आबद्ध पशु अपने को बन्धन में पड़ा हुआ समझ लेता है और ग्रन्थि के खुल जाने पर वह अपने को मुक्त मानने लगता है। इस प्रकार इस दर्शन में बन्ध और मोक्ष प्रतीतिमात्रसार है। परमार्थसार[१] में बताया गया है कि मोक्ष नाम का कोई स्थान नहीं है, न इसके लिये कहीं जाना ही पड़ता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि के खुल जाने पर जो अपना निजी स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है, उसीको मोक्ष कह दिया जाता है। स्वस्वभावसम्बोधन[२] नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि बन्धन, बन्धन का कर्ता और बँधने वाला, इन तीनों में से एक की भी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपनी नाना प्रकार की कल्पनाओं से ही यह सारा जगत् बन्धन में पड़ा हुआ है।

इस प्रकार शुद्ध संवित्स्वरूप भगवान् शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे अपनी शक्तियों को संकुचित कर जीव और जगत् के रूप में भासित होने लगते हैं और अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वास्तव में बन्ध और मोक्ष भगवान् की लीला का विलासमात्र है। उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, शिवस्वरूप के अतिरिक्त जीव और जगत् की भी वस्तुत: कोई सत्ता

---

१. देखिये—परमार्थसार, श्लो. ६०

२. लुप्तागमसंग्रह, भा. १, पृ. १८२ द्रष्टव्य।

नहीं है। भगवान् शिव ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे जीव और जगत् के रूप में भी भासित होते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जीवात्मा की वास्तव में कोई सत्ता नहीं है। जैसे हम किसी वस्तु को रखकर भूल जाते हैं और उसके मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति जीव और शिव की भी है। अन्तर इतना ही है कि शिव स्वेच्छा से अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे मात्र लीला करने के लिये अपने स्वरूप को भुलाने का नाटक करते हैं। इस प्रकार यहाँ यह सारा स्थावरजंगमात्मक जगत् शिव के विलास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिये यह अद्वयवादी दर्शन है।

अद्वयदृष्टि से बन्ध (भोग) और मोक्ष की व्याख्या सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. ३८५-३८६) में भी देखी जा सकती है।

त्रिविध उपाय और समावेश

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।।
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।।
अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।।

मालिनीविजयतन्त्र (२.२१-२३) के इन तीन श्लोकों में संक्षेप में आणव, शाक्त और शाम्भव उपाय तथा उनकी सहायता से प्राप्त होने वाली त्रिविध समावेश (समाधि) दशाओं का वर्णन किया गया है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में तृतीय से लेकर द्वादश आह्निक तक अत्यन्त विस्तार से और तन्त्रसार (पृ. १०-११४) में अपेक्षाकृत कम विस्तार से, महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी की चार कारिकाओं (५६-५९) तथा उनकी परिमल व्याख्या (पृ. १३८-१५३) में संक्षेप में इस विषय को समझाया है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर ऊपर के श्लोकों की व्याख्या करते हुए हम यहाँ इनका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय देते हैं।

आणव उपाय

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान-कल्पना का अभ्यास आणव उपाय है। इनमें से किसी एक के अभ्यास से प्राप्त होने वाली एकाग्रता को आणव समावेश दशा कहते हैं।

अणु, अर्थात् परिमित प्रमाता परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश आदि को उपाय के रूप में स्वीकार करता है, इसलिये इसको आणव उपाय कहा जाता है। इनमें से **ध्यान** बुद्धि का व्यापार है। **प्राण** स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। स्थूल प्राण का व्यापार **उच्चार** है। यह प्राण आदि की वृत्तियों के रूप में प्रकट होता है। सूक्ष्म प्राण को **वर्ण** शब्द से कहा जाता है। शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का नाम **करण** है। घट-स्थापन, मण्डल-निर्माण, मंदिर, मूर्ति, चित्र आदि की रचना जैसी विधियों का समावेश **स्थान-कल्पना** में होता है। अपि च, सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता को **ध्यान** कहते हैं। [१]प्राण, अपान आदि वायु की श्वास-प्रश्वास, क्षुत्[२] (छींक) जैसी वृत्तियाँ **उच्चार**[३] कहलाती हैं। प्राण के उच्चार के साथ स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाले सकार[४] और हकार **वर्ण** कहे जाते हैं। ये सभी वर्णों और मन्त्रों का बोध कराते हैं। अथवा **वर्ण** शब्द [५]काले-पीले आदि रंगों का भी बोधक है।

त्रिशिरोभैरव के आधार पर तन्त्रालोक (भा. ३, आ. ५, पृ. ४३८-४४३) में **करण** के सात भेद बताये गये हैं। इनके नाम हैं—ग्राह्य[६], ग्राहक, संवित्ति, [७]संनिवेश, व्याप्ति[८], आक्षेप और त्याग। तन्त्रालोक के १६वें आह्निक में ग्राह्य

---

१. प्राण और अपान की श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया पर १-४, २८-२९, ४१ धारणाएँ वर्णित हैं। इसी तरह से आगे भी विज्ञानभैरव में वर्णित विभिन्न धारणाओं के उदाहरण से इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

२. धारणा संख्या ९२ का क्षुत् आदि से संबन्ध है।

३. स्वच्छन्दतन्त्र की टीका (प. ७, पृ. ३०६) में क्षेमराज ने किसी मुद्रा (करण) या बन्ध में बैठकर मन्त्र के जप करने को उच्चार बताया है (उच्चारः करणबन्धादिपूर्वं मन्त्रोदीरणम्)।

४. इस स्थिति को अजपा जप कहा गया है। प्राणापान अथवा प्राणशक्ति से संबद्ध धारणाओं में इसकी अनुभूति होती है। पृ. २७,४५,७६,९१-९२, १६६-१७३ में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है।

५. धारणा संख्या ६३ में कृष्ण वर्ण की भावना वर्णित है। तिमिरभावना (६०-६२ धारणाएँ) का भी इसीमें समावेश किया जा सकता है। बौद्ध योगशास्त्र में कसिण भावना के अन्तर्गत नील, पीत, आदि कसिणों का उल्लेख मिलता है। द्रष्टव्य—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ. ७६

६. धारणा संख्या ८१ द्रष्टव्य। इस धारणा का उल्लेख विज्ञानभैरव के ही श्लोक में सामान्य सा परिवर्तन कर योगवासिष्ठ (नि. पू. ४३.८) में भी किया गया है।

७. धारणा संख्या ३, ८, १३-१४, ५२-५८, ८८ द्रष्टव्य।

८. धारणा संख्या २४, ३०, ३९, ७९-८०, ८२-८५, ९०-९१, ९३, ९८, ११०-११२ द्रष्टव्य।

और ग्राहक का, ११वें आह्निक में संविति का, १५वें आह्निक में व्याप्ति का, २९वें आह्निक में त्याग और आक्षेप का तथा ३२ वें आह्निक में संनिवेश (मुद्रा) का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिज्ञासुजनों को इनका वहीं अवलोकन करना चाहिये।

[1]प्राणशक्ति, अर्थात् हृदय के स्पन्दनात्मक सामान्य व्यापार में, शरीर में विद्यमान नाडियों तथा चक्रों में तथा बाहर लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में **स्थान-कल्पना** की विधि संपन्न की जाती है। सामान्य स्पन्दतत्त्व के उन्मेष के बाद ही उनमें षडध्व का स्फुरण होता है। कार्यकारणस्थल में क्रम से और कुहनप्रयोग (इन्द्रजाल से निर्मित पदार्थ) आदि में अक्रम से सभी पदार्थों की कलना करने वाला, परमेश्वर का काल नामक स्वरूप सबसे पहले भासित होता है। भगवान् का स्वरूप अभेदावस्था में काली शक्ति और भेदावस्था में प्राणशक्ति के नाम से जाना जाता है। संवित्स्वरूपा काली शक्ति में अपनी इच्छा से क्रम और अक्रम रूप से नाना रूपों में भासित होने के लिये क्रियाशक्ति का उन्मेष होता है। इस क्रिया-शक्ति का प्रथम उन्मेष प्राण-व्यापार है। "प्राक् संवित् प्राणे परिणता" कल्लट के इस वचन में यही बात प्रतिपादित है। यह प्राणशक्ति अपने प्राण, अपान आदि पाँच रूपों में जीव को आप्यायित किये रहती है। इसीके रहने पर यह चेतन कहलाता है। इस क्रियाशक्ति के पूर्व भाग में कालाध्वा और उत्तर भाग में देशाध्वा की स्थिति है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप वर्ण, मन्त्र और पद की तथा देशाध्वा में कला, तत्त्व और भुवन की स्थिति है। शब्द और अर्थ स्वरूप शिव और शक्ति में व्याप्यव्यापक भाव से पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप से विद्यमान वर्ण, पद, मन्त्र और कला, तत्त्व, भुवन नामक षडध्व का विवेचन हम वि.भै.के. ५५-५६ संख्या के श्लोकों की व्याख्या में कर चुके हैं। इस तरह से प्रक्रिया-भेद से यहाँ देशाध्वा और कालाध्वा के रूप में षडध्व का प्रतिपादन किया गया है। यह सारा षडध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्ति का ही उन्मेष है। सारे षडध्वात्मक जगत् में बाहर-भीतर सब जगह प्राणशक्ति का स्पन्द सतत प्रवृत्त है, तो भी हृदय आदि स्थानों में ही इसके स्फुरण की अनुभूति होती है। [2]प्राणशक्ति के स्फुरण में ईश्वर की शक्ति, जीव की शक्ति और उसका प्रयत्न इन तीनों की उपयोगिता है। हृदय आदि स्थानों में स्पन्दमान इस प्राणशक्ति में चित्त को विलीन कर देना भी **स्थान-कल्पना** नामक आणव उपाय का अंग है। इसी तरह से शरीर के भीतर विद्यमान

---

१. धारणा संख्या ५-८, १०, ३१, ४३-४४ द्रष्टव्य।

२. धारणा संख्या ११२ द्रष्टव्य।

नाडी, चक्र आदि स्थानों में और लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में चित्त को नियोजित करना भी **स्थानकल्पना** के अन्तर्गत है। वस्तुत: बुद्धि, प्राण, देह आदि की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। ये सब विकल्पात्मक हैं, तो भी इनके सहारे [१]परमार्थ स्वरूप तक पहुँचा जा सकता है। इन विकल्पात्मक स्थूल उपायों को ही यहाँ आणव उपाय कहा गया है।

शाक्त उपाय

सत्तर्क, सदागम और सद्गुरु की सहायता से जब साधक उक्त उच्चार, करण आदि विकल्प-व्यापारों का शोधन कर लेता है, अर्थात् इन सबमें स्वात्मस्वरूप का ही दर्शन करने लगता है, तो उसके चित्त में विश्वाहन्ता का विकास होता है। वह जान जाता है कि यह सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, मेरा शुद्ध स्वात्मस्वरूप तो इससे भी परे है। इस तरह सार्वात्म्य भावना के सहारे साधक के चित्त में शुद्ध[२] विकल्पों की सृष्टि होने लगती है, अर्थात् वह सभी जागतिक पदार्थों को अपने शुद्ध स्वरूप से पृथक् नहीं देखता, उन सबमें अपने शुद्ध स्वरूप की ही भावना करता है।

शाम्भव उपाय

यह सारा जगत् शिवमय है, विज्ञानभैरव-स्वरूप है। यह जगत् बोधगगन में उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि दर्पण में मुँह का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो किसी दूसरे पदार्थ में संक्रान्त होकर ही प्रकाशित होता है, उसे प्रतिबिम्ब[३] कहते हैं। जैसे कि दर्पण आदि में दिखाई पड़ने वाली प्रतिकृति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और दर्पण आदि में संक्रान्त होने पर ही वह दिखाई पड़ती है। बिम्ब की स्वतन्त्र सत्ता होती है। यह बिना किसी की सहायता के प्रकाशित होता है। जैसे मुख स्वयं भासित होता है। इसको प्रकाशित करने के लिये दर्पण जैसे पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह विश्व भी दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरी के समान शिवमय दर्पण में भासित हो रहा है।

---

१. अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थ: प्रकाशते । (तन्त्रा. ५.७)
बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता ।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ।। (तन्त्रा. ५.१० विवेक में उद्धृत)

२. धारणा संख्या ३९, ७०-७६, ९७ द्रष्टव्य।

३. तन्त्रसार में अभिनवगुप्त ने प्रतिबिम्ब का लक्षण यह किया है—"यद् भेदेन भासितुमशक्तमन्यव्यामिश्रत्वेनैव भाति तत् प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे" (पृ. १०)। तन्त्रालोक में बिम्ब का लक्षण यह है—"अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा" (३.५३)

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि दर्पण में भासित हो रहा प्रतिबिम्ब (मुख की प्रतिकृति) बिना बिम्ब (मुख) के प्रकाशित नहीं होता, इसी तरह से दर्पणस्थानीय शिव में प्रकाशित हो रहे प्रतिबिम्बस्थानीय इस जगत् के बिम्ब की भी सत्ता होनी चाहिये। आप यह बताइये कि यह बिम्बस्थानीय पदार्थ क्या है? शास्त्रकारों ने इसका उत्तर यह दिया है कि वस्तु के स्वभाव के संबन्ध में प्रश्न करना व्यर्थ है। आग गरम होती है। पानी ठंडा होता है। यह इनका स्वभाव है। इस तरह से शिव का यह स्वभाव है कि वह अपने में ही अपने विज्ञानमय स्वरूप को जगत् के रूप में भासित होने देता है। ईश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही यह सारा खेल है कि शिवमय दर्पण में बिना किसी बिम्ब की सत्ता के भी यह जगत् रूपी प्रतिबिम्ब भासित होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शिव के निर्विकल्प स्वरूप के अतिरिक्त इस जगत् की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इस निर्विकल्प शून्य[1] स्थिति में अपने चित्त को समाहित करने का प्रयास ही शाम्भव उपाय है।

त्रिविध समावेश

इन तीनों उपायों के उदाहरण के रूप में वि.भै.के २४वें श्लोक की छः प्रकार की व्याख्या की गई है। उनको और यथास्थान दी गई टिप्पणियों को देखने से इन उपायों के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी। इन उपायों का सहारा लेकर साधक आणव, शाक्त और शाम्भव स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। भगवद्गीता (९.२३ तथा १२.३-५) में बताया गया है कि अन्य देवताओं की उपासना करने से और अक्षर ब्रह्म की उपासना करने से भी भगवत्पद की ही प्राप्ति होती है, किन्तु इनमें अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी तरह से आणव आदि विभिन्न उपायों का सहारा लेने पर भी साधक को एक ही परम पद की प्राप्ति होती है। फल की प्राप्ति में कोई भेद नहीं रहता। उपायों के अनुष्ठान में ही तरतमभाव रहता है। उपायों की भिन्नता में शक्तिपात के तीव्र, मध्य, मन्द आदि भेदों को ही कारण माना जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि मन्द शक्तिपात होने पर आणव उपाय का, मध्य शक्तिपात में शाक्त उपाय का और तीव्र शक्तिपात में शाम्भव उपाय का सहारा लेने में साधक समर्थ हो जाता है। इन सबका प्रयोजन स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना है। अनुपाय प्रक्रिया से भी वही स्वात्मस्वरूप प्रकाशित होता है और आणव उपाय से भी। इस प्रकार आलम्बन का भेद होने पर भी समावेश दशा में कोई भेद नहीं रहता। आणव समावेश, शाक्त समावेश और शाम्भव समावेश दशा एक ही है। उपायों के भेद के कारण समावेश दशा में भेद

---

१. धारणा संख्या ३६, ८४-८५, ८७, १०१-१०८, ११०-११२ देखिये।

आरोपित कर लिया जाता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. ४३) में कहा है—

नैषां परफलविधौ कापि हि भिदा।

अनुपाय प्रक्रिया

अनुपाय पद की निरुक्ति हम वि. भै. व्याख्या (पृ. ३) में कर चुके हैं। वहाँ यह भी बता चुके हैं कि सिद्ध साहित्य में प्रचलित 'सहज' शब्द को हम अनुपाय शब्द का पर्याय मान सकते हैं। किन्तु इस कथन को सिद्ध करने के लिये प्रमाण अपेक्षित है।

तन्त्रसार (पृ. ८-९) में अनुपाय प्रक्रिया का विवेचन इस तरह से किया गया है—तीव्र शक्तिपाद के होने पर साधक गुरु के एक बार के उपदेश से ही नित्योदित समावेश दशा में लीन हो जाता है। उपाय के रूप में वह षड़ंग[१] योग में प्रतिपादित तर्क नामक अंग का सहारा लेता है। वह सोचता है कि स्वयंप्रकाश स्वात्मस्वरूप ही तो परमेश्वर है। इसके लिये किसी उपाय की क्या आवश्यकता है? यह स्वात्मस्वरूप नित्य, स्वयं-प्रकाश, निरावरण तत्त्व है। इसलिये किसी उपाय से इसके स्वरूप की प्राप्ति (लाभ) या प्रतीति (ज्ञप्ति) होगी, अथवा किसी आवरण को हटाया जायगा, इन सब बातों का कोई प्रसंग नहीं है। इस स्वात्मस्वरूप में लीन (अनुप्रवेश) होने का भी कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वात्मस्वरूप के अतिरिक्त उसमें प्रविष्ट होने वाले की अलग से कोई सत्ता नहीं है। फिर उपाय भी तो उससे अलग नहीं है। इसलिये यह सारा जगत् चिन्मात्रसार है। काल इसकी कलना नहीं कर सकता। देश इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। उपाधि इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। इसकी कोई आकृति नहीं है। शब्दों की सहायता से इसको समझा नहीं जा सकता और न किसी प्रमाण की ही यहाँ प्रवृत्ति हो सकती है। स्वतन्त्र, आनन्दघन यह स्वात्मस्वरूप ही काल से लेकर प्रमाण पर्यन्त ऊपर बताये गये सभी तत्त्वों को स्वरूप प्रदान करने वाला है। मैं इस स्वात्मस्वरूप से भिन्न नहीं हूँ और इस अहमात्मक स्वात्मस्वरूप में ही यह सारा विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस तरह की प्रत्यभिज्ञा के जाग्रत् होने पर साधक नित्योदित पारमेश्वर स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। इसके लिये मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकरण का उपसंहार अभिनवगुप्त ने इस श्लोक के साथ किया है—

---

१. षडंग योग और तर्क का परिचय अलग से दिया गया है।

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ।।

वि. भै. श्लो. १२०-१२१ की व्याख्या में मालिनीविजय आदि ग्रन्थों के प्रमाण पर इस अनुपाय प्रक्रिया का विशद विवेचन किया गया है। स्वच्छन्दतन्त्र, संकेतपद्धति, तन्त्रालोक, महार्थमंजरी आदि अनेक ग्रन्थों में इसका प्रतिपादन मिलता है। आगे हम यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि उपक्रम, उपसंहार आदि षड्विध लिंग की मीमांसक पद्धति से इस शास्त्र का विनियोग अनुपाय प्रक्रिया के प्रतिपादन में ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अनुपाय प्रक्रिया सहज योग से भिन्न नहीं है।

अभिनवगुप्त आदि ने इन उपायों का जिस तरह का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने आणव उपाय में क्रम और कुल दर्शन से भिन्न समस्त तान्त्रिक योग-विधियों का समावेश किया है। शाक्त उपाय के रूप में क्रमदर्शन की और शाम्भव उपाय के रूप में उन्होंने कुलदर्शन की व्याख्या की है तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अनुपाय प्रक्रिया माना है।

अन्त में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पद्धति से आचार्य, दीक्षा और त्रिविध योग का स्वरूप बताते हुए अष्टांग योग की नेत्रतन्त्र-धृत व्याख्या के साथ इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

आचार्य (गुरु)

नेत्रतन्त्र (१६.३९-७४) में बताया गया है कि गुरु को तत्त्ववित् (प्रकाशात्मक आनन्दघन परमशिव को जानने वाला) और अध्ववित् (क्रियाशक्ति के विस्तार से उत्पन्न इस षडध्वात्मक संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता) होना चाहिये। ऐसा ही गुरु शिष्य को पाशों से मुक्त करा सकता है। जो गुरु स्वयं शिवतत्त्व को जाने बिना शिष्य को दीक्षा देता है, वह अन्धपरम्परा न्याय को ही चरितार्थ करता है। शिव और शक्ति के आदेश से मन्त्रों की प्रवृत्ति होती है, अतः ये शिव के ही समान माने जाते हैं। इनका साक्षात्कार तत्त्वज्ञ गुरु ही करा सकता है। ऐसे गुरु के द्वारा उपदिष्ट निर्मल मन्त्र ही सिद्धिदायक हो सकते हैं, क्योंकि मन्त्रों के समान वह आचार्य भी शिवमय हो जाता है। अपनी क्रियाशक्ति के प्रभाव से कुण्डली शक्ति को जाग्रत् कर और अग्निकुण्ड की व्याप्ति को जानकर गुरु सर्वज्ञ बन सकता है। ऐसा षडध्वातीत परमशिव का साक्षात्कार करने वाला योगी ही मायासागर में पतित जीवों का उद्धार कर सकता है। जो स्वयं षडध्वपतित है, अर्थात् भोगवाद में फँसा

हुआ है, वह देशिक (आचार्य) भला दूसरे का उद्धार कैसे कर सकता है? षडध्वात्मक यह जगत् बन्धनभूत है, क्योंकि मायीय, आणव और कार्म नामक त्रिविध मलों से यह आवृत है। अत: षडध्वपतित गुरु पशु (अज्ञानी जीव) को इन पाशों (त्रिविध मलों) से कभी मुक्ति नहीं दिला सकता। इसके विपरीत तत्त्ववित् आचार्य साक्षात् शिव ही माना गया है।

वहीं (१६.६६) बताया गया है कि आचार्य [१]कर्मी, योगी, और ज्ञानी के भेद से तीन प्रकार का होता है। कर्म और योग के मूल में भी ज्ञान की स्थिति रहती है, अत: इनकी स्थिति ज्ञान से पृथक् नहीं मानी जा सकती। इस तरह से यहाँ ज्ञानी[२] आचार्य को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न शिव और शक्ति के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। ऐसे आचार्य द्वारा उपदिष्ट मन्त्रों में अचिन्त्य सामर्थ्य विद्यमान रहती है। उसको मन्त्रदेवता का साक्षात्कार हो जाता है, वह साक्षात् शिव हो जाता है। ज्ञान, योग और [३]क्रिया (मन्त्र) शक्ति से सम्पन्न आचार्य ही शिष्यों को दीक्षा देने का अधिकारी हो सकता है।

दीक्षा

दीक्षा का स्वरूप बताते हुए नेत्रतन्त्र (१६.७४-७५) में कहा गया है कि यह पाशों (त्रिविध मलों) का समूल नाश कर परम पद प्रदान करती है। योजनिका[४] क्रम से गुरु शिव और शक्ति के प्रभाव से शिष्य को परम पद में प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो जाता है। माया से आवृत, अत्यन्त मलिन, भोग में आसक्त, नाना प्रकार की अभिलाषाओं से घिरे हुए व्यक्ति को भी यह [५]**क्रिया** और ज्ञान से सम्पन्न दीक्षा मोक्ष प्रदान करती है। क्रिया शब्द यहाँ षडध्वपतित क्रिया का वाचक नहीं है। वास्तव में ज्ञानरूपा, अवधूती, उन्मना नामक परा शक्ति को ही यहाँ **क्रिया**[६] कहा

---

१. **कर्मी** शब्द का प्रयोग यहाँ मन्त्रवाद के ज्ञाता गुरु के लिये किया गया है।

२. क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (२२.७२) में गुरु की ज्ञानमूलकता का प्रतिपादन किया है। ज्ञानवान् गुरु की श्रेष्ठता अन्यत्र भी वर्णित है। देखिये—लुप्ता. उपो., पृ. १६३-१६४

३. क्रियाशक्ति ही मन्त्रशक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है।

४. स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थ पटल को योजनिका पटल कहा जाता है।

५. "न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया। क्रियाज्ञानविनिष्पन्न आचार्य: पशुपाशहा।।" क्षेमराज द्वारा नेत्रोद्योत (१६.७७-७८) में उद्धृत।

६. "योगो नान्य: क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मति:। स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते।।" क्षेमराज द्वारा नेत्रो. (१६.७८-८०) में उद्धृत गमशास्त्र।

गया है। योगशक्ति और ज्ञानशक्ति का निरूपण प्रायः सभी शास्त्रों में हुआ है। इनका भी भगवान् शिव की सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली इस क्रिया (मन्त्र) शक्ति में ही समावेश हो जाता है। यही शक्ति बन्ध और मोक्ष की भी कारण है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त यह सारा स्थावरजंगमात्मक जगत् शिव और शक्ति से समन्वित है। शक्तिमान् ही कार्य करने में समर्थ हो सकता है। शक्तिहीन आचार्य कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिये आचार्य को चाहिये कि वह सदा शिवज्ञान का अभ्यास करे। तभी उसके द्वारा दी गई दीक्षा सफल हो सकती है।

टीकाकार क्षेमराज ने इस प्रसंग (२२.७२) में कामिकागम के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि दीक्षा के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नपुंसक, स्त्री आदि का विचार नहीं करना चाहिये, अर्थात् दीक्षा सबको दी जा सकती है। आचार्य को चाहिये कि वह ज्ञान देते समय पात्र का विचार करे, क्योंकि शिवज्ञान ही गुरुत्व का मुख्य कारण है और गुरु **सप्तसत्री** का प्रवर्तक माना जाता है। अतः योग्य व्यक्ति को समझ-बूझ कर ज्ञान प्रदान करना चाहिये। गुरु में ज्ञान की प्रधानता का उल्लेख दीक्षोत्तरागम में भी किया गया है। इसकी चर्चा करते हुए तन्त्रालोककार (२३.२२-२३) कहते हैं कि दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिवैक्यविचार और अन्नविद्या आदि का दान—ये **सात सत्र** हैं। ज्ञानवान् गुरु ही इन कार्यों को कर सकता है, अतः यह उचित ही है कि पात्रापात्र का विचार किये बिना ज्ञान का दान न किया जाय।

त्रिविध योग

नेत्रतन्त्र के तीन अधिकारों (६-८) में स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध योग का स्वरूप बताया गया है। होम, जप, ध्यान, मुद्रा और नाना प्रकार के मन्त्र—ये सब **स्थूलयोग** अन्तर्गत आते हैं। षट्चक्र, षोडश आधार आदि के माध्यम से तथा कलाओं और नाड़ियों के उदय आदि व्यापारों के निभालन से **सूक्ष्मयोग** की सिद्धि होती है। सर्वात्मक अद्वय तत्त्व के मोक्षप्रद स्वरूप की भावना ही **परयोग** कहलाती है।

स्थूल उपायों के रूप में यहाँ (६.९-५०) विविध रक्षाकर, शान्तिकर, रोगहर, पुष्टिकर, महारक्षाकर, राजरक्षाकर जैसे तान्त्रिक प्रयोगों का वर्णन किया गया है। चक्रराज (यन्त्र) के लेखन और पूजन की विधि १७वें अधिकार में वर्णित है। १५-१९ अधिकारों में प्रधानतः स्थूल उपायों का ही वर्णन है। इन सबका समावेश मन्त्रवाद में ही किया गया है। त्रिविध योग की संक्षिप्त चर्चा २०वें अधिकार (श्लो. ९-४८) में भी आई है। यहाँ बताया गया है कि योगिनियाँ

त्रिविध योग की सहायता से पशुओं (जीवों) को भोग और मोक्ष प्रदान कर सकती हैं। स्थूलयोग की विधि को बताते हुए यहाँ (श्लो. ३८-३९) बताया गया है कि योगिनियाँ स्थूल शरीर में वर्तमान जीव के पुर्यष्टकमय सूक्ष्मदेह को प्रतिकृति (पुतला) आदि के माध्यम से, [१]**मन्त्र** और **मुद्रा** की सहायता से, **पांसव** विधि से, ध्यान और योग के बल से एवं **छुम्मक** विधि से बाहर निकाल लेती हैं। इससे बचने का उपाय बताते हुए यहाँ (श्लो. ४६-४८, ५८-६३) कहा गया है कि आचार्य को ऐसे प्राणी की रक्षा स्थूल उपायों की सहायता से करनी चाहिये। ऐसी ही विषम स्थितियों में **मन्त्रवाद** का सहारा लेने का यहाँ (२०.६३) विधान है, अन्यथा नहीं। इस प्रसंग में यहाँ का यह वचन अवधानार्ह है—

यदीच्छेदुत्तमां सिद्धिं मोक्षं वा शाश्वतं पदम् ।
मन्त्रवादो न कर्तव्य इत्याह परमेश्वरः ।।
(२०.६३)

सूक्ष्मयोग की चर्चा यहाँ कुलप्रक्रिया, तन्त्रप्रक्रिया आदि विविध रूपों में चर्चित है। अतः यहाँ केवल परयोग की प्रक्रिया बताई जा रही है।

नेत्रतन्त्र के ८वें अधिकार में परयोग का वर्णन है। [२]अष्टांग योग को ही यहाँ परयोग कहा गया है, किन्तु यह पातंजल अष्टांग योग से विलक्षण है। यहाँ संसार से विरति को **यम** और परम तत्त्व की भावना को **नियम** बताया गया है। प्राण और अपान के बीच के मध्यम मार्ग, अर्थात् उदान पथ से ऊपर उठती हुई प्राणशक्ति में और संविद्रूपा ज्ञानशक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठित कर देने का ही नाम **आसन** है। प्राण-अपान आदि स्थानों में संपन्न होने वाले रेचक, पूरक आदि स्थूल भेदों को और आन्तर मध्य धाम में संपन्न होने वाले सूक्ष्म प्राणायाम को भी छोड़ देने पर जो सूक्ष्मातीत परम संवित् की स्फुरता का अनुभव होता है, उसी स्थिति को यहाँ **प्राणायाम** कहा गया है। इसे प्राप्त कर योगी फिर कभी इससे वियुक्त नहीं होता।

शब्द, स्पर्श आदि विषयों और उसके सात्त्विक, राजस आदि स्वरूपों में मनुष्य की चित्तवृत्ति रमने लगती है। इस तरह की विकल्पात्मक वृत्तियों से चित्त को हटा कर उसको शुद्ध संवित्स्वरूप में प्रतिष्ठित करना ही यहाँ **प्रत्याहार** है। इसके अभ्यास से साधक सभी सांसारिक पाशों से मुक्त हो जाता है। बुद्धि के गुणों से ऊपर उठ कर निष्कल, अव्यय, व्यापक, स्वसंवेद्य परमशिव का स्मरण ही

---

१. मन्त्र-मुद्रा विधान, पांसवविधि और छुम्मकविधि का स्वरूप क्षेमराज के नेत्रोद्योत (२०.३८-३९) में देखिये।

२. तन्त्रशास्त्र में प्रधानतः षडंग योग विवेचित है।

ध्यान है। साधक जब अपने चैतन्य-स्वरूप में समाविष्ट हो अपनी चित्तवृत्ति को इसी शुद्ध विमर्श में स्थिर कर देता है, तो यही स्थिति **धारणा** कहलाती है। यह साधक को संसार के बन्धनों से मुक्त कर देती है।

जिस चित्त में सभी प्राणियों के प्रति समता की दृष्टि स्थिर हो जाती है, वही वास्तविक **समाधि** है। इसके बिना आँख बन्द कर बैठने से केवल पाखण्ड की ही पुष्टि होती है। इस जगत् में अपने-पराये का भेद छोड़कर अहन्ता और इदन्ता को एकाकार बना कर शुद्ध विकल्पों के माध्यम से सब कुछ शिवमय है, उसके सिवाय और कुछ भी नहीं है, ऐसी भावना करना ही यहाँ वास्तविक **समाधि** कहलाती है। स्वसंवेद्य संवित्स्वरूप जिस चित्तवृत्ति में सदा भासित होता रहता है, वही **समाधि** यहाँ सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। भुवन (विविध लोक), भाव (धर्म-अधर्म आदि), देह आदि की जड़ वर्ग में और [१]सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर एवं शिव की चेतनवर्ग में गणना होती है। इन दोनों राशियों में विद्यमान नित्य और शाश्वत (विवर्त[२] और परिणाम से रहित) चेतन तत्त्व को भलीभाँति पहचान कर अपनी चित्तवृत्ति को उन्हींमें स्थिर कर देने का नाम **समाधि** है।

अष्टांग योग के इन लक्षणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पातंजल योग से विलक्षण हैं। समाधि के यहाँ चार स्वरूप बताये गये हैं। क्षेमराज के अनुसार ये क्रमशः आणव, शाक्त, शांभव समावेश (समाधि) तथा अनुपायप्राप्य सततोदित स्थिति के बोधक हैं। इस अष्टांग योग के अभ्यास से साधक सहज रूप से परम तत्त्व में समाविष्ट हो जाता है। यह काल को भी जीत लेता है। उसको काल कवलित नहीं कर सकता। छत्तीस तत्त्वों, कालाग्नि से लेकर अनाश्रित पर्यन्त २२४ [३]भुवनों, ८१ पदों, ५० वर्णों और ईशान आदि ३८ कलाओं से अतीत, आदि-मध्य-अन्त से रहित, सारे प्रपंचों से विमुक्त परम पद को प्राप्त कर लेता है।।

❋ ❋ ❋

---

१. प्रमातृसप्तक का विवेचन पृ. २८८ पर किया गया है।

२. विवर्त और परिणाम का तन्त्रशास्त्र-संमत स्वरूप तन्त्रागमीय ज्ञानकोश प्रदर्शित है।

३. भुवन, पद आदि का विवरण सिद्धान्तशैव प्रकरण (पृ. ३८७-४२२) में देखिये। ईशान आदि की ३८ कलाओं का विशेष परिचय सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११७-१२०) में दिया गया है।

वीरशैव मत

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।
(५.१४)

सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार २८ संख्या के सिद्धान्तागमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत प्रतिपादित है। कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त २८ सिद्धान्तागमों का परिचय दिया जा चुका है। २०७ उपागमों की नामावली भी मिलती है। इनमें अनेक उत्तर-तन्त्रों के नाम उपलब्ध हैं। २८ मूल आगमों में से भी अनेक के उत्तर भाग उपलब्ध हैं और इनमें से अनेक का प्रकाशन भी हो चुका है। ये आगम-ग्रन्थ ही प्रधानतः वीरशैव धर्म और दर्शन के मुख्य आधार हैं।

जैसा कि पूर्व प्रकरण में बताया गया है शैवी साधना और शांभवी योगविद्या का संबन्ध सिन्धु घाटी की सभ्यता से जोड़ा जाता है। शैव धर्म की अन्य शाखाओं की अपेक्षा आज भी वीरशैव धर्म की उससे बहुत कुछ निकटता बनी हुई है। वीरशैव धर्म के अनुयायी आज भी उसी तरह से इष्ट-लिंग का धारण एवं अर्चन करते हैं। इतिहास-ग्रन्थों में भारशिवों की चर्चा आती है। उनके साथ भी इनका निकट का संबन्ध है। सिन्धु-सभ्यता में दाह-संस्कार का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं होता, भू-निक्षेप का ही वहाँ विधान था। यह संस्कार इसी रूप में वीरशैव मत में आज भी प्रचलित है। इस तरह के उदाहरणों से इस मत की सिन्धु-सभ्यता से निकटता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

इतना सब होते हुए भी यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि वीरशैव मत का संबन्ध श्रीकण्ठ-प्रवर्तित श्रौत पाशुपत मत से है, लकुलीश-प्रवर्तित मत से नहीं। हम कह सकते हैं कि श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत और कामिकादि वातुलान्त २८ सिद्धान्तागमों के साथ वीरशैव मत की दक्षिण-मार्गी तथा लकुलीश

पाशुपत मत के साथ कालामुख, कापालिक और कौल की वाम-मार्गी साधन-परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं।

वीरशैव धर्म-दर्शन की स्थापना शिव के पाँच श्रेष्ठ गणों के द्वारा की गई, ऐसी मान्यता है। ये पंचाचार्य कहलाते हैं। ये पाँचों आचार्य भगवान् शिव की आज्ञा से प्रत्येक युग में धर्म-स्थापना के लिये विभिन्न नामों से अवतार लेते हैं। जैसे कृतयुग में ये एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर एवं पंचाक्षर शिवाचार्य के नाम से; त्रेता में एकवक्त्र, द्विवक्त्र, त्रिवक्त्र, चतुर्वक्त्र और पंचवक्त्र शिवाचार्य के नाम से; द्वापर में रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण और विश्वकर्ण शिवाचार्य के नाम से और कलियुग में रेवणाराध्य, मरुलाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य के नाम से जाने जाते हैं। वर्तमान काल में क्रमशः कुल्यपाक के सोमेश्वर लिंग से, वटक्षेत्र के सिद्धेश्वर लिंग से, द्राक्षाराम के रामनाथ लिंग से, श्रीशैल के मल्लिकार्जुन लिंग से और काशीक्षेत्र के विश्वेश्वर लिंग से ये अवतीर्ण हुए, ऐसी मान्यता है। इन आचार्यों का विस्तृत परिचय पूर्व निर्दिष्ट बृहदितिहास के एकादश तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट "वीरशैव धर्म-दर्शन" (पृ. २६७-२७४) शीर्षक निबन्ध में विस्तार से देखा जा सकता है।

आजकल भारतीय दर्शनशास्त्र पर इतिहास-ग्रन्थों के लेखक अनेक विद्वानों का कहना है कि १२वीं शताब्दी में कर्णाटक में अत्यन्त प्रख्यात चालुक्य वंश के विज्जल नामक महाराजा के प्रधानमन्त्री बसवेश्वर के द्वारा इस धर्म की स्थापना की गई थी। उक्त निबन्ध के लेखक डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी ने डॉ. एस. सी. नन्दीमठ, दक्षिणभारत के प्रमुख इतिहासविद् श्री के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री, पाश्चात्य विद्वान् डॉ. जे. एन. फर्क्यूहर, डॉ. यदुवंशी, काशी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री रामदास गौड़, शैवागमों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जैसे विद्वानों को उद्धृत करते हुए इस स्थापना को निःसार बताया है।

वीरशैव मत का सिद्धान्तशिखामणि नामक ग्रन्थ रेणुकगीता के नाम से प्रसिद्ध है। अगस्त्य-रेणुक संवाद के रूप में इसकी रचना हुई है। सातवीं शताब्दी के शिवयोगी शिवाचार्य ने जगद्गुरु रेणुकाचार्य द्वारा अगस्त्य मुनि को मौखिक रूप से प्राप्त उपदेश के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की थी। आजकल उपलब्ध वीरशैव मत के संस्कृत साहित्य में इस ग्रन्थ को अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता है। श्री रेवणसिद्ध द्वारा आद्य शंकराचार्य को चन्द्रमौलीश्वर लिंग प्रदान करने की भी चर्चा गुरुवंशकाव्य, शिवतत्त्वरत्नाकर जैसे ग्रन्थों में मिलती है। आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् शंकराचार्य को परवर्ती काल में ले जाते हैं, किन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार उनकी स्थिति भट्ट कुमारिल के काल में मानी जाती

है। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति एवं भट्ट कुमारिल का समय प्राय: सर्वसंमति से सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में माना जाता है। हमने आचार्य शंकर का काल भी शक्तिसंगम-तन्त्र के प्रमाण से यही स्थापित किया है और हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ. तून गान्द्रियान ने भी यह माना है कि हम आजकल स्थापित शंकराचार्य के काल को एक शताब्दी पहले तक ले जा सकते हैं।

काशी का जंगमवाड़ी मठ अत्यन्त प्राचीन है। यहां के पीठाचार्य जगद्गुरु मल्लिकार्जुन शिवाचार्य को उस समय के काशी के नरेश जयनन्द-देव ने विक्रम संवत् ६३१ में प्रबोधिनी एकादशी के दिन भूमिदान किया था। इस विषय की सूचना भी उक्त निबन्ध (पृ. २७०-२७१) में सप्रमाण दी गई है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार प्रथम नीलकण्ठ शिवाचार्य शंकराचार्य के समकालीन माने जाते हैं। आद्य शंकराचार्य और नीलकण्ठ शिवाचार्य में शास्त्रार्थ हुआ था, यह बात शंकरदिग्विजय (१५.४९) से मालूम होती है। इन सब प्रमाणों के आधार पर शिवाचार्य महास्वामी जी ने ऊपर उद्धृत निबन्ध (पृ. २८२-२८४) में आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ. एस. एन. दासगुप्त के मत का भी खण्डन कर शिवयोगी शिवाचार्य का समय सातवीं शताब्दी स्थापित किया है।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि बसवेश्वर वीरशैव मत के प्रतिष्ठापक न होकर कन्नड़ भाषा के वचन-साहित्य के माध्यम से इसके संरक्षक एवं प्रचारक हैं। विपरीत परिस्थितियों में इस धर्म की रक्षा करने एवं जनभाषा के माध्यम से इसका प्रचार करने के कारण परवर्ती काल में इनको इस धर्म का प्रवर्तक ही मान लिया गया। यह केवल कर्णाटक में ही नहीं हुआ, किन्तु पूरे भारत में फैले तमिल शैव एवं वैष्णव भक्तों, सन्तों नाथों एवं सिद्धों के साहित्य के प्रति भी प्राय: इसी तरह की अवधारणाएँ प्रचलित हैं। वस्तुत: इन सबकी गंभीर परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सबका अन्त: प्रेरणास्रोत आगम-तन्त्रशास्त्र में ही छिपा हुआ है।

उक्त निबन्ध में महास्वामी जी ने [१]वीरशैव शब्द का निर्वचन, वीरशैव शब्द का धार्मिक निर्वचन, [२]लिंगायत शब्द की व्याख्या, वीरशैवों के गोत्र व उनके मूल

---

१. "वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका। तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मता:।।" (सि. शि. ५.१६)। प्रस्तुत स्थल पर (पृ. २६०-२६५) डॉ. एस. एन. दासगुप्त के मत का खण्डन कर शास्त्रों के प्रमाण से उभयविध निर्वचन निदर्शित हैं। पारमेश्वरागम के ८वें पटल के प्रारंभ में देवी **वीर** पद के अर्थ की जिज्ञासा करती है और ईश्वर इसका विस्तार से (श्लो. ७-२१) उत्तर देते हैं।

२. "लिङ्गमायतिर्यस्य स लिङ्गायत:", "लिङ्गेन सह पञ्चत्वं लिङ्गेन सह जीवनम्" (स्कन्द. केदार. ७.४२)। वहीं (पृ. २६५-२६६) देखिये। लिंगायत शब्द के माध्यम से वीरशैव मत सिन्धु-सभ्यता से जुड़ जाता है।

प्रवर्तक, धार्मिक संस्कार में स्त्री-पुरुषों का समान अधिकार, इष्टलिंग की पूजा में सूतक का निषेध जैसे वीरशैव मत के सामाजिक अवदानों पर भी सप्रमाण विचार किया है और यह भी कि वीरशैव मत के श्रीपति पण्डिताराध्य जैसे भाष्यकारों ने अपशूद्राधिकरण की व्याख्या करते समय ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यों का अनुसरण न कर दीक्षा में पूरी मानवजाति को समान अधिकार दिया है। हमने कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं वीरशैव दर्शन की इस विशेषता पर मुकुटसंहिता के प्रमाण से पर्याप्त विचार किया है। "श्वपचानपि दीक्षयेत्" यह मत इन दोनों दर्शनों में समान रूप से स्वीकृत है। इष्टलिंग की समाराधना में स्त्री-शूद्र के भेद को मिटा कर तथा सभी प्रकार के अपावित्र्य की शंका का परिहार कर वीरशैव मत ने कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की अपेक्षा एक डग आगे बढाया है।

वीरशैव साहित्य

नीलकण्ठ शिवाचार्य प्रथम का ब्रह्मसूत्रभाष्य आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु द्वितीय नीलकण्ठ शिवाचार्य ने इस भाष्य के आधार पर कारिकामय क्रियासार नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ तीन भाग में मैसूर से प्रकाशित हो चुका है। इनके अतिरिक्त श्रीपति पण्डिताराध्य का ब्रह्मसूत्र पर शक्तिविशिष्टाद्वैत भाष्य, मायिदेव का अनुभवसूत्र, नन्दिकेश्वर की लिंगधारणचन्द्रिका, स्वप्रभानन्द शिवाचार्य की शिवाद्वैतमंजरी, मरितोण्टदार्य की वीरशैवानन्दचन्द्रिका, केलदी वसवभूपाल का शिवतत्त्वरत्नाकर—इस तरह के अनेक ग्रन्थकारों और उनके अन्य ग्रन्थों का उक्त निबन्ध (पृ. २८०-२८८) में परिचय दिया गया है।

धर्मरत्न पं. शंकर शास्त्री का स्मरण किये बिना यह प्रकरण अधूरा रहेगा। ये आधुनिक काल के संस्कृत विद्वान् थे। सन् १९३० में ये उज्जयिनी पीठ से संबद्ध हुए थे। ईश, केन, मुण्डक एवं सिद्धान्तशिखोपनिषत् के साथ इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति भी लिखी थी। ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अभी काशी जंगम-वाड़ी मठ में स्थापित शैवभारती शोधप्रतिष्ठान से इन सभी का नवीन संस्करण हुआ है, या हो रहा है। इनके ग्रन्थों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन से वीरशैव दर्शन की कितनी निकटता है। आराध्य सम्प्रदाय से वीरशैव सम्प्रदाय की भिन्नता के कुछ विशिष्ट प्रमाण इनके ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन सबकी विशिष्ट परीक्षा अपेक्षित है।

वीरशैव मत से संबद्ध संस्कृत के ७५ ग्रन्थों की एक लम्बी सूची शिवाचार्य महास्वामी जी के ही एक अन्य [१]ग्रन्थ में अकारादि क्रम से कालनिर्देश के साथ दी

---

१. सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा (पृ. ३०-३३) द्रष्टव्य।

गई है। प्रस्तुत निबन्ध (पृ. २८८-२८९) में उन्होंने विभिन्न भाषाओं में निबद्ध वीरशैव साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत भाषा के अतिरिक्त कन्नड़, मराठी और तेलुगु आदि विभिन्न दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी वीरशैव साहित्य विपुल परिमाण में उपलब्ध है।

वीरशैव मत के इस संक्षिप्त परिचय के बाद धर्म एवं दर्शन का परिचय देने से पहले हम चन्द्रज्ञान आदि आगमों का तथा उनमें वर्णित शैव-भेदों का स्वरूप बताना चाहते हैं।

चन्द्रज्ञान

शांभव व्रत की व्याख्या करते समय चन्द्रज्ञानागम (१.४७-४८) में बताया गया है कि इसके लिये व्यक्ति का वेधा, मनु (मन्त्र) और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षा से सम्पन्न होना आवश्यक है। षडध्वशुद्धि भी इसके लिये अपेक्षित है। भस्म, रुद्राक्ष और इष्टलिंग का धारण एवं पंचाक्षर मन्त्र का जप इसका आवश्यक अंग है। इन सभी विषयों का प्रतिपादन हमें सिद्धान्तशिखामणि के ६-८ परिच्छेदों में विस्तार से मिलता है।

गुरु, लिंग, जंगम, तीर्थ, प्रसाद, भस्म, रुद्राक्ष और मन्त्र नामक अष्टविध आवरणों का इस आगम के क्रियापाद के २-८ पटलों में बहुत विस्तार से परिचय दिया गया है। हम कह सकते हैं कि वीरशैव धर्म-दर्शन के प्राय: सभी ग्रन्थों में अष्टावरणों का प्रतिपादन प्रधान रूप से इसी आगम की पद्धति से किया गया है। डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी के "अष्टावरण विज्ञान" नामक हिन्दी ग्रन्थ से इनका विशेष परिचय प्राप्त किया जा सकता है। भस्मधारण की उद्धूलन, अवगुण्ठन और त्रिपुण्ड्र नामक तीन विधियाँ यहाँ (६.४०) प्रदर्शित हैं। ये विधियाँ प्राय: सभी शैवागमों और पुराणों में भी वर्णित हैं। त्रिपुण्ड्र-धारण के बत्तीस, सोलह, आठ अथवा पाँच स्थानों का उल्लेख यहां (६.४३-५६) किया गया है, भस्मधारण की यही प्रक्रिया शिवमहापुराण की प्रथम विद्येश्वर संहिता में भी आनुपूर्वी से मिलती है। सिद्धान्तशिखामणि (७.१-४४) में भी इसी विधि का अनुसरण किया गया है। यही बात रुद्राक्ष-धारण के विषय में भी कही जा सकती है। यह विषय यहाँ क्रियापाद के सातवें पटल में, शिवमहापुराण की विद्येश्वर संहिता में तथा सिद्धान्तशिखामणि (७.४५-४७) में भी संक्षेप अथवा विस्तार से उपलब्ध है। षडक्षर अथवा पंचाक्षर महामन्त्र का स्वरूप एवं जपविधि आदि का भी विधान सिद्धान्तशिखामणि (८.१-४९) में इसी आगम के क्रियापाद के आठवें पटल का अनुसरण करता है।

उक्त आगमों में पंचयज्ञ की दो प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं। पहली मनुस्मृति (३.७०-७२) का अनुसरण करती है। इसके अनुसार ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्ध), देवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (बलि-वैश्वदेव) और नृयज्ञ (अतिथि सत्कार) का पंचयज्ञ में समावेश है। कारणागम (३.६८-७०) में इसीका अनुसरण किया गया है। दूसरे प्रकार की पंचयज्ञ-विधि शिवपुराण की वायवीय संहिता (२.१०, ४८-५४) का अनुसरण करती है। वहाँ तप, कर्म, जप, ध्यान, और ज्ञान का पंचयज्ञ में समावेश है। इनको वहाँ पाशुपत व्रत कहा गया है। सूक्ष्मागम (६.२६-३५) और पारमेश्वरागम (१२.१३-१९; १७.८०-८२) में भी इन्हीं का समावेश है। वायवीयसंहिता और पारमेश्वरागम के पंचयज्ञ-प्रतिपादक कुछ वचन आनुपूर्वी से सिद्धान्तशिखामणि (९.२१-२४) में मिलते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बाह्य पूजा की अपेक्षा यहाँ अन्तर्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है। देवीकालोत्तर नामक शैवागम में प्रधानत: अन्तर्याग का ही स्वरूप वर्णित है। आगम-तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है कि अन्तर्याग द्वारा अन्त:करण की शुद्धि हो जाने पर ही बाह्य याग (पूजा) करना चाहिये। प्राणलिंग और भावलिंग की उपासना तो इसी पद्धति से की जाती है। शक्तिसंगमतन्त्र (४.११.७४-७९) में भी अन्त:पूजा पर विशेष जोर दिया गया है। इसीलिये "देवो भूत्वा देवं यजेत्" का सिद्धान्त यहाँ मान्य है और इसके लिये भूतशुद्धि एवं प्राणप्रतिष्ठा का विधान किया गया है। चन्द्रज्ञानागम (१.११.२७-३१) में **विद्यामय**[1] **देह** के प्रसंग में यही पद्धति निरूपित है।

चन्द्रज्ञानागम के चर्यापाद (४.२२-२६) के षोडशविध आराधन के प्रसंग में पंचाशद् रुद्राराधन का भी क्रम वर्णित है। इन पचास रुद्रों की नामावली मकुटागम के चर्यापाद (६.१४-२०) में भी मिलती है। वहीं आचार आदि षड्विध लिंग, भक्त आदि षड्विध स्थल और मूलाधार आदि षट्चक्रों में इन पचास रुद्रों के आराधन की पद्धति बताई गई है (६.१२-१३)। पचास रुद्रों की नामावली प्रपंचसार (३.३९-४४) के पचास रुद्रों (वर्ण-देवताओं) की नामावली से बहुत-कुछ मिलती है। हमें यहाँ स्मरण रखना है कि आगम-तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों के वर्णों के उद्धार के लिये प्रपंचसार की यह नामावली ही प्रधानतया पचास वर्णों का प्रतिनिधित्व करती है।

इन आगमों में **अत्याश्रम** अथवा **अत्याश्रमी** शब्द का प्रयोग प्राय: मिलता है। "अतिक्रान्त आश्रमान् तद्विहितधर्मान्" शब्दकल्पद्रुम में दी गई इस व्युत्पत्ति से चार

---

१. विद्यामय देह की चर्चा बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ गुह्यसिद्धि (७.४९-५७) में भी भिन्न पद्धति से मिलती है। सिद्धान्तशैवागमों में इसके लिये सकलीकरण प्रक्रिया वर्णित है।

आश्रमों से भिन्न पाँचवें आश्रम का आभास होने लगता है। कूर्मपुराण में अनेक स्थलों पर यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है चार आश्रमों की व्यवस्था से जो ऊपर उठ गया है। चन्द्रज्ञानागम (१.१०.४२-४४) में स्वतन्त्र और वैदिक निराभारी वीरशैव वर्णित हैं। इनमें से स्वतन्त्र निराभारी को हम **अत्याश्रमी** कह सकते हैं। कामिकागम में लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक के भेद से शास्त्रों के पाँच विभाग बताये गये हैं। कुछ विद्वान् पाशुपतों की आतिमार्गिक विभाग में गणना करते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना है कि शिवपुराण की वायवीयसंहिता (१.३२.११) में श्रौत एवं स्वतन्त्र के भेद से द्विविध शिवागम चर्चित हैं। चन्द्रज्ञानागम (१.१०.३०-३१) में निराभारी वीरशैव के श्रौत और स्वतन्त्र नामक दो भेद बताये गये हैं। इनके लक्षणों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आतिमार्गिक विभाग में स्वतन्त्र पाशुपतों की ही गणना की जा सकती है, श्रौत पाशुपतों की नहीं। **अत्याश्रम** और **अतिमार्ग** शब्द प्राय: एक ही अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। अत: स्वतन्त्र पाशुपत मत के अनुयायी योगियों के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, ऐसा हम मान सकते हैं। कारणागम के "अत्याश्रमं पाशुपतं शाम्भवं तच्छिरोव्रतम्" (क्रि. १.९) इस वचन का भी यही अभिप्राय है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद भारत का प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त है। इसके साथ ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, भास्कर जैसे महान् दार्शनिकों का नाम जुड़ा हुआ है। चन्द्रज्ञानागम के क्रियापाद के अन्तिम १२वें पटल में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पारमेश्वरागम (२०.९२) से भी इसकी पुष्टि होती है। सिद्धान्त-शिखामणिकार ने इसको इसी रूप में मान्यता दी है। टीकाकार ने इसके समर्थन में दो[1] श्लोक दिये हैं (५.२१)। सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा (पृ. ३०५-३१०) और "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" (पृ.२८३-२८७) में इस सिद्धान्त का विस्तार से परिचय दिया गया है। देवीकालोत्तरागम में ज्ञान और आचार का एक भिन्न ही प्रकार का स्वरूप प्रदर्शित है।

सूक्ष्मागम

सूक्ष्मागम (१०.४) में भगवान् शिव के तत्त्वमय एवं तत्त्वातीत स्वरूप का उल्लेख है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के ८वें सूत्र की व्याख्या करते समय क्षेमराज कहते हैं—"विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिका:, विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टा:, विश्वोतीर्णं

१. "ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु चिद्विहीनम्। तस्माद् द्वयोरेव भवेत् प्रसिद्धिर्न ह्येकपक्षो विहग: प्रयाति।।", "न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया। अपश्यन्नन्धको दग्ध: पश्यन् पङ्गुश्च दह्यते।।" (पृ. ७१)

विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः"। अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि ने तान्त्रिक शब्द का प्रयोग सिद्धान्त, वाम, दक्ष, भूत और गारुड़ नामक पंचप्रवाह शास्त्र के अनुयायियों के लिये किया है। प्रधानतः द्वैतवादी सिद्धान्तशैव पंचकृत्यकारी, पंचमन्त्रतनु भगवान् शिव को विश्वोत्तीर्ण, विश्व के ऊपर मानते हैं। कुल, कौल और मत दर्शन के अनुयायी स्वात्मदेवतावाद के पोषक हैं। अतः इनकी दृष्टि में परतत्त्व विश्वमय है। त्रिक, क्रम और वीरशैव मत के अनुसार तत्त्वातीत परमशिव अथवा भगवती संवित् विश्वोत्तीर्ण हैं। ये ही जब विश्व के रूप में भासित होते हैं तब विश्वमय बन जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त तत्त्वातीत और तत्त्वमय शब्द भगवान् शिव की इसी विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय स्थिति के सूचक हैं।

सूक्ष्मागम (१०.२२) में शिवलीलाओं के प्रसंग में हंसरूपी ब्रह्मा और वराह-रूपधारी विष्णु की लिंगतत्त्व के आदि और अन्त की जानकारी के लिये की गई यात्रा का भी उल्लेख है। इस कथा की चर्चा शिवपुराण की प्रथम विद्येश्वरसंहिता (७.१६-१७) में मिलती है। शैव पुराणों में, विशेष कर लिंगपुराण में यह कथा विस्तार से वर्णित है।

यहाँ देह को देवालय और जीव को सदाशिव-स्वरूप बताया गया है—"देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः" (८.२७)। आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में और सिद्धों एवं नाथों के साहित्य में भी देह को देवालय माना गया है। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त का कहना है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन लकुलीश पाशुपत मत के आद्य वक्ता महामुनि लकुलीश ने किया था—"सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रा. १५.६०४)। "शिवो भूत्वा यजेत् शिवम्" अथवा "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस सिद्धान्त की प्रवृत्ति के मूल में भी यही भावना काम करती है। शिवभाव अथवा देवभाव की यह प्रक्रिया कैसे सम्पादित की जाती है, इसका विशेष विवरण हमने "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस शीर्षक से आगे दिया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी न्यूयार्क से सन् १९९२ में प्रकाशित "रिचुअल एण्ड स्पेक्युलेशन इन अर्ली तान्त्रिज्म" (पृ. १२१-१३८) नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है।

चन्द्रज्ञानागम के समान सूक्ष्मागम में भी तृतीय एवं चतुर्थ पटल में मन्त्रों का स्वरूप बताते हुए षडक्षर मन्त्र के प्रत्येक वर्ण के ऋषि, देवता, छन्द, स्वर, वर्ण, मुख आदि का विस्तार से निरूपण किया गया है। विविध न्यासों एवं मुद्राओं के साथ साकल्य आदि पांच प्रणवों का भी स्वरूप यहाँ वर्णित है। नेत्रतन्त्र (६.३-५) में प्रणव की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं। गणेशसहस्रनाम के १३८ वें श्लोक के भाष्य में भास्करराय ने भी पाँच प्रणवों का स्वरूप प्रकारान्तर से बताया है। त्रिविध

जप, पुरश्चरण, षडक्षर मन्त्र की षट्तत्त्वरूपता, षट्स्थलरूपता, षड्लिंगरूपता आदि अनेक विषय सूक्ष्मागम में प्रतिपादित हैं। सिद्धान्तशिखामणि के अध्येता के लिये इन स्थलों का अन्वेषण अत्यन्त अपेक्षित है।

यहाँ पंचम पटल में गुरुतत्त्व की एवं पति-पशु-पाश नामक तीन तत्त्वों की संक्षिप्त समीक्षा कर भस्म और रुद्राक्ष के धारण करने की पद्धति का भी निरूपण किया गया है। छठे पटल में लिंग-तत्त्व का निरूपण मिलता है। कूर्मपुराण के उत्तर विभाग में स्थित ईश्वरगीता के १०वें अध्याय में प्रदर्शित लिंग-तत्त्व के स्वरूप से इसकी अतीव समानता दिखाई पड़ती है। कूर्मपुराण के पूर्व विभाग के ३५वें अध्याय का नाम ही लिंगाध्याय है। जैसा कि चन्द्रज्ञानागम के प्रसंग में बताया गया, सूक्ष्मागम की पद्धति से भी सिद्धान्तशिखामणि में अनेक विषय आनुपूर्वी से अथवा उनके भावों को ग्रहण कर वर्णित हैं। इस प्रसंग में सिद्धान्तशिखामणि के ६.२६-२७; ९.३६,५७; आदि स्थलों को विशेष रूप से देखा जा सकता है।

मकुटागम

शिवदीक्षा ग्रहण, भस्म-रुद्राक्ष धारण, षडक्षर अथवा पंचाक्षर मन्त्रजप, इष्टलिंग पूजन आदि समस्त कार्यकलाप का **शांभव व्रत** में समावेश माना जाता है। चन्द्रज्ञानागम (क्रि. १.४७-४९) में इसकी स्पष्ट परिभाषा दी गई है। मकुटागम (क्रि. १.१४) में इसको महागुह्य **शिरोव्रत** कहा गया है। गुरु की कृपा से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरगत कार्म, मायीय और आणव मल का क्षय कर देने वाली वेधा, मनु और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षा से सम्पन्न व्यक्ति कर्मसाम्य की स्थिति में पहुँच कर पुनः जन्मग्रहण नहीं करता। इस प्रकार यहाँ मोक्ष और शांभव व्रत का साध्यसाधनभाव संबन्ध बताया गया है। यहाँ समालोच्य सभी आगम इससे सहमत हैं। स्पष्ट है कि भगवद्गीता के समान यहाँ भी निष्काम कर्मयोग की मोक्षसाधनता मान्य है। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि कर्मसाम्य को ही शक्तिपात का, ईश्वर के अनुग्रह का मूल कारण माना गया है।

मकुटागम के प्रथम पटल में शांभव व्रत की महिमा को बता कर द्वितीय पटल में शिवभक्तों के द्वारा अनुष्ठेय दिनचर्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.२०) में बताया गया है कि शिव को बिना जाने कोई भी दुःख के पार नहीं पहुँच सकता। उसी पद्धति से मकुटागम (क्रि. १.१५) में भी कहा गया है शांभव व्रत का पालन किये बिना दुःख का अन्त नहीं होगा। चन्द्रज्ञानागम क्रियापाद के ११वें पटल में, कारणागम के तृतीय पटल में तथा

शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता में इसका विस्तार देखा जा सकता है। इसी तरह से इनमें वर्णित भस्म-त्रिपुण्ड्र-रुद्राक्ष धारण की विधियाँ भी सिद्धान्तशिखामणि (७.५४-५८) में देखी जा सकती हैं। शिवपुराण की विद्येश्वरसंहिता के २५वें अध्याय में यह विषय अधिक विस्तार से वर्णित है।

यहाँ (क्रि. २.८) आत्म, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों की चर्चा आई है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय में इनका लक्षण बताया गया है—"मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्। शक्तिशिवौ शिवतत्त्वम्" (१.४९)। भाषानुवाद के साथ प्रकाशित सिद्धान्तसारावलि में तथा नेत्रतन्त्र (मृत्युंजय भट्टारक) में भी ये तीन तत्त्व इसी रूप में वर्णित हैं।

यहाँ क्रियापाद के पंचम पटल में आवाहन, संस्थापन, संनिधान, संनिरोधन, अवगुण्ठन, सकलीकरण और अमृतीकरण की प्रक्रिया को समझाया गया है। सिद्धान्तसारावलि में यह विषय अधिक विस्तार से देखा जा सकता है। इनमें से सकलीकरण की प्रक्रिया का विशद स्वरूप सोमशम्भुपद्धति (कर्मकाण्डक्रमावली) के पांडिचेरी-संस्करण के प्रथम भाग के प्रथम परिशिष्ट में दिया गया है। विभिन्न मन्त्रों के द्वारा साधक का अपनी देह को विद्यामय[1] बना लेना ही सकलीकरणविधि का मुख्य उद्देश्य है। इसका संक्षिप्ततम स्वरूप इस श्लोक में प्रदर्शित है—

हृदयादिकरान्तेषु कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु च।
हृदादिमन्त्रविन्यासः सकलीकरणं मतम्॥
(श्लो. १४५)

यहीं (क्रि. ५.९) स्थण्डिल शब्द का प्रयोग मिलता है। अमरकोश (२.७.१८) में यज्ञ के निमित्त परिष्कृत की गई भूमि के लिये स्थण्डिल और चत्वर शब्द प्रयुक्त हैं। [2]**चत्वर** चबूतरे को कहते हैं। "सती भाई का चौरा" यह चौरा शब्द चत्वर के अर्थ में ही प्रयुक्त है। इस तरह से यज्ञ-याग आदि के लिये परिष्कृत की गई भूमि ही स्थण्डिल कहलाती है। अभिनवगुप्त ने बाह्य पूजा के प्रसंग में मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा और मूर्ति—इन ११ स्थानों का विधान बताया है (तन्त्रा. ६.२-४)। यहाँ टीकाकार जयरथ ने स्थण्डिल का अर्थ याग के लिये परिष्कृत भूप्रदेश, तूर का अर्थ पात्र आदि में

१. ४९४ पृष्ठ की टिप्पणी देखिये। सिद्धान्तशैवों के लिये सकलीकरण की पद्धति ही इसके लिये वरेण्य है।

२. जया च विजया चैव अजिता चापराजिता।
चतुःशक्तिसमोपेतं चत्वरं मातृकोद्भवम्॥ (कौलज्ञाननिर्णय, १२०.१८)

उत्कीर्ण आधारविशेष, पुस्त का अर्थ लेप आदि से बनाई गई आकृति और मूर्ति का अर्थ गुरु आदि की आकृति से किया है। स्पष्ट है कि प्रतिमा शब्द से यहाँ देवमूर्ति और मूर्ति शब्द से गुरु की प्रतिकृति का ग्रहण किया गया है। इन स्थानों में अपने इष्टदेव का अर्चन ही याग है। यज्ञ शब्द होम (हवन) का वाचक है। यहाँ प्रधानतया अग्नि में आहुति दी जाती है।

भगवान् शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है। मृगेन्द्रागम विद्यापाद (३.८-१३) और मतंगपारमेश्वर विद्यापाद (४.१४-१५) में पंचवक्त्र शिव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। यह उनका मन्त्रमय शरीर है। मकुटागम (क्रि. ५.१३-१४) के अनुसार यह शिव का लिंगमय स्वरूप है। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान को यहाँ क्रमशः आचार, गुरु, शिव, चर और प्रसाद लिंगों का प्रतिनिधि माना गया है। कालचक्र नामक प्रसिद्ध बौद्ध तन्त्र के टीकाकार आचार्य पुण्डरीक इनको क्रमशः वैरोचन, अमिताभ, रत्नसंभव, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य स्वरूप मानते हैं। उनकी उक्ति इस प्रकार है—"पञ्चवक्त्राणि पञ्चब्रह्मलक्षणानि। ....अत्र सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः" (४.७०, पृ. १८६)। स्पष्ट है कि भगवान् शिव के पाँच मन्त्र पंचब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वीरशैव सम्प्रदाय में गुरु, लिंग और जंगम का प्रसाद ग्राह्य माना गया है। किन्तु वहाँ भी चण्डेश के भाग को अग्राह्य कहा गया है। मकुटागम (क्रि. ५.२१) में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। चण्डेश का स्वरूप और उसकी पूजा का विधान सोमशम्भुपद्धति (पृ. ३२-३४) में वर्णित है। वहाँ बताया गया है कि चण्डेश के निर्माल्य को हटा कर उस स्थान को गोबर से लीप देना चाहिये। सिद्धान्त-सारावलि में चण्डेश के लिये पृथक् मण्डल का विधान है।

मकुटागम (च. १.२) में भगवान् शिव को पंचपंचमुख कहा गया है। शैव शास्त्रों में भारतीय वाङ्मय को लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच विभागों में विभक्त कर पुनः प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद किये गये हैं। इस तरह इनकी संख्या पचीस हो जाती है। यहाँ प्रदर्शित शिव के पचीस मुखों से ये शास्त्र निःसृत हुए, ऐसी कल्पना की जा सकती है। इस तरह का ध्यान शास्त्रों में अन्वेषणीय है। इसी प्रतिष्ठान से प्रकाशित सिद्धान्तप्रकाशिका नामक ग्रन्थ में और उसकी प्रस्तावना में इन शास्त्रों का विशद परिचय दिया गया है।

यहीं (च. ७.११) अड़तीस कलाओं का उल्लेख मिलता है। शिव के पाँच मुखों (मन्त्रों) से समुद्भूत ३८ कलाओं का निरूपण प्रायः सभी शैव तन्त्रों में

मिलता है। लिंगधारणचन्द्रिका (पृ. २७१-१७७), वीरशैवदीक्षाविधि (पृ. ८३-८४), नेत्रतन्त्र (२२.२६-३४), स्वच्छन्दतन्त्र (१.५३-५९) आदि ग्रन्थों को देखिये। साधक के शरीर के विभिन्न अंगों में इनके न्यास के प्रकार सिद्धान्त-सारावलि (पृ. ११७-१२०) में प्रदर्शित हैं।

उत्क्रान्ति (मृत्यु) के सूचक निमित्तों की चर्चा भी यहाँ (च.२.५) मिलती है। मृत्युसूचक स्वप्नों तथा अन्य निमित्तों का वर्णन शिवपुराण की पाँचवीं उमासंहिता के २५-२८ अध्यायों में है। यहाँ इस प्रसंग में कालवंचन, छायापुरुष-लक्षण जैसे विषय चर्चित हैं। दीक्षा आदि के प्रकरणों में भी यह प्रसंग आया है, क्योंकि शिष्य के स्वप्न के अनुसार ही वहाँ दीक्षा का विधान किया गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं, पुराणों और योगशास्त्र के ग्रन्थों में भी यह विषय देखा जा सकता है। स्कन्दपुराण की सूतसंहिता (४.१.४६ अ.) और धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी संस्करण, तृतीय भाग) भी देखिये।

कारणागम

इस आगम का सिद्धान्तशिखामणि पर कुछ अधिक ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इस संस्करण की टिप्पणियों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। "तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः। दीक्षात्रयेण संदह्य लिङ्गत्रयमुपादिशेत्।।" (१.१०) कारणागम के इस वचन में तथा—"जीवितं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम्। निरस्यते गुरोर्बोधाज्ज्ञानशक्तिः प्रकाशते।।" (१८.१७) इस सिद्धान्तशिखामणि के वचन में वीरशैव धर्म-दर्शन का सार संगृहीत है। हम कह सकते हैं कि सिद्धान्त-शिखामणि का मूल ढाँचा इन्हीं वचनों पर आधृत है। वेधा, मान्त्री और क्रिया दीक्षा के सात-सात भेदों का, अर्थात् दीक्षा के २१ भेदों का निरूपण [१]कारणागम के प्रथम पटल में अतिविस्तार से हुआ है। "कुण्डमण्डलिकोपेता क्रियादीक्षा" (६.१५) सिद्धान्तशिखामणि के इस वचन में कुण्ड और मण्डल की चर्चा है। अब तक प्रकाशित वीरशैव आगमों में से केवल इसी आगम में पद्म,भद्र और तत्त्व नामक मंडलों का स्वरूप निरूपित है (४.१७-२६)। कुण्डों और मण्डलों की चर्चा सिद्धान्तसारावलि में अधिक विस्तार से मिलती है। पंचयज्ञों का विधान यहाँ (३.६८-७०) मनुस्मृति (३.७०-७२) की पद्धति से किया गया है, यह पहले

---

१. कारणागम में वर्णित २१ प्रकार की दीक्षाओं के साथ वीरशैव मत-संमत अभिषेक, पूजा (बाह्य एवं आन्तर), प्राणायाम, मन्त्र और न्यास, शिवयोगसाधना, एक ही जन्म में मुक्ति—जैसे विषयों का विवरण "भारतीय तन्त्रशास्त्र" में मुद्रित "वीरशैवों के दीक्षादि विधि-विधान" (पृ. ३५६-३६९) शीर्षक निबन्ध में देखिये। प्रस्तुत विषय पर हुआ विद्वानों का विचार-विनियम भी वहीं (पृ. ३६९-३८०) देखा जा सकता है।

बताया जा चुका है। लिंगपूजा में नारी का भी अधिकार है, इस विषय की यहाँ (२.४४-७७) बहुत विस्तार से चर्चा है। सिद्धान्तशिखामणि (९.४४-४५) के वचन इसीका अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार भस्म-रुद्राक्ष धारण आदि के विधान तथा षड्विध लिंग आदि विषयों के प्रसंग में भी कहा जा सकता है। अवसरा पूजा के क्रम में यहाँ लघ्वी और महती पूजा का विधान ६-७ पटलों में जो मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पारमेश्वरागम

इस आगम के प्रथम पटल में विभिन्न मतवादों का और शैवों के भेदोपभेदों का अति विस्तार से वर्णन है। चन्द्रज्ञानागम (१.१०.४-३४) और सूक्ष्मागम (७.४.२८) के वर्णन से इनकी तुलना की जा सकती है। सप्तविध गाणपत्य मत, षड्विध दर्शन और षण्मत का परिचय भी यहाँ की प्रस्तावना की पृ. ७ की टिप्पणियों में दे दिया गया है। इस आगम के अनेक श्लोक भगवद्गीता से मिलते-जुलते हैं। शिवागम सौरभ (कन्नड़ ग्रन्थ) के अनुबन्ध (पृ. ५७-६७) में तथा लिंगधारणचन्द्रिका के अति विस्तृत अंग्रेजी उपोद्घात (पृ. २४६-२५५) में इन वचनों की तुलनात्मक समीक्षा की गई है। इसी तरह यहाँ (८.४६) वर्णित लिंग, आत्मा और गुरु की एकता की भावनाविधि की योगिनीहृदय में निगर्भार्थ (२.४२) और कौलिकार्थ (२.५१-५२) के निरूपण के प्रसंग में विशद प्रक्रिया देखी जा सकती है। "अद्वेष्टारोऽधिके स्वस्मात् स्वसमेष्वनसूयवः। अतिरस्कारिणो न्यूने वीरास्ते शिवयोगिनः।।" (८.१९) इस श्लोक की तुलना हम मातृचेट के इस श्लोक से कर सकते हैं—"अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च। अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः"।। "स्मरणं कीर्तनम्" (८.१५.१६) इत्यादि यहाँ के श्लोक दक्षस्मृति (७.३१-३२) में इसी रूप में मिलते हैं। यहाँ के "अजागरूकश्चास्वप्नो वीरशैवः स उच्यते" (८.८०) इस श्लोक की तुलना विज्ञानभैरव की टीका (श्लो. ७४) में उद्धृत "निद्रादौ जागरस्यान्ते" इत्यादि श्लोक से की जा सकती है।

शिवभक्तेषु वात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् ।
स्वयमभ्यर्चनं चैव तदर्थं चाङ्गचेष्टनम् ।।
तत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया ।
शिवानुस्मरणं नित्यं सर्वथा तदकैतवम् ।।
एतदष्टगुणं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि दृश्यते ।

स शिवेन्द्रो यतिः श्रीमान् स शुचिः स च पण्डितः।।

ये श्लोक यहाँ दो स्थानों पर (१२.२६-२८) एवं १७.८३-८५) मिलते हैं। यहाँ म्लेच्छ को भी शिवयोगी और यति के तुल्य माना है।

स्त्रियस्तु लिङ्गधारिण्यः पुरुषा विष्णुसेवकाः ।।
पुरुषा लिङ्गिनः केचिद् वैष्णव्यस्तु स्त्रियस्तथा ।
तयोरहं गतिश्चैव मत्प्रीतिरुभयोः समा ।।
(१७.२०-२१)

इस तरह के उदार विचार भी यहाँ पढ़ने को मिलते हैं, जो आगम-तन्त्रशास्त्र की अपनी विशेषता है। "त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः" किरणागम और योगवासिष्ठ में भी प्रकारान्तर से उपलब्ध यह वचन यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ. २६२, ३३९, ३४१, ३४४, ३५६, ३८७) मिलता है।

इस आगम की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ (१९.२; २१-१७) श्रीमद्भागवत (११.१९.१४; २१.१) की पद्धति से २८ तत्त्वों को मान्यता दी गई है। इन तत्त्वों का विशेष विवरण हमारे "तन्त्रयात्रा" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "कति तत्त्वानि" (पृ. ३-१३) शीर्षक निबन्ध में देखा जा सकता है। इसी ग्रन्थ के पृ. ३७७ पर प्रकाशित एक प्राचीन टिप्पणी में अष्टांग और पंचांग प्रणाम का लक्षण दिया गया है। निगमागम शास्त्र के महान् विद्वान् श्रीमान् अप्पय दीक्षित ने शिवार्चनचन्द्रिका के प्रणामविधि प्रकरण (पृ. १००-१०१) में चतुर्विध (अष्टांग, पंचांग, त्र्यंग और एकांग) प्रणाम का निरूपण किया है।

"त्रिपदार्थं चतुष्पादम्" (२.१०.३०-३२) इत्यादि शिवपुराण की वायवीय-संहिता के श्लोकों में प्रतिपादित विषय यहाँ (१२.४६-५०) आनुपूर्वी से देखे जा सकते हैं। इसी तरह यहाँ "ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च" (१२.६०) इत्यादि वचनों में प्रतिपादित विषय भी चन्द्रज्ञानागम (१.१.१०-१३), कूर्मपुराण उत्तर विभाग (१-११अ.) में स्थित ईश्वरगीता के ६-७ अध्यायों में विस्तार से देखा जा सकता है। ब्रह्मभावना (१२.९६) आदि का प्रकार भी कूर्म (१.१.८०), गरुड़ (१.४९.१८-१९), विष्णु (६.७.४८-५१) आदि पुराणों में त्रिविध भावना के प्रसंग में देखा जा सकता है। शिवभावना को ही वहाँ ब्रह्मभावना कहा गया है। इसी तरह से "यत्र यत्र मनो याति" (१६.२९) इस वचन में वर्णित सर्वत्र शिवभावना का प्रकार विज्ञानभैरव (श्लो. ७३,११३) और स्वच्छन्दतन्त्र (४.३१३) में भी मिलता है।

अष्टादश विद्यास्थानों की गणना वेदान्तसूत्र के श्रीकण्ठभाष्य (१.१.३) में भी की गई है। यहाँ (११.२२) इन सबका षडक्षर मन्त्ररूपी सूत्र के भाष्य के रूप में

वर्णन किया गया है। "अकारो वै सर्वा वाक्" जैसे वेदवचनों का भी यही अभिप्राय है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ वसन्ततिलक (९.४-८) और उसकी टीका में भी इस सिद्धान्त को पूरी मान्यता दी गई है। इसी तरह से यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ.१०१,३४८,३५७) षडूर्मियों अथवा अरिषड्वर्गों की चर्चा है। प्रपंचसार आदि ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख मिलता है। न्यायदर्शन (४.१.३-६) में दोषों के अन्तर्गत इनकी चर्चा है। इनमें से मोह को यहाँ 'पापीयान्' बताया गया है। पारमेश्वरागम (पृ. ३५७) में उद्धृत टिप्पणी में इनका प्राण, मन और शरीर के दोषों के रूप में परिचय दिया गया है।

पंचसूत्र लिंग, प्रासाद पंचाक्षरी, पंचानुवाक, रुद्राध्याय, रुद्रैकादशिनी, अष्टबन्ध, तुटि, ध्यान जैसे यहाँ प्रयुक्त विशेष पदों का अर्थ इस आगम के नूतन संस्करण में प्रदत्त टिप्पणियों में स्पष्ट कर दिया गया है। त्रिविध स्थण्डिल, पंचविध कुण्ड, इध्म, परिधि, सप्तविध स्नान जैसे लौकिक-वैदिक विषय भी इस आगम में विस्तार से वर्णित हैं और टिप्पणियों में उनको विशेष रूप से सप्रमाण समझाया गया है।

शैव भेदोपभेद

काशी के जंगमवाड़ी मठ में स्थित शैवभारती शोधप्रतिष्ठान से वीरशैव मत में प्रतिष्ठाप्राप्त पांच शिवागमों का अभी प्रकाशन हुआ है। उनमें अनादिशैव, आदिशैव, पूर्वशैव, मिश्रशैव, शुद्धशैव, मार्गशैव, सामान्यशैव और वीरशैव नामक आठ शैव मतों का परिचय मिलता है। वीरशैवों के भी सामान्य, विशेष और निराभारी नामक तीन भेद वहाँ वर्णित हैं (चन्द्र. क्रिया. १०.४-४९ और सूक्ष्मा. (७.४-४७)।

पारमेश्वरागम के प्रथम पटल में सौगत, वैदिक, सौर और वैष्णव नामक चार मुख्य मतवादों के पाँच-पाँच भेद वर्णित हैं। सौगत मत के पाँच भेदों में बौद्ध, सौगत, चार्वाक, जैन और आर्हत मतों का समावेश है। वैदिक मत का कोई भेद यहाँ प्रदर्शित नहीं है। सौर मत के वैकर्तन, आदित्य, पौष्ण, मार्तण्ड और सौर

---

१. चन्द्रज्ञानागम (१.१०.४-३४) में अष्टविध शैवों का निरूपण है। सूक्ष्मागम (७.४-२८) में पहले सप्तविध शैवों का परिचय देकर आठवें भेद वीरशैव का और उसके भेदोपभेदों का विवरण अलग से दिया गया है। प्रस्तुत आगम में सात ही भेद वर्णित हैं। उनके नाम अनादिशैव, आदिशैव, महाशैव, अनुशैव, अवान्तरशैव, योगशैव और वीरशैव हैं। यहाँ नामों की भिन्नता स्पष्ट है।

२. मृगेन्द्रागम चर्यापाद (१.३६-४१) में वर्णित शैव, मान्त्रेश्वर, गाणपत्य, दिव्य, आर्ष, गौह्यक, योगिनीकौल और सिद्धकौल नामक आठ अनुस्रोतों की चर्चा पहले (पृ. ३०) की जा चुकी है।

नामक पाँच भेद तथा वैष्णव मत के गोपाल, नारसिंह, राम, कृष्ण और नारायण नामक पाँच भेद प्रदर्शित हैं। आगे सप्तविध शैवमत[१], सप्तविध गाणपत्यमत[२] और षड्विध [१]दर्शनों के भी नाम दिये गये हैं। तब शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल नामक [२]चतुर्विध शैवों का नामोल्लेख कर ऊपर प्रदर्शित शैवों के सात भेदों का पुनः परिगणन किया है[३]। वैष्णव, शाक्त आदि भेदों का भी उल्लेख कर यहाँ बताया गया है कि अपने इष्टदेव की उपासना अपने मत में प्रदर्शित पद्धति से ही करनी चाहिये। परस्पर एक दूसरे की विधि को मिलाना नहीं चाहिये। वराहमिहिर के—"यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया" (बृ. सं ५९.१९) इस वचन का भी यही अभिप्राय है।

आदिशैवों के प्रसंग में कौशिक आदि ऋषियों की इस मत के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में चर्चा मिलती है। सिद्धान्तसारावलि की टीका (क्रिया. श्लो. ८९-९०) से पता चलता है कि यह आदिशैव मत सिद्धान्तशैव से अभिन्न है। यहाँ द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के आमर्दक मठ का भी उल्लेख है, जिसकी चर्चा द्वैतवादी सिद्धान्तशैव प्रकरण में आ चुकी है। सिद्धान्तशिखामणि (५.९-१४) में शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल मतों के साथ वाम, दक्षिण, मिश्र और सिद्धान्त नामक मतों का परिगणन कर बताया गया है कि वाम तन्त्रों में शक्ति की, दक्षिण तन्त्रों में भैरव की, मिश्र तन्त्रों में ब्राह्मी आदि सप्त मातृकाओं की उपासना निर्दिष्ट है। सिद्धान्तशास्त्र को यहाँ वेदों के समकक्ष मान्यता दी गई है और कहा गया है कि सिद्धान्तशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध कामिक आदि २८ शैव आगमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत उपदिष्ट है।

वीरशैव दर्शन

यह दर्शन विशेषाद्वैत, शिवाद्वैत और शक्तिविशिष्टाद्वैत जैसे नामों से जाना जाता है। इन नामों की व्युत्पत्ति से इनका सही अभिप्राय स्पष्ट होता है। जैसे कि—

"विश्च शेषश्च विशेषौ ईशजीवौ, तयोरद्वैतं विशेषाद्वैतम्" यह **विशेषाद्वैत** शब्द की व्युत्पत्ति है। यहाँ प्रयुक्त **वि** शब्द के चक्षु, आकाश, पवन, परमात्मा और

---

१. षड्विध दर्शनों के नाम वायुपुराण (१०४.१६) में भी देखे जा सकते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के प्रथम खण्ड (२.८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्ना महाविद्याओं में से प्रत्येक के छः-छः दर्शनों के नाम मिलते हैं।

२. चतुर्विध शैवों की चर्चा पाशुपत प्रकरण (पृ. १७७-१८०) में विस्तार से की जा चुकी है। तदनुसार लाकुल का कालामुख और सोम का कापालिक मत में समावेश किया जा सकता है।

३. इन सात भेदों का विस्तृत परिचय यहीं सातवें पटल में देखा जा सकता है।

पक्षी—ये अर्थ बताये गये हैं। यहाँ परमात्मा के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि "वाति उत्पादयति जगदिति विः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार परमात्मा इस जगत् को उत्पन्न करते हैं। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (४. ६) इस श्वेताश्वतर श्रुति के अनुसार पक्षी के रूप में भी परमात्मा का वर्णन मिलता है। अतः **वि** शब्द से यहाँ परमात्मा गृहीत है। **शेष** शब्द से उसीका अंशरूप जीवात्मा अभिप्रेत है। "यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः" (२.१.२०) यह बृहदारण्यक श्रुति अग्निकण के दृष्टान्त से जीवात्मा को परमात्मा का ही अंश मानती है। इस तरह से अंशांशी रूप में विद्यमान जीव और परमात्मा में "यथा नद्यः स्यन्दमानाः" (३.२.८) इस मुण्डक श्रुति के प्रमाण से अद्वैत का बोध जाग उठता है। इस तरह से संसार दशा में अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले शिव और जीव में मुक्तावस्था में अभेद स्थिति का बोध कराने के कारण यह सिद्धान्त विशेषाद्वैत के नाम से जाना जाता है।

"शिवस्च शिवश्च शिवौ, तयोरद्वैतम्" यह **शिवाद्वैत** शब्द की व्युत्पत्ति है। पहला शिव शब्द परमात्मा का और दूसरा उसीके अंशभूत जीवात्मा का बोधक है। अतः संसार-दशा में उपास्य और उपासक के रूप में विद्यमान इन दोनों की मुक्तावस्था में अद्वय स्थिति को बताने वाला यह सिद्धान्त शिवाद्वैत के नाम से भी जाना जाता है।

शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ शक्तिविशिष्टौ शिवजीवौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि सूक्ष्म चिदचिच्छक्ति से विशिष्ट शिव एवं अल्पज्ञत्व, अल्पकर्तृत्व आदि स्थूल चिदचिच्छक्ति से विशिष्ट जीव—इन दोनों के अभेद को, अर्थात् अद्वैत को बताने वाला सिद्धान्त ही **शक्तिविशिष्टाद्वैत** के नाम से प्रसिद्ध है। भ्रमरकीट-न्याय से इस सिद्धान्त की उपपत्ति की जाती है। जैसे भ्रमर से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला कीट भ्रमर के निरन्तर ध्यान से भ्रमर बन जाता है, वैसे ही शिव से अत्यन्त भिन्न स्वभाव का जीव भी शिव का ही निरन्तर ध्यान करते-करते अपनी संकुचित शक्तियों का विकास कर शिवस्वरूप बन जाता है। शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्द का यही तात्पर्य है।

वीरशैवों के इन तीनों दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों का इस तरह से एक ही अभिप्राय निकलता है कि यह सिद्धान्त भेदाभेदवाद का प्रतिपादक है। अतः इसको भेदाभेदवादी अथवा द्वैताद्वैतवादी[१] दर्शन कहा जाता है।

इस दर्शन में शिव, जीव और शक्ति तीन पदार्थ माने गये हैं। यहाँ इन तीनों के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करते हुए शक्तिविशिष्ट शिव और शक्तिविशिष्ट

---

१. द्वैताद्वैतवादी प्राचीन आचार्यों का परिचय भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम भाग (पृ. ८१-८८) में देखिये।

जीव का अभेद किस तरह स्थापित हो जाता है, इसकी प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

शिव का स्वरूप

इस सिद्धान्त में पराशिव को **स्थल** अथवा **लिंग** कहा जाता है। मायिदेव का कहना है कि यह प्राकृत एवं पौरुष, अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक जगत् सृष्टि से पहले जहाँ स्थित है और अन्त में पुन: जहाँ विलीन हो जाता है, वही **स्थल** है (अनु. सू. २.४)। **लिंग** पद की व्युत्पत्ति बताते हुए वे ही कहते हैं कि समस्त प्राणियों के लय एवं गति का कारणभूत यह सकल-निष्कल शिव लिंग बन जाता है (अनु. सू. ३.४)। भगवान् शिव के सकल और निष्कल दोनों ही स्वरूप शास्त्रों में वर्णित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शिव अपनी शक्ति के संकोच के कारण निर्गुण और शक्ति के विकास से सगुण हो जाते हैं। जगत् की सृष्टि के समय शिव की शक्तियाँ अनेक रूपों में विकसित हो जाती हैं। अत: शक्तिविशिष्ट शिव सगुण कहलाते हैं। संहार के समय शिव की ये शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं, तब वे निर्गुण कहलाते हैं। इस तरह से यहाँ शक्ति के विकास से सृष्टि और उसके संकोच से प्रपंच का संहार होता है। ये शक्तियाँ शिव में अविनाभाव संबन्ध से सदा विद्यमान रहती हैं। इन उभयविध स्थितियों के कारण ही लिंग रूप शिव सकल-निष्कल कहलाता है।

शक्ति का स्वरूप

शिव के साथ अविनाभाव संबन्ध से रहने वाली शक्ति सिद्धान्तशिखामणि (२.१२) के अनुसार सच्चिदानन्दरूपिणी है। श्वेताश्वतर उपनिषत् (४.१०) में इस शक्ति को माया कहा गया है। यहाँ माया का अर्थ मिथ्या नहीं है, किन्तु—"मं शिवम् अयति स्वभावत: प्राप्नोतीति माया" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव में स्वाभाविक रूप से रहने वाली शक्ति ही माया कहलाती है।

शिव-शक्ति का संबन्ध

शिव और शक्ति के संबन्ध को कुछ लोग समवाय और अन्य तादात्म्य के नाम से जानते हैं, किन्तु वीरशैव मत में इन दोनों में अविनाभाव संबन्ध माना जाता है। वीरशैवानन्दचन्द्रिका (पृ. ७) में बताया गया है कि पुष्प में स्थित गन्ध के समान अथवा आकाश में स्थित पवन के समान शिव और शक्ति की भी स्थिति है, अर्थात् शिव के बिना शक्ति की और शक्ति के बिना शिव की अलग से कोई सत्ता नहीं बनती। अभिप्राय यह है कि सूर्य में प्रभा (आतप), चन्द्र में चन्द्रिका,

अग्नि में दाहकता, पुष्प में गन्ध, शर्करा में मिठास जैसे उनसे कभी जुदा नहीं हो सकती, वैसे ही शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव संबन्ध माना गया है, अर्थात् ये एक-दूसरे से कभी पृथक् नहीं होते। इसीलिये इनमें नित्य संबन्ध माना जाता है। शक्तिविशिष्ट शिव से ही सारे प्रपंच की उत्पत्ति होती है। यही न्याय सर्वत्र लागू होता है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के साथ उसकी शक्ति जुड़ी हुई है। जैसे पृथिवी में धारण-शक्ति, जल में आप्यायन-शक्ति, अग्नि में ज्वलन-शक्ति, वायु में स्पन्दन-शक्ति, आकाश में व्यापन-शक्ति, वृक्षादि में जलाकर्षण-शक्ति, चुम्बक में सूच्याकर्षण-शक्ति, वनस्पतियों में रोग-निवारण-शक्ति, मन्त्र आदि में विघ्न-बाधा और भूत-प्रेत बाधा आदि को दूर करने की शक्ति दिखाई पड़ती है।

शास्त्रों में शिव को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप माना गया है, अर्थात् वह अस्मि, प्रकाशे और नन्दामि—इन अनुभवों से युक्त है। इस प्रकार का यह अनुभव ही उस शिव की विमर्श शक्ति कहलाती है। शिव में इस अनुभव को न मानने पर वह स्फटिक के समान जड़ हो जायगा। सौन्दर्य-विशिष्ट अन्धे को अपने सौन्दर्य का ज्ञान न होने के कारण जैसे वह व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का विमर्श शिव को न होने पर उसे व्यर्थ मानना पड़ेगा, जो इष्ट नहीं है। अतः वीरशैव सिद्धान्त में परमशिव को सच्चिदानन्द रूप विमर्श-शक्ति से विशिष्ट माना गया है।

शक्ति के छः भेद

परमशिव की यह शक्ति वस्तुतः एक होते हुए भी सृष्टि के समय अपने स्वातन्त्र्य-बल से चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के नाम से छः प्रकार की हो जाती है (अनु. सू. ३.२६-२७)। इनका स्वरूप शास्त्रों में इस प्रकार से वर्णित है—

१. चिच्छक्ति

सूक्ष्म कार्यकारणरूप प्रपंच की उपादान कारणीभूत शक्ति चिच्छक्ति कहलाती है। इसीको विमर्श शक्ति अथवा परामर्श शक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति [१]बोधरूप है। इससे विशिष्ट होने के कारण ही परमशिव को मैं हूँ, मैं प्रकाशमान हूँ, मैं

---

१. सद्योज्योति शिवाचार्य ने मोक्षकारिका में बोधाख्या अन्तःकरण वृत्ति (श्लो. १०६) से भिन्न बोध शक्ति का स्वरूप "शिवार्कशक्तिदीधित्या" (श्लो. १११) इत्यादि श्लोक में बताया है।

आनन्दरूप हूँ—इत्याकारक अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध होता है। सिद्धान्त-शिखामणि (२०.३२) के अनुसार विमर्श शक्ति से विशिष्ट वह परशिव सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वव्यापक एवं सर्वकर्मसाक्षी बन जाता है। यह चिच्छक्ति ही शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों की तथा अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण बन जाती है।

२. पराशक्ति

चिच्छक्ति के सहस्रांश से पराशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह आनन्द-स्वरूप है। इसे अनुग्रह शक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति से युक्त होकर परशिव योगियों के ऊपर अनुग्रह करते हैं।

३. आदिशक्ति

पराशक्ति के सहस्रांश से आदिशक्ति का उदय होता है। प्रपंच की कारणीभूत इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों का आदि कारण होने से इसे आदिशक्ति कहते हैं। इस शक्ति से युक्त परशिव प्राणियों का निग्रह करते हैं।

४. इच्छाशक्ति

आदिशक्ति के सहस्रांश से इच्छाशक्ति का उदय होता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की साम्यावस्था को ही इच्छाशक्ति कहते हैं। यह इच्छाशक्ति अपने में विद्यमान ज्ञान और क्रिया शक्तियों के माध्यम से विश्व को उत्पन्न करती है। संहार के समय यह विश्व पुनः इच्छाशक्ति में विलीन हो जाता है। इस शक्ति से परशिव प्रपंच का संहार भी करते हैं।

५. ज्ञानशक्ति

इच्छाशक्ति के सहस्रांश से ज्ञानशक्ति की उत्पत्ति होती है। इस ज्ञानशक्ति के कारण शिव सर्वज्ञ कहलाते हैं और उनको अपने में विद्यमान प्रपंच का 'इदम्' इत्याकारक बोध होता है। इसलिये इस ज्ञानशक्ति को बहिर्मुख शक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति से युक्त होकर शिव प्रपंच की उत्पत्ति में निमित्तकारण बनते हैं और उत्पत्ति के अनन्तर उसका पालन भी करते हैं।

६. क्रियाशक्ति

ज्ञानशक्ति के सहस्रांश से क्रियाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह क्रियाशक्ति इस प्रपंच का उपादानकारण है। क्रियाशक्ति से युक्त होने से शिव सर्वकर्ता बन जाते हैं। यही शिव की कर्तृत्वशक्ति है। इस शक्ति को स्थूल प्रयत्न भी कहा जाता है।

इस प्रकार परशिव की एक ही विमर्श शक्ति प्रयोजनवश उपर्युक्त छः रूप धारण कर लेती है। सृष्टि की रचना के समय विमर्श शक्ति विशिष्ट परशिव ही शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों के रूप में उसी तरह से परिणत हो जाता है, जैसे सुवर्ण धातु विविध आभूषणों के रूप में परिणत हो जाता है। इस परिणाम को अविकृत परिणाम कहा जाता है, अत: यह प्रपंच शिवशक्तिमय है, अर्थात् यह सब कुछ शिव-शक्ति का ही विलास है।

स्थल (ब्रह्म)

स्थल पद की व्युत्पत्ति हमने मायिदेव के अनुभवसूत्र के प्रमाण से पहले (पृ. ५०६) दी है। वहाँ (२.२-९) इस पद के विभिन्न अर्थों को समझाते हुए बताया गया है कि वेदान्त का सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हमारे यहाँ शिवतत्त्व अथवा **स्थल** कहलाता है। आगे बताया गया है कि यह स्थलतत्त्व लिंग और अंग के रूप में द्विधा विभक्त होकर उपास्य और उपासक का रूप धारण कर लेता है। इसमें लिंगस्थल उपास्य और अंगस्थल उपासक है। शास्त्रों में इनके छः-छः भेद वर्णित हैं। सिद्धान्तशिखामणि, कैवल्यसार जैसे ग्रन्थों में इन षड्विध लिंग एवं षड्विध अंग-तत्त्व की एकोत्तरशत (१०१) स्थलों के रूप में व्याख्या की गई है। अनेक विद्वानों ने इनका विस्तार से परिचय दिया है और बताया है कि अंग (जीव) एकोत्तरशत स्थल के क्रम से सोपानपंक्ति पर चढता हुआ किस प्रकार लिंग (शिव) के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेता है। हम यहाँ संक्षेप में अनुभवसूत्र की पद्धति से इसकी प्रक्रिया को प्रस्तुत कर रहे हैं।

सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म (शिवतत्त्व) ही स्थल कहलाते हैं और स्वेच्छा से लिंग एवं अंग का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शिव के ही समान इसमें अविनाभाव संबन्ध से रहने वाली उनकी शक्ति भी द्विधा विभक्त हो जाती है। लिंग तत्त्व में रहने वाली शक्ति **कला** के नाम से और अंग-तत्त्व में रहने वाली शक्ति **भक्ति** के नाम से जानी जाती है। यहाँ कला की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि भक्ति की सहायता से ही अंग और लिंग में ऐक्यभाव की प्रतिष्ठा हो पाती है।

लिंगस्थल

इस पीठिका के साथ आगे तृतीय अधिकरण में मायिदेव लिंग स्थल का परिचय देते हैं। भावलिंग, प्राणलिंग और इष्टलिंग के रूप में यह लिंग त्रिधा विभक्त हो जाता है। इनमें **भावलिंग** भगवान् का निष्कल स्वरूप है। यह भावना-

मात्र से जाना जा सकता है। यह शिव का परात्पर सन्मात्र स्वरूप है। **प्राणलिंग** इसका सकल-निष्कल स्वरूप है। यह मनोमात्र गम्य है। "तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः" इत्यादि आथर्वण श्रुति इसमें प्रमाण है। **इष्टलिंग** इसका सकल स्वरूप है। ज्ञानशक्ति के उन्मेष से इसके स्वरूप का बोध होता है। यह भक्त की कामना को पूरा करता है और साथ ही अनिष्ट का परिहार भी करता है। इष्टि का अर्थ है पूजा। प्रतिदिन श्रद्धा और आदरभाव के साथ शास्त्रोक्त पद्धति से इष्टलिंग की पूजा की जाती है, अतः इसे इष्टलिंग कहते हैं। इनमें से भावलिंग सद्रूप, प्राणलिंग चिद्रूप और इष्टलिंग आनन्दरूप माना गया है। भावलिंग 'असि' स्वरूप, प्राणलिंग 'त्वम्' स्वरूप और इष्टलिंग, 'तत्' स्वरूप है और इस तरह से "तत् त्वम् असि" इस वेदान्त के महावाक्य की निष्पत्ति होती है। भावलिंग परस्वरूप, प्राणलिंग सूक्ष्मस्वरूप और इष्टलिंग भगवान् का स्थूल स्वरूप माना जाता है। लिंग का बाह्य स्वरूप स्थूल, आन्तर स्वरूप सूक्ष्म और परस्वरूप बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान है। देह-प्राण-आत्मा, क्रिया-मन्त्र-प्रयोग, बिन्दु-नाद-कला के रूप में भी इस त्रिविध लिंग-तत्त्व की व्याख्या की जाती है।

इन त्रिविध लिंगों में से भी प्रत्येक के दो-दो भेद हो जाते हैं। भावलिंग के महालिंग और प्रसाद, प्राणलिंग के चर और शिव तथा इष्टलिंग के गुरु और आचार नामक भेद माने गये हैं। इस तरह से महालिंग, प्रसाद, चर, शिव, गुरु और आचार के नाम से यह लिंगतत्त्व षड्विध रूपों में परिणत हो जाता है। इसीके साथ लिंग-स्थित शक्ति(कला)तत्त्व भी षड्विध रूप धारण कर लेता है। शान्त्यतीतोत्तरा, शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति के अथवा चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में ये शक्तियाँ उक्त षड्विध लिंगों में निवास करती हैं। इन षड्विध शक्तियों का स्वरूप ऊपर (पृ. ५०७-५०८) बताया जा चुका है।

अनुभवसूत्र का हिन्दी अनुवाद अब प्रकाशित हो चुका है। उसकी सहायता से यहाँ वर्णित षड्विध लिंगों के स्वरूप, लक्षण और उनके प्रादुर्भाव की प्रक्रिया को भलीभाँति जाना जा सकता है।

अंगस्थल

अनुभवसूत्र के चतुर्थ अधिकरण में अंगस्थल का स्वरूप प्रदर्शित है। इसको भी स्थल के नाम से इसलिये संबोधित किया जाता है कि संसार की संगति से हट कर यह भक्ति में स्थिर हो जाता है। प्रथमतः यहाँ अंग पद की त्रिविध व्युत्पत्तियाँ

बताई गई हैं। 'अं' का अर्थ सत्स्वरूप ब्रह्म किया गया है। उस सद्ब्रह्म की शरण में जाने वाला जीव ही अंग कहलाता है। यह अंगस्थल भी योगांग, भोगांग और त्यागांग के रूप में त्रिधा विभक्त हो जाता है। इन तीनों का लक्षण बताने के साथ यहाँ कहा गया है कि योगांग को कारण शरीर, भोगांग को सूक्ष्म शरीर तथा त्यागांग को स्थूल शरीर माना गया है। सुषुप्ति, स्वाप और जाग्रत् अवस्था के तथा प्राज्ञ, तैजस और विश्व नामक जीवों के रूप में भी इनकी व्याख्या की जाती है।

इन त्रिविध अंगों में भी प्रत्येक के दो-दो भेद हो जाते हैं। इनमें से योगांग के ऐक्य और शरण, भोगांग के प्राणलिंगी और प्रसादी तथा त्यागांग के माहेश्वर और भक्त नामक भेद माने गये हैं। इस तरह से ऐक्य, शरण, प्राणलिंगी, प्रसादी, माहेश्वर और भक्त के नाम से यह अंगतत्त्व भी षड्विध स्वरूप धारण कर लेता है। इसीके साथ अंग में स्थित शक्ति (भक्ति) भी षड्विध स्वरूप धारण करती है। इनके नाम समरसाकारा, आनन्दाकारा, अनुभवाकारा, अवधानात्मिका, नैष्ठिकी और सद्भक्ति हैं। इस षड्विध भक्ति से सम्पन्न षड्विध अंगों की षड्विध लिंग में निष्ठा का प्रकार भी यहां सुस्पष्ट रूप से बताया गया है। इनमें से ऐक्य, शरण और प्राणलिंगी ज्ञान का तथा प्रसादी, माहेश्वर और भक्त कर्म का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यहाँ लिंग और अंग का सृष्टिक्रम निरूपित है।

लिंगांग-संयोग

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि स्थलरूपी ब्रह्म ही लिंग (शिव) और अंग (जीव) का जब स्वरूप धारण कर लेता है, तो इस संसार की प्रवृत्ति होती है। गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के साथ अंग जब लिंगोन्मुख हो जाता है, तो अन्ततः योगशास्त्र में वर्णित जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के समान यहाँ भी अपनी शास्त्रीय पद्धति से अंग और लिंग का संयोग सम्पन्न होता है और इसकी अन्तिम परिणति लिंगैक्य के रूप में होती है।

आत्मा वस्तुतः शिव का ही स्वरूप (अंश) है। यह आत्मा केवल, शुद्ध, अमल, नित्य, निरंजन एवं शान्तस्वरूप है। शिव (लिंग) के साथ संयुक्त हो जाने पर, उसके द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर वह शिव का ही अंग बन जाता है और उसमें सर्वज्ञता आदि षड्विध गुण अभिव्यक्त हो उठते हैं, इस प्रकार इस दर्शन में जीवात्मा अंगस्थल और शिव लिंगस्थल कहलाता है। लिंगस्थल अपनी शक्ति (कला) से जैसे षड्विध स्वरूप धारण कर लेता है, उसी तरह से अंग भी अपनी शक्ति (भक्ति) से षड्विध स्वरूप धारण करता है। यहाँ शक्तिमान् शिव

उपास्य और भक्तिमान् अंग उपासक माना गया है। लिंग के अनुरूप ही अंग भी षड्विध स्वरूप धारण कर लिंग के तत् तत् रूपों की उपासना करता है। इसकी प्रक्रिया आगे बताई गई है।

उचित अवसर आने पर शिव (लिंग) ही गुरु का तथा अंग ही शिष्य का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस तरह से उपास्य-उपासक, पूज्य-पूजक, साध्य-साधक, गुरु-शिष्य और शिव-जीव का स्वरूप धारण कर ये परस्पर संयुक्त हो जाते हैं। लिंग और अंग का यह सम्यक् योग ही सायुज्य नाम की मुक्ति कहलाती है। इससे बढकर कोई मुक्ति नहीं है। भक्ति से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस भक्ति के स्वरूप को समझने के लिये शिष्य शिवस्वरूप गुरु के पास पहुँचता है। यद्यपि यह जीव भी शिवस्वरूप ही है, तो भी व्यवहार दशा में यह अज्ञान से आवृत होकर अपने स्वरूप को भूल बैठता है। गुरु उसकी अविद्या-कृत भ्रान्ति का निवारण कर लिंग और अंग के वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है और 'तत्-त्वम्-असि', 'सत्-चित्-आनन्द', 'नाद-बिन्दु-कला', 'मन्त्र-क्रिया-प्रयोग', 'प्रकृति-पुरुष-संयोग', 'अकार-उकार-मकार', 'ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत'—इन विविध रूपों में लिंग, अंग और इनके संयोग की स्थिति को समझाता है।

इस प्रसंग में वहाँ गुरु के द्वारा दी जाने वाली त्रिविध दीक्षा का स्वरूप बताकर पाशच्छेद, कलासंयोजन और भक्ति की सहायता से हृदयस्थित अविद्या-ग्रन्थि के छेदन की प्रक्रिया को समझाते हुए कहा गया है कि इस त्रिविध दीक्षा[१] की सहायता से शिष्य के त्रिविध शरीरगत त्रिविध मल का नाश हो जाता है और तब लिंगांग-संयोग सम्पन्न हो उठता है। इस संयोग की व्याख्या यहाँ शिखिकर्पूर-न्याय से की गई है। यहाँ वेधा दीक्षा की सहायता से योगांग में भावलिंग को, मान्त्री दीक्षा से भोगांग में प्राणलिंग को तथा क्रिया दीक्षा से त्यागांग में इष्टलिंग को संयोजित किया जाता है। इन रूपों में संयुक्त होकर जो उपासना की जाती है, उसे ही लिंगांग संयोग कहा जाता है।

लिंगैक्य

इस संयोग में विद्यमान द्वैतभाव धीरे-धीरे विलीन हो जाता है। द्वैतभाव का यह विलय ही निवृत्ति कहलाती है। यह निवृत्ति ही यहाँ विश्रान्ति और यह विश्रान्ति ही यहाँ परमपद मानी जाती है। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिये यहाँ

---

१. "तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः। दीक्षात्रयेण निर्दह्य लिङ्गत्रयमुपादिशेत्।।" यह श्लोक अनुभवसूत्र (५.५२), कारणागम (१.१०) आदि में उपलब्ध है।

षड्विध भक्ति के माध्यम से अंग लिंग में किस प्रकार समरस हो जाता है, इसकी विधि समझाई गई है। सृष्टि प्रक्रिया से विपरीत क्रम से निवृत्ति मार्ग में आचार आदि लिंगों में क्रमशः भक्त आदि अंगों का विलय हो जाता है और इस प्रकार ऐक्य अंग के महालिंग में विलय के साथ लिंगैक्य की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

इसके लिये यहाँ छठे, सातवें और आठवें अधिकरण में सर्वांगलिंग साहित्य, अर्पणसद्भाव और क्रियाविश्रान्ति के स्वरूप को समझाया गया है। इसके साथ ही वीरशैव मत के शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में स्वीकृत अन्तिम लक्ष्य लिंगैक्य की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। इस पूरी दार्शनिक प्रक्रिया को सरलता से समझाने के लिये शास्त्रों में एक दूसरी विधि भी प्रदर्शित है।

जीवात्मा (अंग)

सच्चिदानन्द स्वरूप यह परशिव अपने विनोद के लिये स्वयं ही जीव और जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। सिद्धान्तशिखामणि (५.३४) के अनुसार प्रपंचगत सभी जीव उसी परमात्मा के अंश हैं। शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और जीव इन दोनों में न तो अत्यन्त भेद माना जाता है और न ही अत्यन्त अभेद, किन्तु भेदाभेद माना जाता है। अर्थात् बद्धावस्था में जीव का शिव से भेद और मुक्तावस्था में अभेद मान्य है। जब शिव अपने विनोद के लिये स्वयं जीवात्मा बन जाता है, तब शिव में रहने वाली शक्ति भी अपने स्वरूप को संकुचित कर उस जीवात्मा में भक्ति के रूप में प्रवेश करती है। यह भक्ति ही क्रमशः जीवात्मा की संकुचित शक्ति को विकसित करती हुई इसको परशिव के साथ समरस कर देती है। यह जीवात्मा यहाँ अंग के नाम से अभिहित हुआ है।

षड्विध भक्ति एवं षट्स्थल

जैसा कि अभी बताया गया, परशिव की शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में स्थित होकर जीव के जीवभाव को हटाकर शिवभाव को प्राप्त कराने में उसकी सहायक बनती है। जिस प्रकार जल छः रसों से युक्त होकर षड्रस स्वरूप बन जाता है, उसी तरह भक्ति भी जीवात्मा के भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और ऐक्य नामक षड्विध आध्यात्मिक प्रगति की छः अवस्थाओं में, छः अंग स्थलों में क्रमशः श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द और समरस भक्ति के रूप में प्रविष्ट हो जाती है। इसका क्रम यह है—

१. भक्त

सि. शि. (५.२६) के अनुसार जब जीवात्मा अपने मूल स्वरूप परशिव के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होकर उसकी पूजा, जप, ध्यान आदि में तत्पर हो जाता है,

तब उसे भक्त कहते हैं। इसमें रहने वाली भक्ति ही श्रद्धा-भक्ति कहलाती है। सि. शि. (९.२१) के अनुसार श्रद्धा-भक्ति से सम्पन्न यह भक्त साधक तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान नामक **शिव-पंचयज्ञ** में तत्पर रहता है। इस शास्त्र में शिवपूजा की सामग्री के सम्पादन में तथा पूजा आदि क्रियाओं में जो शरीर का शोषण होता है, उसको सहर्ष सहन करना ही **तप** है। मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित स्वर्गप्रदायक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में अनुरक्त न होकर केवल अपने इष्टलिंग का अनन्यभाव से अर्चन करना ही **कर्म** कहलाता है। पंचाक्षर मन्त्र, प्रणव-मन्त्र अथवा श्रीरुद्राध्याय की पुनः पुनः आवृत्ति ही **जप** है। शिवस्वरूप का चिन्तन **ध्यान** और शैवागमों के वास्तविक अभिप्राय को समझना ही **ज्ञान** कहलाता है। यही वीरशैवों का पंचयज्ञ है (सि. शि. ९.२१-२४)। प्रतिदिन इस शिव-पंचयज्ञ का अनुष्ठान करने वाला भक्त कहलाता है। मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त साधक का यह प्रथम मुक्ति-सोपान है। यह आचारलिंग से संयुक्त हो जाता है।

२.माहेश्वर

सि. शि. (१०.३) के अनुसार पूर्वोक्त श्रद्धाभक्ति का जब उत्कर्ष हो जाता है, तब वह [1]निष्ठा-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस निष्ठा-भक्ति से युक्त भक्त ही माहेश्वर कहलाता है। सि. शि. (१०.१२) के इस वचन के अनुसार महेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है और वही मुक्तिप्रदायक है, वह स्वयं अनादिमुक्त है, इस प्रकार उसके स्वरूप को जानकर उसमें नितान्त निष्ठा रखने वाला साधक ही माहेश्वर कहलाता है। साधक की यह स्थिति मुक्ति का दूसरा सोपान मानी जाती है। यह गुरुलिंग से संयुक्त हो जाता है।

३. प्रसादी

सि. शि. (११.२) की उक्ति के अनुसार अपने उपास्य इष्टलिंग में निष्ठा रखने वाला उपर्युक्त माहेश्वर भक्त जब सभी पापों के ध्वस्त हो जाने के कारण अत्यन्त निर्मल एवं प्रसन्न हो जाता है, तब वह प्रसन्न मन का माहेश्वर प्रसादी कहलाता है। इस प्रसादी में रहने वाली भक्ति को [2]अवधान-भक्ति कहते हैं। अत्यन्त सावधानी को अवधान कहा जाता है। यह मन की एकाग्रता से प्राप्त होता

---

१. पाशुपत मत में **निष्ठा** पद का प्रयोग सिद्धावस्था के लिये हुआ है। भारतीय तन्त्रशास्त्र (पृ. ५२९) देखिये।

२. "योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता" (श्लो. १०४) विज्ञानभैरव के इस श्लोक से तुलनीय।

है। साधक का मन भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़कर जब वर्तमान[१] काल में स्थिर हो जाता है, तभी उसमें एकाग्रता संभव है। इस एकाग्रता के साथ की जाने वाली भक्ति अवधान-भक्ति कहलाती है। इस अवधान-भक्ति से युक्त साधक अपने उपभोग की सभी वस्तुओं को शिव को समर्पित कर उन्हें शिव-प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है। उस प्रसाद के कारण उसके मन में निरन्तर प्रसन्नता बनी रहती है। अत एव इसे प्रसादी कहते हैं। साधक की यह प्रसादी अवस्था मुक्तिमार्ग में तृतीय सोपान मानी गई है। यह प्रसादी शिवलिंग से संयुक्त हो जाता है।

४. प्राणलिंगी

सि. शि. (१२.३) में प्राणलिंगी का जो लक्षण बताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य के उदय के साथ तुषार-कण उसके प्रकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी तरह से अपनी चिद्रूप ज्योति में प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। अतः इस प्राणशक्ति से सम्पन्न चित् तत्त्व को प्राणलिंग कहते हैं। उस प्राणलिंग का उपासक प्राणलिंगी कहलाता है। यह साधक जब अपने इस चिद्रूप के चिन्तन में लग जाता है, तब उसे धीरे-धीरे अपने प्राणलिंगमय शिवस्वरूप का अनुभव होने लगता है। इस अनुभव को अनुभव-भक्ति कहा जाता है। इस भक्ति से युक्त प्राणलिंगी की यह स्थिति मुक्ति-मार्ग में चतुर्थ सोपान है। यह प्राणलिंगी चरलिंग से संयुक्त हो जाता है।

५. शरण

सि. शि. (१३.५) के अनुसार पतिव्रता स्त्री जैसे प्रत्येक प्रसंग में [२]अनन्यभाव से अपने पति की शरण में जाती है, उसी तरह से जब साधक अन्यान्य देवताओं में आसक्ति न रखकर अपने इष्टदेव शिव के प्रति ही अनन्यभाव से शरणागत हो जाता है, तब उसे शरण कहते हैं। यह शिव के साथ तादात्म्य संबन्ध रखकर शिवानन्द का अनुभव करता है। साधक के द्वारा अनुभूयमान उस आनन्द को ही आनन्द-भक्ति कहते हैं। साधक की यह अवस्था मुक्ति-मार्ग में पंचम सोपान है। यहाँ शरण प्रसादलिंग से संयुक्त हो जाता है।

---

१. "कालोभयापरिच्छिने वर्तमाने सुखी भवेत्" बौद्ध और शैव तन्त्रों में इस अभिप्राय के वचन मिलते हैं। मालिनीवार्त्तिक (श्लो. १५०-१५६) में अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या की है।

२. "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।" (९.२२) भगवद्गीता के इस वचन से तुलना कीजिये।

६. ऐक्य

सि. शि. (१४.२) के अनुसार परशिव का अनन्य शरणागत साधक जब महालिंग के साथ संयुक्त हो जाता है, तब वह ऐक्य कहलाता है। इसकी यह एकता-भावना ही समरस-भक्ति कहलाती है। इसके माध्यम से साधक अपने जीवभाव का परित्याग कर सि. शि. (२०.६१) के अनुसार जल में जल तथा अग्नि में अग्नि की तरह अपने मूल शिवस्वरूप में समरस हो जाता है। यह भक्ति की अन्तिम एवं परिपूर्ण स्थिति है। यह मुक्ति मार्ग का अन्तिम सोपान है। इसीके साथ वीरशैव मत की एकोत्तरशत स्थल की साधना परिपूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार वीरशैव सिद्धान्त में भक्ति के क्रमिक विकास से ही मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है। जैसे जागतिक व्यवहार में माता पुत्र को पिता का ज्ञान कराती है, वैसे ही शिव की शक्ति ही जीवात्मा में भक्ति के रूप में प्रविष्ट हो उसकी संकुचित शक्तियों का विकास कर जीवात्मा को मूल शिवस्वरूप का ज्ञान कराती हुई उसके साथ समरस करा देती है। इस प्रकार चिच्छक्तिविशिष्ट शिव के तथा समरस-भक्ति से विशिष्ट जीव के परस्पर अद्वयभाव को मानने वाले इस सिद्धान्त को शक्तिविशिष्टाद्वैत नाम दिया गया है।

❋ ❋ ❋

OTHER IMPORTANT PUBLICATIONS

1. **Liṅgadhāraṇacandrikā**
   Nandikeshvara Shivacharya Rs.150.00
2. **Siddhāntaśikhāmaṇi (Marathi)**
   Ed. by Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs.200.00
3. **Brahmasūtraśrīkanṭhabhāṣyam**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.150.00
4. **Vīraśaiva Aṣṭāvaraṇa Vijñāna**
   Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs. 50.00
5. **Siddhāntaśikhāmaṇisamīkṣā**
   Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs.200.00
6. **Nigamāgama Sanskṛti (Hindi)**
   Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.200.00
7. **Sūkṣmāgamaḥ**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.150.00
8. **Candrajñānāgamaḥ**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.200.00
9. **Makuṭāgamaḥ**
   Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.125.00
10. **Kāraṇāgamaḥ**
    Ed. by Prof. Rama Chandra Pandey Rs.175.00
11. **Nigamāgamīyamsanskṛtidarśanam**
    Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.300.00
12. **Pārameśvarāgamaḥ**
    Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.350.00
13. **Candrajñānagama (English)**
    Tr. by Dr. Rama Ghose Rs.300.00
14. **Iśāvāsyopaniṣad**
    Ed. by Pt. Jagannath Shastri Tailanga Rs.150.00
15. **Kenopaniṣad**
    Ed. by Pt. Jagannath Shastri Tailanga Rs.200.00
16. **Siddhāntaprakāśikā**
    Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.100.00

17. **Makuṭāgama (English)**
Tr. by Dr. Rama Ghose Rs.175.00

18. **Śaktiviśiṣṭādvaitatattvatrayavimarśaḥ**
Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami Rs.300.00

19. **Anubhavasūtram**
Ed. by Pt. Gajanana Shastri Musalgaonkar Rs.200.00

20. **Siddhāntaśikhopaniṣad**
Ed. by Pt. Jagannath Shastri Tailanga Rs.350.00

21. **Brahmasūtraśānkarīvṛttiḥ**
Ed. by Dr. Kedarnath Tripathi Rs.250.00

22. **Siddhāntasārāvaliḥ**
Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.550.00

23. **Srī Gurugītā**
Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.200.00

24. **Śivādvaitadarpaṇaḥ**
Shivanubhava Shivacharya Rs.150.00

25. **Siddhāntaśikhamaṇi Mīmāmsā**
Ed. by Pt. Vrajavallabha Dwivedi Rs.350.00

26. **Devīkālottarāgamaḥ**
Ed. by Vrajavallabha Dwivedi Rs.150.00

27. **Tantrāgamīya Jñānakośa**
Ed. by Dr. Chandrashekhar Shivacharya Mahaswami et.al. Rs.300.00

28. **Pārameśvarāgama (English)**
Tr. by Dr. Rama Ghose Rs.400.00

29. **Sanskrit mein Vīraśaiva Sāhitya**
Shanmukhayya Akkurmath Rs.150.00

30. **Ṛgvedasyaprathamamaṇḍalasya Sāyaṇavenkaṭa mādhavabhāṣyayostulanatmakamadhyayanam**
Dr. Pramodini Panda Rs.400.00

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001 (India)
✆ (0542) 450546

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाडी मठ, वाराणसी-२२१००१